प्रेमचन्द का नारी-चित्रण

[पटना विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

डॉ० गीता लाल, एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी-विभाग
पटना कॉलेज, पटना

हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली–७ : : पटना–४

पूज्य श्वशुर

श्री बद्रीप्रसाद

को

सादर

भूमिका

प्राय सभी प्राचीन सभ्यताओं में नारी की स्थिति अत्यन्त शोचनीय रही है, किन्तु अत्यन्त प्राचीन वैदिक सभ्यता[1] में आर्य नारी की दशा बहुत सम्मानपूर्ण थी। यद्यपि वैदिक युग में तथा उसके कुछ समय बाद तक भी, कन्या-जन्म का स्वागत नहीं किया जाता था, फिर भी परवर्त्ती युगों की भाँति इस युग में कन्या भय का हेतु नहीं थी। पुत्रों की भाँति पुत्रियों का भी 'उपनयन-संस्कार' होता था। उन्हें शिक्षा का अधिकार था। वे विदुषी, दार्शनिक, चिकित्सिका, आचार्या तथा गान और नृत्य विद्या में कुशल होती थीं[2] और इन साधनों द्वारा आर्थिक स्वाधीनता का उपभोग करती थीं। साधारण नारी भी कताई-बुनाई के द्वारा विपत्ति के दिनों को भली भाँति व्यतीत कर लेती थी। अनेक नारियाँ कवयित्रियाँ होती थीं और ऐसी कई नारियों के मन्त्र वेदों में सम्मिलित हैं। उच्च शिक्षा सुसंस्कृत एवं धनी परिवारों तक ही सीमित थी, किन्तु साधारण परिवारों में भी कन्याओं को वेद-मन्त्रों और प्रार्थनाओं के शुद्ध उच्चारण कण्ठस्थ कराए जाते थे। क्षत्रिय परिवारों में लडकियों को सैनिक शिक्षा मिलती थी। उनका विवाह पूर्ण वय प्राप्त करने पर होता था और अपना पति चुनने में उनका कम या ज्यादा हाथ रहता था। इस सम्बन्ध में प्रेम विवाह के वर्णन भी आए हैं। क्षत्रियों में स्वयंवर की प्रथा थी, जो १२वीं शती तक प्रचलित थी। संस्कृत के काव्यों और नाटकों में इसका वर्णन आया है।

विवाह के एक सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य माने जाने के कारण उसकी अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है, किन्तु समाज इस बात पर बल नहीं देता था कि किसी भी मूल्य पर, किसी भी तरह अच्छा या बुरा विवाह-सम्बन्ध होना ही चाहिए। इसके विपरीत वैदिक वाङ्मय में बडी उम्र की कुमारियों के वर्णन भी हैं। कुछ नारियाँ आध्यात्मिक उद्देश्य के लिए आजन्म अविवाहित रह जाती थीं। बाद में यह परम्परा बौद्ध और जैनधर्मावलम्बियों में भी वर्त्तमान रही। विवाह में दहेज की प्रथा नहीं थी। हाँ, सम्पन्न परिवारों में जामाता को कुछ उपहार अवश्य दिए जाते थे। तब ज्योतिष विद्या का विकास नहीं हुआ था, अत विवाह में वर और कन्या की कुण्डली मिलाने का प्रश्न ही नहीं था। सगोत्र विवाह नहीं करने की आधुनिक प्रथा उस समय नहीं थी। प्राचीन समय में 'अन्तर्जातीय' और 'अनुलोम' विवाह प्रथा भी प्रचलित थी। स्त्रियों के पुनर्विवाह, नियोग तथा विधवा विवाह भी होते थे। 'नष्टे मृते प्रव्रजते क्लीवे च पतिते पतौ'– इन पाँचों अवस्थाओं में स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार गुप्त-युग—ईसा की ४थी ५वीं शताब्दी तक था।[3] सामान्यत पुरुषों के

---

१ स्व० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने वैदिक युग २५०० ई० पू० १५०० ई० पू० माना है।

२ मैत्रेयी, गार्गी, लोपामुद्रा, इन्द्राणी और घोषा—ये इस युग की अत्यन्त प्रसिद्ध नारियों के नाम हैं।

३ रामगुप्त की पत्नी (ध्रुवदेवी) का अपने देवर चन्द्रगुप्त से पुनर्विवाह ऐतिहासिक घटना है। संस्कृत के 'देवी चन्द्रगुप्तम्' तथा हिन्दी के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की रचना इसी घटना पर अवलम्बित है।

बहु विवाह की प्रथा नहीं थी, किन्तु व्यवहारतः यह धनियों और शासक वर्ग में प्रचलित था। निर्धन वर्ग में भी सामाजिक और धार्मिक कार्यों के अवसरों पर पुत्र की अनिवार्यता होने के कारण बहु-विवाह होते थे।

इस समय पतिताओं के साथ उदारतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। यदि वे अपना अपराध स्वीकार कर पश्चाताप करती थीं और बाद में पवित्र जीवन व्यतीत करती थीं, तो उन्हें सामाजिक और धार्मिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता था। इस युग की एक बात और उल्लेखनीय है। वह है, नारी और पुरुष का समानाधिकार। दोनों एक दूसरे के मित्र थे, उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों में विशेष वैषम्य नहीं था। दोनों संयुक्त रूप से सोमरस निकालते थे, उसे शुद्ध करते थे और पीते थे एवं यज्ञ, दान तथा देवताओं की स्तुति करते थे। वैदिक शब्द 'दम्पति' का अर्थ है, 'घर का संयुक्त अधिकारी अथवा प्रभु।' इस प्रकार घर पर पति और पत्नी दोनों का समान अधिकार था। पति और पत्नी को अभिन्न, एक दूसरे का अर्द्धांग, पूरक और एक शरीर के दो अंग माना जाता था। अतः, दोनों के सहयोग के बिना कोई भी धार्मिक क्रिया पूर्ण नहीं मानी जाती थी।[१]

नारी और पुरुष का यह समानाधिकार वैदिक विवाह-मन्त्रों में भी देखा जा सकता है, जिनमें पति और पत्नी—दोनों एक ही शपथ लेते थे। इस युग में, परिणामतः, पुरुष द्वारा स्त्री को शारीरिक दण्ड देने का प्रचलन नहीं था, न स्त्री को पुरुष के अधीन रहना पड़ता था। इसके विपरीत उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वह सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थी। पर्दा प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है।

इस प्रकार वैदिक युग में, और कुछ बाद तक भी, आर्य-नारी को वे सभी सुविधाएँ और वे सारे अधिकार प्राप्त थे, जिनके लिए आधुनिक नारी-आन्दोलनकारी जोर देते हैं। उस युग में नारी की इस स्थिति के कई सामाजिक एवं धार्मिक कारण थे। आर्य खेती करते थे। खेती करने और नए-नए क्षेत्रों को जीतने के लिए बहुत बड़े परिवार की आवश्यकता थी। फिर वैदिक आर्य दार्शनिक और मननशील होते हुए भी सांसारिक जीवन में आस्था रखते थे। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की थी, जिसमें अन्य तीनों आश्रमों से गृहस्थाश्रम को विशेष महत्त्व दिया था। गृह-जीवन का केन्द्र तथा खेती और युद्ध के लिए पुत्रों को जन्म देने वाली और उनका पालन करने वाली नारी को आर्यों ने अत्यन्त सम्मान का पात्र समझा। उन्होंने नारी को संसार यात्रा की सहचरी और सुख-दुःख की संगिनी कह कर एकाधिक बार उसकी अभ्यर्थना की है।

पर, भारतीय नारी वैदिक युग के सम्मानपूर्ण पद पर अधिक दिनों तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकी। शनैः-शनैः उसकी सम्मानजनक और समतामय स्थिति का ह्रास होने लगा और वह सहचरी के महान् पद से दासी के निम्न स्तर को पहुँच गई। इसके सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारण थे। उत्तर वैदिक युग में यज्ञों का आडम्बर बहुत बढ़ गया। फलस्वरूप कर्मकाण्ड में पवित्रता, नियमों और विधियों की जटिलता तथा वेद-मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की अनिवार्यता हुई। स्वभावतः इसमें विशिष्ट रूप से दीक्षित पुरो-

१ श्रीरामचन्द्र को भी सीता की स्वर्णमूर्ति बनवा कर अश्वमेध यज्ञ पूरा करना पड़ा था।

हितों को ही महत्त्व दिया जाने लगा और पत्नियों को यज्ञाधिकार से वंचित किया जाने लगा। यज्ञों में पवित्रता पर अत्यधिक ध्यान देने का यह अर्थ हुआ कि रजोधर्म के कारण भी वे उससे बहिष्कृत हुई। आर्यों का अनार्य स्त्रिया के साथ विवाह सम्बन्ध भी उन्हें यज्ञ-कार्य से बाहर रखने का कारण बना। यज्ञ के नियमों से अपरिचित होने के कारण अनार्य-भार्याएँ भद्दी भूलें करती थी। ६०० ई० पू० तक नारियों ने यज्ञाधिकार से अपने को पूर्ण-रूपेण वंचित पाया। आगे २०० ई० पू० के बाद कन्याओं का उपनयन-संस्कार बन्द हो जाने पर, और इसीलिए उनकी शिक्षा का महत्त्व कम हो जाने पर, वे वेद पढ़ने के अधिकार से भी वंचित कर दी गई। यज्ञाधिकार और वेदों के अध्ययन से विहीन हो कर इस समय तक नारी शूद्रों के तुल्य समझी जाने लगी।

६०० ई० पू० से ही गौतम द्वारा रजोदर्शन के पूर्व कन्या का विवाह कर देने की व्यवस्था के कारण, और बाद में कुछ आचार्यों द्वारा इससे भी अल्प विवाह आयु—आठ वर्ष—की व्यवस्था के कारण भी नारियों की अवस्था में परिवर्तन आया। कन्या की विवाह आयु घटा दिए जाने के कुछ कारण ये थे—नारी की चारित्रिक पवित्रता पर अत्यधिक ध्यान, पुत्र प्राप्ति की शीघ्र आशा, विलासिता और माता पिता की इच्छा के विरुद्ध बालिग कन्या के संन्यासिनी होने की आशका। आगे बाल विवाह को इस कारण भी प्रोत्साहन मिला कि उपनयन-संस्कार बन्द हो जाने से कन्याओं की शिक्षा पर कम ध्यान दिया जाने लगा। अत, जब वे बेकार रहने लगी, तो माता पिता का यह उचित नहीं प्रतीत हुआ कि उन्हें १५-१६ वर्ष की अवस्था तक कुमारी रखा जाए। वर्ण व्यवस्था के उप वर्ग बनने के कारण भी इस रीति को बढावा मिला, क्योंकि योग्य वर ढूँढने के लिए क्षेत्र और अवसर अत्यन्त सीमित हो गए। सती प्रथा ने भी इसमें योग दिया। यदि पिता की मृत्यु हो गई और माता सती हो गई, तो कन्या की देख रेख करने के लिए पति के रूप में एक अभिभावक मिल जाता था। सयुक्त परिवार की प्रथा भी सहायक हुई, जिसमें परिवार का बढ जाना—उस हालत में भी, जब पुरुष कमा नहीं रहा हो—बुरा नहीं समझा जाता।

विवाह की उम्र कम हो जाने के कारण कुछ शास्त्रकारों ने, जिन्होंने कन्याओं के लिए उपनयन संस्कार आवश्यक समझा, विवाह को ही उनका उपनयन संस्कार बताया और दोनों में साम्य भी ढूँढ निकाला। लडकी की ससुराल ही उसका गुरु-गृह है और उसका पति उसका गुरु है। इस प्रकार गुरु भक्ति अर्थात् पति भक्ति का आदर्श नारियों के लिए मान्य हुआ। उपनयन-संस्कार बन्द हो जाने और अल्प आयु में विवाह होने के कारण नारी शिक्षा को गहरा धक्का लगा। अशिक्षित, अनुभवशून्य, डरी हुई एव अल्प आयु की वधू का पति वस्तुत उसका गुरु हो गया। गुरु का पद पा जाने पर पति को देवता बनते देर न लगी—गुरु भी तो आखिर देवता की भाँति ही पूज्य होता है। अत, मूर्ख और धार्मिक प्रवृत्ति की बच्चियों द्वारा इसका अक्षरश पालन किया जाना स्वाभाविक था। शास्त्रकारों ने भी इसमें योग दिया। उन्होंने नारी का प्रधान कर्त्तव्य पति सेवा और पातिव्रत्य बतलाया। पातिव्रत्य की मूल भावना यह है कि एक बार किसी पुरुष से विवाह होने के बाद उसमें

न्यूनताएँ होने पर भी नारी को दूसरे पुरुष का विचार भी नहीं करना चाहिए।[१] पति कोढ़ी, क्रोधी, दु:शील, पर-स्त्री गामी हो, फिर भी पत्नी को चाहिए कि वह साध्वी बनी रहे। नारी पति की पूजा करके दुर्लभ स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त कर सकती है। ऐसी अवस्था में विधवा विवाह का समाप्त होना और सती प्रथा का आरम्भ स्वाभाविक था। इस प्रकार भारत में सतीत्व के एकांगी दृष्टिकोण और नैतिकता के दोहरे मानदण्ड को प्रश्रय मिला। पति पुनर्विवाह, बहु विवाह, पर-स्त्री गमन, दुराचार, पत्नी का अपमान आदि कोई भी पाप करे, किन्तु पत्नी को उसकी पूजा देवता की भाँति करनी चाहिए।[२] पुराणों और महाभारत में ऐसी सतियों तथा पतिव्रताओं के अपूर्व त्याग और शक्ति के सम्भव-असम्भव आख्यान लिखे गए।[३]

इस प्रकार गुप्त-युग के बाद से नारियों की वश्यता और पुरुषों की प्रभुता सर्वसामान्य हो गई।[४] पुरुष की शारीरिक शक्ति और स्वामित्व की भावना तथा नारी की शारीरिक निर्बलता, अतः संरक्षण की आवश्यकता, उसकी आर्थिक पराधीनता और प्रेम में समर्पण भावना ने इसमें योग दिया। यों तो शास्त्रकारों ने पुरुषों को भी नारियों के साथ सद्-व्यवहार करने, उनको वस्त्राभूषणों से सम्मानित करने और उनकी पूजा करने तक को कहा —'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता', किन्तु इन नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए कड़ी दण्ड व्यवस्था के अभाव में पुरुषों द्वारा अधिकारों का दुरुपयोग ही होता रहा। इसी प्रकार शास्त्रकारों ने पुरुषों के बहु विवाह पर बहुत प्रतिबन्ध लगाए और न्याय पार्थक्य (जुडीशियल सपरेशन) की अनुमति देते हुए भी, उन पर परित्यक्त स्त्री के भरण पोषण का भार पूर्ववत् रखा, यहाँ तक की व्यभिचारिणी पत्नी के भरण-पोषण का भार भी पति पर डाला। फिर भी पुरुषों के नैतिक बन्धन ढील होते गए और उन्होंने प्राय नियमों का उल्लंघन किया। अपनी पत्नी से समान व्यवहार की आशंका न रह जाने पर ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

---

१ सावित्री में यह आदर्श अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया। वह सत्यवान को अपना वर चुनती है। बाद में नारद द्वारा यह ज्ञात होने पर भी कि सत्यवान विवाह के एक वर्ष बाद मर जाएगा, वह उसी से विवाह करती है, क्योंकि उसने मन से सत्यवान को अपना पति मान लिया था।

२ गुप्त-युग में रामगुप्त की पत्नी (ध्रुवदेवी) का चन्द्रगुप्त से विवाह इस तथ्य का सूचक है कि भारत में गुप्त-युग तक सतीत्व का एकांगी दृष्टिकोण पूर्णतः स्वीकृत नहीं था। जो नियम नारियों के लिए थे वे ही पुरुषों के लिए भी थे।

३ इन आख्यानों की सच्चाई में सन्देह की आशंका हो सकती है, किन्तु उन्हें निरन्तर आदर्श के रूप में अपनाने वाली भारतीय नारी पर उनके प्रभाव में शंका नहीं की जा सकती। उसने पातिव्रत्य का पालन अत्यन्त विषम परिस्थितियों में, अपने प्राणों को संकट में डाल कर भी किया है। उसने सीता और सावित्री का आदर्श सदैव अपने सम्मुख रखा है।

४. सीता और शकुन्तला जैसी पवित्र और सती-साध्वी नारियों का दृष्टान्त इस बात का प्रमाण है कि नारियों पर पुरुषों की 'सर्वतोमुखी' प्रभुता थी। राम ने अग्नि द्वारा परीक्षित सीता को लोकापवाद के भय से हिंसक पशुओं से भरे वन में छोड़ दिया और दुष्यन्त द्वारा प्रत्याख्यान किए जाने पर भी ऋषिकुमार शारद्वत शकुन्तला को राजा की मर्जी पर छोड़ कर लौट गया।

इन्ही दिनों परिव्राजको द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों क कर्मकाण्ड प्रधान धर्म का प्रबल विरोध किया गया एव वैराग्यमूलक बौद्ध धर्म और जैन धर्म का प्रसार हुआ। वैदिक धर्म से सम्बद्ध षड्दर्शनो का भी निर्माण हुआ। इस प्रकार भारत में सन्यास और निर्वाण की हवा बही।[१] इस धार्मिक परिप्रेक्ष्य ने भी नारी की स्थिति को गिराने में सहायता दी। ससार त्याग क लिए यह आवश्यक था कि नारी के प्रति विकर्षण के भाव पैदा किए जाएँ। अत, सन्यास मार्ग द्वारा जान-बूझ कर नारियों के प्रति गर्हा की भावना का प्रचार किया गया—नारी कामिनी है, चचल है, कपटी है, धोखा देने वाली है आदि। इससे नारी की स्वतन्त्रता को धक्का लगा। कामान्ध, चचल और अविश्वसनीय नारी की यत्नपूर्वक रक्षा करने का भार पुरुष पर आ पडा। बचपन में पिता, यौवन में पति और बुढापे में पुत्र उसकी रक्षा करे—यह सिद्धान्त बना। इसी कारण इस समय तक पति को पत्नी के ताडन का अधिकार भी मिला। इस युग में वराहमिहिर ही एकमात्र ऐसे चिन्तक हुए, जिन्होंने नारी निन्दक उन वैरागियों को फटकारा, जो स्वय अपनी इन्द्रियों के दास हो कर इसके लिए नारियो को दोषी ठहराते हैं। किन्तु, उनका प्रबल विरोध अरण्य रोदन सिद्ध हुआ। हम देखते हैं कि इस समय का सस्कृत-साहित्य—धर्मसूत्र, पुराण, स्मृति, रामायण, महा भारत आदि—नारी के प्रति अत्यन्त अनादर और निन्दा-सूचक वाक्यो से भरा हुआ है।[२]

ईसा की तीसरी शती से हिन्दू नारी के लिए पराधीनता, निन्दा, अशिक्षा, पर्दा, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, विधवा विवाह निषेध, सती प्रथा, सतीत्व आदि के एकांगी आदर्श और नैतिकता के दोहरे मानदण्ड द्वारा जो चतुर्दिक घेरा डाला गया, वह विभिन्न सामा जिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण उत्तरोत्तर जटिल होता गया। विभिन्न विदेशी आक्रमणो के कारण युद्ध और सघर्ष हुए, भारतीयों के मतभेद, वैमनस्य तथा सगठन के अभाव के कारण भारत परतन्त्र हुआ और बिलकुल विभिन्न आचार विचार वाले इस्लाम धर्म के अनुयायियों से बहुत दिनो तक, और बाद में ईसाई धर्मावलम्बियों से अपेक्षाकृत कम समय तक, हिन्दू धर्म का लोहा लेना पडा। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओ ने अच्छे अथवा बुरे सभी धार्मिक नियमों को वेद वाक्य माना। विदेशी शासकों द्वारा पराधीन बनाए गए गुलाम पुरुषों की गुलाम स्त्रियों की दुरवस्था का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

सौभाग्य से पाँच हजार वर्ष की पुरानी सभ्यता वाले इस देश में ज्ञान के कुछ ऐसे साधन थे कि यह कहने में अत्युक्ति नहीं कि हर एक भारतीय, वह पुरुष हो अथवा नारी, एक छोटा मोटा दार्शनिक था और आज भी है। उसमें श्रद्धा थी, अच्छी बातों को सुनने, समझने और ग्रहण करने की रुचि थी, भावुकता थी, ईश्वर में विश्वास था और पूर्वजन्म तथा स्वर्ग एव नरक की कल्पना थी, जिनका कोरी साक्षरता से अधिक महत्त्व है। बीसवीं

---

१ विभिन्न विदेशी—शकों, हूणों आदि के—आक्रमणों के ध्वसात्मक कार्यों न इस भावना के प्रचार में योग दिया।

२ इस भावना ने इतना जोर पकड़ा कि शकराचार्य ने नारी को 'नरक का द्वार' कहा और उनका अनुकरण करते हुए मध्य काल के सभी सन्तों ने नारी की निन्दा की एव उससे बचने का उपदेश दिया।

शताब्दी में, गाँधीजी के नेतृत्व में, जब इस आन्तरिक शक्ति को बाह्य शक्तियों का सहारा मिला, तो वह बाध तोड कर निकल पडी—जिसे देख कर अँगरेज शासकों और अन्य विदेशियों को भी चकित होना पडा।

सर्वप्रथम राजा राममोहन राय (सन् १७७४ १८३३ ई०) का ध्यान भारतीयों की इस हीन दशा की ओर गया। उनका नाम दो सुधारों से जुडा हुआ है—सती प्रथा का निषेध और अँगरेजी शिक्षा का प्रचार। सती प्रथा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नारी की स्थिति से है। सन् १८२६ ई० के एक कानून द्वारा विधवाओं को पति के शव के साथ जला देना एक अपराध माना जाने लगा और सन् १८६० १८६१ ई० तक यह प्रथा एकदम उठ गई। इस प्रकार नारी के उत्थान के इतिहास का प्रारम्भ हुआ।

यों भारत में नारियों की शोचनीय स्थिति में परिवर्त्तन लाने वाले प्रभाव ईसा की १६वी सदी से ही सक्रिय थे, किन्तु २०वीं शताब्दी भारतीय नारियों के लिए नवजागरण का सन्देश लेकर आई। सहस्रों वर्षो से निष्क्रिय, अधिकारवचित, उपचित, अनादृत, पराधीन 'अवला' ने इस नए युग में नई दीप्ति के साथ प्रवेश किया और वह अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट हुई। उसकी समस्याएँ देश की स्वातन्त्र्य समस्याओं के समानान्तर चलने वाली बन गई। राजनैतिक आन्दोलन के साथ ही, नारी आन्दोलन भी चला। प्रेमचन्द उन सभी के लेखक थे, वकील थे, उन्हें वाणी देने वाले थे, जो आहत, पीडित और दलित हैं। अत, जाने विगत कितने युगों से पद दलित होती रहने के बाद, जागृति के युग में प्रवेश करने वाली नारी के उन्नयन की कहानी उन्होंने किस प्रकार लिखी, इसके अनुशीलन से हम इस सत्य का पता लगा सकेंगे कि उनकी रचनाएँ अपने युग के मानदण्ड के आधार पर कितनी मूल्यवान हैं अथवा उनमें क्या त्रुटियाँ हैं या भविष्य के लिए उनमें क्या आदर्श सचित है और कौन से चिरन्तन सत्य हैं।

समाज में नारी की स्थिति हीन होने के कारण उसकी सर्वत्र – इतिहास, नीति ग्रन्थ, साहित्य आदि में—निन्दा ही होती चली आती थी। प्रेमचन्द ने महात्मा गाँधी के समान ही उसे पुरुष से श्रेष्ठ बताया। नारी में, पुरुष की तुलना में, पाशविक शक्ति अवश्य कम है, किन्तु वह अपनी सवा भावना, त्याग, क्षमा, सहनशीलता, वात्सल्य, श्रद्धा, एकनिष्ठ प्रेम आदि गुणों के कारण, पुरुष से महान् है। महात्मा गाँधी नारी के आत्मिक बल में विश्वास करने के कारण ही स्वातन्त्र्य संग्राम में उसे 'पिकेटिंग' का कार्य सौंपते थे। उनके पहले स्वामी दयानन्द के 'वेदों की ओर लौटो' के नारे से भी नारियों की स्थिति में सुधार होने लगा था, क्योंकि भारत के अतीत में नारी की स्थिति अत्यन्त सम्मानपूर्ण थी। प्रेमचन्द के कथा साहित्य में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति जो आस्था और श्रद्धा की भावनाएँ सर्वत्र मिलती हैं, उनके पीछे 'आर्यसमाज' का बहुत बडा योग है।

अब दो शब्द प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विषय में कहूँ।

प्रेमचन्द के नारी चित्रण का विवेचन आरम्भ करने के पूर्व यह आवश्यक समझा गया है कि भारतीय नारी का इतिहास, वैदिक युग से प्रारम्भ कर प्रेमचन्द के समय तक, पृष्ठभूमि के रूप में, प्रस्तुत किया जाए। अत, इस दृष्टि से उपरोक्त तथ्य दिए गए हैं।

प्रथम अध्याय में प्रेमचन्द के समय की नारी की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का विवेचन है। इससे हमें उन कारण तत्त्वों और प्रेरणा-स्रोतों का पता लग सका है, जिनसे प्रेमचन्द का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रभावित हुआ था और जिनके फलस्वरूप ही उन्होंने नारी जीवन की समस्याओं का अध्ययन और समाधान प्रस्तुत किए थे। दूसरा अध्याय उन विभिन्न *कथा-साहित्यों*—उर्दू, *बँगला*, *अँगरेजी तथा हिन्दी*—के विशिष्ट तत्त्वों का निर्देश करता है, जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव प्रेमचन्द पर पड़ा था। तीसरे अध्याय में वैवाहिक कुप्रथाएँ वर्णित हैं, जिनका नारी-जीवन से प्रकट सम्बन्ध है। चौथे और पाँचवें अध्याय दुखी और सुखी दाम्पत्य जीवन के मूल कारणों एव स्रोतों का निर्देश करते हैं। छठे अध्याय में नारी के चरमोत्कर्ष, मातृत्व, का विवेचन है। सातवाँ अध्याय नारी-जीवन में प्रेम के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता है। इसके बाद के दो अध्याय क्रमश: विधवाओं और पतिताओं की समस्याओं पर केन्द्रित हैं।

प्रेमचन्द का युग राष्ट्रीय जागृति और आन्दोलनों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन आन्दोलनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि नारियाँ भी घर की चहारदीवारी से बाहर निकल कर इनमें सम्मिलित हुई थीं। दसवाँ अध्याय इन्हीं आन्दोलनों के विवेचन से सम्बन्ध रखता है। इसके बाद के अध्यायों में नारी शिक्षा पर प्रेमचन्द के मन्तव्यों का विश्लेषण है। *ग्यारहवें अध्याय में पाश्चात्य और भारतीय सभ्यताओं के मौलिक भेदों का* निर्देश है। इसमें भारतीय नारियों पर पाश्चात्य सभ्यता के कुप्रभावों का उल्लेख है, साथ ही, नारी जाति के लिए भारतीय संस्कृति के आदर्शों की उपादेयता भी प्रतिपादित है। अन्तिम अध्याय प्रेमचन्द के दर्शन एव उनके नारी पात्रों के सम्बन्ध में है। प्रबन्ध में शोध से उपलब्ध निष्कर्षों के उपस्थापन के लिए 'उपसंहार' भी दिया गया है।

प्रेमचन्द की रचनाओं की तिथियों के विषय में ऐकमत्य का अभाव है। शोध-कार्य के लिए बुनियादी कठिनाई उपस्थित करनेवाले इस अनिश्चय को मैंने प्राचीन पत्र पत्रिकाओं, रचनाओं के प्रथम संस्करणों, उनकी भूमिकाओं आदि के प्रत्यक्ष (फर्स्ट हैण्ड) अनुशीलन द्वारा यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में *अनुसन्धान के नियमों का पालन करते हुए यह प्रयत्न किया* गया है कि विषय के स्वरूप को निस्सन्दिग्ध प्रामाणिकता के साथ उपस्थित किया जाए। *समस्त विवेचन एव निष्कर्ष, उपलब्ध सामग्री के प्रत्यक्ष अध्ययन के आधार पर, सप्रमाण* लिखे गए हैं। मेरा एकमात्र प्रयास सत्य के उद्घाटन और प्रतिपादन के लिए रहा है। अपनी रुचि अथवा व्यक्तिगत मान्यता को मैंने इस शोध-कार्य पर कहीं आरोपित नहीं किया है। अन्तस्साक्ष्य के लिए श्रीमती शिवरानी देवी लिखित पुस्तक 'प्रेमचन्द : घर में' तथा स्वय प्रेमचन्द के निबन्धों, भूमिकाओं, पत्रों और उद्‌गारों को ही आधार के रूप में स्वीकृत किया गया है। अनिवार्य होने पर यदि कहीं अनुमान से काम लेना भी पड़ा है, तो उसके लिए समस्त आधारों और स्रोतों को प्रस्तुत कर, यथासम्भव प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। प्रेमचन्द पर प्रकाशित आधुनिकतम आलोचना-ग्रन्थों, अनुसन्धान ग्रन्थों तथा लेखों से परिचय बनाए रखने की भी चेष्टा की गई है।

दो शब्द भाषा और मुद्रण के सम्बन्ध में भी। व्यक्तित्व प्रधान अथवा भाव प्रधान आलंकारिक तथा दुरूह शैली से बचने का प्रयत्न किया गया है। मैंने स्वयं 'कर्त्तव्य', 'तत्त्व', 'महत्त्व', 'वर्तमान', 'परिवर्त्तन' आदि शब्दों का संस्कृत रूप ही रखा है, किन्तु प्रेमचन्द साहित्य का उद्धरण देते हुए ये शब्द वहाँ मुद्रित रूप में जैसे हैं, वैसे ही रहने दिए गए हैं। उसी प्रकार प्रेमचन्द साहित्य में क्रिया और लिंग के सम्बन्ध में भी जो प्रयोग चिन्त्य माने जा सकते हैं, उन्हें ज्यों का त्यों रहने दिया गया है।

पटना विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने इस शोध प्रबन्ध का निर्देशन किया था। उनका आभार सादर स्मरण करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है क्योंकि यह तो उनके पथ-प्रदर्शन और प्रोत्साहन का परिणाम है कि मैं इस दुर्गम शोध कार्य को सम्पन्न कर सकी। आचार्य डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, डॉ॰ नगेन्द्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा डॉ॰ दीनदयालु गुप्त, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस प्रबन्ध के लेखन में कृपापूर्वक अपने सुझाव दिए थे। प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य पर प्रकाश डालने का जो कष्ट माननीया शिवरानी प्रेमचन्द ने उठाया, वह मेरे लिए सुखद स्मृति है। पटना विश्वविद्यालय के कला निकाय के तत्कालीन 'डीन' डॉ॰ काली किंकर दत्त, सम्प्रति उपकुलपति, मगध विश्वविद्यालय तथा अँगरेजी विभागाध्यक्ष डॉ॰ राधाकृष्ण सिन्हा ने शोध विषय के निर्धारण और नियोजन में जो अमूल्य सहायता दी थी, उसके लिए भी मैं ऋणी हूँ।

अपने पति श्री रामनारायण लाल एम॰ ए॰, बी॰ एल॰ न्यायकर्त्ता के प्रति मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ? अध्ययन और लेखन के क्रम में उनकी कृपा और प्रेरणा का मेरे लिए विशेष महत्त्व है।

उन हिन्दी हिन्दीतर देशी विदेशी लेखक-लेखिकाओं का भी मुझ पर आभार है, जिनकी रचनाओं से मुझे विषय नियोजन, वस्तु संधान एवं निष्कर्ष-स्थापन में सहायता मिली है।

यह शोध प्रबन्ध मेरे चार वर्षों के सतत श्रम का परिणाम है। मानव अपूर्ण है और उससे त्रुटियाँ होती हैं। मेरे इस प्रबन्ध में भी अनेक त्रुटियाँ रह गई होंगी, जिनके लिए मैं क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

पटना
२१ जनवरी, १९६५

गीता लाल

विषय-तालिका

प्रेमचन्द का नारी-चित्रण

: १ :

प्रेमचंद-युग मे नारी की स्थिति

भूमिका में हमने वैदिक युग से १६वीं सदी क प्रारम्भ तक की भारतीय नारी की स्थिति का, उसकी कारणभूत राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों का विवरण प्रस्तुत किया है। हमने देखा है कि प्रेमचन्द-युग क कुछ पूर्व भारतीय नारी, अपवाद स्वरूप कुछ स्त्रियों को छोडकर, अशिक्षित, पराधीन और पर्दानशीन थी। वह घर की चहारदीवारी में कैद और वैवाहिक रीतियों तथा सती प्रथा का शिकार थी। वह सतीत्व क एकागी आदर्श क पालन क लिए बाध्य थी।[1] यह भी कहा जा चुका है कि यह सब होते हुए भी स्त्री और पुरुष दोनो को, उत्तराधिकार क रूप में, ५००० वर्ष पुरानी सभ्यता की सपत्ति मिली थी और ऊपर से दीन हीन, भोले भाले, गुलाम-वृत्ति वाले भारतीयों के अदर एक ऐसी शक्ति छिपी हुई थी, जो आतरिक ऐश्वर्य का सूचक थी।[2] इस दृष्टि से भारतीय नारी पुरुष से भी आगे कही जा सकती है, क्योंकि वह पुरुष की अपेक्षा अधिक

1 " for practical purpose, while acknowledging the brilliant women poets philosophers, heroins sages of the Vedic and Mahabharat times, the famous propagandists, educationists administrators of Buddhist times, the romantic women of statecraft and inspirers of great art and human love of the Moghul times and women patriots within near historic times such as Padmini the mother of Sivaji Ahalyabai, Lakshmi of Jhansi yet the condition of womanhood as a generality all over India is seen at the end of 1837 as at its lowest point of literacy, of individuality, of health, of social status, of economic status or powers "

मारगरेट ई० कजिंस, इडियन वुमनहुड टु-डे, पृष्ठ १५

2 "Let it be said at once that within this picture there was a veiled strength and inherited *wisdom and race-culture that ran in the blood of all the Indian* people, inheritors as they were and are of the continuous history of 5,000 years now demonstrated by the excavations of Mohenjodaro and elsewhere Pictures, sculptures, art, and crafts are sources of knowledge, philosophy, social living are methods of civilisation as much as the vaunted way of reading and writing of the present world fashion of human development Every where I have found throughout the people, men and women of all communities in India nuances of cultural expression infinitely sensitive, full of reverence redolent of the finest good taste, all based on an other-wordliness not met with in the west, a sense of Oneness Being and Origin India will never be the same as Europe or America "

मारगरेट ई० कजिंस, इडियन वुमनहुड टु-डे, पृष्ठ १६

कुचली गई। उसमे पुरुष की अपेक्षा नैतिक बल भी अधिक था। इस आंतरिक भांडार को खोलने के लिए केवल अवसर का अभाव था, जो भारतीयों को न्यून रूप से १६वी सदी और पूर्ण मात्रा में २०वीं शताब्दी में विभिन्न नेताओं के पथ प्रदर्शन से मिला।

१६वी सदी में सर्वप्रथम सामाजिक और धार्मिक नेता राजा राममोहन राय (१७७४ १८३८) थे। उन्होंने नारी की हीन स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से सबसे पहले सती प्रथा के विरुद्ध प्रचार किया। इस प्रचार का कुछ परिणाम नहीं निकलने पर उन्होंने कानून से इसे बन्द कराना चाहा। उनके प्रयत्नों से सन् १८२६ के एक कानून द्वारा सती प्रथा को, जिसमें मृत पति के साथ उसकी विधवा पत्नी को जीवित जलाने की रीति थी, अपराध घोषित किया गया। उन्होंने विभिन्न सामाजिक सुधारों—शिक्षा-प्रचार, बहुविवाह निषेध, जाति-बंधन निषेध आदि—के लिए 'ब्रह्मसमाज' (१८२८) की स्थापना की। सती प्रथा को बंद कराने के बाद उनके सामने विधवा की समस्या भी आई, किन्तु उनकी मृत्यु हो जाने से, उनके द्वारा आगे कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका। बाद में ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा के दुर्निवार कष्टों से द्रवीभूत होकर विधवा विवाह का आंदोलन चलाया और उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १८५६ का 'विधवा पुनर्विवाह अधिनियम' बना। राजा राममोहन राय स्वयं प्राचीन साहित्य के अच्छे ज्ञाता और पोषक थे, अत उनके सुधार और प्रचार राष्ट्रीयता के लिए घातक नहीं थे। किन्तु, ब्रह्म समाज के नये नेतागण—देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन आदि—की समाज-सुधार भावना के पीछे ईसाईयत की नकल थी, पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव था।

पूना की सुधारवादी संस्था, 'प्रार्थना समाज' (१८६७), भी भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति अश्रद्धा और विरोध के भाव को लेकर आगे बढी। इन संस्थाओं के विरोध में स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२७-८३) ने 'आर्य समाज' (१८७५) की स्थापना की, जिसमें 'वेदों की ओर लौटो' का नारा था। स्त्रियों की स्थिति को सम्मानपूर्ण बनाने में आर्य समाज के कार्य श्लाघ्य हैं। इसने बाल विवाह के दोष बताए और ब्रह्मचर्य की महिमा गाई, वैदिक रीति से विवाह का समर्थन किया, अगणित विधवा विवाह सम्पन्न कराये और स्त्री शिक्षा में योग दिया। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसने भारतीयों में प्राचीन संस्कृति और साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न की, जो नारियों के उत्थान में सहायक हुआ। काँग्रेस के साथ प्रति वर्ष बैठनेवाली भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक परिषद् (१८८७) भी स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए विभिन्न प्रस्तावों को स्वीकृत करके जनता और सरकार का ध्यान उन कुरीतियों की ओर आकृष्ट करती रही, जिनके कारण स्त्रियों की हीन दशा थी। जातीय सभाओं ने भी, जो सामाजिक परिषदों के आधार पर बनी थीं, इन समस्याओं के समाधान में सहायता की।

इस प्रकार प्रेमचद के जन्म (१८८०) के लगभग आधी शताब्दी पूर्व से स्त्रियों की शोचनीय स्थिति में परिवर्त्तन लाने वाले प्रभाव जारी थे, जो पूरी १६वी सदी तक चलते रहे। किन्तु, २०वीं शताब्दी भारतीय नारियों के लिए एक नव-जागरण का संदेश लेकर आई। १६वी सदी तक के सुधारों के नेता पुरुष समाज के ही थे, किन्तु इस शताब्दी से

भारतीय नारियाँ भी अपने अधिकारो को प्राप्त करने के लिए गृह के घेरे से बाहर निकली। पिछली सदी तक सुधारो के प्रयत्न हो रहे थे, किंतु वर्त्तमान सदी के आरम्भ के बाद ही उनके सुपरिणाम देखने को मिले। इस समय तक उच्च शिक्षा प्राप्त नारियाँ अपने नये उत्तरदायित्वों का अनुभव करने लगी थी। उनका कार्य क्षेत्र बढ रहा था। सेवा की भावना और राष्ट्रीय प्रगति की आकाक्षा उनके हृदय में स्थान ले रही थी।

इस अध्याय में प्रेमचद के समय की नारी की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का वर्णन किया जाएगा, साथ ही उसे प्रभावित करनेवाली परिस्थितियो और कारणो का भी उल्लेख किया जाएगा। प्रेमचद के नारी चित्रण के लिए इस प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता स्वयसिद्ध है। इससे हमें उन कारण तत्त्वों और प्ररणा-स्रोतो का पता लग सकेगा, जिनसे प्रभावित होकर प्रमचद ने अपना नारी सबधी दृष्टिकोण बनाया, उससे सबद्ध समस्याओ का अध्ययन और समाधान प्रस्तुत किया था। कोई भी महान साहित्यकार अपने युग से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित करता है। और, यह बात प्रेमचद पर भी लागू है।

क. सामाजिक स्थिति —स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को अधोलिखित शीर्षको के अन्तर्गत विवेचित करके समझा जा सकता है —

१ वैवाहिक रीतियाँ,
२ स्त्री और पुरुष की समानता,
३ विधवा विवाह,
४. स्त्री शिक्षा,
५ पर्दा और
६ वेश्या वृत्ति।

१ वैवाहिक रीतियाँ

इस युग में बाल विवाह, वृद्धविवाह, अनमेल विवाह, बहुविवाह, अभिभावका द्वारा आयोजित विवाह, दहेज, विवाह सबध को कभी न टूटने देने वाला धार्मिक सस्कार मानना, आदि वैवाहिक रीतियाँ प्रचलित थीं। हिन्दू-समाज में स्त्री पुरुष के बीच कुछ ऐसी असमानताएँ थीं कि इन कुरीतियो के दुष्परिणाम स्त्रियो को ही अधिक भुगतने पडते थे।

बाल विवाह की प्रथा रहने के कारण छोटे छोटे बालक-बालिकाओं का विवाह कर दिया जाता था। सन् १६०१ की जन गणना के अनुसार ८० प्रतिशत लडकियाँ पूर्ण वय प्राप्त करने के पहले ही विवाहित हो जाती थी। ४० प्रतिशत कन्यायें १० से १५ वर्ष की अवस्था में और १० प्रतिशत पाँच से दस के बीच की उम्र में ब्याह दी जाती थीं। हर ७२ लडकी में एक लडकी का विवाह १—५ की उम्र में हो जाता था।[1] यों यह सख्या उतनी भया

१ कृष्ण प्रसाद कौल, द पोजीशन आव वीमेन इन इडियन सोसायटी, पृष्ठ ७

वनी नहीं ज्ञात होती, किन्तु भारत की जनसख्या को देखते हुए ऐसी अभागिनी लडकियों की सख्या बहुत अधिक थी।[१] इस प्रथा से वृद्धविवाह, अनमेल विवाह, बहुविवाह को भी प्रश्रय मिलता था और वाल विधवाओं की वृद्धि होती थी। रजोधर्म के पहले कन्याओं का विवाह हो जाना चाहिए, ऐसा नियम था। अत, कन्या के अभिभावक योग्य वर के अभाव में प्राय अयोग्य, बूढे, रोगी और अनेक पत्नियों वाले वरों से अपनी लडकियों का विवाह कर देते थ। इस प्रथा के कारण हिन्दू नारी की स्थिति बडी दयनीय हो गई थी। शीघ्र विवाह का अर्थ था, शीघ्र ही मातृपद का मिलना, जो उनके स्वास्थ्य को बुरी तरह नष्ट कर देता था। कम उम्र में सतान होने के कारण सतान भी दुर्बल और रोगी होती थी। भारतीय दिनोंदिन क्षीण और नि सत्व होते जा रहे थे। छोटी अवस्था में विवाह उनकी शिक्षा में भी वाधक था। ऐसी स्थिति में नारी के शारीरिक और मानसिक विकास का स्तर सहज ही अनुमेय है।

तत्कालीन सभी सुधार सस्थाओं ने वाल विवाह का तीव्र विरोध किया। १६वीं शताब्दी के अन्त और २०वी शताब्दी के प्रारम्भ में आर्य समाज और कॉंग्रेस के साथ प्रति वर्ष वैठनेवाली भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक परिषद् ने इन दोषो के विरुद्ध प्रस्ताव पारित करके और लोकमत पैदा करके उन्हें दूर करने के लिए सक्रिय प्रयत्न किये। महर्षि दयानन्द ने वैदिक आदर्श के आधार पर पुरुष और स्त्री के लिए विवाह की कम से कम उम्र २४ और १६ वर्ष ठहराई। उन्होंने शास्त्रों के प्रमाणों और युक्तियों के हलके से आघात से "अष्टवर्षा भवेत् गौरी" के मायाजाल को तोड दिया। शिक्षितों में बहुत छोटी उम्र के विवाह १६वीं शती के अत तक कम हो गए। वृद्धविवाह पर इसका अच्छा प्रभाव पडा और उसकी सख्या भी अपेक्षाकृत घटने लगी।[२]

इसके अतिरिक्त, पडितों और सनातनियों के तीव्र विरोध के बावजूद, सन् १६२६ में, सुधारकों ने, वाल विवाह निषेधक शारदा अधिनियम पारित कराया, जिसके अनुसार विवाह के समय कन्या की उम्र १४ और वर की आयु १८ वर्ष होनी चाहिए। इस कानून का प्रभाव भी भारतीय जनता पर पडा, किन्तु वह व्यापक नहीं था। कन्याओं की विवाह-अवस्था का स्तर ऊँचा करने में स्त्री शिक्षा, अभिभावकों की आर्थिक कठिनाइयाँ और शिक्षित तथा समय से प्रभावित माता पिताओं का बहुत बडा हाथ रहा।

इस युग के राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक नेता महात्मा गाँधी ने कहा— "वालविवाह से मुझे घृणा है और विधवा वालिका को देखकर मै काँपने लगता हूँ तथा स्त्री के देहात के पश्चात् तुरत विवाह करनेवाले पुरुष को देखकर मैं पागल हो जाता हूँ।"[३]

---

१ सन् १९२१ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार १ करोड़ बाल-पत्नियाँ थीं और आधा करोड़ बाल विधवाएँ, किन्तु कुल विधवाओं की सख्या २। करोड़ से अधिक थी।
चाँद, वर्ष ७, खड २ सख्या ३ में 'हमारी वैवाहिक खराबियाँ' नामक निबध।

२ इद्र वाचस्पति, आर्य समाज का इतिहास, पृष्ठ २९०

३ महिलाओं से, पृष्ठ २६

प्रेमचन्द ने बाल विवाह की भयावह स्थिति पर बहुत कम लिखा है। इसका कारण यह हो सकता है कि शिक्षितों में इसकी प्रथा मिट रही थी। फिर उपन्यास छोटी उम्र की नायिकाओं से बन जो नही सकते।

हिन्दू समाज में, विवाह के अभिभावक द्वारा आयोजित होने और विवाह योग्य कन्या की उम्र कम होने के कारण, विवाह में स्त्री का मत लेने का प्रश्न ही नही उठता था। विवाह के बाद, सामाजिक नियमों के अनुसार, स्त्री का बिना किसी प्रकार का विरोध किए, अच्छे या बुरे पति के साथ अपना जीवन निर्वाह करना होता था। विवाह संबंध का अविच्छेद्य बंधन और धार्मिक संस्कार मानने के कारण तलाक की आज्ञा नही थी, जिसके कारण हिन्दू स्त्री की स्थिति बड़ी दयनीय थी। यद्यपि यह अधिकार पति को भी नहीं था, किन्तु बहुविवाह, वेश्या वृत्ति, प्रतिपालिता रखने आदि की सुविधा के कारण वह अनौपचारिक रीति से पत्नी का परित्याग कर दे सकता था। वास्तविकता यह है कि और कोई आश्रय न होने के कारण पति द्वारा त्यक्त स्त्री की अवस्था तलाक दी हुई स्त्री से भी बुरी होती थी। यदि ऐसी हालत मे कोई आत्माभिमानी पत्नी पति से अलग रहना चाहती थी, तो भरण पोषण का खर्च उसे दो ही हालतों में पति द्वारा मिल सकता था। पहली तो यह कि पति ने अन्य स्त्री से संबंध स्थापित कर अपनी पत्नी को निराश्रित छोड दिया हो और दूसरी यह कि पति की क्रूरता ने पत्नी के जीवन को संकट में डाल दिया हो। किन्तु, किसी भी स्थिति में विवाहित स्त्री को पति से छुटकारा नही मिल सकता था। पति पागल, क्रोधी, निर्दय, कोढ़ी हो सकता था या उस पर सौतें लाद सकता था, किन्तु ये कारण किसी आत्मसम्मानप्रिय पत्नी का पति से अलग रहना न्याय्य नही ठहरा सकते थे। इस स्थिति में उसे गुजारा तक नही मिल सकता था।[1] इसके विपरीत हिन्दू-समाज में ही, शूद्र स्त्री जब चाहती थी, तलाक दे सकती थी। जाति की पचायत द्वारा पति से छुटकारा पाने पर वह दूसरा विवाह भी कर सकती थी।

भारत में तलाक के लिए प्रस्ताव सर्वप्रथम भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक परिषद् द्वारा, सन् १९२४ में, उसके लखनऊ के वार्षिक अधिवेशन में लाया गया। किन्तु, इसे तीव्र विरोध का सामना करना पडा। कुछ महीनों बाद इसके दूसरे अधिवेशन में, जो कानपुर में हुआ, पुन यह प्रस्ताव अल्प बहुमत द्वारा अस्वीकृत हो गया।[2] इस समय भारत की पत्र पत्रिकाओं में तलाक के पक्ष और विपक्ष में खूब चर्चा होती थी।[3] बड़ौदा राज्य की सरकार ने सन् १९०१ में 'हिन्दू तलाक कानून' बना भी डाला, फिर भी मतभेद समाप्त नहीं हुआ।[4]

---

१ 'हिन्दू विवाह अधिनियम' (१९५५) के अनुसार आज नारी को समानाधिकार प्राप्त हो गया है।

२ कृष्ण प्रसाद कौल, द पोजीशन आव वीमेन इन इंडियन सोसायटी, पृष्ठ ११

३ चाँद वर्ष ७, खंड २ (१९२९) में भारतवर्ष और तलाक', तलाक प्रथा की आवश्यकता', 'हिंदूधर्म और तलाक' तथा चाँद वर्ष ८ खंड २ (१९३०) में 'विवाह विच्छेद' नामक लेख और 'हिंदू समाज और तलाक' शीर्षक संपादकीय।

४ प्रेमचद ने भी 'कर्मभूमि' (१९३१ ३२) और 'गोदान' (१९३६) उपन्यास तथा सुहाग का शव' आदि कहानियों में तलाक की समस्या पर विचार किया है।

सन् १६२३ के 'विशेष विवाह-कानून' द्वारा, जो सन् १८७२ के तत्सबद्ध कानून का सुधरा रूप ही था, स्त्रियों को अधिक अधिकार प्राप्त हो सकते थे, बशर्ते उनका विवाह इस कानून से हुआ हो। इसके आधार पर किसी भी जाति की स्त्री किसी भी जाति के पुरुष से निबधन के द्वारा विवाह कर सकती थी। विवाह की मान्यता के लिए दोनों पक्षों का मत अनिवाय था और पहली स्त्री के जीवनकाल में पुरुष दूसरा विवाह नहीं कर सकता था। 'भारतीय तलाक कानून' भी इस कानून के अनुसार किए विवाह पर लागू था। पुरुष के धर्म परिवर्तन दूसरा विवाह और व्यभिचार करने पर, या स्त्री के साथ क्रूरता या स्त्री परित्याग करने पर स्त्री को तलाक पाने का अधिकार था। यदि पति नपुसक हो, अथवा पागल हो, अथवा उसकी पहली पत्नी जीवित हो, तो विवाह को निष्फल घोषित किया जा सकता था।[1] इस प्रकार इस कानून से हिंदू पत्नी की कानूनी हालत बहुत अच्छी हो सकती थी। प्रश्न केवल विवाह को इस कानून के अन्तर्गत निबधित कराने का था, जो बड़ी आसानी से हो सकता था। किंतु, हिंदू-स्त्री ने अज्ञानवश अथवा अपने विवाह में अपना मत रखने का अधिकार न पाने के कारण, अथवा लोकलाज के भय से इस कानून का उपयोग नहीं किया। हाँ, कुछ उच्चशिक्षा प्राप्त युवकों और युवतियों द्वारा अन्तर्जातीय विवाह के लिए इसका उपयोग किया गया।

प्रेमचद ने अभिभावकों द्वारा आयोजित विवाह की कठिनाइयों का प्राय प्रत्येक उपन्यास में वर्णन किया है और वे विवाह से पूर्व स्त्री और पुरुष की अनुमति आवश्यक समझते थे। 'कायाकल्प' के यशोदानदन अहल्या की अनुमति लेने के लिए चक्रधर को अपने साथ अपने घर ले जाते हैं—"मैं चाहता हूँ कि आप एक बार अहल्या से मिल लें। यों तो मैं मन से आपको अपना दामाद बना चुका, पर अहल्या की अनुमति ले लेना आवश्यक समझता हूँ। आप भी शायद यह पसद नहीं करेंगे कि मैं इस विषय में स्वेच्छा से काम लूँ।"[2]

प्रेमचद ने तलाक की चर्चा छिड़ने पर अपने दो अतिम उपन्यासों—'कर्मभूमि' (१६३१ ३२) और 'गोदान' (१६३६) में तथा कुछेक कहानियों—'सुहाग का शव' आदि में इस विषय पर विचार किया है और साधारणत वे इसके विरोधी हैं।[3] गोदान के मेहता कहते हैं, "विवाह को मैं सामाजिक समझौता मानता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।"[4]

प्रेमचद के युग में प्रचलित दहेज प्रथा विवाह सबधों में कोढ में खाज सिद्ध हो रही थी। बहुतेरे सुधारकों ने बेमेल विवाह, बहुविवाह और वृद्धविवाह का मूल

---

१ आर० जी० बरवे द प्रेजेंट पोजीशन आव हिंदू वीमेन पृष्ठ ८

२ कायाकल्प पृष्ठ १६

३ डा मदान के नाम एक पत्र में प्रेमचद ने अपवाद के रूप में तलाक को मान्यता दी है प्रेमचद एक विवेचना, परिशिष्ट २ पत्र-सख्या १

४ गोदान पृष्ठ ७७

कारण इस ही ठहराया था। लडकी के गुणों और सौंदर्य का दहेज के आगे कुछ मूल्य नहीं था। अत गरीब घरों की सु दर और सुशिक्षित लडकियाँ बहुधा, दहेज के अभाव में, कुपात्रों के गले मढ दी जाती थी क्योंकि विवाह एक अनिवार्य धार्मिक कर्त्तव्य था। कितनी युवतियाँ माता पिता की चिंता देख कर आत्महत्या तक कर लेती थी।[1] इस प्रथा ने स्त्रिया की सामाजिक स्थिति को अत्यत हीन कर दिया था। कन्या के जन्म को विरले ही किसी घर में हप का हेतु माना जाता था। ससुराल में भी उसका आदर नही था। प्राय उसके स्वास्थ्य की देख-रेख अच्छी तरह नही की जाती थी क्योंकि उसके देहात के बाद पुन दहेज लेकर उसके पति का दूसरा विवाह हो सकता था। यदि दुर्भाग्यवश लडकी के पिता ने निश्चित दहेज की रकम विवाह के समय न दे दी, तो प्राय इसका दड कन्या को आजीवन भुगतना पडता था। इस अपराध पर उस पर सौत लाकर भी बिठायी जा सकती थी और वह मायके में अपने दुर्भाग्य के दिन व्यतीत करती थी। इस युग में दहेज के दुष्परिणामों पर अनगिनत उपन्यास, कहानियाँ, लेख और सपादकीय टिप्पणियाँ लिखी गई। प्रेमचद का 'सेवासदन' और 'निर्मला' उपन्यास तथा 'उद्धार', 'एक आँच की कसर', 'कुसुम' आदि कहानियाँ इसी कुप्रथा के आधार पर निर्मित हैं। प्रमचद ने दहज पर बहुत लिखा है, सम्भवत उसका काई अग अछूता नहीं छोडा है।

२ स्त्री-पुरुष की समानता

स्त्रिया और पुरुषों में सामाजिक और कानूनी दृष्टि से बहुत अतर था। जहाँ पुरुष अपनी पत्नी के जीवित रहते हुए भी कई विवाह कर सकता था, वहाँ स्त्री के लिए चाहे वह बाल विधवा ही क्यों न हो, पुनर्विवाह पाप था। हिंदू-समाज का पुरुष के प्रति यह बहुत बडा पक्षपात था। एक ओर वह उस वृद्ध को, जो तीन-चौथाई मृत हो, एक बच्ची से भी विवाह करने की आज्ञा देता था, किन्तु दूसरी ओर ऐसे पति की मृत्यु पर भी उस लडकी को, जिसने अभी अपनी किशोरावस्था पार ही की हो, पुनर्विवाह की आज्ञा नही देता था। समाज के न्याय का मानदड स्त्री और पुरुष के लिए एक नही था। एक ओर विधवा यह सोचने को मजबूर थी कि उसने अपने पूर्वजन्म के दुष्कर्मों का फल पाया है, दूसरी ओर विधुर पर इस प्रकार का कोई बधन नही था। वह बार-बार विवाह कर अपना जीवन सुखमय बना सकता था। स्त्री पुरुष को खोती थी और पुरुष स्त्री को, किंतु स्त्री का सर्वस्व लुट जाता था, जब कि पुरुष का कुछ नही बिगडता था। आज भी विधवा ही सौभाग्य चिह्नों को हटाती है, सादे वस्त्र धारण करती है और रूखा-सूखा खाकर त्यागमय जीवन व्यतीत करती है, विधुर तो दूसरा विवाह करके नई स्त्री के साथ सुखमय दाम्पत्य जीवन व्यतीत करता है।[2]

इसी प्रकार नैतिक भूलें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम ही करती थी, किन्तु समाज की दृष्टि में पुरुष का जो कार्य क्षम्य था, या कम-से-कम सह्य तो था ही, वही स्त्री के

१ सपादकीय चाद वर्ष १, खड १, सख्या २

२ श्यामकुमारी नेहरू, अवर काज पृष्ठ २-२

लिए बिलकुल गर्हित था और उसके लिए कानूनी और सामाजिक दंड का विधान था। सबसे क्रूर दंड तो यह था कि वह स्त्री फिर समाज में किसी प्रकार स्वीकृत नहीं होती थी, सभी उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। अतः वह या तो आत्महत्या करती थी, अथवा वेश्यावृत्ति स्वीकार करती थी या ईसाई अथवा इसलाम धर्म ग्रहण कर पारिवारिक जीवन व्यतीत करती थी।

इसी प्रकार पति पागल, कोढ़ी, क्रोधी, लूला, लँगडा, कुरूप जैसा भी हो, स्त्री का प्रथम कर्त्तव्य था कि वह पति की इच्छाओं और आज्ञाओं के आगे सर झुकाए और उसके संरक्षण में रहे। पुरुष को, इसके विपरीत, अनेक सुविधाजनक अधिकार प्राप्त थे। वह सुंदर, सुशील स्त्री को भी अकारण ही छोडकर दूसरी स्त्री के साथ विवाह कर सकता था या उसे घर में रख ले सकता था। इस प्रकार स्त्री के लिए नैतिकता के निर्वाह का दोहरा मानदंड था। एक ओर उसे अपने पति के उन्हीं चरणों की पूजा करनी होती थी, जिनसे वह उसे ठुकराता था, दूसरी ओर पुरुष के लिए कोई नियम, कोई बंधन नहीं था।

स्त्री शिक्षा, स्वतन्त्रता, सांपत्तिक उत्तराधिकार सभी से वंचित थी।[१] उसकी सारी शक्तियाँ केवल एक मनुष्य अथवा एक परिवार तक सीमित थीं। अवसर के अभाव में उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास नहीं होता था और वह पुरुष की तुलना में दिनोंदिन कमजोर होती जाती थी। गाँधीजी ने स्त्री और पुरुष की इसी असमानता को लक्ष्य करके एक बार कहा था, "अक्सर स्त्रियों का बहुत-सा समय आवश्यक घरेलू कार्यों में नहीं, बल्कि अपने-अपने पति के अहपूर्ण सुख की तृप्ति में ही बीतता है। मेरे विचार से स्त्रियों की यह गुलामी हमारी असभ्यता का चिह्न है। मेरी राय में भोजनालय की भी गुलामी, विशेषतः हमारी असभ्यता का अवशेष है। यही समय है कि हमारा स्त्री-समाज इस बंधन से मुक्त हो जाय। स्त्री का सारा समय घरेलू कार्यों में नहीं लगना चाहिए"।[२] नारी आन्दोलन से संबद्ध विभिन्न परिषदों ने नारी के समानाधिकार के लिए आन्दोलन किया और पढ़ी लिखी जनता के मस्तिष्क में हलचल मचा दी। साधारण नारियाँ भी समानाधिकार की माँग करने लगी। कुछ विचारकों ने इसे पश्चिम की नारी का अनुकरण कहकर इसे हेय बताया और अधिकार प्राप्ति की अपेक्षा कर्त्तव्य की ओर नारियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा। किन्तु, भारतीय नारियों ने इसकी परवाह नहीं की। गाँधीजी ने इसका प्रबल समर्थन किया था—"कानूनन उन्हें (स्त्रियों को) पुरुषों की अपेक्षा किसी प्रकार शक्तिहीन नहीं रखना चाहिए। मैं तो लड़कों और लड़कियों के बीच पूर्ण समानता का व्यवहार करना चाहता हूँ।"[३]

ब्रह्म समाज ने पाश्चात्य विचारधारा के आधार पर तथा *आर्य समाज* ने वैदिक संस्कृति के आधार पर स्त्रियों के समान अधिकार की माँग की। शिक्षित और सुसंस्कृत

---

१. पूर्वोक्त सन् १९२३ के विशेष विवाह-कानून में नारी को सांपत्तिक अधिकार मिले थे, किन्तु यह *कहा जा चुका है कि उसका उपयोग नहीं होने के कारण, वह ९९% व्यर्थ ही था।*

२. महिलाओं से, पृष्ठ २६१

३. महिलाओं से, पृष्ठ २४

बहुत महत्त्वपूर्ण काय किये। विधवाओं के विवाह आर्यसमाज धर्म के अनुसार ही सम्पन्न हुए। एक समकालीन सुधारक, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२० ९१), का नाम इस दृष्टि से स्मरणीय है। उन्होंने अपना जीवन इस समस्या के समाधान में लगा दिया। विधवा विवाह की युक्तियुक्तता में उन्हे दृढ विश्वास था। उन्होंने भी शास्त्रों के आधार पर विधवा विवाह आन्दोलन चलाया। उनके सामने अब यह समस्या आयी कि इन विवाहों को कानूनी मान्यता कैसे मिले? यह उन्ही के प्रयत्नों का फल है कि सन् १८५६ ई० का 'हिन्दू विधवा पुनर्विवाह-अधिनियम' बना। इस अधिनियम ने उच्च जातियो में विधवा विवाह सम्भव किया। किन्तु, कानून बन जाने पर भी उच्च जातियाँ इस आवश्यक सुधार से तटस्थ रही। अत, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने जनमत तैयार करने के लिए 'विधवा विवाह' नामक एक पुस्तक लिखी। उन्होंने इस विषय पर कई निबन्ध भी प्रकाशित कराए। इसके व्यावहारिक पक्ष के रूप में उन्होने सन् १८६५ ई० में सर्वप्रथम कुलीन ब्राह्मणों में विधवा-विवाह कराया। यद्यपि विद्यासागर और उनके मित्रो ने शास्त्रों से विधवा विवाह का पक्ष समर्थन किया, फिर भी वे केवल धार्मिक दृष्टि से इस प्रश्न की ओर अग्रसर नहा हुए थे, बल्कि इसे उन्होंने सामाजिक समस्या और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के रूप में देखा था।

विधवाओं की हीन दशा केवल उनके पुनर्विवाह से नहीं सुधर सकती थी, फिर सभी उम्र की विधवाओं का पुनर्विवाह असम्भव भी था। अत, विद्यासागर के मित्र शशिपाद बनर्जी ने कलकत्ता के पास बराहनगर में, सन् १८७७ ई० में, प्रथम विधवाश्रम स्थापित किया। यह गृह अनाथ विधवाओं को आश्रय देने के साथ-साथ उन्हें व्यावसायिक शिक्षा भी देता था। पुनर्विवाह इस आश्रम में गौण तत्त्व था और शिक्षा मुख्य। उन्हे शिक्षिका बनने और गृह विज्ञान तथा गृह उद्योग की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार पुनर्विवाह का प्रश्न पृष्ठभूमि में छोड कर और विधवाओ की उचित शिक्षा का प्रबन्ध कर, इस सुधारक ने विधवाओं के प्रति जनता में करुणा और दया की भावना जाग्रत की। परिणामस्वरूप इस प्रकार की अन्य संस्थाएँ भी देश में खुलने लगी। इस क्षेत्र में महाराष्ट्र के प्रयत्न श्लाघ्य थे।[1]

महाराष्ट्र में गोविन्द रानाडे (१८४२ १९०१) ने देखा कि निर्दोष विधवाएँ निन्दा का पात्र बनी रहती हैं। उन्होने 'विधवा विवाह परिषद्' (१८६१) के प्रचारक के पद से विधवाओ के पक्ष-समर्थन के लिए 'इन्दु प्रकाश' में आन्दोलन चलाया। उस समय 'शास्त्रों के आधार पर विधवा विवाह'—शीर्षक विषय पर शकराचार्य के सभापतित्व में, पूना में, वाद विवाद हुआ। प० विष्णु शास्त्री की, जो इसके सुधार के पक्ष में थे, मदद रानाडे कर रहे थे और नारायणाचार्य गजेन्द्र गडकर की, जिन्होने कट्टरपंथी, सनातनी विचार का समर्थन किया था, सहायता विठोवा अणा दफ्तरदार कर रहे थे। यह वाद विवाद नौ दिनों तक होता रहा। यद्यपि विद्वानों का निर्णय सुधारकों के विपक्ष में ही रहा, फिर भी इस प्रश्न ने जनता के हृदय में स्थान पा लिया। वह बडी रुचि के साथ इस समस्या पर वाद

१. के० सी० व्यास, सोशल रिनेसेंस इन इण्डिया, पृष्ठ १३२ ४

विवाद और विचार करने लगी। वाद विवाद का वातावरण कठिनाई से शान्त हुआ था कि 'विधवा-विवाह-परिषद्' ने प्रथम विधवा-विवाह सम्पन्न कराया।[१]

इसी प्रकार प्रो॰ कर्वे (१८५८) ने, जिन्होंने अपने सम्मुख हमेशा स्त्रियों की सेवा का आदर्श रखा, जब अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद ११ मार्च, सन् १८९३ में, एक विधवा से विवाह किया, तो कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने उन्हें समाज बहिष्कृत कर दिया। प्रो॰ कर्वे और उनकी पत्नी ने इन सभी आक्रमणों को धैर्य, साहस और अपने कार्य की अच्छाइयों में दृढ विश्वास रख कर सहा।[२]

प्रो॰ कर्वे ने विधवा-विवाह के प्रयोजन को गति देने के लिए विधवा विवाह परिषद् को पुनरुज्जीवित करने की बात सोची और परिषद् के उद्देश्य में हलका-सा परिवर्तन कर दिया। यह संस्था 'विधवा-विवाह को प्रोत्साहन' देने के लिए स्थापित हुई थी। किन्तु, इन्होंने इसे 'विधवा विवाह की बाधाओं को हटाने वाली परिषद्' का नाम दिया। परिषद् ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए लाभदायक कार्य किये।

सात वर्षों के बाद, सन् १९०० ई॰ में, प्रो॰ कर्वे ने परिषद् के मन्त्रित्व से त्याग पत्र दे कर विधवाओं की उन्नति की ओर अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक ढंग से ध्यान दिया। उन्होंने देखा कि केवल प्रचार-कार्य और विधवा विवाह का निरोध हटा कर ही विधवाओं के भाग्य को नहीं बदला जा सकता। उन्होंने धीरे धीरे यह अनुभव किया कि यदि विधवाएँ शिक्षित हों और कुछ हितकारी कार्यों के लिए प्रशिक्षित की जाएँ, तो वे अपने को सहारा देने में समर्थ हो सकेंगी और साथ ही उनमें आत्मविश्वास की भावना का भी उदय होगा। इससे उन्हें अपने सम्बन्धियों पर निर्भर होने के लिए विवश नहीं होना पड़ेगा। और, यदि एक बार व स्वतन्त्र और आत्मविश्वासी हो जाती हैं, तो उन्हें जीवन का एक नया आनन्द मिलेगा और उनका जीवन गतिशील होगा। इसे ध्यान में रख कर उन्होंने, सन् १८९६ ई॰ में, एक 'हिन्दू विधवा-आश्रम' की स्थापना की और सन् १९०७ ई॰ में इसके साथ 'महिला विद्यालय'[३] भी जोड़ दिया, जिसमें विधवाओं को नर्स, दाई और शिक्षिका बन सकने का प्रशिक्षण दिया जा सके। इसको कार्य-रूप में परिणत करने के लिए कुछ ऐसे योग्य व्यक्तियों की जरूरत थी, जो आत्मत्याग की भावना से प्रेरित हों। अतः, उन्होंने सन् १९१० ई॰ में 'निष्काम कर्म मठ' की भी स्थापना की।

महात्मा गाँधी भी विधवा विवाह के विषय में स्पष्ट विचार रखते थे—"मैंने कई बार कहा है, विधवा स्त्री को पुनर्विवाह का उतना ही अधिकार है, जितना पुरुष को। स्वेच्छा से वैधव्य हिन्दू समाज का अमूल्य वरदान है, परन्तु ऊपर से लादा हुआ वैधव्य अभिशाप है और मुझे विश्वास है कि यदि हिन्दू विधवाएँ जनमत के भय से मुक्त हों, तो व बिना हिचक के पुनर्विवाह कर लेंगी। ...यह किसी संस्था का काम नहीं, बल्कि व्यक्तिगत

---

१ के॰ सो॰ व्यास, सोशल रिनैसेंस इन इण्डिया, पृष्ठ १३६-३७

२. के॰ सो॰ व्यास, सोशल रिनैसेंस इन इण्डिया, पृष्ठ १६२

३ यह विद्यालय सन् १९१६ ई॰ में 'इण्डियन वीमेंस यूनिवर्सिटी' के नाम से परिचित हुआ।

सुधारकों तथा इन विधवाओं के सम्बन्धियों द्वारा किया जानेवाला कार्य है। जब विधवाएँ बड़ी हो जाएँ और विवाह नहीं करना चाहें, तो उनको केवल यही कहना चाहिए कि वे कुमारी कन्याओं की ही तरह विवाह करने को स्वतन्त्र हैं।"[१] गाँधीजी ने बाल विधवाओं के अस्तित्व को हिन्दू धर्म पर कलंक माना था और बच्चियों को 'विधवा' कहना, उनकी दृष्टि में उस शब्द का, उस भाषा का, अपमान था। उनका विवाह होना चाहिए, न कि पुनर्विवाह।

देश और समाज की उन्नति की इच्छा रखने वाले सभी सुधारक विधवाओं की दशा सुधारने के इच्छुक रहे क्योंकि इस बुराई ने समाज में अन्य बुराइयों को जन्म दिया था, साथ ही समाज के एक अंग को कष्ट से मुक्त करने का प्रश्न भी था। असंख्य विधवाएँ बेची और भगायी जा रही थीं, उनमें से कितनी वेश्यावृत्ति के लिए विवश होती थीं और जाने कितनी धर्म परिवर्त्तन के लिए विवश होती थी। ढाई करोड़ विधवाओं से, जिनमें लाखों वैसी भी थी, जिन्हें अपने विवाह का स्मरण तक नहीं था, यह आशा करना कि वे सारे प्रलोभनों, कष्टों और अज्ञान के बावजूद अपने चरित्र पर दृढ़ रह सकेंगी, न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता था। अतः, सुधारकों ने इस प्रश्न के नैतिक और आर्थिक—दोनों पहलुओं को ध्यान में रखते हुए पुनर्विवाह और विधवाश्रमों की स्थापना पर जोर दिया। समानता और वेद शास्त्रों के आधार पर विधवा विवाह का समर्थन उस समय सामान्य बात थी। फिर भी समाज-बहिष्कार, बद्धमूल संस्कार और लोकनिन्दा के भय से इसका प्रचलन बहुत कम हुआ। हम देख चुके हैं कि प्रायः सभी सुधारक विधवा विवाह-आन्दोलन से विमुख होकर आश्रमों की स्थापना की ओर झुके। इसका यही कारण था कि व्यक्तिगत रूप से विधवा विवाह सम्भव हो गया था, पर लोकमत इसके पक्ष में नहीं था। आश्रम भी व्यक्तिगत रूप से ही खोले जाते थे। इसी कारण, समस्या की भयंकरता के बावजूद, आश्रमों की संख्या कम ही थी।[२]

प्रेमचन्द ने स्वयं एक बाल विधवा से विवाह किया था, अतः इस समस्या के सभी पहलुओं पर हम उन्हें गम्भीरता से मत प्रकट करते हुए देखते हैं। 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा और 'प्रेमाश्रम' की गायत्री के रूप में उन्होंने कष्टों और प्रलोभनों से घिरी हुई युवती विधवा का चित्रण किया है और प्रतिज्ञा के अन्त में एक उच्च कोटि के विधवाश्रम की स्थापना करायी है, जिसमें पूर्णा तथा उसकी जैसी निराश्रिता अथवा पीड़ित अभागिनी विधवाओं को शरण मिलती है। बाल विधवाओं के पुनर्विवाह के विषय में उनकी एक कहानी 'धिक्कार' से यह उद्धरण पर्याप्त होगा—"मैं विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं हूँ। मेरा खयाल है कि पातिव्रत्य का यह अलौकिक आदर्श संसार का अमूल्य रत्न है और हमें बहुत सोच समझ कर उस पर आघात करना चाहिए, लेकिन मानी[३] के विषय में यह बात ही नहीं उठती। प्रेम और भक्ति नाम से नहीं, व्यक्ति से होती है। जिस पुरुष की

---

१ महिलाओं से पृष्ठ १६७

२ चाँद का 'विधवा विशेषांक'।

३ प्रस्तुत कहानी की बाल विधवा नायिका।

उसने सूरत भी नहीं देखी, उससे उसे प्रेम नहीं हो सकता। केवल रस्म की बात है। इस आडम्बर की, इस दिखावे की, हमें परवाह न करनी चाहिए।"[1]

४. स्त्री-शिक्षा

अँगरेजी शिक्षा का प्रारम्भ होने के पूर्व भारत में देशी स्कूल थे, जो बनावट में अनिवार्यतः धार्मिक थे और ज्ञान को आध्यात्मिक उन्नति का साधन समझते थे। मक्तबा में अरबी और विद्यालयों में संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी। इन स्कूलों में लड़के-लड़कियाँ दोनों पढ़ते थे। मेकाले के प्रभाव से अँगरेजी भाषा राजभाषा और शिक्षा का माध्यम बनी। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से देशी स्कूल बन्द होने लगे और भारतीय जनता धीरे धीरे अज्ञान के अन्धकार की ओर बढ़ती गई। केवल थोड़े-से सुविधा-प्राप्त बालक अँगरेजी शिक्षा ग्रहण करने लगे। इस शिक्षा पद्धति में ज्ञान प्राप्ति अथवा चरित्र-निर्माण की अपेक्षा, परीक्षा में उत्तीर्ण होना, अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। सरकारी नीति के कारण इसमें धार्मिक शिक्षा का अभाव था। अतः, संस्कृति और आध्यात्मिक उद्देश्य के विपरीत, शिक्षा का महत्त्व, उसके द्वारा पाने वाली सरकारी नौकरियों की उपयोगिता से आँका जाने लगा। शिक्षा के प्रति ऐसे दृष्टिकोण के कारण लड़कियों की शिक्षा में बहुत बाधा पहुँची। पत्नी और माता बनने के लिए अँगरेजी शिक्षा का महत्त्व लड़कियों के लिए नहीं समझा गया, क्योंकि उन्हें नौकरी नहीं करनी थी। उनके माता पिता धर्म-विहीन शिक्षा के विरुद्ध भी थे। फिर सबसे बड़ी बात यह थी कि सरकारी स्कूल केवल लड़कों के लिए थे। लड़कियों के लिए बहुत मंद गति से स्कूल खुल रहे थे। सन् १८५४ ई० के सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-योजना में लड़कियों को लड़कों के स्कूलों में जाने के लिए प्रोत्साहन मिला। फिर भी उपर्युक्त कारणों तथा पर्दा और बाल-विवाह-प्रथा ने भी, बहुत दिनों तक, स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा।[2]

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ के पहले स्त्रियों में शिक्षा का अत्यन्त अभाव रहा। ब्रिटिश सरकार बार-बार जन-शिक्षा और स्त्री-शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए नये-नये नियम बनाती, किन्तु उसकी शिक्षा-सम्बन्धी नीति के कारण कन्या-पाठशालाओं की कमी बनी रही। जो स्कूल थे भी, उनमें स्त्रियों के भावी जीवन को ध्यान में रख कर शिक्षा नहीं दी जाती थी, फलतः वे घरेलू और सामाजिक जीवन के व्यावहारिक सत्य को समझने में असमर्थ रहती थीं। राष्ट्रवादियों और महिला आन्दोलनकारियों द्वारा कन्याओं को इस प्रकार की शिक्षा देने का प्रबल विरोध किया गया, जिसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे उनके पाठ्य-क्रम में गृह विज्ञान, शरीर-विज्ञान, स्वास्थ्य रक्षा, दस्तकारी, धार्मिक शिक्षा आदि विषयों का समावेश किया गया।

भारत में स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक होने का श्रेय ईसाई मिशनरियों को है, जिन्होंने विशुद्ध सेवा-भावना से इसे बढ़ावा दिया। ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज,

---

१. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २०८

२. मारगरेट ई० कजिंस, इण्डियन वुमनहुड टु-डे, पृष्ठ, ६८-६

आर्यसमाज, थियोसोफिकलसमाज, रामकृष्ण मिशन तो इस क्षेत्र में बाद में आए और इनके आने के बाद ईसाई मिशनरियों का प्रभाव कम हुआ। ये संस्थाएँ जहाँ अपना समाज अथवा मन्दिर स्थापित करतीं, वहीं एक कन्या पाठशाला भी खोल दी जाती थी। जनता को अंगरेजी स्कूलों की अपेक्षा इन पर अधिक विश्वास था। ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज तो पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक थे, किन्तु आर्यसमाज और रामकृष्ण मिशन ने धार्मिक एवं व्यावहारिक शिक्षा पर अधिक बल दिया। आर्यसमाज द्वारा स्थापित जालंधर का कन्या महाविद्यालय और देहरादून की महादेवी कन्या पाठशाला में प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा प्रणाली का अच्छा समन्वय था।

सम्पन्न, समर्थ तथा उत्साही नारियों ने अपनी अशिक्षित बहनों की सेवा की भावना से प्रेरित हो कर इस दिशा में व्यक्तिगत प्रयत्न किये। पूना में पण्डिता रामाबाई, कालिंपाग में मिसेज ग्राहम, पूना में श्रीमती रानाडे, बंगाल में श्रीमती जगदीशचन्द्र बोस, बम्बई में मिस कर्ट्रैक्टर और मिस कारपेंटर, मैसूर राज्य में श्रीमती पार्वती चन्द्रशेखर ने व्यक्तिगत रूप से 'सदन' खोले और उनमें स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध किया। दो महान् व्यक्तियों, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा प्रो० कर्वे ने, क्रमशः कलकत्ता और पूना में, विधवाश्रम खोले, जिनमें टेकनिकल, व्यावसायिक एवं सामान्य शिक्षा की व्यवस्था थी। इस प्रकार के व्यक्तिगत प्रयत्न से प्रत्येक प्रान्त में खोली गई, कम से कम एक संस्था अवश्य थी।[१]

अखिल भारतीय नारी परिषद् और उस प्रकार की दूसरी संस्थाओं ने भी स्त्रियों के सामाजिक, राजनैतिक और शैक्षणिक उत्थान के लिए पर्याप्त प्रचार किया। समाज की पिछली मान्यताएँ टूट रही थीं। कन्या शिक्षा के प्रति लोगों के पुराने विचार बदल रहे थे और उसकी अनिवार्यता का अनुभव किया जाने लगा था। सन् १९२७ ई० में आयोजित अखिल भारतीय नारी परिषद् के अधिवेशन में साँगली की रानी ने अपने भाषण में जनमत का अच्छा उद्घाटन किया था—"एक ऐसा समय था, जब लड़कियों की शिक्षा को कोई सहारा देने वाला ही नहीं था, बल्कि स्पष्ट रूप से उसका विरोध किया जाता था। अब तक स्त्री शिक्षा सभी स्थितियों—पूर्ण उदासीनता, उपहास, आलोचना और स्वीकृति—से गुजर चुकी है।"[२]

यह कहा जा चुका है कि लड़कियों की शिक्षा में सबसे बड़ी कमी यह थी कि उसमें स्त्रियोचित विषयों के पठन पाठन का अभाव था। पर, आगे चल कर इसका महत्त्व समझा गया था। सर्वप्रथम अखिल भारतीय नारी परिषद् ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई और इसके परिणामस्वरूप, सन् १९३२ ई० में, दिल्ली में लेडी इर्विन कॉलेज की स्थापना

---

१ मारगरेट ई० कज़िंस, इण्डियन वुमनहुड टु-डे, पृष्ठ २०

२ There was a time when the education of girls had not only no supporters but open enemies in India Female education has by now gone through all the stages—total apathy ridicule criticism and acceptance '

ओ' मॉले, मॉडर्न इण्डिया ऐण्ड द वेस्ट, पृष्ठ ४१९ में उद्धृत।

हुई। इस विद्यालय में विज्ञान के आविष्कारों को गृह-कार्य में व्यवहृत करने की शिक्षा दी जाने लगी। स्कूलों में गृह-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, पाक-विज्ञान, स्वास्थ्य रक्षा, शिशु-पालन, रोगी की सेवा, गृहकला आदि को एक विषय के रूप में रखा गया। इण्टरमीडिएट में भी ऐच्छिक विषय के रूप में, यह विज्ञान लड़कियों के लिए था। फिर भी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार बालिकाओं को इसकी शिक्षा नहीं मिलती थी, वह प्रायः व्यावहारिक उपयोग के अनुपयुक्त रही।

शिक्षा तब खर्चीली और ऐच्छिक थी, अतः कृषक-समुदाय, मजदूर-वर्ग और निम्न जातियों में इसका प्रवेश नहीं हो सका और जनसाधारण के पास न तो साधन था, न अवकाश। यही कारण है कि शिक्षा का विस्तार उच्च वर्गों, विशेषतः ब्राह्मण स्त्रियों में ही हुआ। पारसी और ईसाई लड़कियों में शत प्रतिशत शिक्षा थी। सन् १६३६ ई० में उच्च शिक्षा-प्राप्त एव विशेषज्ञ नारियों की सख्या पर्याप्त थी। स्त्रियाँ इसके बल पर स्कूलों और कॉलेजों में अध्यापन-कार्य करने लगी थी, डाक्टरी का पेशा करती थी, कानून पढ कर वकील और बैरिस्टर होती थीं और प्रायः हर एक साल उच्च शिक्षा के लिए कुछ स्त्रियाँ विदेश भी जाती थी।

शिक्षा को राष्ट्रीय महत्त्व और नारी मनोविज्ञान की दृष्टि से देखने वाले विचारकों की भाँति तत्कालीन अँगरेजी-शिक्षा पद्धति से प्रेमचन्द भी असन्तुष्ट थे। उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में उसकी हँसी उड़ायी है, उसकी आलोचना की है। यद्यपि उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि शिक्षा कैसी भी एकागी हो, किन्तु वह मस्तिष्क को विकसित तो करती ही है। इस दृष्टि से 'गोदान' (१६३६) की मालती उल्लेखनीय है। प्रचलित विश्वविद्यालय और विदेशी शिक्षा के फलस्वरूप वह उद्दड, निर्लज्ज और शृंगार-प्रिय हो जाती है—'दूसरी महिला जो ऊँची एँडी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुखछवि पर हँसी फूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। आप इगलैंड से डाक्टरी पढ आई हैं और अब प्रैक्टिस करती हैं। ताल्लुकेदारों के महलों में इनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की साक्षात प्रतिमा हैं। गात कोमल, चपलता कूट-कूट कर भरी हुई, झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेक-अप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझनेवाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव भाव, मनोद्गारों पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप सा हो गया है।"[१]

इस परिच्छेद में प्रेमचन्द ने बड़ी सुन्दर और व्यंग्यात्मक भाषा तथा संयत शब्दों में भारतीय नारियों पर पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव को वर्णित कर दिया है। इसमें दोष मालती का नहीं, दोष उसकी शिक्षा का है। यही मालती डॉ॰ मेहता के सम्पर्क में आ कर बिलकुल बदल जाती है और अपनी शिक्षा-दीक्षा की उपलब्धि को, अविवाहित रह कर, सेवा-कार्य में लगाना चाहती है। स्पष्ट है, यहाँ प्रेमचन्द ने उच्च शिक्षा की निन्दा नहीं की है, बल्कि उसके गलत सिद्धान्तों के कारण मानवीय मूल्यों के भूलने की आलोचना की है।

१. गोदान, पृष्ठ ७०

मालती अपवाद थी और आज भी उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियों की गिनती सामान्य नारियों में नही होती। प्रश्न ह, प्रेमचन्द सामान्य स्त्रियों के लिए कैसी शिक्षा चाहते थे? नारी शिक्षा का आवश्यक मानते हुए भी उनका विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य यह है कि नारियाँ अपने दायित्व, पत्नीत्व और मातृत्व के महत्त्व को जानें। पाश्चात्य देशों की स्त्रियों की भाँति व भारतीय नारियों का द्रव्योपार्जन के क्षेत्र में पुरुषों का प्रतिद्वन्द्वी बनने के पक्ष में नहीं थे। शिक्षा में व भौतिकता को प्रधानता नहीं देते थे, व गम्भीर अध्ययन, मौलिक विवेचन, मानवीय मूल्यों के प्रति श्रद्धा और आस्था तथा 'सादा रहन सहन और उच्च विचार' सम्बन्धी भारतीय आदर्श को अपनाना चाहते थे। इस सम्बन्ध में उनके विचार पूर्णत व ही हैं, जो गाँधीजी के थे। महात्मा गाँधी के विचार में, साधारण स्त्रियों की, जिनकी सख्या ८५ प्रतिशत है, शिक्षा के लिए सबसे पहली कोशिश यह होनी चाहिए, जिससे अधिक से अधिक स्त्रियों के मन में उनकी वर्तमान स्थिति का सच्चा और उचित ज्ञान उत्पन्न हो। इसके लिए साहित्यिक शिक्षा देने की जरूरत नही। स्त्री पुरुष की सहचरी है, उसमें पुरुष के समान ही हर प्रकार की बौद्धिक शक्ति होती है और जिस प्रकार पुरुष को अपने क्षेत्र में प्रमुख स्थान मिला है, उसी प्रकार स्त्री को भी अपने क्षेत्र में मिलना चाहिए। ऐसा पढना लिखना सीखने के फलस्वरूप नहीं, बल्कि स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। फिर भी पढने लिखने से मस्तिष्क का विकास होता है और अच्छे कार्यों के करने की चेतना आती है। अत शिक्षा मिलनी चाहिए, किन्तु स्त्री और पुरुष की शिक्षा में अन्तर होना चाहिए। पुरुष का बाहरी बातो में प्रमुख स्थान है, अत उसे उनका विशेष ज्ञान होना चाहिए और स्त्री का कार्य क्षेत्र गृह है, अत उसे बाल-बच्चों के पालन पोषण, उनकी शिक्षा, गृह प्रबन्ध इत्यादि गृह सम्बन्धी कार्यों की विशेष शिक्षा मिलनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि स्त्री और पुरुष के ज्ञानोपार्जन में कोई दृढ और निश्चित दीवार खड़ी की जाए या किसी प्रकार के ज्ञान के द्वार किसी के लिए बन्द रखे जाएँ। किन्तु, जब तक दोनो की शिक्षा के माध्यम में उपर्युक्त मौलिक सिद्धान्तों का ध्यान न रखा जाएगा, स्त्री और पुरुष के जीवन का पूर्ण विकास असम्भव है।[1] प्रेमचन्द-साहित्य में ऐसी सैकड़ों नारियों का वर्णन आया है, जिन्हें पुस्तक की शिक्षा नहीं मिली है, किन्तु वे सच्चे अर्थों में अपने पति की सहचरी हैं।

५ पर्दा

मध्यवर्ग, जो भारतीय जनता का एक मुख्य अग है, पर्दे की कुप्रथा की दृष्टि से सबसे अधिक दयनीय था। सम्पत्तिशाली घरों में यदि स्त्रियाँ पर्दे में भी रहती थीं, तो वायु प्रकाश युक्त बड़े-बड़े महलों में समय बिताने के कारण उनके शरीर और मन के कुण्ठित होने की विशेष आशका नहीं थी। किन्तु, उस मध्यवर्ग की दशा सहज ही अनुमेय है, जिसे अपनी आजीविका के लिए शहरों में रहना पडता था। एक-दो कमरे, जिनमें ताजी हवा और धूप का प्रवेश न हो और पर्दे के कारण स्त्रियों का उन्हीं कमरों में दिन रात

१. महिलाओं से पृष्ठ ३२-३५

कैद रहना। यही उनका जीवन था। ऐसी स्थिति का स्त्रियों के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता था और अस्वस्थ माताओं की सन्तानें भी अस्वस्थ ही होती थी। पर्दे के कारण स्त्रियों में हीन भावना भी घर कर गई थी—फलत. वे निर्बल, डरपोक और परावलम्बी बन गई थी। इस प्रवृत्ति ने उनकी सन्तानों को, अत. राष्ट्र का भी, दब्बू और दुर्बल बना दिया था। आर्थिक दृष्टि से भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा था, क्योंकि पर्दे में रहनेवाली स्त्री बाहर निकल कर घर के लिए कुछ अतिरिक्त आय का प्रबन्ध भी कर सकती है, इसकी कल्पना भी नही की जा सकती थी। इस कुप्रथा को धीरे धीरे निम्न स्तर के लोग भी अपना रहे थे। इसका कारण था, पर्दे के साथ सम्बद्ध आभिजात्य की भावना।

ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज द्वारा आयोजित सभाओ, पाश्चात्य सभ्यता का सम्पर्क, शिक्षा की प्रगति, राजनैतिक आन्दोलन और आर्थिक दबाव के कारण २० वी शताब्दी के आरम्भ के साथ पर्दा प्रथा की भयकरता मे कमी आने लगी। शिक्षित लोगो ने समझ लिया कि पर्दा नैतिक समस्या का हल नही करता, बल्कि भौतिक और सामाजिक उन्नति का रास्ता बन्द करता है।

इस दिशा में भारतीय पुरुषों ने भी स्त्रियों की मदद की। वे उन्हें विभिन्न समाजो और सभाओं में अपने साथ ले गए और उनमें समाज-सेवा की रुचि उत्पन्न की, जिससे पर्दा प्रथा का मिटना अवश्यम्भावी था। गाँधीजी ने पर्दे की तीव्र आलोचना की और राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने के लिए भारतीय नारियों का आह्वान किया, उन्हें विदेशी कपडो और शराब की दूकानों पर धरना देने-जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे। नारियों ने भी विदेशी कपडो और शराब की दूकानो पर धरना दिये, सार्वजनिक स्थानो में भाषण किये, जेल गई, अदालतों में उपस्थित हुई, सन् १९२३ ई० और सन् १९२६ ई० के चुनावों में मतदान मण्डपो में अपने मत देने गई। कितनी स्त्रियाँ नगरपालिका सभाओ और विधान-सभाओं की सदस्यता के लिए उम्मीदवार बनी और उन्होंने अपने उद्देश्य जनता के सामने रखे। इन सब ने पर्दा प्रथा के उन्मूलन में बहुत योग दिया।

प्रेमचन्द पर्दे के विरुद्ध थे, इसमें सन्देह नही। किन्तु, इसके सम्बन्ध में उन्होंने केवल सकेत भर कर दिया है, उसके दुष्परिणामो का भयावह चित्रण नही किया है; क्योंकि उन्होंने देखा था, शिक्षा के साथ यह प्रथा आप-से-आप समाप्त होती जा रही थी। फिर भी अपनी 'दुराशा' नामक कहानी में उन्होंने दिखाया है कि पर्दा प्रथा के फलस्वरूप ही एक घर में दियासलाई नहीं रहने के कारण, ठीक होली के दिन सबको भूखे रह जाना पड़ता है।

६. वेश्या-वृत्ति

वेश्या-वृत्ति नारी समाज की हीनतम स्थिति का सूचक है। अतः, प्रेमचन्द-युग के सुधारकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। हिन्दू समाज की कट्टरता के कारण उसकी कितनी कुमारिकाएँ, विधवाएँ और सधवाएँ भी, वेश्या वृत्ति के लिए विवश होती थी, यह कहना कठिन है। स्त्रियो की जरा-सी भूल पर अथवा एकान्त में दूसरे पुरुष

के साथ उसे बातचीत करते देख कर हिन्दू समाज और पति का खून खौल उठता था और बिना विचार किए उस अबला को घर से निकाल दिया जाता था। उन रक्षा विहीन स्त्रियों के पास इसके सिवा और कोई उपाय नहीं था कि वे अपने भरण पोषण के लिए यह घृणित पेशा अपनाएँ। वेश्या वृत्ति के कुछ अन्य कारण भी थे—संयम, सन्तोष तथा नैतिक शिक्षा का अभाव, कुटनियों और स्त्रियों का व्यवसाय करने वालों का माया-जाल, स्त्रियों को अपने ही घर में आदर और सम्मान नहीं मिलना, पर्दा, आवास का बुरा प्रबंध, आदि।

श्रीमती लक्ष्मी मेनन ने, अपने एक लेख[1] में, भारत में वेश्या वृत्ति के निम्न लिखित कारण बताए थे—

१ भूख और दरिद्रता,

२ देवदासी प्रथा, जिसे सम्पन्न और सुसंस्कृत परिवारों में भी अच्छा माना जाता था (यह दक्षिण भारत के लिए विशेष रूप से सत्य है),

३ लड़कियों के प्रति भारतीयों का दृष्टिकोण। उनकी शिक्षा दीक्षा का माता पिता इसलिए प्रबंध नहीं करते थे कि उन्हें दूसरे के घर जाना था। उनके विवाह में वर ढूँढने तथा दहेज इकट्ठा करने की परेशानी होती थी। वे पुत्रों की भाँति मुक्ति नहीं प्रदान करतीं,

४ माता पिता द्वारा आयोजित विवाह और ससुराल के दुःखमय दिन। बहुतेरी आत्महत्या कर लेती थीं और जाने कितनी, स्त्रियों का व्यवसाय करनेवालों के हाथ पड़ जाती थीं,

५ बाल विधवाएँ, युवती होने पर यदि एक बार भी फिसल गईं, तो समाज के द्वारा निष्कासित होने पर अथवा समाज के दंड से भयभीत होकर वेश्या वृत्ति स्वीकार करने को बाध्य होती थीं,

६ हिन्दू कानून में विधवा की बुरी स्थिति, सम्पत्ति के उत्तराधिकार का निषेध और तलाक की सुविधा का अभाव—इनके कारण स्त्रियों का जीवन कष्टपूर्ण था, जिससे छुटकारा पाने के लिए वे घर से निकल पड़ती थीं,

७ स्त्रियों का व्यवसाय करनेवाले रक्षा-गृहों, अबलाश्रमों, विधवाश्रमों अथवा महिलाश्रमों के नाम पर वेश्यालय चलाते थे और

८ औद्योगिक केन्द्रों में अच्छे निवास स्थानों का अभाव और स्त्रियों से पुरुषों की संख्या की अधिकता।

किन्तु इन बुराइयों को दूर करने के लिए सन् १९३६ ई० तक समाज-सुधारकों अथवा नेताओं द्वारा कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया केवल रक्षा-गृहों पर जोर दिया गया। मद्रास क्षेत्रीय सामाजिक स्वास्थ्य सभा ने, जो सन् १९३५ ई० में स्थापित हुई थी, कई प्रस्ताव स्वीकृत किये। किन्तु, श्रीमती मेनन के अनुसार उनमें एक भी प्रस्ताव बेकारों को काम देने के लिए नहीं था, कार्यकर्त्ताओं की मजदूरी बढ़ाने के लिए नहीं था, कन्या शिक्षा

१ श्यामकुमारी नेहरू अवर काज (१९३७) में सम्मिलित।

की सुविधाएँ बढाने के लिए नहीं था, अन्यायपूर्ण कानूनों और खतरनाक सामाजिक नियमों को बदलने के लिए नहीं था, जिनके कारण कितनी अज्ञान और असावधान स्त्रियाँ पाप की ओर प्रेरित होती थी।[1]

इस प्रकार प्रेमचन्द युग में वेश्या वृत्ति के प्रति समाज का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण नहीं था। वेश्याएँ घृणा की दृष्टि से देखी जाती थीं और सुधार का मुख्य विषय यही था कि किस प्रकार नवयुवकों का उनके घातक आकर्षणों से मुक्त किया जाए। वेश्याएँ चौक में बैठ कर और महफिलो में बुलायी जा कर, युवकों के पथभ्रष्ट होने का कारण बनती थी। इन्ही बातो को दृष्टि में रख कर सुधार के प्रयत्न होते थे। बहुत हुआ, तो पथभ्रष्ट स्त्रियों के लिए रक्षा-गृहों की स्थापना पर जोर दिया जाता था। इसके आगे अभी कोई सोच नहीं पाया था। इस तथ्य के ऐतिहासिक विवरण दिये जा सकते हैं। सन् १६१० ई० में प्रयाग के म्युनिसिपल बोर्ड के एक सदस्य ने बोर्ड में यह प्रस्ताव रखा कि वेश्याओं को चौक से अलग कर दिया जाए, क्योंकि इससे सामाजिक स्वास्थ्य की हानि हो रही थी। प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। उसी साल एक वयोवृद्ध समाज सुधारक ने विवाह में होनेवाले नृत्य को बन्द करने के लिए आन्दोलन चलाया, क्योंकि नवयुवकों पर इसका बुरा प्रभाव पडता था। सन् १६१६ ई० में पुन सुधारकों द्वारा वेश्याओं को नगर से हटा कर शहर से दूर बसाने का प्रस्ताव प्रान्तीय सरकार के पास भेजा गया, जिसकी स्वीकृति सरकार से आ गई और एक उपनियम भी बन गया। किन्तु, यह कार्य व्यावहारिक असुविधा के कारण सन् १६२५ ई० में सम्पन्न हुआ।[2]

चन्द्रशेखर पाठक द्वारा, सन् '१६ ई० क आसपास रचित, 'वारागना-रहस्य' नामक उपन्यास की रचना का घोषित उद्देश्य भी यही था—'विलासिनी वारागनाओं क नकली प्रेमरूपी उलझनदार जाल में पड कर कितने ही अपना सर्वस्व गँवाते दिखाई पडते हैं, कितने अपनी हजार नियामत की तन्दुरुस्ती ही खो बैठते हैं और कितने ही अपना घर द्वार त्याग, वारागनामय हो, लोक परलोक दोनों ही बिगाड डालते हैं। क्षणिक मिथ्यानन्द के इस प्रलोभन ने, वारागनाओं की इस अधिकता ने और उनकी प्रकृति की इस अनभिज्ञता ने इस देश का कितना सत्यानाश किया है और कितने असमय ही कराल काल के गाल में चले गए हैं—यह सभी विचारशील पुरुष समझ सकते हैं। इसीलिए कि जिसमें वारागनाओं के ससर्ग के भयानक फल को लोग जान लें, इस वारागना रहस्य की रचना की गई है।'[3]

फिर भी कुछ दूरदर्शी व्यक्तियों ने वेश्या को नहीं, वेश्या वृत्ति को बुरा कहा। गाँधीजी ने वेश्याओं द्वारा सतीत्व की बिक्री के लिए पुरुषों को जिम्मेदार ठहराया था। वे अपनी वासना की तृप्ति के हेतु स्त्रियों को इज्जत बेचने के लिए मजबूर करते हैं। अतः, वेश्या-वृत्ति के उन्मूलन के लिए आवश्यक है कि पुरुष अपनी वासना पर नियन्त्रण करें। दूसरी

---

१. श्यामकुमारी नेहरू, अबर काज, पृष्ठ १६१

२ चाँद, नवम्बर, १६३६, पृष्ठ १०३

३. चन्द्रशेखर पाठक, वारागना-रहस्य, प्रथम भाग, चतुर्थ सस्करण, भूमिका (१६२४)

बात यह भी आवश्यक है कि वेश्याओं को ऐसा रोजगार दिया जाए कि वे सम्मानपूर्वक अपनी रोटी कमा सकें। ऐसा रोजगार गाँधीजी की दृष्टि में कताई बुनाई था, अतः वे वेश्याओं को भारत की सच्ची सन्यासिनी के रूप में देखना चाहते थे।[१] इस प्रकार महात्मा गाँधी ने वश्यावृत्ति के नैतिक और आर्थिक- दोनों पहलुओं का हल निकाला। सन् १६३६ ई० तक, यद्यपि रूस में वश्या वृत्ति के उन्मूलन के सफल प्रयास से भारतीय अवगत हो चुके थे, किन्तु विदेशी सरकार के शासन में इससे अधिक और किया भी क्या जा सकता था।

प्रेमचन्द ने अपना उपन्यास 'सेवासदन' और अपनी कुछ कहानियाँ भी--'वेश्या', 'दो कब्रें', 'नरक का मार्ग', 'ऐक्ट्रेस', 'आगा पीछा' आदि-- इसी समस्या को लेकर लिखी थीं। 'गोदान' उपन्यास में भी एक स्थान पर, इस समस्या को ले कर, मिर्जा साहब और मेहता में वाद विवाद होता है।[२]

(ख) आर्थिक स्थिति— प्रेमचन्द युग की नारी की बुरी अवस्था का एक बहुत बड़ा कारण उसकी शोचनीय आर्थिक स्थिति थी। उस समय भारत में सयुक्त परिवारों की ही अधिकता थी, यद्यपि आर्थिक एवं सामाजिक कारणों से उनके टूटने की सम्भावना बढ़ती जाती थी। स्त्री परिवार का एक सदस्य होकर भी सयुक्त परिवार की सम्पत्ति का हिस्सेदार नहीं हो सकती थी। उसे किसी भी अवस्था में भरण पोषण से अधिक का अधिकार नहीं था। अपवाद केवल यह था—यदि तीन पीढ़ियों तक कोई पुरुष उत्तराधिकारी न हो, तो स्त्री को उत्तराधिकार प्राप्त होता था। किन्तु, यह अधिकार भी उसके जीवन-काल तक ही सीमित रहता था। उसे उस सम्पत्ति को बेचने अथवा इच्छानुसार खर्च करने का अधिकार नही था। इसी प्रकार कुछ विशेष परिस्थितियों में ही पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार होता था। विवाह में दान दहेज के रूप मे या पुरस्कार के रूप में, जो सम्पत्ति उसे मिलती थी, वही स्त्री की व्यक्तिगत सम्पत्ति या स्त्री धन होता था। इस पर उसे पूर्ण अधिकार होता था। संयुक्त परिवार में विधवा की कन्या का अधिकार केवल विवाहित होने तक था। जो परिवार विभक्त थे, उनमें विधवाओं की हालत सयुक्त परिवारों से अच्छी थी। किन्तु, सम्पत्ति पर अधिकार के नाम पर हिन्दू-कानून में उनका भी कुछ हक नहीं था। स्त्रियों में गहनों के प्रति एक प्रकार का जो मोह पाया जाता है, उसका एकमात्र कारण यही है कि वे ही ऐसा धन हैं, जिन पर उनका पूरा स्वत्व है।[३]

ऊपर सन् १६२३ ई० के 'विशेष विवाह अधिनियम' का प्रसग आ चुका है। इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाहित स्त्री को उत्तराधिकार की दृष्टि से भी कई लाभ हुए। पहली बात तो यह थी कि सयुक्त परिवार की स्थिति समाप्त हो जाती थी और 'भारतीय उत्तराधिकार-अधिनियम' लागू होता था, जिसके अनुसार पति की मृत्यु के बाद पत्नी उसकी सम्पत्ति के

---

१ महिलाओं से, पृष्ठ १६६

२. गोदान, पृष्ठ ४२६ ७

३. प्रेमचन्द ने भी लिखा है "गहने ही स्त्री की सम्पत्ति होते हैं। पति की और किसी सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं होता। उसे इन्हीं का बल और गौरव होता है।" निर्मला, पृष्ठ १६२

एक-तिहाई हिस्से की अधिकारिणी होती थी और बचे हुए धन में सन्तति को हिस्सा मिलता था एव उनके नही रहने पर धन सगोत्र सम्बन्धियो में बँटता था। किन्तु, उनके भी नही रहने पर विधवा का पूर्ण सम्पत्ति मिलती थी। फिर इस कानून द्वारा पुत्री भी पुत्र के साथ बराबर हिस्सा पाती थी। इस प्रकार पाये हुए धन की विधवा और पुत्री पूर्ण स्वामिनी होती थी।[1] किन्तु, जैसा कहा गया है, हिन्दू-स्त्री ने अज्ञानवश अथवा उदासीनता के कारण, इन सुविधाओं का विशेष उपभोग नहीं किया।

इसी प्रकार मैसूर और बडौदा राज्य ने भी इस सम्बन्ध में सन् १९३३ ई० के अपने अपने अधिनियमों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में हिन्दू-कानून का सुधार किया।[2] किन्तु, ब्रिटिश भारत में हिन्दू-कानून को सन् १९३७ ई० के पहले नहीं सुधारा जा सका।[3]

हिन्दू-स्त्री का सम्पत्ति में कोई अधिकार नही था। वह आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भर थी। उसके पास वैसी किसी भी विद्या का अभाव था, जिसके बल पर वह अपना भार स्वय उठा सकती। फिर भी उच्च शिक्षा के प्रसार ने अध्यापिकाओं, प्राध्यापिकाओं, महिला डाक्टरो, वकीलों और बैरिस्टरों के रूप में उसके हाथ में अर्थोपार्जन के साधन दिये। गाँधीजी ने कताई और बुनाई को स्त्रियों के आत्मनिर्भर बनने का साधन बताया और यह गृह-उद्योग ग्रामीण स्त्रियों के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। विधवाश्रमों, सेवासदनों आदि संस्थाओं में कन्याओं और वयस्क स्त्रियों को औद्योगिक और व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिये जाते थे, जिनके कारण वे अपने पैरों पर खडी हो सकती थी। पत्र-पत्रिकाओं में लेख, कहानी और कविता आदि लिख कर भी इस युग की स्त्रियाँ कुछ उपार्जन कर सकती थी। इस प्रकार यद्यपि कानून ने नारियों को पर निर्भर बना दिया था, किन्तु अन्य कारणों से वे स्वाधीन हो रही थी और आर्थिक स्वतन्त्रता का सुखोपभोग कर रही थी।

प्रेमचन्द ने भी नारी की विवशता के लिए उसकी आर्थिक पराधीनता को दोषी ठहराया था। 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा कहती है, "बेचारी औरत कमा नहीं सकती, इसीलिए उसकी यह दुर्गति है।"[4] इसी प्रकार सयुक्त परिवार में उन्होंने 'गबन' की रतन की और विभक्त परिवार में 'बेटों वाली विधवा' कहानी की फूलमती की दुर्गति दिखलाई है। उन्होंने पढी लिखी लडकियों के स्वावलम्बन का भी चित्रण किया है।

(ग) राजनैतिक स्थिति—प्रेमचन्द-युग की नारी की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का वर्णन हो चुका है। इस युग में नारी ने भारतीय राजनीति और शासन में भी

१ आर० जी० बरवे, द प्रेजेण्ट पोजीशन आव हिन्दू वीमन, पृष्ठ ९

२ आर० जी० बरवे, द प्रेजेण्ट पोजीशन ऑव हिन्दू वीमेन, पृष्ठ २५ २०

३ सन् १९३७ ई० के 'हिन्दू-स्त्री साम्पत्तिक अधिकार-अधिनियम' के अनुसार मृत व्यक्ति की विधवा, पूर्वमृत पुत्र की विधवा तथा पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की विधवा को भी सम्पत्ति में हिस्सा मिला। इस अधिनियम का प्रस्ताव प्रेमचन्द जब जीवित थे, तभी पास हो चुका था। उन्होंने इसके प्रस्तावक को बधाई दी थी।
शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ १६२

४. प्रतिज्ञा, पृष्ठ १४४

भाग लिया। वह अपने परतन्त्र देश को स्वतन्त्र करने के लिए मैदान में आई। अतः, उसकी राजनैतिक स्थिति भी बदली।

उस युग में भारत राजनैतिक दृष्टि से अँगरेजों के हाथ में था, पराधीन था। सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय सभा (इण्डियन नेशनल काँग्रेस) की स्थापना से भारतीयों में राष्ट्रीयता और राजनैतिक स्वातन्त्र्य की भावना का प्रारम्भ माना जा सकता है। ऐसी महत्त्वपूर्ण संस्था की सदस्यता स्त्रियों के लिए उन्हीं नियमों पर सुलभ थी, जिनके अनुसार पुरुष उसके सदस्य होते थे। इसके वार्षिक अधिवेशनों में स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती थी। इसके अध्यक्ष और मन्त्री के पदो को भी नारियो ने सुशोभित किया।

आधुनिक युग की शासन प्रणाली प्रजातन्त्रात्मक है। इसमें मताधिकार का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारत में स्त्रियों को पुरुषों के समान मताधिकार के लिए उस प्रकार का घोर संघर्ष नही करना पडा, जिस प्रकार का संघर्ष पश्चिम में नारियों को करना पडा था। वहाँ उन्हें इसे प्राप्त करने में प्राय आधी शताब्दी लग गई। इगलैंड में स्त्रियो को मताधिकार सन् १९१८ ई० में कुछ शर्तों के साथ, और १० वर्ष बाद, सन् १९२८ ई० में, वयस्क मताधिकार के रूप में मिला।[1]

भारत में नारियों को मताधिकार बडी सुगमता से मिल गया। सन् १९१७ ई० में, भारत मन्त्री माटेग्यु के भारत आने पर, स्त्रियों के एक शिष्टमण्डल ने, मद्रास में, इसके लिए उनके समक्ष माँग रखी। सन् १९१९ ई० की सुधार योजना में ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने भारतीय स्त्रियों को मताधिकार देने की समस्या का भार भारत की प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों पर छोड दिया, जो आगे के शुभ परिणामों को देखते हुए बहुत अच्छा कहा जा सकता है। सर्वप्रथम मद्रास की व्यवस्थापिका परिषद् ने, सन् १९२१ ई० में, स्त्रियो को उन्हीं शर्तों पर जो पुरुषों के लिए थी, मतदाता बनाया। बम्बई प्रान्त ने भी उसी साल स्त्रियों को मताधिकार दे दिया। धीरे धीरे अन्य प्रान्तों ने भी नारियों को मताधिकार दिये, जैसे सन् १९२३ ई० संयुक्त प्रान्त ने, सन् १९२५ ई० में बगाल ने, सन् १९२६ ई० में पजाब ने, सन् १९२७ ई० में मध्यप्रदेश ने और सन् १९२९ ई० में विहार ने। असम ने एक कदम और आगे बढ कर उन्हें प्रान्तीय व्यवस्थापिका के लिए उम्मीदवार होने का भी अधिकार दिया।[2]

भारतीय राज्यों में और शीघ्रता से स्त्रियों को मताधिकार मिला। सर्वप्रथम त्रावणकोर में, सन् १९२० ई० में, स्त्रियाँ निर्वाचक बनी। अन्य राज्यों ने भी बहुत शीघ्र ऐसे प्रस्ताव पारित किए।

सन् १९२६ ई० तक किसी स्त्री को विधान-मण्डलों का सदस्य होने का अधिकार नहीं मिला। इसके बाद जब यह अधिकार स्त्रियों को मिला भी, तो सरकार द्वारा मनोनयन के रूप में और यह भी पहले प्रान्तों में ही। डॉ० मुथुलक्ष्मी रेड्डी प्रथम महिला थी, जिन्हें यह अधिकार प्राप्त हुआ। सरकार ने उन्हें मद्रास प्रान्त के विधान मण्डल का सदस्य मनोनीत किया। इसके बाद स्त्रियों को विधान-परिषदों के लिए उम्मीदवार बनने का अधिकार

१ श्यामकुमारी नेहरू, अवर काज, पृष्ठ ३४९ ४९

२ श्यामकुमारी नेहरू, अवर काज, पृष्ठ ३५४

भी मिला। प्राय इसी समय से स्त्रियाँ नगर पालिकाओं की सदस्यता के लिए भी उम्मीद वार होने लगी और बहुतेरी स्त्रियों को सफलता मिली।

सन् १६१६ ई० के माटेग्यु चेम्सफोर्ड-सुधार में लगभग १० लाख नारियों को मताधिकार प्राप्त हुआ, जो पुरुषों की तुलना मे बहुत कम थी। कारण यह था कि पुरुषों की तुलना में सम्पत्ति और शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता स्त्रियों में नगण्य थी। अखिल भारतीय महिला परिषद् के उद्योग से, सन् १६३५ ई० की भारत शासन-सुधार योजना में, स्त्रियों के मताधिकार की शर्तें उदार बनाई गई, जिससे ६० लाख स्त्रियाँ मतदाता बनीं। केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदों में भी स्त्रियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे गए। फिर भी महिला परिषद् असन्तुष्ट रही, वह महिलाओं के लिए वयस्क मताधिकार चाहती थी।

इन दिनों भारत में राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष चल रहा था। इसलिए प्राय इसी समय भारतीय महिलाओं ने सक्रिय राजनीति में भी भाग लिया।[1] महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलनों में स्त्रियों का आह्वान करके उन्हें प्रोत्साहित किया।

सन् १६१३ ई० में महात्मा गाँधी की पुकार पर दक्षिण अफ्रिका में १६ स्त्रियों ने सत्याग्रह में भाग लिया, जिनमें एक तो स्वय कस्तूरबा थी। इन्हें तीन महीने का कठोर कारावास-दण्ड दिया गया।[2]

सन् १६१६ ई० म श्रीमती एनी बेसेण्ट ने होम रूल लीग कायम की और कॉंग्रेस नेताओं क आन्दालन से ब्रिटिश सरकार थर्रा उठी।

सन् १६१६ -२१ ई० के प्रथम असहयोग आन्दोलन में बहुत कम स्त्रियों ने भाग लिया। स्त्रियों का पहला राजनैतिक कार्य यह था कि उन्होंने मतदाता के रूप में अपने नाम निबन्धित कराए, सन् १६२२ ई० के निर्वाचकों की सूची में आए हुए नामों में अपने नाम ढूँढे तथा सन् १६२३ ई० में मतदान मण्डप में जा कर मतदान किया। सन् १६२३ ई० के चुनाव में भारतीय स्त्रियाँ पर्याप्त सख्या में अपना मत गिराने के लिए मतदान मण्डपों में गईं।

सन् १६३० ई० के नमक-कानून भग करने के आन्दोलन में गाँधीजी ने स्त्रियों का आह्वान किया। "उनकी पुकार पर हजारों महिलाएँ मैदान में निकल आई। उनके कारण ब्रिटिश-सरकार बड़े चक्कर में पड गई। उन्होने आते ही शराब और विदेशी कपडों की दूकानों पर धरना देने का काम अपने हाथ में ले लिया और जब तक शौर्य पर स्वेच्छाचार ने विजय प्राप्त न की, तब तक पुलिस भी उनके आगे कुछ न कर सकी।"[3]

गाँधीजी ने शराब तथा विदेशी कपडों की दूकानों पर धरना देने का काम स्त्रियो को ही सौंपा, क्योंकि उन्हें पुरुषों से अधिक स्त्रियों के साहस और आत्मत्याग पर विश्वास था। स्त्रियों ने भी हजारों की सख्या में आ कर स्वाधीनता की लडाई को आगे बढाया—

१ With one hand they grasped passive resistence and with the other the vote

ओ' मॉले, माडर्न इण्डिया ऐण्ड द वेस्ट, पृष्ठ ४७८

२ गुरुमुख निहाल सिंह, भारत का राष्ट्रीय एव वैधानिक विकास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३०८

३ सीतारमैया, कॉंग्रेस का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४०८

'स्त्रियाँ आती ही गई और जब ये कोमलांगियाँ केसरिया साड़ी पहन-पहन कर अत्यन्त विनम्रता के साथ धरना देती थीं, तो लोगों के हृदय बात-की-बात में पिघल जाते थे। कोई दूकानदार *अपने माल पर मुहर न लगवाता, तो उसी की पत्नी धरना देने के लिए आ* बैठती।'[1] मुस्लिम महिलाएँ बुर्का पहन कर पिकेटिंग करती थीं।

काँग्रेस की कार्य समिति ने २७ जून, १९३० ई० को प्रयाग में हुई अपनी बैठक में भारतीय महिलाओं को इन प्रशंसासूचक शब्दों में बधाई दी थी—'समिति भारतीय महिलाओं को इस बात पर बधाई देती है और उनकी प्रशंसा करती है कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन में दिन दूने रात-चौगुने उत्साह से भाग ले रही हैं और प्रहारों, दुर्व्यवहारों और सजाओं को वीरतापूर्वक सहन कर रही हैं।'[2]

शताब्दियों से पर्दे में कैद भारतीय नारियों के इस प्रकार राजनीति में प्रवेश को बहुतों ने आश्चर्य से देखा।[3] वस्तुत: जिन स्त्रियों ने कभी घर के बाहर पाँव तक न रखा था, जो कभी बाजार हाट और सड़कों पर चली तक न थी, वे महात्मा गाँधी की पुकार पर देश सेविकाओं के जत्थे बना कर जुलूस निकालती थी, शराब और विदेशी कपड़ों की दूकानों पर धरना देतीं थी, सभाएं करती थीं, भाषण देती थीं। कैद हो जाना तथा अदालतों में उपस्थित होना भी उनके लिए साधारण बात थी। कहा जाता है, ३००० से अधिक स्त्रियाँ सन् १९३०-३२ ई० के *असहयोग आन्दोलन में गिरफ्तार हुई थीं, जिनमें युवतियों से लेकर सत्तर वर्ष की वृद्धाएँ भी* शामिल थी। कितनी स्त्रियों की गोद में बच्चे थे, कितनी गर्भवती थी—कुछ के जेलों में बच्चे पैदा हुए। देवदासियाँ भी महात्माजी की पुकार पर निकल आई थीं। इन सभी ने जेल को मन्दिर बना दिया और जेल-यात्रा उनके लिए धार्मिक यात्रा में परिवर्तित हो गई।[4]

स्वतन्त्रता संग्राम में भारतीय नारियों ने साधारण सैनिक के ही रूप में नहीं, बल्कि उच्च पदों पर भी अपनी योग्यता का परिचय दिया। कॉंग्रेस के अध्यक्ष तथा उसकी कार्यकारिणी के सदस्य के रूप में तथा सन् १९२९-३२ ई० की गोलमेज परिषद् में, भारतीय महिलाओं ने अपनी प्रतिष्ठा कायम रखी।

प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' उपन्यास तथा 'जेल', 'पत्नी से पति', 'शराब की दूकान', 'जुलूस', 'समर-यात्रा', 'सुहाग की साड़ी', आदि कहानियों में, राष्ट्रीय आन्दोलन के चित्र एक इतिहासकार की भाँति खीचे हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि प्रेमचन्द का नारी चित्रण उनके युग से प्रभावित है। अगले अध्याय में प्रेमचन्द को प्रभावित करने वाले साहित्यिक तत्त्वों का विवेचन किया जाएगा।

●

---

१ सीतारमैया, कॉंग्रेस का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४१३

२. सीतारमैया, कॉंग्रेस का इतिहास, पृष्ठ ४१२

३ 'There is breath-taking abruptness about the entry of Indian Women in political life. One *moment, they were not there, the next they had* sprung like Athene from the head of Zeus, fully armed and into the forefront of the scene.'

ओ. मॉले, माडर्न इण्डिया ऐण्ड द वेस्ट, पृष्ठ ४७४

४. माडर्न इण्डिया ऐण्ड द वेस्ट, पृष्ठ ४७५, इण्डियन वुमनहुड टु-ड, पृष्ठ ६९

: २ :

प्रेमचन्द को प्रभावित करनेवाले साहित्यिक तत्त्व

प्रथम अध्याय में हमने उन सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक तत्त्वो का विवरण उपस्थित करने का प्रयास किया था, जो प्रेमचन्द-युग की नारी की स्थिति में परिवर्त्तन के कारण बने थे। इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द पर विभिन्न साहित्यों—उर्दू, बँगला, अँगरेजी तथा हिन्दी—का भी प्रभाव पडा था, उन्होंने उनसे प्रेरणा ग्रहण की थी, ऐसा माना जाता है। अत, प्रमुख विषय पर आने के पूर्व, इन तत्त्वों पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है।

(क) उर्दू-साहित्य—प्रेमचन्द ने अपना साहित्यिक जीवन उर्दू की रचनाओं से प्रारम्भ किया था। अत, इस अध्याय में सर्वप्रथम उर्दू-साहित्य का विवेचन अपेक्षित है। प्रेमचन्द ने 'मेरी पहली रचना'[१] में बताया है कि वे तेरह वर्ष की अवस्था तक हिन्दी बिलकुल नही जानते थे। उन्हे उर्दू के उपन्यास पढने का 'उन्माद' था और वे उसी उम्र में मौलाना 'शरर', रतननाथ दर 'सरशार', मिर्जा 'रुसवा' और हरदोईनिवासी मौ० मुहम्मद अली की प्राय. सभी रचनाएँ पढ गए थे। फारसी से अनूदित 'तिलस्मे-होशरुबा' के भी कई भाग उन्होने पढ डाले थे। लगभग १३ साल की उम्र मे मनुष्य अतिशय ग्रहणशील होता है। किशोर इस वय में गृहीत प्रभावो से दिशा विशेष में प्रवृत्त होते हैं। अत, यहाँ उपर्युक्त उर्दू औपन्यासिकों का सक्षेप में उल्लेख अनावश्यक नही है। इसके साथ ही प्रेमचन्द पर पडनेवाले प्रभावों का भी मूल्याकन किया जाएगा।

प० रतननाथ दर 'सरशार' (१८४६-१९०२) के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, 'फिसानए-आजाद' (१८७९), 'कामिनी', 'जामे सरशार', 'बिछुडी दुलहन', 'सैरे कुहसार', 'कडमधम', 'खुदाई फौजदार' और 'पी कहाँ?' आदि।[२] 'फिसानए-आजाद' का तो प्रेमचन्द ने 'आज़ाद-कथा' के नाम से स्वय सक्षिप्त हिन्दी-अनुवाद उपस्थित किया था। उस समय 'सरशार' को उर्दू में वही लोकप्रियता प्राप्त थी, जो देवकीनन्दन खत्री को हिन्दी में, फिर भी उपन्यास-कार के रूप में 'सरशार' उच्चतर थे। उनमें खत्रीजी की भाँति ऐयारी तथा तिलस्म का ऐसा घटाटोप नही रहता था, जो प्रौढ पाठकों के लिए अग्राह्य बन जाए। 'सरशार' की अधिकाश रचनाएँ रोचक हैं। उनमें वातावरण का सजीव चित्रण, कथोपकथन की विविधता और कल्पना की इतनी भर ही उडान है कि धरती से सम्बन्ध न टूट जाए। दूसरी तरफ बडी सजी-सजायी, फिर भी अकृत्रिम और गतिशील उर्दू भाषा लिखने में उन्हे कमाल हासिल था।

प्रेमचन्द 'सरशार' के बडे ऋणी हैं। उनकी रोचकता का प्रेमचन्द पर स्पष्ट प्रभाव है, यहाँ तक कि 'कफन' जैसी बाद की यथार्थवादी कहानी में भी, जो एक अत्यन्त साधारण

---

१. 'कफन' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ ४८

२. 'कामिनी', 'पी कहाँ ?', 'पर्वत की सैर'—इधर इन नामों से 'सरशार' के तीन उपन्यासों के हिन्दी-अनुवाद देखने को मिले हैं।

घटना का लेकर लिखी गई है, वर्णन आदि की ऐसी रोचकता है, जो इस कोटि की कहानियों में दुर्लभ होती है। 'गोदान' में 'रंगभूमि' की भाँति ऊपरी रोचकता भले ही न हो, किन्तु हिन्दी के अन्य उपन्यासों, जैसे 'शेखर : एक जीवनी' आदि की तुलना में वह अवश्य ही अधिक रोचक है। प्रेमचन्द कथोपकथनों में 'सरशार' से भी आगे बढ़े हुए दीखते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत कथोपकथनों में हिन्दी और उर्दू का समन्वय है। उनकी मुहावरेदार शैली तो 'सरशार' की ही देन है। किन्तु, प्रेमचन्द केवल इसी से सन्तुष्ट नहीं हुए। बाद में वे रोचकता और शैली आदि उपन्यास के बाह्य गुणों के अतिरिक्त अन्य गुणों के प्रति भी सचेष्ट हुए। इस तरह वे 'सरशार' को वस्तुतः पीछे छोड़ देते हैं। यही नहीं, उनमें अपने को भी पीछे छोड़ने की क्षमता थी। 'गोदान' का, वस्तुतः इसीलिए महत्त्व है कि उसमें 'सरशार' का ही नहीं, स्वयं प्रेमचन्द का भी निषेध है।[1]

दूसरे उर्दू उपन्यासकार मौलवी अब्दुल हलीम 'शरर' (१८६० १९२४) मुख्यतः ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए प्रसिद्ध हैं, यद्यपि उनका प्रथम उपन्यास 'दिलचस्प' सामाजिक उपन्यास था, 'जिसमें घरेलू झगड़े तथा स्त्रियों की पराधीनता के दृश्य दिखलाए गए हैं।'[2] इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में संकीर्ण धार्मिकता की पुट है। 'सरशार' की विविधता का उनमें सर्वथा अभाव है, किन्तु उनमें ऐसा संयम है, जो 'सरशार' में नहीं है। वे जीवन की वास्तविकताओं से मुख मोड़ कर अतीत की ओर, पीछे की ओर, ललचाई आँखों से देखते हैं, जबकि 'सरशार' दैनन्दिन घटनाओं को अपनी रचनाओं में स्थान देते हैं। उनमें 'सरशार' की सरलता भी नहीं है। 'मलकुल अजीज वरजीनिया', 'मंसूर मोहना', 'दिलकश', 'यूसुफनजम', 'फिर्दौसेबरी' इत्यादि उनकी रचनाओं में इस्लाम के अतीत-गौरव का स्पृहायुक्त वर्णन है। प्रेमचन्द भी 'कर्बला' नाटक में इस्लाम के अतीत-पृष्ठों से ही वस्तु लेते हैं। इस प्रकार उन पर 'शरर' का प्रत्यक्ष प्रभाव है। किन्तु, कर्बला उनकी बहुत प्रारम्भिक रचना है और वह नाटक है। इस्लाम के अतीत से क्या, हिन्दुओं के अतीत से भी, वे अपने उपन्यासों और कहानियों के लिए कथाएँ नहीं लेते, हालाँकि कुछ प्रारम्भिक रचनाओं में यह प्रभाव वर्त्तमान है।[3]

किन्तु, 'शरर' की यह विशेषता थी कि वे रूढ़िवाद के कट्टर विरोधी थे। स्त्रियों के पर्दे के विरुद्ध उन्होंने बड़ा आन्दोलन किया था।[4] उन्होंने 'दिलचस्प' में स्त्रियों की पराधीनता पर भी लिखा था। प्रेमचन्द पर इनका प्रभाव अनुमेय है।

अपनी कला के आदर्श के बारे में ऐसा कहनेवाले, 'हमारे नावेल न ट्रेजेडी हैं, न कॉमेडी, न हमारे हीरो तलवार से कत्ल होते हैं और न उनमें से किसी ने खुदकशी की है, न हिज्र (विरह) हुआ है, न वस्ल (मिलन)। हमारे नावेलों को मौजूद जमाने की

१ नलिनविलोचन शर्मा, हिन्दी-उपन्यास, आलोचना—५
२ ब्रजरत्न दास, उर्दू-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६०
३ 'रूठी रानी' उपन्यास तथा 'दिल की रानी', रानी सारधा', 'राजा हरदौल', 'विक्रमादित्य का तेगा' आदि कहानियाँ।
४. हरिशंकर शर्मा, उर्दू-साहित्य-परिचय, पृष्ठ ११७

तवारीख (इतिहास) समझना चाहिए', मिर्जा मुहम्मद हादी 'रुसवा' (१८५८-१९३१) ने एक इतिहासकार की तरह समसामयिक युग तथा समाज का विवरण उपस्थित कर देना ही उपन्यासकार का कर्त्तव्य समझा था। हम उन्हें सामाजिक यथार्थवाद को सिद्धान्त के रूप में ही महत्त्व देते नही पाते, बल्कि उन्हे उसका चित्रण करते हुए भी देखते हैं। वे लखनऊ या आसपास के जीवन का चित्रण यथातथ्य रूप में करते हैं। 'उमराव जान अदा', 'बहराम की रिहाई', 'खब्ती बेगम', 'जात शरीफ़', 'नौ बहार', 'ख़ूने आशिक़' आदि इनकी प्रसिद्ध सामाजिक रचनाएँ हैं। *'उमराव जान अदा' में, 'रुसवा' वीरों की गाथा नही लिखते,* बल्कि लखनऊ की एक बूढी वेश्या की आत्मकथा, उसी के शब्दों में, लिखते हैं। इस युग में यह एक महत्त्व की बात थी कि 'रुसवा' ने अतीत के पृष्ठों में, अपने उपन्यासो के वस्तुपात्र न ढूँढ कर, अपने ही युग से उन्हें ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया और पाठकों ने इसे बहुत पसन्द भी किया। प्रेमचन्द ने भी पाठक के रूप में 'शरर' की अपेक्षा 'रुसवा' को अवश्य अधिक महत्त्व दिया था और दोनों के अन्तर को हृदयगम किया था। अनेक कारणों में यह भी एक कारण माना जा सकता है, जिससे प्रेमचन्द ने ऐतिहासिक उपन्यासों की सृष्टि नही की।

इन उर्दू लेखकों का प्रेमचन्द के नारी चित्रण पर अपेक्षाकृत कम प्रभाव पडा। उन्होंने स्पष्ट देखा था कि 'सरशार' जैसे प्रतिष्ठित उपन्यासकार भी केवल ढहती हुई *सामन्ती सभ्यता का वर्णन करते हैं। यद्यपि उन्होंने आजाद-कथा का सक्षेपण किया था* और स्पष्टत उन पर 'सरशार' का प्रभाव था, फिर भी यह प्रभाव प्रेमचन्द की शैली पर ही था, चरित्र चित्रण पर नही। *'सरशार' के उपन्यासों में हरमों में रहने वाली स्त्रियों के प्रेम* व्यापार आदि का बडा रोचक और यथार्थ वर्णन है, किन्तु प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में इस प्रकार का वर्णन प्राय नही किया है।[१]

'रुसवा' के 'उमराव जान अदा' में लखनऊ की एक वेश्या की आत्मकथा है, किन्तु वह रगीनियों से भरी है। प्रेमचन्द ने भी 'सेवासदन' में वेश्या का वर्णन किया है, पर रस ले कर नही। इसके विपरीत वे दिखाते हैं कि ऊपर से प्रसन्नवदना, चचल और सुन्दर वस्त्राभूषणो से सुसज्जित वेश्याएँ वस्तुत महानुभूति की पात्र हैं। उनके गर्हित जीवन में रोमास कहाँ? उन्होंने वेश्या जीवन के मूल तक जाने का प्रयास किया है और बताया है कि किन कारणों और परिस्थितियों से विवश हो कर नारी वेश्या-जीवन अपनाती है। उन्होंने *वेश्या-वृत्ति की समस्या का युगानुरूप समाधान भी प्रस्तुत किया है।*

फारसी से अनूदित 'तिलस्मे होशरुबा' का प्रभाव प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' और 'रगभूमि' उपन्यास तथा 'मूठ', 'सौभाग्य के कोडे', 'नागपूजा' आदि कुछ कहानियो पर, जो अलौकिक और चमत्कारपूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण हैं, माना जा सकता है।

(ख) बँगला-साहित्य—प्रेमचन्द ने बँगला उपन्यासकारों में बकिम, रवीन्द्र और शरत् की रचनाएँ पढी थी और उनसे प्रेरणा भी ग्रहण की थी। उन्होंने रवीन्द्र की कुछेक

१ अपने प्रथम उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' उर्फ 'देवस्थान रहस्य' में प्रेमचन्द ने महन्त और स्वामी तथा उनकी भोली प्रेमिकाओं के प्रेम-व्यापार का यथार्थ वर्णन किया है, जो रोचक भी है और रगीन भी। यह उपन्यास बिलकुल 'सरशार' के रग में लिखा गया जान पड़ता है।

अँगरेजी कहानियों का अनुवाद कर उन्हें उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में छपवाया भी था।[1] 'जमाना' के सम्पादक को लिखे सन् १६१४ ई० के एक पत्र में उन्होंने अपने ऊपर वकिम की शैली का प्रभाव माना है, 'मुझे अब तक यह नही मालूम हुआ कि कौन सी तरज़े-तहरीर (रचना शैली) अख्तियार करूँ। कभी तो वकिम की नक्ल करता हूँ, कभी आज़ाद के पीछे चलता हूँ ...'।[2]

बँगला उपन्यासकारों में वकिम ने नारी के बडे ही उदात्त रूप का चित्रण किया है, जैसे 'देवी चौधरानी', 'आनन्दमठ', 'कपाल कुण्डला', दुर्गेशनन्दिनी' आदि में। उन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे। वकिम ने विशिष्ट व्यक्तित्व वाली नारियों का चित्रण किया है। उन्होंने अलौकिक, उदात्त और असम्भवप्राय नारियो का भी वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, दुर्गेशनन्दिनी में 'आयशा' नाम की एक मुस्लिम-कन्या एक हिन्दू नायक से प्रेम करती है और उसका प्रेम बहुत ही उदात्त है। सामाजिक उपन्यासों में उनकी नारी शरत् की नारी की भाँति कष्ट सहती हुई मर जाती है, किन्तु विद्रोह नहीं करती। प्रेमचन्द को यह स्वीकार नहीं था। सुमन[3], इन्दु[4] आदि नारियाँ विद्रोह करती हैं। गोविन्दी[5] के रूप में प्रेमचन्द ने भी आदर्श हिन्दू-नारी का वर्णन किया है, उसकी असीम सहन शक्ति का परिचय दिया है, किन्तु नारी के इस रूप की अतिरंजित प्रशसा उन्होने नही की है।

रवीन्द्रनाथ ब्रह्मसमाजी थे और ब्रह्मसमाज पुरुष-नारी की समानता का पक्षपाती है। 'कुमुदिनी', 'घरेबाहरे' आदि उपन्यासों में पूर्ण आत्मसमर्पण की स्थिति आते ही नारियाँ विद्रोह कर बैठती हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द रवीन्द्र के अधिक निकट हैं। रवीन्द्र और प्रेमचन्द दोनों ही नारी की सबसे बड़ी विभूति प्रेम, वात्सल्य, त्याग और सेवा भावना मानते हैं, इन्ही के द्वारा वह पुरुष के पशु-बल पर विजय प्राप्त करती है। दोनों ने ही पुरुष को अपूर्ण माना है और स्त्री को पूर्ण। नारी की पूर्णता मातृत्व में होती है, जिसके लिए उसे प्रयास नही करना पड़ता, भटकना नही पडता। किन्तु, पुरुष को पूर्ण बनने के लिए कल्पित अज्ञात की खोज म लगना होता है। इसी प्रकार दोनों ही नारी का कार्य क्षेत्र गृह मानते हैं। आधुनिक युग में समानता, स्वतन्त्रता और अधिकारों के लिए नारी का जो विद्रोह है, वह रवीन्द्र और प्रेमचन्द की दृष्टि में कल्याणकर नहीं। इतना अवश्य है कि स्त्रियों का विद्रोह और रोष उनके प्रति किए गए दुर्व्यवहारों के कारण है, अत दोनों ही इसका विरोध करते हैं और प्रतिक्रियावादियों से समझौता नहीं करते हुए, नारी का उचित आदर एव उसके स्वाभिमान की रक्षा करते हुए, उसे समाज में उचित स्थान का

१ जीवन-सार, 'कफन' और शेष रचनाएँ पृष्ठ ६३
२ हसराज रहबर प्रेमचन्द जीवन कला और कृतित्व, पृष्ठ ३७
३ सेवासदन।
४ रगभूमि।
५ गोदान।

अधिकारी घोषित करते हैं।[1] भेद केवल चित्रण में है। रवीन्द्र को पढ कर पाठक विचार में पड जाता है। वह सोचता है—ऐसा क्यो है, नारी क्यों पीड़ित है, इसका मूल कारण क्या है और वह दार्शनिक बन जाता है। प्रेमचन्द समस्या का समाधान, आदर्शवादी ही सही, प्रस्तुत करके पाठकों को अत्यधिक सोचने से बचा लेते हैं।

शरत् को दु.खी, दरिद्र और पीडित मनुष्यों के प्रति अनन्य सहानुभूति थी। लडकपन में उन्होंने ६ ७ सौ कुल त्यागिनी बग-नारियों की करुण गाथा स्वय सगृहीत की थी।[2] ये नारियाँ ८० प्रतिशत सधवाएँ थीं। शरत् में ऐसी नारियों के प्रति घृणा होने के विपरीत सहानुभूति और श्रद्धा ही उत्पन्न हुई; क्योंकि 'अनेक दु.खों से ही नारी अपना धर्म नष्ट करने के लिए तैयार होती है।' इस प्रकार यद्यपि शरत् ने आँकड़ों से वेश्या बननेवाले कारणों का पता लगाया था, किन्तु चित्रण करते समय वे उन कारणों का उल्लेख नहीं करते। वे केवल करुणा, स्नेह और श्रद्धा बिखेरते चलते हैं। प्रेमचन्द को यह भावुकता पसन्द नही थी। उन्होंने 'सेवासदन' की सुमन के पतन के चित्रण में कहीं भावुकता से काम नही लिया है, वे तटस्थ हो कर यथार्थता का चित्रण करते गए हैं। इसी प्रकार शरत् ने सिद्धान्त-सा बना लिया था कि नारी यदि किसी पुरुष से सचमुच प्रेम करती है, तो फिर उसे कोई पथ भ्रष्ट नही कर सकता। प्रेम पा कर वेश्याएँ भी सात्त्विक जीवन व्यतीत करने लगती हैं।[3] प्रेमचन्द ने भी प्रेम को पावन और स्त्री पुरुष के जीवन के विकास मे सहायक माना है, फिर भी उन्होंने ऐसा कोई सिद्धान्त नही बनाया है, उन्होंने मानव-स्वभाव की विभिन्नताओं और उस पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियो को सदैव ध्यान में रखा है। उनकी कुछ गौण पात्रियाँ—जैसे जोहरा,[4] शरत् की नारियों के समान अवश्य हैं।

विधवाओं के प्रति शरत् को असीम करुणा थी, लेकिन वे विधवा-विवाह को महत्त्व नहीं देते। इसीलिए विधवाओं के लिए उन्होने मौन सयम का सदेश दिया है—उदाहरणार्थ, 'चरित्रहीन' की सावित्री। प्रेमचन्द भी सामाजिक मर्यादा और बन्धन को महत्त्वपूर्ण समझते थे, किन्तु कुछेक कहानियों में उन्होंने विधवा विवाह कराए हैं।[5] वे बाल विधवाओं के विवाह के पक्षपाती थे।[6] उन्होंने स्वय एक बाल विधवा से विवाह किया था। फिर भी वे क्रान्ति के नही, विकास के समर्थक थे। हाँ, उन्हें विश्वास था कि हिन्दू समाज कभी-न-कभी अपनी इस भूल को अवश्य सुधारेगा। यही कारण है कि वे

१. रवीन्द्र के विचारों के लिए देखिए उनकी 'परसनैलिटी' (१६१७) पुस्तक का 'वुमन' नामक लेख। प्रेमचन्द के विचारों के लिए 'गोदान' के मेहता का, वीमन्स लीग की ओर स भाषण उल्लेखनीय है।

२ गोविन्द प्रसाद केजरीवाल, शरत् की नारी ' उनके पत्रों में, नई धारा, अक्टूबर, १६५३

३ 'श्रीकान्त' में राजलक्ष्मी और श्रीकान्त के प्रेम-सम्बन्ध में यही आदर्श है। 'देवदास' में भी, वेश्या (चन्द्रमुखी) प्रेम के ही कारण सात्विक जीवन अपनाती है।

४ गबन।

५. धिक्कार, नागपूजा आदि।

६. धिक्कार, नैराश्यलीला आदि।

अन्तर्जातीय अथवा भिन्न-धर्मावलम्बियों में परस्पर विवाह सम्बन्ध दिखाने का मिथ्या हठ नहीं करते। 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया की मृत्यु तथा 'कर्मभूमि' में अमरकान्त और सकीना का आकस्मिक हृदय परिवर्त्तन इस तथ्य के सूचक हैं। हिन्दू-समाज की तथाकथित निम्न कही जानेवाली जातियों में इसकी सामाजिक स्वीकृति है। अत, उनका चित्रण करते समय उन्होंने विधवा विवाह दिखाए हैं।[१] 'गोदान' में झुनिया और गोबर अन्तर्जातीय विवाह करते हैं, जिसे आर्थिक दण्ड के बाद सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है। इस प्रकार प्रेमचन्द विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह अथवा प्रेम विवाह के भी समर्थक थे, पर वे सर्वत्र समाज की मर्यादा के कायल थे।[२] जहाँ प्रेम है, वहाँ यदि जरा भी मर्यादोल्लंघन होता है, विवाह हो ही नहीं सकता। यही बात शरत् के साथ भी है। किन्तु, जहाँ शरत् इसे सिद्धान्त-रूप में अपनाते हैं, वहाँ प्रेमचन्द इसे सिद्धान्त-रूप में न मानते हुए भी, अपने पात्रों और पात्रियों से इसकी उपेक्षा और खण्डन नहीं कराते। शरत् किसी समस्या को व्यक्तिगत भावुकता से चित्रित करते हैं और प्रेमचन्द तटस्थ यथार्थता के साथ। उन्होंने बँगला के लेखकों और अपनी सीमा तथा उद्देश्य भिन्नता का अनुभव किया था। जैनेन्द्र और प्रेमचन्द के एक वार्तालाप से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है—

"जैनेन्द्र कुमार—बँगला साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं, तो इसका कारण क्या है?

प्रेमचन्द ने कहा—सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री भावना अधिक है। मुकम्मल वह काफी नहीं है।

जैनेन्द्र उनकी ओर देखने लगे और पूछा—स्त्रीत्व है, इसीसे वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है?

प्रेमचन्द बोले—हाँ तो। वह जगह-जगह Reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है। विधायकता के लिए दोनों चाहिए . .

कहते कहते उनकी आँखें जैनेन्द्र को पार कर कहीं दूर देखने लगी थीं। उस समय उन आँखों की सुर्खी एकदम गायब हो कर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गई थी। बोले—जैनेन्द्र, मुझे ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूँ। व लोग भावुक हैं। भावुकता में व जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ? ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र, मैं सोचता हूँ, काठिन्य भी चाहिए। रवीन्द्र, शरत् दोनों महान् हैं। पर, हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है, शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। मेरे लिए तो वह राह नहीं ही है।"[३]

---

१ अलग्योझा, आधार, ज्योति, सुभागी आदि कहानियाँ और 'गोदान' उपन्यास।

२ भगवती प्रसाद वाजपेयी रचित 'प्रेमपथ' उपन्यास की भूमिका, जो प्रेमचन्द ने लिखी थी, द्रष्टव्य है।

३ हंसराज रहबर, प्रेमचन्द जीवन, कला और कृतित्व, पृष्ठ १७१

यही कारण है कि प्रेमचन्द की प्रत्येक पात्री अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, जब कि शरत् की पात्रियाँ व्यक्तित्वप्रधान हैं। प्रेमचन्द की पात्रियों की समस्याएँ केवल उनकी समस्याएँ नहीं हैं, बल्कि समाज की हजारों लाखों नारियों की समस्याएँ हैं, जब कि शरत् की पात्रियों की समस्याएँ व्यक्ति-नारियों की हैं। एक पूरे समाज और राष्ट्र पर ध्यान रखता है, तो दूसरा केवल व्यक्ति पर। शरत् को पढ कर सामाजिक समस्या की ओर बहुत देर के बाद ध्यान जाता है, प्रेमचन्द तत्क्षण सामाजिक बन जाते हैं और वह पात्री हमारे सामने से हट जाती है, उसके बदले हजारों लाखों नारियाँ हमारे सामने चली आती हैं। 'प्रतिज्ञा' की विधवा पूर्णा जब वनिताश्रम म पहुँच जाती है और वहाँ पूजा पाठ करती है, ता हमें लगता है, पूर्णा तो सुरक्षित स्थान में पहुँच गई, किन्तु उस जैसी लाखों करोड़ों अन्य विधवाओं की क्या हालत होगी? पूर्णा के सुख से हम अभी निश्चिन्त भी नहीं हो पाते कि यह विचार मस्तिष्क म घर कर लेता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेमचन्द ने बंकिम, रवीन्द्र और शरत् को पढा था, किन्तु उनकी सीमाओं को भी समझा था और अपने लिए एक सर्वथा नवीन मार्ग का चुनाव किया था।

(ग) अँगरेजी-साहित्य—उर्दू के बाद प्रेमचन्द का सीधा सम्पर्क अँगरेजी से ही था। इसी कारण हिन्दी साहित्य के पहले अँगरेजी-साहित्य का विवेचन किया जा रहा है। उनके निबन्धों और पत्रों से ज्ञात होता है कि उन्होंने अँगरेजी के माध्यम से विदेशी उपन्यासों तथा साहित्य के अन्य अगों का भी अध्ययन किया था। उन्होंने रेनाल्ड, *थैकरे, डिकेंस, ताल्स्ताय, गार्की, रस्किन, अनातोले फ्रास, गाल्सवर्दी, बाल्जक,* बर्नार्ड शॉ, मापासा, दस्ताएव्स्की, चेखव, रोम्याँ रोलाँ, हालकेन आदि प्रसिद्ध तथा गौण अँगरेजी, फ्रेंच, रूसी आदि विदेशी लेखकों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था और कुछेक का अनुवाद भी प्रस्तुत किया था।[1] प्रेमचन्द की 'रगभूमि' और थैकरे के 'वैनिटी फेयर' के साम्य को श्री अवध उपाध्याय ने 'सरस्वती' के सन् २६ ई० के अकों में 'गणित के समीकरणों' से प्रमाणित करने की चेष्टा की थी, जिसका निरसन प्रेमचन्द ने 'अपनी सफाई में' स्वय कर दिया था। फिर भी, वह लेखमाला निकलती ही रही थी। बाद में, श्री रुद्रनारायण अग्रवाल ने एक विस्तृत लेख द्वारा श्री उपाध्याय के आरोपों का पूर्णत: खण्डन किया था।[2] इनके अनुसार उपाध्यायजी के आरोप सक्षेप में निम्न प्रकार हैं :—

(१) 'वैनिटी फेयर' में एक से अधिक नायक नायिकाएँ हैं और 'रगभूमि' में भी यही बात है,

(२) 'वैनिटी फेयर' की अमेलिया 'रगभूमि' की सोफिया से, जिसमें कुछ भाग 'वैनिटी फेयर' के दूसरे नारी पात्र रेबेका का भी है, काफी मिलती-जुलती है,

१. जार्ज इलियट का 'साइलस मार्नर' 'सुखदास' के नाम से, अनातोले फ्रास की 'ताया' 'अहकार' के नाम से, गाल्सवर्दी की तीन कृतियों 'स्ट्राइक', 'सिलवर बाक्स' और 'जस्टिस' का क्रमश 'हड़ताल', 'चाँदी की डिबिया' और 'न्याय' के नाम स अनुवाद किया था।

२. माधुरी, वर्ष ७, खड २, सख्या २ (सन् १९२८)

(३) रेबेका का, सम्भवत सोफिया के साम्य से बचे हुए अश का, इन्दु के साथ साम्य है और

(४) जार्ज आसबर्न का विनय से साम्य है।

अग्रवालजी ने इन धारणाओं का उत्तर देते हुए कहा है कि सोफिया और अमेलिया के जिस साम्य की ओर उपाध्यायजी ने लक्ष्य किया है, वस्तुत वह वैषम्य है। दोनों ने अत्यन्त भिन्न परिस्थितियों में पड कर प्रेम किया था। जार्ज आसबर्न और अमेलिया का प्रेम बाल्य काल से ही, उनके माता पिता द्वारा एक विशेष उद्देश्य विवाह का, ध्यान में रख कर अकुरित और विकसित होने दिया जाता है, जब कि सोफिया और विनय का परस्पर प्रेम में पड़ना आकस्मिक है, विशेष घटना-क्रम का फल है। दोनों के माता पिता इस प्रेम के घोर विरोधी हैं। अमेलिया का प्रेम वासनामय है, सोफिया का प्रेम त्यागपूर्ण और आदर्श। कभी-कभी तो सोफिया जान-बूझ कर विनय से खिंची रहती है, ताकि वह अपने कर्त्तव्य से च्युत न हो।

रेबेका का चरित्र दूषित है। वह चाँदी के चन्द टुकडो के लिए अपनी आत्मा और शरीर को बेचती फिरती है। उसका सारा जीवन दूसरो को ठगने और धोखा देने में बीतता है। उससे इन्दु अथवा सोफिया की तुलना निराधार है।

अन्य सादृश्य सम्बन्धो के साथ भी यही बात है। इस प्रकार 'वैनिटी फयर' का प्रभाव प्रेमचन्द की 'रगभूमि' पर, उसके नाम के चुनाव अथवा विस्तृत पट की दृष्टि से, भले ही पडा हो, पर प्रेमचन्द के नारी पात्रो पर तो अवश्य नही है। सोफिया, इन्दु, रानी जाह्नवी आदि 'रगभूमि' की पात्रियाँ भारतीय वातावरण में पली नारियाँ हैं, जब कि थैकरे अपनी नायिकाओं के चित्रण में भावुकता और स्वीकृत आदर्शों के प्रति अनास्था दरसाता है। *कुछ ऐसे क्षण भी आते हैं, जब उसके द्वारा चित्रित नारियाँ पुरुष और विवाह के* प्रति इस प्रकार का स्वतन्त्र आचरण करती दीख पडती हैं, जैसा नारी-आन्दोलन में भाग लेने वाली सर्वाधिक प्रगतिशील नारियाँ ही कर सकती हैं। किन्तु, सुखमय वैवाहिक जीवन की कल्पना थैकरे को इतना प्रभावित करती है कि उसकी तीक्ष्ण दृष्टि पर पर्दा पड़ जाता है, उसकी नायिकाओं को आदर्श विवाह की स्थिति के लिए समर्पण करना पड़ता है और विवाह वेदी पर उनके विशिष्ट व्यक्तित्व की बलि तुरत ही चढ जाती है।[1] प्रेमचन्द ने भारतीय नारी के आदर्शों को अपनाते हुए भी कहीं उसे जीवन की सिद्धान्त *तालिका नहीं बनाया। उदाहरण के लिए 'रगभूमि' की स्वाभिमानी इन्दु अपने पति से* सम्बन्ध तोड़ लेती है। प्रेमचन्द कहीं पक्षपात से काम नही लेते। अत, थैकरे की भाँति किसी उद्देश्य सिद्धि के लिए उनकी दृष्टि धूमिल नहीं पडती।

इसी प्रकार एक लेख में 'शिलीमुख' ने प्रेमचन्द की 'विश्वास' कहानी को हाल केन के 'एटर्नल सिटी' पर पूर्णतया अवलम्बित बताया था।[2] यह कहानी प्रेमचन्द ने पहले 'चाँद' में छपवाई थी, फिर 'प्रेम प्रमोद' नामक उनके कहानी सग्रह में उसने पहली

१. मैट्रासिया थामसन, द विक्टोरियन हिरोइन पृष्ठ ६० ६२

२. सुधा, अक्टूबर, १९२७

कहानी का स्थान पाया। 'शिलीमुख' का कहना था कि 'एटर्नल सिटी' एक उपन्यास है और 'विश्वास' एक कहानी, इसलिए प्रेमचन्द की रचना उस पर अवलम्बित होने पर भी तर्कयुक्त और सगत नही हो सकी है, बल्कि विकृत और अविश्वसनीय हो गई है। इस लेख के साथ ही 'प्रमचन्दजी का प्रतिवाद' शीर्षक से, सुधा-सम्पादक श्री दुलारेलाल भार्गव के नाम, प्रमचन्द का पत्र भी छपा था। उन्होंने 'शिलीमुख' के आरोप को इन शब्दो में स्वीकार किया था—

"प्रिय दुलारेलालजी।

हमारे मित्र प० अवध उपाध्याय तो 'कायाकल्प' को 'एटर्नल सिटी' पर आधारित बता रहे थे। मि० शिलीमुख ने उनको बहुत अच्छा जवाब दे दिया। मै अपने सभी मित्रों से कह चुका हूँ कि 'विश्वास' केवल हालकेन रचित 'एटर्नल सिटी' के उस अश की छाया है, जो वह पुस्तक पढने के बाद मेरे हृदय पर अकित हो गया। . छिपाने की जरूरत न थी और न है। मेरे प्लाट में 'एटनल सिटी' से बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, इसलिए मैंने अपनी भूलों और कोताहिया का हालकेन-जैसे ससार प्रसिद्ध लेखक के गले मढना उचित न समझा। अगर मरी कहानी 'एटनल सिटी' का अनुवाद, रूपान्तर या सक्षेप होती, तो मै बडे गर्व से हालकेन को अपना प्रेरक स्वीकार करता। पर 'एटनल सिटी' का प्लाट मेरे मस्तिष्क में आ कर न जाने कितना विकृत हो गया है। ऐसी दशा में मेरे लिए हाल केन को कलकित करना क्या श्रयस्कर होता? फिर भी मेरी कहानी में बहुत कुछ अश मेरा है, चाहे वह रेशम में टाट का जोड ही क्यों न हो?"[१]

प्रेमचन्द रूसी उपन्यासकार ताल्स्ताय और गोर्की से भी बहुत प्रभावित दीख पडते हैं। कला के आदश के सम्बन्ध में उनके विचार बहुत कुछ ताल्स्ताय से मिलते जुलते हैं। वे ताल्स्ताय की ही भाँति सुरयत आदर्शवादी कलाकार थे, किन्तु ताल्स्ताय अपने साहित्यिक जीवन के अन्त में उपदेश मूलक कहानियाँ लिखने लगे थे और धर्मोपदेशक बन बैठे थे, जब कि प्रमचन्द दिनोदिन अधिकाधिक यथार्थ की ओर झुकते गए थे[२] और धर्म पर उनका विश्वास कभी नही रहा, बल्कि वे धर्म का पाखण्डियों और स्वार्थियों का सगठन समझते थे।

(घ) हिन्दी-साहित्य —यह कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द ने सवप्रथम उर्दू में लिखना आरम्भ किया था। हिन्दी में आने के पहले तक उनका जो भी अध्ययन था, वह उर्दू और अँगरेजी पुस्तकों तक सीमित था। इसीलिए अनेक विद्वान् इस तथ्य से इनकार करते हैं कि प्रमचन्द पर उनके पूर्ववर्ती हिन्दी-कथाकारो का कुछ भी प्रभाव पडा होगा। वे बहुत ही सम्वेदनशील और प्रगतिशील लेखक थे। उस समय की समस्याएँ एक ही थीं, चाहे व उर्दू में निबद्ध की जाती रही हों अथवा हिन्दी में। यह प्रमचन्द की विशेषता है कि उर्दू के लेखक के रूप में भी वे तीव्र सामाजिक चेतना का परिचय देते हैं—उर्दू के प्रसिद्ध लेखक 'सरशार', 'शरर' आदि से भिन्न, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। प्रमचन्द

---

१ सुधा अक्टूबर १९२७, पृष्ठ २७५

२ 'गोदान' उपन्यास और 'कफन' कहानी इसके प्रमाण हैं।

की कहानियों और उपन्यासों की कथावस्तु सदैव तत्कालीन वातावरण से ली गई है। प्रारम्भ में भी, जब उन पर बाहरी प्रभावों की अधिक सम्भावना थी, वे देश प्रेम, विधवा जीवन, वेश्या समस्या आदि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखते हैं। वेश्या-जीवन पर लिखे गए 'सेवासदन' (१९१८) उपन्यास ने तो उन्हें इतनी ख्याति दी कि वे आजीवन हिन्दी में लिखते रहे।

प्रेमचन्द के हिन्दी कथा साहित्य क्षेत्र में आने के पूर्व हिन्दी उपन्यास में मुख्यतः तीन धाराएँ बह रही थीं—(१) ऐयारी या तिलस्म वाले उपन्यास, जिनके प्रतिनिधि लेखक देवकीनन्दन खत्री थे, (२) सामाजिक अथवा ऐतिहासिक रूमानी उपन्यास, जिनके प्रमुख लेखक किशोरीलाल गोस्वामी थे और (३) जासूसी उपन्यास, जिनके प्रधान लेखक गोपालराम गहमरी थे। इन सभी प्रकार के उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य मनोरञ्जन था, यद्यपि उनके लेखकों ने उन्हें उपदेशप्रद भी प्रमाणित किया था।

तिलस्म और ऐयारी के उपन्यासों में केवल घटनाओं का घटाटोप, कुतूहल और मनोरञ्जन का सामान रहता था, उपन्यास के अन्य तत्वों—चरित्र या जीवन चित्रण आदि का उनमें स्थान नहीं था। प्रेमचन्द ने अपने 'उपन्यास' नामक निबन्ध में लिखा है, "स्व० बाबू देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का बीजाङ्कुर 'तिलस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।"[१] मैं पहले कह आई हूँ कि प्रेमचन्द ने अपनी किशोरावस्था में ही तिलस्म होशरुबा का उर्दू-अनुवाद पढ डाला था। इस प्रकार प्रेमचन्द पर देवकीनन्दन खत्री का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था, ऐसा माना जा सकता है। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' भी उन्होंने पढ़ी थी।[२] 'कायाकल्प' और 'रंगभूमि' उपन्यास तथा 'मूठ', 'नागपूजा', 'सौभाग्य के कोड़े' आदि कहानियों में अलौकिक और चमत्कारपूर्ण घटनाएँ मिलती भी हैं। हिन्दी की अन्य दो धाराओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

इन तीन मुख्य धाराओं के साथ ही आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासों की एक अप्रधान, क्षीण धारा भी बह रही थी, जिसमें सामाजिक जीवन का सच्चा चित्र रहता था, साथ ही जिसका अन्त एक न एक आदर्शवादी हल से होता था।

श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास इनके प्रमुख लेखक थे। श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' (१८८२) हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। प्रेमचन्द हिन्दी के मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु' की परम्परा में आते हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा ने 'भारतेन्दु-युग' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रेमचन्द पर हिन्दी के तीन उपन्यासकारों, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट[३] और राधाकृष्णदास[४] के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का प्रभाव पडा था। किन्तु प्रश्न यह है, क्या

१ कुछ विचार, पृष्ठ ५५
२. जीवन सार।
३ 'सौ अजान एक सुजान' (१८९२), 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६)
४. 'निस्सहाय हिन्दू'।

प्रेमचन्द ने उनके उपन्यासों को पढ़ा भी था? वे बड़ी श्रद्धा से 'सरशार' का उल्लेख करते हैं, रवीन्द्र का नाम लेते हैं और देवकीनन्दन खत्री की भी चर्चा करते हैं, किन्तु हिन्दी के अपने पूर्ववर्ती इन उपन्यासकारों की बात नहीं करते। सत्य यह है कि उस समय हवा ही ऐसी थी कि यथार्थ और आदर्श का समन्वय अनिवार्य था। वह सुधारवादी युग था, राष्ट्रीय पुनर्जागरण का काल था और एक जागरूक लेखक पर युग का प्रभाव पड़ता ही है। यह निर्विवाद है कि उस समय के कुछ उपन्यासों में प्रेमचन्द का पूर्वाभास मिलता भी है, तो इसी रूप में कि कभी-कभी युगविशेष में अज्ञात रूप से किसी एक प्रवृत्ति का विकास होता है और जाने-अनजाने उसमें बहुत-से लेखक आ जाते हैं। उपर्युक्त तीनों लेखकों ने जीवन का यथार्थ चित्रण अवश्य किया था, किन्तु साथ ही, उन्होंने आदर्शवाद को भी महत्त्वपूर्ण समझा था। प्रेमचन्द में यह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद चरमोत्कर्ष को पहुँचा और इसी दृष्टि से डॉ० शर्मा का कथन उचित है। फलतः प्रेमचन्द इन उपन्यासकारों से प्रभावित न होने पर भी उनकी परम्परा में अवश्य परिगणनीय हैं।

श्रीनाथ सिंह ने एक लेख में प्रेमचन्द पर यह आरोप लगाया था कि उनकी 'जीवन का अभिशाप' कहानी (१९३५) उनके उपन्यास 'उलझन' पर अवलम्बित है।[1] श्रीनाथ सिंह के इस आरोप में कोई तथ्य नहीं है।

इस प्रकार प्रेमचन्द पर कुछ हद तक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उर्दू, बँगला, अँगरेजी और हिन्दी-साहित्य का प्रभाव पड़ा। किन्तु, वे इनसे बहुत शीघ्र ही मुक्त हो गए। प्रतिभाशाली और जागरूक कलाकार होने के कारण, सबसे प्रभावित होते हुए भी, वे एक स्वतन्त्र साहित्यकार थे। उन्होंने अपनी आँखें सदा खुली रखीं। किसी विषय की कोई नई पुस्तक हो, तो वे बड़ी दिलचस्पी से उसे एक बार देख जाते थे। उनके पास समाज को कहने के लिए बहुत सी बातें थीं, अतः उनकी भावनाओं और अनुभवों की सच्चाई निर्विवाद है, जो किसी महान कलाकार का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है।

---

१. सरस्वती, अगस्त, १९३५

: ३ :

वैवाहिक कुप्रथाएँ

समाज के सुसघटन के लिए वैवाहिक समस्याओं का समाधान आवश्यक है। प्रथम अध्याय में यह कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द युग के विचारकों एव समाज सुधारकों ने यह अनुभव किया कि भारतीयों की दुर्दशा का बहुत बडा कारण वैवाहिक कुरीतियाँ हैं। यह भी बताया जा चुका है कि आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज ने इन कुप्रथाओं में सुधार करने के श्लाघ्य प्रयत्न किये एव अन्य एकाधिक सस्थाओं ने इन कुरीतियों के विरुद्ध जनमत भी तैयार किया। प्रेमचन्द भी अपने युग की विवाह पद्धति के प्रति असहिष्णु थे। 'दो सखियाँ' कहानी का एक सुशिक्षित और उन्नत विचारों वाला पात्र कहता है, "मैं वर्तमान वैवाहिक प्रथा को पसन्द नहीं करता। इस प्रथा का आविष्कार उस समय हुआ था, जब मनुष्य सभ्यता की प्रारम्भिक दशा में था। तब से दुनिया बहुत आगे बढी है। मगर विवाह प्रथा में जौ भर भी अन्तर नहीं पडा। यह प्रथा वर्तमान काल के लिए उपयोगी नहीं।"[1] 'कुसुम' कहानी में जैसे वे इसी कथन को स्पष्ट करते हुए जान पडते हैं, "आदिकाल में स्त्री पुरुष की उसी तरह सम्पत्ति थी, जैसी गाय-बैल या खेती बारी। पुरुष को अधिकार था, स्त्री को बेचे, गिरो रखे या मार डाले। विवाह की प्रथा उस समय केवल यह थी कि वर पक्ष अपने सूर सामन्तों को सशस्त्र ले कर आता था और कन्या को उडा ले जाता था। कन्या के साथ कन्या के घर में रुपया पैसा, अनाज या पशु, जो कुछ उसके हाथ लग जाता था, उसे भी उठा ले जाता था। वह स्त्री को अपने घर ले जा कर, उसके पैरों में बेडियाँ डाल कर, घर के अन्दर बन्द कर देता था। उसके आत्मसम्मान के भावों को मिटाने के लिए यह उपदेश दिया जाता था कि पुरुष ही उसका देवता है, सोहाग स्त्री की सबसे बडी विभूति है। आज कई हजार वर्षों के बीतने पर भी पुरुष के उस मनोभाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सभी पुरानी प्रथाएँ कुछ विकृत या सस्कृत रूप में मौजूद हैं।"[2]

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में बडे यथार्थ ढग से वैवाहिक कुरीतियों पर विचार किया है।[3] सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि विवाह के सम्बन्ध में स्वय

१ मानसरोवर, भाग ८, पृष्ठ २४०

२ मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ १९

३ प्रेमचन्द स्वय वैवाहिक कुप्रथा के शिकार थे। अत, उनके अनुभव की तीव्रता असदिग्ध है। उनकी पहली पत्नी उनसे 'उम्र में ज्यादा' 'बहुत ही बदसूरत' और 'बेशर्म' थीं ही, 'जबान की भी मीठी' न थीं। उन्हें देख कर प्रेमचन्द के पिता ने कहा था, "अफसोस! मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री। मैं तो उसकी दूसरी शादी करूँगा।" फलत, प्रेमचन्द की उनसे नहीं निभी। उन्होंने उन्हें उनके मायके पहुँचा दिया और एक बाल विधवा से अपना दूसरा विवाह कर लिया। शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ ६-९

उनकी क्या धारणाएँ थीं। साथ ही, यह जानना भी आवश्यक है कि 'असरारे मआबिद' से 'गोदान' तक उनके विचारों में कुछ परिवर्तन हुआ या वे ज्यों-के-त्यों रहे। इसके लिए उनके उपन्यासों और कहानियों में आए हुए विचारों का उल्लेख असमीचीन नहीं होगा।

'वरदान' उपन्यास में प्रेमचन्द लिखते हैं, "यह कच्चे धागे का कंगन पवित्र धर्म की हथकड़ी है, जो कभी हाथ से न निकलेगी, *और मण्डप उस प्रेम और कृपा की छाया का* स्मारक है, जो जीवन पर्यन्त सिर से न उठेगी।"[1] इसी उपन्यास की नायिका वृजरानी कहती है, "हृदय का मिलाप सच्चा विवाह है। सिन्दूर का टीका, ग्रन्थिबन्धन और भाँवर—ये सब ससार के ढकोसले हैं।"[2] और, इसी उपन्यास की माधवी सोचती है, "प्रेम चित्त की प्रवृत्ति है और व्याह एक पवित्र धर्म है।"[3]

इस प्रकार प्रेमचन्द विवाह को एक 'पवित्र धर्म' मानते हैं और उसमें प्रेम को महत्त्व देते हुए, बाहरी रीति रिवाज का 'सासारिक ढकोसले' से अधिक मूल्य नहीं समझते। यही बात प्रकारान्तर से उनके प्राय: सभी विवाह सम्बन्धी कथनों में मिलती है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में कमला प्रसाद कहता है, "ढोल मजीरा बजा, आतिशबाजियाँ छूटीं और दो अबोध *बालक, जो विवाह का मर्म तक नहीं समझते, एक दूसरे के गले जीवन-पर्यन्त के लिए मढ* दिये गए।"[4] 'सेवासदन' उपन्यास में लेखक कहता है, "विवाह, भाँवर या सिन्दूर बन्धन नहीं, बन्धन केवल मन का भाव है।"[5] किन्तु, इसी उपन्यास में जब शान्ता यह कहती है, "हम विवाह को धर्म का बन्धन समझती हैं। हमारा प्रेम, धर्म के पीछे चलता है,"[6] तो वह प्रेमचन्द के व्यक्तिगत विचार को व्यक्त नहीं करती, उसे उस समय 'ईसाई लेडियों' के समक्ष हिन्दू विवाह-पद्धति का समर्थन करना है—

"शान्ता ड्योढे दरजे के जनाने कमरे में बैठी हुई थी। वहाँ दो ईसाई लेडियाँ और *बैठी थीं, वे शान्ता को देख कर अँगरेजी में बातें करने लगीं।*

"मालूम होता है, यह कोई नवविवाहिता स्त्री है।"

"हाँ, किसी ऊँचे कुल की है। ससुराल जा रही है।"

"ऐसी रो रही है, मानों कोई ढकेले लिये जाता हो।"

"पति की अभी तक सूरत न देखी होगी, प्रेम कैसे हो सकता है? भय से उसका हृदय काँप रहा होगा।"

"यह इनके यहाँ अत्यन्त निकृष्ट रिवाज है। बेचारी कन्या एक अनजान घर में भेज दी जाती है, जहाँ कोई उसका अपना नहीं होता।"

---

१. वरदान, पृष्ठ ३३
२. वरदान, पृष्ठ ११३-११४
३. वरदान, पृष्ठ ११६
४. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ११७, 'कायाकल्प' में लौंगी कहती है, "चार भाँवरें फिर जाने से ही व्याह नहीं हो जाता।" पृष्ठ ५०
५. सेवासदन, पृष्ठ २३९
६. सेवासदन, पृष्ठ २६१

"यह सब पाशविक काल की प्रथा है, जब स्त्रियों को बलात् उठा ले जाते थे।"

"क्यों बाईजी, (शान्ता से) ससुराल जा रही हो?"

शान्ता ने धीरे से सिर हिलाया।

"तुम इतनी रूपवती हो, तुम्हारा पति भी तुम्हारे जोड का है?"

शान्ता ने गम्भीरता से उत्तर दिया, "पति की सुन्दरता नहीं देखी जाती।"

"यदि वह काला-कलूटा हो तो?"

शान्ता ने गर्व से उत्तर दिया, 'हमारे लिए वह देवतुल्य है, चाहे कैसा ही हो।"

"अच्छा, मान लो, तुम्हारे ही सामने दो मनुष्य लाये जाएँ, एक रूपवान हो, दूसरा कुरूप, तो तुम किसे पसन्द करोगी?"

शान्ता ने दृढता से उत्तर दिया, "जिसे हमारे माता पिता पसन्द करें।"

"शान्ता समझ रही थी कि यह दोनों हमारी विवाह प्रथा पर आक्षेप कर रही हैं। थोडी देर के बाद उसने उनसे पूछा, "मैंने सुना है, आप लोग अपना पति खुद चुन लेती है?"

"हाँ, हम इस विषय में स्वतन्त्र हैं।"

"आप अपने को माँ-बाप से बुद्धिमान समझती हैं?"

"हमारे माँ-बाप क्या जान सकते हैं कि हमको उनके पसन्द किये हुए पुरुष से प्रेम होगा या नहीं?"

"तो आपलोग विवाह में प्रेम को मुख्य समझती हैं?"

"हाँ, और क्या, विवाह प्रेम का बन्धन है।"

"हम विवाह को धर्म का बन्धन समझती हैं। हमारा प्रेम धर्म के पीछे चलता है।"[1]

इसी प्रकार जब 'कायाकल्प' उपन्यास में चक्रधर यह कहते हैं, "हमारे यहाँ विवाह का आधार प्रेम और इच्छा पर नहीं, धर्म और कर्त्तव्य पर रखा गया है। इच्छा चंचल है, क्षण-क्षण में बदलती रहती है। कर्त्तव्य स्थायी है, उसमें कभी परिवर्त्तन नहीं होता,"[2] तो उनका भी उस समय एक विशेष उद्देश्य है। उनकी शिष्या मनोरमा उनसे पूछती है, "मैं तो समझती हूँ, जो विवाह लडकी की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है, वह विवाह ही नहीं है। आपका क्या विचार है?"[3]

"चक्रधर बडे असमञ्जस में पडे। मनोरमा से ऐसी बातें करते उन्हें सङ्कोच होता था। डरते थे कि कहीं ठाकुर साहब (मनोरमा के पिता) को खबर मिल जाए—सरला मनोरमा ही कह दे—तो वह समझेंगे, मैं इसके सामाजिक विचारों में क्रान्ति पैदा करना चाहता हूँ, अब तक उन्हें ज्ञात न था कि ठाकुर साहब किन विचारों के आदमी हैं। हाँ, उनके गंगा-स्नान से यह आभास होता था कि वे सनातन धर्म के भक्त हैं। सिर झुका कर बोले, "मनोरमा, हमारे यहाँ विवाह का आधार प्रेम और इच्छा पर नहीं, धर्म और

---

१ सेवासदन, पृष्ठ २६० २६१

२ कायाकल्प, पृष्ठ ४८

३ कायाकल्प, पृष्ठ ४७

कर्त्तव्य पर रखा गया है। इच्छा चचल है, क्षण क्षण में बदलती रहती है, कर्त्तव्य स्थायी है; उसमें कभी परिवर्त्तन नहीं होता।"

किन्तु, मनोरमा के विचारों में पहले से ही 'क्रान्ति' हो चुकी थी। वह चक्रधर का विरोध करती है, "अगर यह बात है, तो पुराने जमाने में स्वयम्वर क्यों होते थे?"

चक्रधर, "*स्वयम्वर में कन्या की इच्छा ही सर्वप्रधान नहीं होती थी। वह वीर-युग था* और वीरता ही मनुष्य का सबसे उज्ज्वल गुण समझी जाती थी। लोग आजकल वैवाहिक प्रथा सुधारने का प्रयत्न तो कर रहे हैं।"

मनोरमा, "*जानती हूँ, लेकिन कहीं सुधार हो रहा है? माता पिता धन देख कर* लट्टू हो जाते हैं। इच्छा अस्थायी है, मानती हूँ, लेकिन एक बार अनुमति दे देने के बाद फिर लडकी को पछताने के लिए कोई हीला नहीं रहता।"

चक्रधर, "अपने मन को समझाने के लिए तर्कों की कभी कमी नहीं रहती, मनोरमा। कर्त्तव्य ही ऐसा आदर्श है, जो कभी धोखा नहीं दे सकता।"

मनोरमा, "हाँ, लेकिन आदर्श आदर्श ही रहता है, यथार्थ नहीं हो सकता। (मुस्कराकर) यदि आप ही का विवाह किसी कानी, काली-कलूटी स्त्री से हो जाए, तो क्या आपको दुःख न होगा? बोलिए। क्या आप समझते हैं कि लडकी का विवाह किसी खूसट से हो जाता है, तो उसे दुःख नहीं होता? उसका वश चले, तो वह पति का मुख तक न देखे।"[1]

इस उपन्यास में प्रेमचन्द विवाह में कन्या और वर की 'अनुमति' लेना ही नहीं, विवाह के पूर्व स्त्री और पुरुष की मुलाकात का भी समर्थन करते हैं। यशोदानन्दन कहते हैं, "मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वर और कन्या में दो चार बार मुलाकात भी हो जानी चाहिए। कन्या के लिए तो वह अनिवार्य है। पुरुष को स्त्री पसन्द न आई, तो वह और शादियाँ कर सकता है। स्त्री को पुरुष पसन्द न आया, तो उसकी सारी उम्र रोते ही *गुजरेगी।*"[2] *महाशय यशोदानन्दन इन्हीं दोनों उद्देश्यों—'अनुमति' और 'मुलाकात'*—के लिए अपने भावी दामाद को अपने घर चलने को प्रेरित करते हैं, "यों तो मैं मन से आपको अपना दामाद बना चुका, पर अहल्या की अनुमति ले लेना आवश्यक समझता हूँ। *आप भी शायद यह पसन्द न करेंगे कि मैं इस विषय में स्वेच्छा से काम लूँ।* आप शरमाएँ

१. कायाकल्प, पृष्ठ ८७-४८

२ कायाकल्प, पृष्ठ १५; 'गोदान' में प्रेमचन्द ने विवाह से पूर्व प्रेम का भी समर्थन किया है। मेहता मालती के प्रति अपने प्रेम का विश्लेषण करते हैं—"यह वह जानते थे, जिसे सच्चा प्रेम कह सकते हैं, केवल एक बन्धन में बँध जाने के बाद ही पैदा हो सकता है। इसके पहले जो प्रेम होता है, वह तो रूप की आसक्तिमात्र है, जिसका कोई टिकाव नहीं। मगर, इसके पहले यह निश्चय तो कर लेना ही था कि जो पत्थर साहचर्य के खराद पर चढ़ेगा, उसमें खरादे जाने की क्षमता है भी या नहीं। सभी पत्थर तो खराद पर चढ़ कर सुन्दर मूर्त्तियाँ नहीं बन जाते।" पृष्ठ ४०४; इसी उपन्यास में मालती की बहन सरोज प्रेम-विवाह करती है, पृष्ठ ४१४

नहीं, यों समझ लीजिए कि आप मेरे दामाद हो चुके, केवल मेरे साथ सैर करने चल रहे हैं। आपको देख कर आपकी सास, साले सभी खुश होंगे।"[१]

इस प्रकार प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही विवाह में 'हृदय के मिलाप' को विवाह के अवसर पर होने वाले रस्मों से अधिक महत्त्व देते हैं और साथ ही विवाह-संस्कार को 'पवित्र धर्म' मानते हैं। एक प्रकार से व विवाह के प्रचलित आदर्शों (आत्म समर्पण, धार्मिक संस्कार, अविच्छेद्य बन्धन, सामाजिक कर्त्तव्य आदि) को मानते हुए, उसमें यह जोड़ देना आवश्यक समझते हैं कि स्त्री पुरुष स्वेच्छा से, अपने गुरु उत्तरदायित्व को समझते हुए, अपना साथी चुनें या फिर कम से-कम उनकी अनुमति अवश्य ले ली जाए।

इस सम्बन्ध में कुछ और उक्तियाँ देना अनावश्यक न होगा। 'नरक का मार्ग' कहानी की नायिका कहती है, "स्त्री किसी के गले बाँध दिये जाने से ही उसकी विवाहिता नहीं हो जाती। वही सयाग विवाह का पद पा सकता है, जिसमें कम से-कम एक बार तो हृदय प्रेम से पुलकित हो जाए।"[२] 'प्रेमाश्रम' उपन्यास की गायत्री कहती है, "जिस पुरुष के साथ विवाह हो गया, उसके साथ निर्वाह करना प्रत्येक कर्मनिष्ठ नारी का धर्म है। विवाह स्त्री-पुरुष के अस्तित्व को संयुक्त कर देता है। उनकी आत्माएँ एक दूसरे में समाविष्ट हो जाती हैं।"[३] इस सम्बन्ध में वह पश्चिमी देशों की विवाह पद्धति की आलोचना करती हुई कहती है, "वहाँ के लोग विवाह का केवल सामाजिक सम्बन्ध मानते हैं। वहाँ कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो विवाह संस्कार को मिथ्या समझते हैं। स्त्री पुरुष की अनुमति ही विवाह है, लेकिन भारतवर्ष में कभी इन विचारों का आदर नहीं हुआ।"[४] 'सोहाग का शव' कहानी की नायिका कहती है, "विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श उसकी पवित्रता और स्थिरता है।"[५] इसी प्रकार 'कर्मभूमि' उपन्यास की नैना कहती है, "जो विवाह को धर्म का बन्धन नहीं समझता, उसे केवल वासना की तृप्ति का साधन समझता है, वह पशु है।"[६] 'गोदान' उपन्यास में मेहता कहते हैं, "विवाह को मैं सामाजिक समझौता मानता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।"[७] इस प्रकार यद्यपि मेहता विवाह को 'सामाजिक समझौता' मानते हैं, किन्तु वह अविच्छेद्य होने के कारण उसका पाश्चात्य विवाह पद्धति के सामाजिक समझौते से पर्याप्त भेद है,

---

१. कायाकल्प, पृष्ठ १६
२ 'नरक का मार्ग', मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ २७
३ प्रेमाश्रम, पृष्ठ १६२, 'सेवासदन' में पद्मसिंह कहते हैं, 'विवाह एक धार्मिक व्रत है, एक आत्मिक प्रतिज्ञा है", पृष्ठ ७७, कायाकल्प' में आया है—"विवाह का सम्बन्ध देह से नहीं, आत्मा से है।" पृष्ठ १८
४. प्रेमाश्रम, पृष्ठ १६३
५. मानसरोवर, भाग ५, पृष्ठ २२४
६. कर्मभूमि पृष्ठ २६३
७. गोदान, पृष्ठ ७७

क्योंकि आगे मेहता कहते हैं, "व्याह तो आत्म समर्पण है।"[1] प्रेमचन्द ने डॉ॰ मदान को अपने एक पत्र में यही लिखा था, "अपने श्रेष्ठतम रूप में विवाह भी एक प्रकार का समझौता और समर्पण ही है।"[2]

प्रेमचन्द-युग में विवाह का उद्देश्य और मर्म भूल जाने के कारण, हिन्दू परिवारों में दाम्पत्य जीवन का सुख दुर्लभ हो रहा था। विवाह के आन्तरिक उद्देश्य को समाज भूल गया था। एक बार हाथ पीले होने चाहिए, माँग भरी जानी चाहिए, बस माता पिता अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ लेते थे, और बातें लड़की के भाग्य पर छोड़ दी जाती थी। इस प्रकार बाहरी रस्म रिवाज ही प्रधान विषय हो गए थे, विवाह का वास्तविक ध्येय विस्मृत हो गया था। अतः, समाज मे अनेक वैवाहिक विषमताएँ एव असगतियाँ देखने को मिलती थी। वैवाहिक असगतियों के लिए प्रेमचन्द ने निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया है :—

१ दहेज प्रथा,

२ माता-पिता द्वारा वर और कन्या के गुण और स्वभाव को न मिला कर, केवल बाहरी बातों को—सम्पत्ति, कुल मर्यादा, वर्ण, राशि आदि—देख कर विवाह करना,

३. माता पिता की अकर्मण्यता,

४ कन्या का विवाहित होना आवश्यक और

५. पुत्री से पुत्र अधिक महत्त्वपूर्ण।

प्रेमचन्द-युग में दहेज-प्रथा अत्यन्त व्यापक एव जटिल हो गई थी। स्वभावतः इस समस्या की ओर समाज-सुधारकों का ध्यान गया। वस्तुतः यही प्रथा बहुत अशो में वृद्ध विवाहों, बहुविवाहो और बेमेल विवाहों का कारण थी। इस प्रथा ने इतना भीषण रूप धारण कर लिया था कि इसके चलते कितने परिवार उजड गए, कितनी सुशीला. गुणवती और रूपवती कन्याएँ वृद्ध, रोगी, निर्धन, कुरूप, निरक्षर और दुर्व्यसनी पुरुषों क पल्ले पड़ी, कितनी कुमारियो ने आत्महत्या करके अपने माता-पिता को चिन्ता से मुक्त किया, कितनी विवाहिताएँ ससुरालवालों का अत्याचार सह कर असमय में ही काल कवलित हुई और कितनी पतित जीवन व्यतीत करने को विवश हुई।[3] प्रेमचन्द के शब्दों में, 'हिन्दू समाज की वैवाहिक प्रथा इतनी दूषित, इतनी चिन्ताजनक, इतनी भयकर हो गई है कि कुछ समझ में नहीं आता, उसका सुधार क्योंकर हो? विरले ही ऐसे माता-पिता होंगे, जिनके सात पुत्रों के बाद भी एक कन्या उत्पन्न हो जाए, तो वे सहर्ष उसका स्वागत करें। इसका कारण केवल यही है कि दहेज की दर दिन दूनी, रात चौगुनी, पावस के जल-वेग के समान बढ़ती चली जा रही है। कितने ही माता-पिता इसी चिन्ता में घुल-घुल कर अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, कोई सन्यास ग्रहण कर लेता है, कोई कन्या को बूढ़े के गले मढ कर अपना गला छुड़ाता है, पात्र-कुपात्र के विचार करने का मौका कहाँ, ठेलमठेल है।'[4]

१. गोदान, पृष्ठ १९०

२. डॉ॰ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', परिशिष्ट २, पत्र-संख्या १

३. सम्पादकीय, चाँद, वर्ष १, खंड १, संख्या २

४ 'उद्धार', मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ३८-३९

समाज-सुधारकों ने समाचार पत्रों और पत्र पत्रिकाओं में दहेज के विरोध में बड़े बड़े लेख लिखे वर के पिताओं से 'अपील' की, कभी उन्हें देश और समाज के प्रति उनका कर्त्तव्य बताया, कभी उन्हें इस गर्हित कार्य के लिए धिक्कारा और क्षोभ भी व्यक्त किया, किन्तु लेने वाले लेते ही थे, दिखा कर नहीं तो चुपचाप ही सही। कितने सुधारक दूसरों को उपदेश देते थे, किन्तु समय आने पर स्वयं छिपा कर दहेज लेते थे। वे "माल भी चुपके चुपके उड़ाते थे और यश भी कमाते थे।"[१] प्रेमचन्द ने इसी प्रकार के एक सुधारक की पोल अपनी 'एक आँच की कसर' नामक कहानी में खोली है। शिक्षित परिवारों में, आशा के विपरीत, वरों का मूल्य उनकी शिक्षा के अनुसार बढ़ता ही जाता था। चार पाँच हजार सुनाना तो सामान्य बात थी। 'सेवासदन' उपन्यास के दारोगा कृष्णचन्द्र को ऐसा ही अनुभव होता है—'वह शिक्षित परिवार चाहते थे। वह समझते थे कि ऐसे घरों में लेन देन की चर्चा न होगी, पर उन्हें यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वरों का मोल उनकी शिक्षा के अनुसार है कोई चार हजार सुनाता, कोई पाँच हजार और कोई इससे भी आगे बढ़ जाता। बेचारे निराश होकर लौट आते।'[२] ये दहेज लेने वाले बड़े व्यवहार कुशल होते थे। उन्हें सुधार के नाम पर कुछ कहना कठिन था, क्योंकि वे 'एक न एक ऐसा पख'[३] निकाल देते थे कि कन्या का पिता निरुत्तर हो जाता था। एक महाशय कहते, "साहब, हमें तो दहेज से सख्त नफरत है। यह मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है, पर करूँ क्या, बच्चे की अम्मीजान नहीं मानती।"[४] दूसरे सज्जन कहते, "महाशय, मैं स्वयं इस कुप्रथा का जानी दुश्मन हूँ, लेकिन करूँ क्या, अभी पिछले साल लड़की का विवाह किया, दो हजार रुपए केवल दहेज में देने पड़े, दो हजार और खाने पीने में खर्च पड़े, आप ही कहिए, यह कमी कैसे पूरी हो?"[५] यही नहीं, प्रेमचन्द की निगाह से वे भी नहीं बच पाये हैं, जो इस 'बेहयाई' पर उतर आते थे कि लड़के की शिक्षा दीक्षा तक का खर्च माँग बैठते थे।[६] कुछ नीति कुशल व्यक्ति उसी बात को इस प्रकार कहते थे, "मैंने लड़के को पाला है, सहस्रों रुपए उसकी पढ़ाई में खर्च किये हैं। आपकी लड़की का उससे उतना ही लाभ

---

१ 'एक आँच की कसर' मानसरोवर भाग ३, पृष्ठ ६४

२ सेवासदन पृष्ठ ३

३ सेवासदन, पृष्ठ ३

४ 'एक आच की कसर', मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ६०

५ सेवासदन, पृष्ठ ३ ४
प्रेमचन्द वर के पिताओं की इस मनोवृत्ति पर टीका करते हुए अन्यत्र कहते हैं, "लुत्फ तो यह है कि जो लोग बेटियों के विवाह की कठिनाइयों को भोग चुके होते हैं, वही अपने बेटों के विवाह के अवसर पर बिलकुल भूल जाते हैं कि हमें कितनी ठोकरें खानी पड़ी थीं जरा भी सहानुभूति नहीं प्रकट करते बल्कि कन्या के विवाह में जो तावान उठाया था उसे चक्रवृद्धि ब्याज के साथ बेटे के विवाह में वसूल करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं।"
'उद्धार', मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ३६

६ 'एक आँच की कसर', मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ६०

होगा, जितना मेरे लडके को। तो आप ही न्याय कीजिए कि यह सारा भार मैं अकेला कैसे उठा सकता हूँ ?"[1]

प्रेमचन्द ने 'निर्मला' उपन्यास में एक ऐसे व्यक्ति की पोल खोली है, जो अपने पुत्र का विवाह, उदयभानु लाल वकील की लडकी से बिना किसी ठहराव के ही करने को तैयार हो जाता है, क्योंकि बिना ठहराव के और अधिक मिलने की आशा रहती है। यह व्यक्ति वकील साहब के आकस्मिक देहान्त पर विवाह नहीं करने के लिए 'तरह तरह के हीले-हवाले' करता है, क्योंकि अब आशातीत धन मिलने की सम्भावना नही रहती—"ईश्वर को मजूर ही न था कि वह लक्ष्मी मेरे घर आती, नही तो क्या यह वज्र गिरता ? ' मरने वाले की याद ही रुलाने के लिए काफी है। उसे देख कर तो जख्म और भी हरा हो जाएगा।... उस अनाथ बालिका को देख कर मेरा कलेजा फट जाएगा। ' यह मृत्यु एक प्रकार की अमगल सूचना है, जो विधाता की ओर से हमें मिली है। यह किसी आनेवाली मुसीबत की आकाशवाणी है। विधाता स्पष्ट रीति से कह रहा है, यह विवाह मगलमय न होगा। ऐसी दशा में आप ही सोचिए, जिस काम का आरम्भ ही अमगल से हो, उसका अन्त मगलमय हो सकता है ? समधिन साहिबा को समझा कर कह दीजिएगा, मैं उनकी आज्ञा पालन करने को तैयार हूँ, लेकिन इसका परिणाम अच्छा न होगा। स्वार्थ के वश में हो कर मैं अपने परम मित्र की सन्तान के साथ यह अन्याय नहीं कर सकता।"[2]

इन महाशय की वास्तविक प्रवृत्ति का उद्घाटन प्रेमचन्द ने इन्हीं की पत्नी रँगीली बाई द्वारा कराया है, जो पहले तो पति की बातों से सहमत होती हैं, किन्तु विधवा कल्याणी का पत्र पढ कर, करुणा से विह्वल हो कर, निर्मला से अपने पुत्र का विवाह करने को तैयार हो जाती हैं। पति के हीला हवाला करने पर वह उसे फटकारती हैं, "क्यों जी, तुम मुझसे भी उडते हो, दाई से पेट छिपाते हो ? मैं तुम्हारी बातें मान जाती हूँ, तो तुम समझते हो, इसे चकमा दे दिया। मगर, मैं तुम्हारी एक एक नस पहचानती हूँ।.. जब वकील साहब जीते थे, तो तुमने सोचा था कि ठहराव की जरूरत ही क्या है, वह खुद ही जितना उचित समझेंगे, देंगे, बल्कि बिना ठहराव के और ज्यादा मिलने की आशा होगी। अब जो वकील साहब का देहान्त हो गया, तो तरह तरह के हीले हवाले करने लगे। यह भलमन्सी नहीं, छोटापन है।[3] इसी प्रकार भुवनमोहन 'लोभी' और 'कायर' युवक-समाज का प्रतिनिधित्व करता है। उसकी सलाह पूछी जाने पर वह कहता है, "कहीं ऐसी शादी करवाइए कि खूब रुपए मिलें। और न सही, एक लाख का तो डौल हो। वहाँ अब क्या रखा है ? वकील साहब रहे ही नही, बुढिया के पास अब क्या रखा होगा ?"[4] और, हार

१ सेवासदन, पृष्ठ ४
२. निर्मला, पृष्ठ २० २१
३ निर्मला, पृष्ठ २५
४ निर्मला, पृष्ठ २७

कर रँगीली बाई को कहना पड़ता है, "तुम बाप पूत दोनों एक ही थैली के चट्टे बट्टे हो। दोनों उस गरीब लड़की के ऊपर छुरी फेरना चाहते हो।"[१]

परिणाम यह होता है कि भुवनमोहन के साथ निर्मला का विवाह सम्बन्ध टूट जाता है और दहेज के अभाव में उसका विवाह बूढ़े तोताराम से होता है। 'सेवासदन' उपन्यास के दारोगा कृष्णचन्द्र, दहेज देने के लिए, जीवन में पहली बार, रिश्वत लेते हैं और पकड़े जाते हैं। इसके बाद सुमन का विवाह अधेड़, दुहाजू और रूखे गजाधर से होता है। प्रेमचन्द दहेज प्रथा की आलोचना करते हुए कहते हैं, 'वह (कन्या) रूपवती है, गुणशीला है, चतुर है, कुलीन है तो हुआ करे। दहेज हो, तो सारे दोष गुण हैं। प्राणी का कोई मूल्य नहीं, केवल दहेज का मूल्य है। कितनी विषम भाग्य लीला है।'[२]

ऐसे विवाहों का सुख भी क्या होगा, जिनका आधार ही गलत है। 'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचन्द ने कितने मार्मिक व्यंग्य से लिखा है, 'अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुका कर, देह चुरा कर निकलती थी, अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी। वह उनसे भागती फिरती, उनको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी।'[३] विवाह के ५, ६ वर्ष के बाद निर्मला घुल-घुल कर मर जाती है और स्वाभिमानी, चंचल सुमन पतिता का जीवन अपनाती है।

प्रेमचन्द के समय में सबसे कठिन समस्या यह थी कि कन्या के लिए वर माता पिता ढूँढ़ते थे और उससे उसके विवाह में अनुमति नहीं ली जाती थी।[४] माता पिता या अन्य अभिभावक वर और कन्या का स्वभाव मिला कर विवाह नहीं करते थे, बल्कि वे सम्पत्ति, वर्ण, राशि और कुलीनता को महत्त्व देते थे। ऐसे लोगों के मन में यह बात घर किये रहती थी कि कन्या को धनी घराने में सुख मिलेगा, वहाँ वह रानी की भाँति रहेगी। वे वर के स्वभाव, चरित्र आदि बातों को गौण समझते थे। परिणामस्वरूप वर और कन्या में गुण, शील और स्वभाव की दृष्टि से कोई मेल नहीं होता था और उनका दाम्पत्य जीवन दुखमय हो जाता था। प्रेमचन्द ने इस प्रकार के अनमेल विवाहों का बहुश वर्णन किया है।

---

१ निर्मला, पृष्ठ १७

२ निर्मला पृष्ठ ३४ ३५। प्रेमचन्द के समकालीन अन्य उपन्यासकारों ने भी दहेज की कुप्रथा पर लिखा है। देखिए, भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'प्रेमपथ' (१९२६), पृष्ठ १०६। देवनारायण द्विवेदी के 'कर्त्तव्याघात' (१९२६) में दहेज में कमी रह गई तो पिता ने पुत्र का दूसरा विवाह कर दिया, पृष्ठ ५२। प्रेमचन्द के सुझाव और प्रकाशक के आग्रह पर देवनारायण द्विवेदी ने दहेज प्रथा के विरोध में 'दहेज' नामक एक स्वतन्त्र उपन्यास भी लिखा, जो सम्भवतः सन् १९२८-२६ ई० में, काशी पुस्तक भंडार, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ। देखिए, 'दहेज' उपन्यास की भूमिका।

३. निर्मला, पृष्ठ ३६

४ शिक्षा के प्रसार के साथ यह कुप्रथा मिट रही थी। 'प्रतिज्ञा' में बदरी प्रसाद प्रेमा से विवाह की अनुमति लेते हैं, पृष्ठ ७०-७१, 'गोदान' की सरोज प्रेम विवाह करती है, पृष्ठ ४१५।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास की सुमित्रा और कमला प्रसाद के स्वभाव भेद एवं दाम्पत्य कलह को लेखक ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, 'आज से तीन साल पहले सुमित्रा ने कमला को पा कर अपने को धन्य माना था। दो तीन महीने उसके दिन सुख से कटे, लेकिन ज्यों ज्यों दोनों की प्रकृति का विरोध प्रकट होने लगा, दोनों एक दूसरे से खिंचने लगे। सुमित्रा उदार थी, कमला पल्ले सिरे के कृपण। वह पैसे को ठीकरी समझती थी, कमला कौड़ियों को दाँत से पकड़ते थे। सुमित्रा साधारण भिक्षुक को भिक्षा देने उठती, तो इतना दे देती कि वह चुटकी की चरम सीमा का अतिक्रमण कर जाता था। उसके मैके से एक बार एक ब्राह्मणी कोई शुभ समाचार लाई थी। उसे उसने नई साड़ी उठा कर दे दी। उधर कमला का यह हाल था कि भिक्षुक की आवाज सुनते ही गरज उठते थे, रूल उठा कर मारने दौड़ते थे, दो चार को तो पीट ही दिया था। सुमित्रा में नम्रता, विनय और दया थी, कमला में घमण्ड, उच्छृङ्खलता और स्वार्थ। एक वृक्ष का जीव था, दूसरा पृथ्वी पर रेंगनेवाला। उनमें मेल कैसे होता?"[1]

सुमित्रा और कमला प्रसाद के विवाह में सम्पत्ति का ही विचार प्रमुख था। सुमित्रा व्यथित हृदय से पूर्णा से कहती है, "अपने माता पिता की धन लिप्सा का प्रायश्चित्त कर रही हूँ बहन और क्या? तुम देख लेना बहन, एक दिन यह महल ढह जाएगा। यही अभिशाप मेरे मुँह से बार बार निकलता है। मेरा विवाह तो इस महल से हुआ है। लाला बदरी प्रसाद की बहू हूँ, इससे बढ़ कर सुख की कल्पना कौन कर सकता है? भगवान ने किस लिए मुझे जन्म दिया, समझ में नहीं आता।"[2]

'प्रेमाश्रम' उपन्यास की विद्या और ज्ञानशंकर में वैसा ही स्वभाव भेद है, जैसा कि सुमित्रा और कमला प्रसाद में, बल्कि उससे भी अधिक। विद्या उदार, धर्मभीरु, कुल प्रतिष्ठा पर मर मिटनेवाली श्रद्धालु स्त्री है, जब कि ज्ञानशंकर पक्का स्वार्थी और नीच मनुष्य है। इन दोनों के विवाह-सम्बन्ध में भी धन ही कारण है, यद्यपि उसका रूप बदल गया है—'राय कमलानन्द बहादुर लखनऊ के एक बड़े रईस और तालुकेदार थे उन्होंने अपनी बड़ी लड़की गायत्री का विवाह गोरखपुर के एक बड़े रईस से किया। उत्सव में लाखों रुपए खर्च कर दिये। पर, जब विवाह के दो ही साल पीछे गायत्री विधवा हो गई—उसके पति को किसी घर के ही प्राणी ने लोभवश विष दे दिया—तो राय साहब ने विद्या को किसी साधारण कुटुम्ब में ब्याहने का निश्चय किया, जहाँ जीवन इतना कष्टमय न हो। यही कारण था कि ज्ञानशंकर को वह सौभाग्य प्राप्त हुआ।"[3] परिणाम यह होता है कि अपने पति की कुटिलताओं से भयभीत हो कर विद्या आत्महत्या कर लेती है।

'रंगभूमि' उपन्यास की इन्दु का विवाह भी कुल प्रतिष्ठा आदि के आधार पर हुआ था। इन्दु तथा उसके पति के स्वभाव भेद की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। इन्दु के पति राजा महेन्द्र इतने यश लोभी तथा पद-लोलुप हैं कि उनकी नजरों में यश और नाम

१ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ७२-७३
२ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ४६-४७
३ प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६५

ही प्रधान वस्तु है और स्त्री गौण। इन्दु सोफिया से कहती है, "अगर मेरा अपना वश होता, तो उन्हें कभी न वरती, चाहे कुँआरी ही रहती। मेरे स्वामी मुझसे प्रेम करते हैं, धन की कोई कमी नहीं। पर, मैं उनके हृदय के केवल चतुर्थांश की अधिकारिणी हूँ, उसके तीन भाग सार्वजनिक कामों की भेंट होते हैं। एक के बदले चौथाई पा कर कौन संतुष्ट हो सकता है, मुझे तो बाजरे की पूरी रोटी बिस्कुट के चौथाई हिस्से से कहीं अच्छी मालूम होती है। क्षुधा तो तृप्त हो जाती है, जो भोजन का यथार्थ उद्देश्य है।"[1] राजा साहब की पद लालसा, स्वार्थ वृत्ति, अहं भावना और अत्याचार को स्वाभिमानी, न्यायप्रिय इन्दु सहन नहीं कर पाती। दोनों का दाम्पत्य जीवन कलहपूर्ण हो जाता है तथा एक दिन यह मतभेद और विवाद अपनी चरम सीमा को पहुंच जाता है। इन्दु क्रोध में आ कर अपने मायके चली जाती है।

पति पत्नी का यह स्वभाव भेद 'कर्मभूमि' उपन्यास की सुखदा और अमर में सीमोल्लंघन कर जाता है। सुखदा एक धनी विधवा की इकलौती पुत्री है। 'उसकी माता ने बेटे की साध बेटी से पूरी की थी। त्याग की जगह भोग, शील की जगह तेज, कोमल की जगह तीव्र का संस्कार किया था। सिकुड़ने और सिमटने का उसे अभ्यास न था और वह युवक-प्रकृति की युवती व्याही गई युवती प्रकृति के युवक से, जिसमें पुरुषार्थ का कोई गुण नहीं। विवाह हुए दो साल हो चुके थे, पर दोनों में कोई सामंजस्य न था। दोनों अपने अपने मार्ग पर चले जाते थे। दोनों के विचार अलग, व्यवहार अलग, संसार अलग। जैसे, दो भिन्न जलवायु के जन्तु एक पिंजरे में बन्द कर दिये गए हों।'[2]

इस विवाह सम्बन्ध का कारण भी धन ही है। प्रेमचन्द लिखते हैं, 'अमरकान्त की अवस्था उन्नीस साल से कम न थी, पर देह और बुद्धि को देखते हुए, अभी किशोरावस्था ही में था। देह का दुर्बल, बुद्धि का मन्द। • इस साल पटते हो गए थे और अभी ज्यों त्यों करके आठवें में पहुँचा था। किन्तु, विवाह के लिए यह बातें नहीं देखी जातीं। देखा जाता है धन, विशेषकर उस बिरादरी में जिसका उद्यम ही व्यवसाय हो। लखनऊ के एक धनी परिवार से बातचीत चल पड़ी। समरकान्त (अमरकान्त के पिता) की तो लार टपक पड़ी। कन्या के घर में विधवा माता के सिवा निकट का कोई सम्बन्धी न था, और धन की कहीं थाह नहीं। ऐसी कन्या बड़े भागों से मिलती है।'[3]

ये ही लाला समरकान्त अपनी पुत्री नैना को धन लिप्सा के कारण ऐसे कुपात्र के गले मढ़ देते हैं, जो 'शराबी है, व्यभिचारी है, मूर्ख है, घमण्डी है।'[4] यह व्यक्ति बाद में नैना को गोली मार देता है, केवल इसीलिए कि वह गरीबों के एक जुलूस का नेतृत्व कर रही थी।

---

१ रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ ६६
२ कर्मभूमि, पृष्ठ ११
३ कर्मभूमि, पृष्ठ ११
४ कर्मभूमि, पृष्ठ २३२

वृद्ध विवाह और बहु-विवाह करने वाले साधारणतः धनी व्यक्ति ही होते थे। इसका कारण स्पष्टतः यही है कि माता पिता अपनी पुत्री का विवाह निर्धन, सच्चरित्र युवक से करने की अपेक्षा सम्पत्तिशाली पुरुष से करना पसन्द करते थे, भले ही वह बूढ़ा हो, दुहाजू हो या उसकी एक, दो या तीन पत्नियाँ जीवित हों। 'कायाकल्प' उपन्यास की रोहिणी एक ऐसे अधेड़ पुरुष से ब्याही जाती है, जिसकी दो पत्नियाँ जीवित हैं। सौतों की खटपट से दुखी हो कर वह डूब मरने के लिए घर से निकल पड़ती है। इसमें बाधा देनेवाले चक्रधर से वह कहती है, "मैं जिस दिन मर जाऊंगी, उस दिन घी के चिराग जलेंगे। संसार में ऐसे अभागे प्राणी भी होते हैं। अपने माँ-बाप को क्या कहूँ? ईश्वर उन्हें नरक में भी चैन न दे। सोचे थे, बेटी रानी हो जाएगी, तो हम राज करेंगे। यहाँ जिस दिन डोली से उतरी, उसी दिन से सिर पर विपत्ति सवार हुई।"[1]

कुछ ऐसे माता पिता भी थे, जो केवल अपनी अकर्मण्यता के कारण अपने भावी दामाद के गुण और चरित्र की छान बीन नहीं करते थे, फलस्वरूप उनकी लड़कियाँ प्रायः कुपात्रों के गले पड़ती थीं। 'वरदान' उपन्यास की सर्वगुणसम्पन्न और अत्यन्त सुन्दरी विरजन का विवाह ऐसी ही परिस्थितियों में दुश्चरित्र, मूर्ख, लम्पट और आवारा कमलाचरण से हो जाता है। प्रेमचन्द ऐसे असावधान और कर्त्तव्य शून्य पिताओं को आड़े हाथों लेते हैं, 'कभी कमला हाट में बुलबुल लड़ाते मिल जाता, कभी गुण्डों के संग सिगरेट पीते, पान चबाते, बेढंगेपन से घूमता हुआ दिखाई देता। मुंशीजी जब जामाता की यह दशा देखते, तो घर आते ही स्त्री पर क्रोध निकालते, "यह सब तुम्हारी ही करतूत है। तुम्हीं ने कहा था, घर वर दोनों अच्छे हैं, तुम्हीं रीझी हुई थीं।" उन्हें उस क्षण यह विचार न होता कि, जो दोषारोपण सुशीला पर है, कम से कम मुझ पर भी उतना ही है। वह बेचारी तो घर में बन्द रहती थी। उसे क्या ज्ञान था कि लड़का कैसा है। वह सामुद्रिक विद्या थोड़ी ही पढ़ी थी? उसके माता पिता को सभ्य देखा, उनकी कुलीनता और वैभव पर सहमत हो गई। पर, मुंशीजी ने तो केवल अकर्मण्यता और आलस्य के कारण छान-बीन न की। यद्यपि उन्हें इसके अनेक अवसर प्राप्त थे ...।'[2] प्रेमचन्द यहाँ उपन्यास-कला की उपेक्षा करते हुए अपनी ओर से यह जोड़ देना आवश्यक समझते हैं, 'मुंशीजी के अगणित बान्धव इसी भारतवर्ष में अब भी विद्यमान हैं, जो अपनी प्यारी कन्याओं को इसी प्रकार नेत्र बन्द करके कुएँ में ढकेल दिया करते हैं।"[3]

राशि, वर्ण और कुलीनता के महत्त्व के कारण भी लड़कियाँ कुपात्रों से ब्याही जाती थीं। दहेज का प्रश्न तो इन तीनों के बाद आता था। किसी भी पिता के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी ही 'जाति' में तथा 'कुलीन' वर ढूँढे, और तब उस वर की कुण्डली ले कर अपनी कन्या की कुण्डली से मिलावे। 'लेन देन' का प्रश्न तो इन

---

१ कायाकल्प, पृष्ठ ८०

२ वरदान, पृष्ठ ४३-४४

३ वरदान, पृष्ठ ४४

समस्याओं के हल हो जाने के बाद उठता था।[१] इन रिवाजों के कारण वरों के सम्बन्ध में अभिभावकों के समक्ष बहुत कम विकल्प बच रहते थे। 'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचन्द दिखाते हैं कि एक 'बहुत ही रूपवान, सुशील और शरीर से खूब हृष्ट-पुष्ट कसरती जवान' से, जो नौकरी करता है और कुछ जायदाद का मालिक भी है, कल्याणी निर्मला का विवाह इसलिए नहीं करती कि उसका 'खानदान' अच्छा नहीं है।[२] सुमन का विवाह भी अधेड़ गजाधर से इसीलिए होता है कि 'कहीं तो कुण्डली न मिली और कहीं उमानाथ का मन ही न भरा। वह अपनी कुल मर्यादा से नीचे न उतरना चाहते थे।''

हिन्दू समाज में लड़कियों का विवाह आवश्यक माना जाता है। प्रेमचन्द इस मनोवृत्ति पर टीका करते हुए कहते हैं, 'कन्या का जन्म होते ही उसके विवाह की चिन्ता सिर पर सवार हो जाती है। बेटे एक दर्जन भी हों, तो माता पिता को चिन्ता नहीं होती। वह अपने ऊपर उनके विवाह भार को अनिवार्य नहीं समझता, यह उसके लिए Compulsory विषय नहीं, Optional विषय है। होगा तो कर देंगे, नहीं कह देंगे, "बेटा, खाओ, कमाओ, समाई हो तो विवाह कर लेना।"[४] आगे वे कारण भी बताते हुए कहते हैं, 'बेटों की दुर्चरित्रता कलंक की बात नहीं समझी जाती, लेकिन कन्या का विवाह तो करना ही पड़ेगा, उससे भाग कर कहाँ जाएँगे? अगर विवाह में विलम्ब हुआ और कन्या के पाँव कहीं ऊँचे नीचे पड़ गए, तो फिर कुटुम्ब की नाक कट गई, वह पतित हो गया, टाट बाहर कर दिया गया।'[५] 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में भी यही बात कही गई है, 'उसकी (प्रेमा की) चलती, तो वह अविवाहिता ही रहना पसन्द करती, पर जवान लड़की बैठी रहे, यह कुल के लिए घोर अपमान की बात थी।'[६] इसी उपन्यास में इसका कारण 'लोक रीति' बताया गया है।[७] 'नरक का मार्ग' कहानी की नायिका जो इस प्रथा का शिकार है, कहती है, "इस लोक प्रथा का बुरा हो, जो अभागिनी कन्याओं को किसी न-किसी पुरुष के गले बाँध देना अनिवार्य समझती है। वह क्या जानती है कि कितनी युवतियाँ उसके नाम को रो रही हैं, अभिलाषाओं से लहराते हुए, कितने कोमल हृदय उसके पैरों तले रौंदे जा रहे हैं।"[८]

युग की इसी दशा को लक्ष्य करके महात्मा गाँधी ने कहा था, "हर लड़की, हर हिन्दुस्तानी लड़की, विवाह करने के लिए ही नहीं पैदा हुई है। मैं बहुत सी ऐसी लड़कियों को बता सकता हूँ, जिन्होंने एक पुरुष की सेवा की जगह अपना जीवन सेवा के लिए दे दिया है। यही समय है, जब हिन्दू-लड़कियाँ अपने में से पार्वती और सीता जैसी स्त्रियाँ

१. सेवासदन, पृष्ठ ३
२. निर्मला, पृष्ठ ३६-३७
३. सेवासदन, पृष्ठ १६
४. 'उद्धार', मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ३८
५. 'उद्धार', मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ३८
६. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ५०
७. प्रतिज्ञा, पृष्ठ १४२
८. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ २४

पैदा करें।"[1] शिक्षा के प्रसार के साथ-ही-साथ हिन्दू-समाज में देर से विवाह करने अथवा अविवाहित रहने की मनोवृत्ति उभरती आ रही थी। 'गोदान' उपन्यास की मालती देश और समाज सेवा के लिए विवाह करती ही नहीं।[2]

एक अन्य कारण से भी कन्या अयोग्य वर से ब्याह दी जाती थी। हिन्दू-समाज में पुत्र से पुत्री का महत्त्व अपेक्षाकृत कम होता था। घर की धन-सम्पत्ति तथा ज्ञानार्जन की सुविधाएँ लड़के को ही मिलती थीं। कन्या के प्रति माता पिता का केवल एक कर्त्तव्य होता था—उसका विवाह कर देना, वर कैसा भी क्यों न हो। यदि विवाह सम्बन्ध बुरा हुआ, तो इसमें वे अपने को दोष न दे कर, कन्या के भाग्य को ही कोसते थे और कभी कभी तो जान बूझ कर भाग्य के भरोसे कन्या का बुरा विवाह-सम्बन्ध कर दिया जाता था। 'निर्मला' उपन्यास में कल्याणी निर्मला का विवाह स्वार्थवश एक बूढ़े से कर देती है, क्योंकि 'उसे अपने लड़के अपनी लड़कियों से कहीं प्यारे थे। लड़के हल के बैल हैं, भूसे-खली पर पहला हक उनका है, उनके खाने से जो बचे, वह गायों का। मकान था, कुछ नक्द था, कई हजार के गहने थे। लेकिन उसे अभी दो लड़कों का पालन पोषण करना था, उन्हें पढ़ाना-लिखाना था। एक कन्या और भी चार-पाँच साल में विवाह करने योग्य हो जाएगी। इसलिए वह कोई बड़ी रकम दहेज में न दे सकती थी, आखिर लड़कों को भी तो कुछ चाहिए। वे क्या समझेंगे कि हमारा भी कोई बाप था।" परिणाम यह होता है कि पुरोहित मोटेराम के बार-बार यह कहने पर भी, "हजार का मुँह न देखिए, छापेखाने वाला लड़का रत्न है। उसके साथ कन्या का जीवन सफल हो जाएगा। जैसी यह रूप और गुण की पूरी है, वैसा ही लड़का भी सुन्दर और सुशील है।"[4] कल्याणी टस-से-मस नहीं होती। इसके विपरीत वह अपनी मनोवृत्ति को भाग्य की ओट में छिपाती है, "आप ईश्वर का नाम ले कर वकील साहब को टीका कर आइए। आयु कुछ अधिक है, लेकिन मरना-जीना विधि के हाथ है। पैंतीस साल का आदमी बुड्ढा नहीं कहलाता। अगर लड़की के भाग्य में सुख भोगना बदा है, तो जहाँ जाएगी, सुखी रहेगी, दुःख भोगना है, तो जहाँ जाएगी, दुःख झेलेगी।"[5]

इसी प्रकार 'कायाकल्प' उपन्यास के ठाकुर हरिसेवक सिंह अपनी पुत्री मनोरमा का विवाह धमकी में आ कर, एक ऐसे बूढ़े राजा से ठीक कर लेते हैं, जिसके तीन रानियाँ पहले से हैं और अपनी इस कमजोरी को, वे भी कल्याणी की ही भाँति, मनोरमा के भाग्य की ओट में छिपाना चाहते हैं। लौंगी उन्हें तीव्र शब्दों में फटकारती है :—

> ज्योंही ठाकुर साहब घर पहुँचे, लौंगी ने पूछा, "वहाँ क्या बातचीत हुई?"
> दीवान, "शादी ठीक हो गई, और क्या।"

---

१ महिलाओं से, पृष्ठ १४८
२ गोदान, पृष्ठ ४४४–५
३. निर्मला, पृष्ठ ३५
४. निर्मला, पृष्ठ ३७
५. निर्मला, पृष्ठ ३७–३८

लौंगी, "और मैने इतना समझा जो दिया था ?"

दीवान, "भाग्य भी तो कोई चीज है !"

लौंगी, "भाग्य पर वह भरोसा करता है, जिसमें पौरुष नही होता। लड़की को डुबा दिया, ऊपर से शरमाते नहीं, कहते हो भाग्य भी कोई चीज है ?"[१]

इन वैवाहिक कुप्रथाओं का समाधान क्या है ? प्रेमचन्द ने कुछ आदर्श वैवाहिक प्रसगो और उल्लेखों द्वारा इस ओर भी सकेत किया है कि वे इन समस्याओं का हल किस प्रकार करना चाहते थे। उन्होंने दहेज लेनेवाले पिताओं को, विशेषतः उनकी 'हाँ में हाँ' मिलाने वाले वरों को, पक्का स्वार्थी, लोभी और नैतिक बल से शून्य माना है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में दहेज की समस्या नैतिक समस्या है, आर्थिक नही। लोग नैतिक दृष्टि से इतने पतित हो गए हैं कि अपने पुत्र की पढाई का खर्च और अपनी पुत्री के विवाह का व्यय अपने पुरुषार्थ की कमाई से नहीं, दहेज की रकम से वसूलना चाहते हैं।[२] शिक्षित युवक समाज भी आत्मबल रहित हो गया है, पाश्चात्य ढग की शिक्षा उसे केवल स्वार्थ सिखलाती है, जीवन का स्तर ऊँचा करना सिखलाती है। किन्तु यह सब अपने बल पर नहीं, ससुर के बल पर। प्रेमचन्द ने बूढे माता पिता को क्षमा किया है, किन्तु ऐसे युवकों को खूब फटकार बताई है। 'निर्मला' उपन्यास की सुधा को जब यह ज्ञात होता है कि उसके पति का विवाह पहले 'निर्मला' से ही हो रहा था, किन्तु पर्याप्त दहेज नहीं मिलने के कारण टूट गया, तब वह पति को आडे हाथों लेती है, "वर और उसके पिता दोनों अपराधी हैं, किन्तु वर अधिक। बूढा आदमी सोचता है—मुझे सारा खर्च सँभालना पडेगा, कन्या पक्ष से जितना ऍठ सकूँ, अच्छा, मगर यह वर का धर्म है कि यदि वह स्वार्थ के हाथों बिलकुल बिक नहीं गया है, तो अपने आत्मबल का परिचय दे। अगर वह ऐसा नहीं करता, तो मै कहूँगी कि वह लोभी है और कायर भी।"[३] दुर्भाग्यवश प्रेमचन्द के समय में, समाज में ऐसे युवकों की कमी नही थी। 'कुसुम' कहानी में एक युवक विवाह के बाद साल भर तक अपनी पत्नी से नहीं बोलता। उधर कुसुम (पत्नी) है कि रो रो कर जान दिये डालती है। युवक की इस

---

१ कायाकल्प, पृष्ठ १५१

२ यह कन्या के पिता और उसके सम्बन्धियों के भी नैतिक-ह्रास का सूचक है। 'डाल, गहने और जोड़ों' में कुछ कमी होने पर वर-पक्ष की निन्दा की जाती है। 'एक आँच की कसर' कहानी में एक व्यक्ति कहता है, "न सारा दोष लड़कीवाले का है, न सारा दोष लड़केवालों का। दोनों ही दोषी हैं। अगर लड़की वाला कुछ न दे, तो उसे यह शिकायत करने का तो कोई अधिकार नहीं है कि डाल क्यों नहीं लाए, सुन्दर जोडे क्यों नहीं लाए, बाजे-गाजे और धूमधाम के साथ क्यों नहीं आए ? बताइए ! तो यों कहिए कि दहेज की प्रथा के साथ डाल गहने और जोड़ों की प्रथा भी त्याज्य है। केवल दहेज को मिटाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है।" मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ९०

'गबन' उपन्यास में दयानाथ चढ़ावे पर और सभी आभूषण ले जाते हैं, किन्तु इतने पर भी केवल 'चन्द्रहार' न होने से 'हाय-तोबा' मच जाती है। गबन, पृष्ठ १२, २२

३ निर्मला, पृष्ठ ११०

निष्ठुरता का कारण यह है कि वह विलायत जाने के लिए ससुर से रुपए चाहता है। उस युवक की नीचता पर एक सज्जन के मुख से अनायास ये तिरस्कारसूचक शब्द निकल आते हैं, "छि ! वाह री दुनिया ! और वाह रे हिन्दू समाज ! तेरे यहाँ ऐसे ऐसे स्वार्थ के दास पड़े हुए हैं, जो एक अबला का जीवन सङ्कट में डाल कर, उसके पिता पर ऐसा अत्याचारपूर्ण दबाव डाल कर ऊँचा पद प्राप्त करना चाहते हैं। विद्यार्जन के लिए विदेश जाना बुरा नहीं। ईश्वर सामर्थ्य दे तो शौक से जाओ, किन्तु पत्नी का परित्याग करके, ससुर पर इसका भार रखना निर्लज्जता की पराकाष्ठा है। तारीफ की बात तो तब थी कि इस अपने पुरुषार्थ से जाते। इस तरह किसी की गर्दन पर सवार हो कर, अपना आत्म सम्मान बेच कर गए तो क्या गए ?"[1] स्पष्ट है, युवकों की स्वार्थ वृत्ति, आत्मसम्मान के अभाव, कायरता, लोभ और निर्लज्जता के मिटने से ही दहेज की समस्या का समाधान हो सकता है। ये बुराइयाँ किसी प्रकार के दबाव अथवा कानून से मिटनेवाली नहीं हैं। इस तरह के एक स्वाभिमानी युवक के चित्रण द्वारा उन्होंने युवकों के समक्ष आदर्श रखा है। 'कायाकल्प' उपन्यास में माता द्वारा यह पूछे जाने पर, "क्या बातचीत हुई ? कुछ देंगे-दिलायेंगे कि वही ५१) वालों में हैं", चक्रधर उग्र होकर कहता है, "अगर तुम मेरे सामने देने दिलाने का नाम लोगी, तो जहर खा लूँगा।"

निर्मला, "वाह रे ! तो क्या पचीस बरस तक यों ही पाला पोसा है क्या ? मुँह धो रखें।"

चक्रधर, "तो बाजार में खड़ा करके बेच क्यों नहीं लेतीं ? देखो, कै टके मिलते हैं ?"[2]

प्रेमचन्द इस सम्बन्ध में युवतियों से भी नैतिक दृढ़ता और स्वाभिमान की माँग करते हैं। उनमें इतना आत्मसम्मान होना चाहिए कि वे ऐसे नीच और स्वार्थी पुरुषों को ठुकरा सकें। पूर्वोक्त 'कुसुम' कहानी की नायिका इस आत्माभिमान का परिचय देती है। ज्यों ही उसे मालूम होता है कि उसके पति के नाम एक हजार का चेक भेजा जा रहा है, पर इस तरह जैसे किसी सङ्कट का मोचन करने के लिए अनुष्ठान किया जा रहा हो, त्यों ही वह भृकुटी सिकोड़ कर माँ से कहती है, "अम्माँ, दादा से कह दो, कहीं रुपए भेजने की जरूरत नहीं।"

माता ने विस्मित होकर बालिका की ओर देखा, "कैसे रुपए ? अच्छा ! वह ! क्यों, इसमें क्या हर्ज है ? लड़के का मन है, तो विलायत जा कर पढ़े। हम क्यों रोकने लगे ? यों भी उसी का है, वों भी उसी का है (कुसुम अपने माता पिता की इकलौती सन्तान है)। हमें कौन छाती पर लाद कर ले जाना है ?"

"नहीं, आप दादा से कह दीजिए, एक पाई न भेजें।"

"आखिर इसमें क्या बुराई है ?"

---

१. मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ २३

२ कायाकल्प, पृष्ठ ११

"इसीलिए कि यह उसी तरह की डाकाजनी है, जैसी बदमाश लोग किया करते हैं। किसी आदमी को पकड़ कर ले गए और उसके घरवालों से उसके मुक्तिधन के तौर पर अच्छी रकम एठ ली।"

माता ने तिरस्कार की आँखों से देखा।

"कैसी बात करती हो बेटी? इतने दिनों के बाद तो जाके देवता सीधे हुए हैं, और तुम उन्हें फिर चिढाए देती हो।"

कुसुम ने झल्ला कर कहा, 'ऐसे देवता का रूठे रहना ही अच्छा। जो आदमी इतना स्वार्थी, इतना दम्भी, इतना नीच है, उसके साथ मेरा निर्वाह न होगा। मैं कहे देती हूँ, वहाँ रुपए गए, तो मैं जहर खा लूँगी। इसे दिल्लगी न समझना। मैं ऐसे आदमी का मुँह भी नहीं देखना चाहती। दादा से कह देना और अगर तुम्हें डर लगता हो, तो मैं खुद कह दूँ। मैंने स्वतन्त्र रहने का निश्चय कर लिया है।"

माँ ने देखा, लड़की का मुखमण्डल आरक्त हो उठा है। मानो इस प्रश्न पर वह न कुछ कहना चाहती है, न सुनना।'[1]

इसी प्रकार 'कर्मभूमि' उपन्यास की सकीना अनिश्चित वर से विवाह किये जाने का विरोध करती है, "मैं शादी नहीं करना चाहती, बस। जब तक कोई ऐसा आदमी न हो, जिसके साथ मुझे आराम से जिन्दगी बसर होने का इत्मीनान हो, मैं यह सर दर्द नहीं लेना चाहती। तुम मुझे ऐसे घर में डालने जा रही हो, जहाँ मेरी जिन्दगी तल्ख हो जाएगी। शादी की मंशा यह नहीं है कि आदमी रो रो कर दिन काटे।"[2]

अच्छे वैवाहिक सम्बन्धों के लिए माता पिता पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है।[3] इस दृष्टि से 'कायाकल्प' उपन्यास के यशोदानन्दन उल्लेखनीय आदर्श अभिभावक कहे जा

१ मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ २३-२४

२ कर्मभूमि पृष्ठ १०३

३ प्रेमचन्द ने स्वयं अपनी पुत्री का विवाह बहुत 'जाँच पड़ताल' करके किया था। वे घर वर दोनों अच्छा चाहते थे। बस 'कई लड़के लखनऊ में देखे। मगर, कोई भी पसन्द न आया। जिसका घर-बार अच्छा होता, उसका लड़का बदसूरत होता। अगर लड़का अच्छा होता, तो घर खाली। इस प्रकार उन्होंने बहुतेरे लड़के देखे और नापसन्द किये। एक लड़के से, जो सभी दृष्टि से उन्हें पसन्द था इसलिए विवाह नहीं किया कि उसकी माँ जीवित नहीं थी। इस बात पर उनसे पत्नी की बहस भी हुई—

आप बोले, मैं उस घर में शादी नहीं करूँगा।"

मैं बोली, 'पहले यह बताओ, माँ बाप से शादी करोगे या लड़के से?"

आप बोले, "तुम नहीं जानतीं। जाते ही बेचारी को घर गृहस्थी देखनी पड़ेगी। हम बेटी को बुलाना चाहेंगे, तो वे कहेंगे कि मेरा घर कौन देखे? कौन हमारे दो-चार लड़कियाँ हैं? मैं ऐसी शादी नहीं पसन्द करता।"

एक दूसरे लड़के को इसलिए छोड़ दिया कि वह 'चंचल' था।' शिवरानी देवी के इन शब्दों में विरोध करने पर "तो बैठकर ढूँढिए साल-दो-साल" प्रेमचन्द ने कहा "अभी हमारी लड़की की उम्र ही क्या है? अभी ४-६ साल भी हम देख सकते हैं।"

सकते हैं। पहली बात यह है कि वे विवाह में धन से अधिक चरित्र को महत्त्व देते हैं—"अगर मुझे धन या जायदाद की परवा होती, तो यहाँ न आता। मेरी दृष्टि में चरित्र का जो मूल्य है, वह और किसी वस्तु का नहा।"[1] दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे कन्या और वर का स्वभाव तथा गुण मिला कर विवाह करना चाहते हैं। वे चक्रधर से कहते हैं, "मेरी पुत्री का स्वभाव, विचार, सिद्धान्त सभी आपसे मिलते हैं और मुझे पूरा विश्वास है कि आप दोनों एक साथ रह कर सुखी होंगे।"[2] वे 'वर और कन्या में दो चार बार मुलाकात' के भी समर्थक हैं—"स्त्री में कितने ही गुण हों, लेकिन यदि उसकी सूरत पुरुष को पसन्द न आई, तो वह उसकी नजरों से गिर जाती है और उसका दाम्पत्य जीवन दुःखमय हो जाता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वर और कन्या में दो चार बार मुलाकात भी हो जानी चाहिए। कन्या के लिए तो वह अनिवार्य है। पुरुष का स्त्री पसन्द न आई, तो वह और शादियाँ कर सकता है। स्त्री को पुरुष पसन्द न आया, तो उसकी सारी उम्र रोते ही गुजरेगी।"[3] महाशय यशोदानन्दन अहल्या की 'अनुमति' लेने के लिए चक्रधर को अपने साथ घर ले जाते हैं, "मैं चाहता हूँ कि आप एक बार अहल्या से मिल लें। यों तो मैं मन से आपको अपना दामाद बना चुका, पर अहल्या की अनुमति ले लेना आवश्यक समझता हूँ। आप भी शायद यह पसन्द न करेंगे कि मैं इस विषय में स्वेच्छा से काम लूँ।"[4] *'प्रतिज्ञा' उपन्यास के लाला बदरी प्रसाद भी प्रमा के विवाह* में उसकी 'अनुमति' आवश्यक समझते हैं।[5] 'गोदान' उपन्यास की सरोज एक कदम और आगे बढ़ कर अपने प्रेमी से 'सिविल मैरेज' करती है।[6] 'गोदान' के ही मेहता विवाह से पूर्व स्त्री और पुरुष का प्रेम, यद्यपि इसकी व अपनी दृष्टि से व्याख्या करते हैं, आवश्यक समझते हैं—"यह वह जानते थे, जिसे सच्चा प्रेम वह सकते हैं, केवल एक बन्धन में बँध जाने के बाद ही पैदा हो सकता है। इसके पहले जो प्रेम होता है, वह तो रूप की आसक्ति मात्र है, जिसका कोई टिकाव नहीं, मगर इसके पहले यह निश्चय तो कर लेना ही था कि जो पत्थर साहचर्य

'अन्त में जिस लड़के से विवाह-सम्बन्ध ठीक किया, अन्य बातों के अतिरिक्त उसके और उसकी माँ के स्वभाव का कई लोगों से पता लगवाया। लड़के की माँ या बहन को किसी के साथ लड़की देखने को बुलाया। उनलोगों को कुछ दिनों तक अपने घर में मेहमान की भाँति रखा जिससे वे लोग लड़की का *'शील स्वभाव भी देख लें। सूरत शक्ल अगर बहुत अच्छी हो* और स्वभाव को ठीक न हो तो कैसा?' सब कुछ पसन्द आ जाने पर पुछवाया, 'मेरे एक ही बेटी है। विदा विदा में झंझट न पड़े।' अनुकूल जवाब मिलने पर 'बरिच्छा' ले कर गए।'

शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ ९९ १०४

१ कायाकल्प पृष्ठ १४
२ कायाकल्प पृष्ठ १४ १५
३ कायाकल्प पृष्ठ १५
४ कायाकल्प, पृष्ठ १६
५ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ६४
६. गोदान, पृष्ठ ४१४ ४१५

के खराद पर चढेगा, उसमें खरादे जाने की क्षमता है भी या नहीं। सभी पत्थर तो खराद पर चढ कर सुन्दर मूर्त्तियाँ नहीं बन जाते।"[१]

प्रेमचन्द ने केवल धन प्रतिष्ठा देख कर विवाह करने का तीव्र विरोध किया है। 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा, 'रंगभूमि' की इन्दु, 'कर्मभूमि' की सुखदा आदि के इस प्रकार के विवाह सम्बन्धों के दुष्परिणामों का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ सम्पत्तिशाली वृद्ध पुरुषों से लड़कियों के विवाह की चर्चा की जाएगी। 'कायाकल्प' उपन्यास की लौंगी कहती है, "हमें अपनी रानी को धन के साथ बेचना थोड़े ही है? ब्याह जोड़ का होता है कि बेजोड़? लड़की कंगाल को दे दे, पर बूढ़े को न दे। गरीब रहेगी तो क्या, जन्म भर का रोना झींकना तो न रहेगा।"[२] 'नरक का मार्ग' कहानी की भुक्तभोगी नायिका कहती है, "अपनी बालिकाओं के लिए मत देखो धन, मत देखो जायदाद, मत देखो कुलीनता, केवल वर देखो। अगर उसके लिए जोड़ का वर नहीं पा सकते, तो लड़की को क्वाँरी रख छोड़ो, जहर दे कर मार डालो, गला घोंट कर मार डालो, पर किसी बूढ़े

---

१ गोदान पृष्ठ ४०३ ४०४

प्रेम विवाहों अथवा इच्छानुसार शादियों के प्रति प्रेमचन्द अनुदार और अन्धविश्वासी नहीं कहे जा सकते, जैसा कि उनकी और शिवरानी देवी की बातचीत से ज्ञात होता है— 'मैं कहता हूँ कि अगर हमारा समाज अब भी नहीं समझता और स्त्रियों के साथ इन्साफ का बर्ताव नहीं करता तो बहुत मुमकिन है, वह दिन जल्द ही आने वाला है, जब हिन्दुओं के घर की लड़कियाँ, अत्याचारों से घबड़ा कर, अपनी इच्छानुसार शादी कर लिया करेंगी।"

मैं बोली, "वह ठीक नहीं होगा। वह हमारे दुर्भाग्य के दिन होंगे, जब हमारे घर की लड़कियाँ स्वयं अपनी शादियाँ करेंगी, क्योंकि उस उम्र में जब कि शादियाँ होती हैं, लड़के-लड़कियों में इतनी समझ नहीं होती कि वह अपने अच्छे-बुरे का फैसला कर सकें और धोखे भुलावे को बहुत शंका रहती है। ऐसी शादियाँ देखने में आकर्षक होती हैं, पर होती हैं वास्तव में भुलावा।"

आप बोले "चाहे मैं या तुम या दुनिया भर इसको रोकने की कोशिश करें, यह रुक नहीं सकता। जितना ही हम सोचते हैं कि पश्चिमी सभ्यता से दूर रहें, उतनी ही तेजी के साथ वह हमारे सर के ऊपर आ रही है।"

मैं बोली "भगवान न करे कि उस दिन को देखने के लिए मैं दुनिया में बैठी रहूँ।"

आप बोले "इसकी कोई बात नहीं, पुरानी सभ्यता से तुम भी तो घबड़ाती हो।"

मैं बोली, "तो मैं इस तरह उसको थोड़े ही ठुकराना चाहती हूँ कि उसका नाम-निशान भी मिट जाए? जहाँ खराबी हो उसमें सुधार चाहती हूँ।"

आप बोले, "तुम सुधार चाहती हो, तो तुम्हारे लड़के उसको मिटाना जरूर ही चाहेंगे, इसमें घबड़ाने की कौन सी बात है? जैसा समय होता है, उसी तरह कायदे कानून भी तो बदलेंगे। सदी तो बीसवीं है और आप चाहती हैं पहले वाला युग। नहीं, बीसवीं सदी के अनुसार कायदे कानून भी बनेंगे और बनने चाहिए, जिसमें एकतरफा डिगरी करने का किसी को हक़ न रह जाए।"

शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ ९७ ९८

२ कायाकल्प, पृष्ठ १३५

खूसट से मत ब्याहो। स्त्री सब कुछ सह सकती है, दारुण से-दारुण दु ख, बड़े से-बड़ा सकट। अगर नही सह सकती, तो अपने यौवन-काल की उमगों का कुचला जाना।"[१] मृत्युशय्या पर पड़ी हुई 'निर्मला' भी यही कहती है, "बच्ची को आपकी गोद में छोड़ जाती हूँ। अगर जीती-जागती बचे, तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा। ''चाहे क्वाँरी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालिएगा, पर कुपात्र के गले न मढ़िएगा, इतनी ही आपसे मेरी विनय है।"[२]

इस प्रकार वैवाहिक समस्याओं के समाधान के लिए माता पिता, वर और कन्या इन सभी को प्रयत्न करना होगा। सक्षेप में प्रेमचन्द का यही सन्देश है।

●

१ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ३०
२ निर्मला, पृष्ठ १९१-१९२

वैवाहिक जीवन : दुखी दाम्पत्य जीवन

पुरुष और नारी के पारस्परिक सम्बन्धों में पति पत्नी-सम्बन्ध सर्वाधिक स्पृहणीय एव आदर्श माना गया है। आदिकाल से ही स्त्री और पुरुष ने पारस्परिक आकर्षण का अनुभव किया है और प्राय सभी सभ्य समाजों में, उन्होंने इसे विवाह के रूप में स्थायित्व प्रदान किया है। सुखी और परितृप्त गृहस्थ जीवन समस्त सुखों का मूल है तथा सन्तापपूर्ण गृहस्थी जीवन यात्रा को आनन्ददायक बना देती है। पति उपार्जन करता है और पत्नी गृह प्रबन्ध करती है। इस प्रकार, दोनो एक दूसरे के सच्चे मित्र एव पूरक होते हैं।

हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों में पत्नी को भार्या, गृहलक्ष्मी, गृहिणी, अर्धांगिनी, सहधर्मिणी, श्रेष्ठ सहचरी, ससार यात्रा की एकमात्र मित्र आदि नामों से अभिहित कर पत्नी-पद को गौरवपूर्ण माना गया है। किन्तु विभिन्न धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तनों के कारण, गृह और परिवार के बीच प्रस्फुटित होनेवाला नारी रूप शनै शनै लुप्त हो गया। नारी गृह की बन्दिनी, पुरुष की आश्रिता, आत्मसम्मान तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व से शून्य एव पुरुष से हीन समझी जाने लगी।

१९वीं शताब्दी में सामान्यत और २०वीं शताब्दी में विशेषत धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों के फलस्वरूप, नारी में नव-जागरण और स्वाभिमान की भावनाएँ पुन अकुरित हो रही था। प्रेमचन्द ने नारी के गृहिणी रूप को सामाजिक और आर्थिक अनिवार्यता के रूप में महत्त्व प्रदान करते हुए, उसके आत्मसम्मान की सबल रक्षा की है। यह विषय महत्त्वपूर्ण है और प्रेमचन्द साहित्य में सविस्तर निरूपित है। अत, सुविधा के लिए इसे दो अध्यायों में विभक्त कर दिया गया है। प्रस्तुत अध्याय में, प्रेमचन्द के दृष्टिकोण के अनुसार, दुखी दाम्पत्य जीवन के कारणों का विवेचन किया जाएगा तथा अगले अध्याय में सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए अपेक्षित गुणों का उल्लेख होगा।

प्रश्न है, प्रेमचन्द युग में गृह-जीवन क्यों निरानन्द हो रहा था, दाम्पत्य जीवन की समस्याएँ सबसे अधिक क्यों उलझी हुई थीं? प्रेमचन्द ने इसके लिए सर्वप्रथम वैवाहिक कुरीतियों का उल्लेख किया है, जिन पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। वे विवाह को आत्म विकास का साधन मानते हैं।[१] वे स्त्री को सच्चा मित्र, सहायक और मन्त्री मानते हैं।[२] उनके अनुसार यह आवश्यक है कि दम्पत्ति के विचारों और आदर्शों में साम्य हो, पति तथा पत्नी के स्वभाव और गुण में सामजस्य हो, दोनों एक दिशा में चलने

१ 'मैं विवाह को आत्म विकास का साधन समझता हूँ। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध का अगर कोई अर्थ है, तो यही है, वरना मैं विवाह की कोई जरूरत नहीं समझता।'

—'दो सखियाँ', मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २५३

२ कायाकल्प, पृष्ठ १६

वाले यात्री हों।[1] किन्तु जहाँ विवाह सम्बन्ध का आधार ही गलत हो, विवाह में वर और कन्या के गुण और स्वभाव पर नहीं, बल्कि धन और अन्य बाहरी बातों पर ही बल दिया जाता हो, वहाँ सुखमय और शान्तिपूर्ण दाम्पत्य जीवन की आशा नहीं की जा सकती। पर, ये समस्याएं विवाह के पूर्व की समस्याएँ हैं और इन पर पिछले अध्याय में विचार भी हो चुका है। प्रेमचन्द ने विवाह के बाद के भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है, जो मधुर दाम्पत्य सम्बन्ध में बाधक सिद्ध होते हैं। उनमें से कुछ हैं—पति का पत्नी के प्रति दुर्व्यवहार और पति द्वारा पत्नी की उपेक्षा, उसका महत्त्व न समझना, उस पर अधिकार जमाना, उससे सहानुभूति न करना, अपने को उससे श्रेष्ठ समझना, उसे अपना आश्रित मानना, उसकी भावनाओं का आदर न करना, विश्वासघात आदि तथा स्त्री का अशिक्षित होना, उसमें पति सेवा भाव की कमी तथा पुरुष के मनोविज्ञान को न समझ पाना आदि।

हमारे विचारणीय युग में दाम्पत्य जीवन को खिलवाड़ समझा जाता था और उसके लिए किसी तैयारी की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। यह शिक्षित कहलाने वाले घरों की भी वास्तविकता थी। लड़कियों का वैवाहिक धर्म और कर्त्तव्य, आय के अनुसार व्यय करने, संयम और सेवा परायणता की शिक्षा देने की कोई व्यवस्था नहीं थी। पहले धार्मिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा से दाम्पत्य जीवन सुखपूर्ण बना रहता था। किन्तु, विवेच्य काल में समुचित शिक्षा के अभाव के कारण, लड़कियों की महत्त्वाकांक्षा तो बढ़ रही थी, किन्तु उनमें से सभी को सुख सुविधा के साधन नहीं प्राप्त होते थे।[2] विदेशों में भी गलत ढंग से बहुतेरी शिक्षित युवतियाँ भड़कीले कपड़ों और विलास की सामग्रियों की प्राप्ति के लिए अनैतिक कार्य करने को विवश देखी जाती हैं। फलतः उनका वैवाहिक जीवन भी, इतना कटु हो जाता है कि अक्सर तलाक की नौबत आ जाती है।

भोग विलास के लिए लालायित एक ऐसी ही युवती का वर्णन प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' उपन्यास में किया है। इस उपन्यास की नायिका, सुमन ने, यद्यपि पाश्चात्य ढंग की स्कूली शिक्षा नहीं पाई है, फिर भी घर पर उसे जो शिक्षा मिली है, वह त्रुटिपूर्ण है। अपनी बाल्यावस्था में उसने 'गृहिणी बनने की नहीं, इन्द्रियों के आनन्द भोग की शिक्षा'[3] पाई है—'दारोगाजी (सुमन के पिता) इन लड़कियों (सुमन और शान्ता) को प्राणों से अधिक प्यार करते थे। उनके लिए अच्छे-अच्छे कपड़े लाते और शहर से

१ कायाकल्प पृष्ठ १४ १५

२ प्रेमचन्द को कालेज की छात्राओं की विलासिता पसन्द न थी। इन्हें देख कर एक बार उन्होंने अपनी पत्नी से कहा था, लड़कियों को तो देखो तितली की तरह फुदक रही हैं। यहाँ की अपनी आदत के अनुसार घर भर को इसी तरह का बनाने की कोशिश करेंगी। ये यहाँ (कॉलेज में) सीखेंगी तो क्या रहे-सहे माता पिता के गुण ही खो कर जाएँगी। अब इनकी शादी के लिए माता पिता को ज्यादा-से-ज्यादा कीमत देनी पड़ेगी, क्योंकि दूसरे के घर जब तक इन्हें उड़ाने को काफी दौलत न मिलेगी तो इनका जीवन दूभर हो जाएगा।"

शिवरानी देवी प्रेमचन्द घर में पृष्ठ १११

३ सेवासदन, पृष्ठ १८

नित्य तरह तरह की चीजें मँगाया करते। बाजार में कोई लहरदार कपड़ा देख कर उनका जी नहीं मानता था, लड़कियों के लिए अवश्य ले आते थे। लड़कियों को पढ़ाने और सीना पिरोना सिखाने के लिए उन्होंने एक ईसाई लेडी रख ली थी। कभी कभी स्वय उनकी परीक्षा लिया करते थे।" फलत जब उसका पति गजाधर, गृह प्रबन्ध के लिए उसके हाथ पर एक माह का वेतन रखता है, तो व्यवस्था कुशल न होने तथा आवश्यक और अनावश्यक खर्च का ज्ञान न रखने के कारण, महीने में दस दिन बाकी ही रहते हैं, पर सुमन सब रुपए खर्च कर डालती है। पति पूछता है, तो उसे अपनी भूल नहीं मालूम होती। गजाधर को जब कई आदमियों से उधार माँगने पर भी रुपए नहीं मिलते, तो वह घर में आ कर कहता है, "रुपए तो तुमने सब खर्च कर दिये, अब बताओ कहाँ से आवें?"

सुमन, "मैंने कुछ उड़ा तो नहीं दिये।"

गजाधर, "उड़ाये नहीं, पर यह तो तुम्हें मालूम था कि इसी में महीने भर चलाना है। उसी हिसाब से खर्च करना था।"

सुमन, "उतने रुपयों में बरकत थोड़े ही हो जाएगी?"

गजाधर, "तो मैं डाका तो नहीं मार सकता।"[२]

प्रेमचन्द वैवाहिक जीवन के आनन्द के लिए उपयुक्त शिक्षा पर जोर देते हैं, क्योंकि यह मानव प्रकृति का सस्कार करती है।[३] उपयुक्त शिक्षा से उनका तात्पर्य सन्तोष तथा धर्म की शिक्षा से है। सुमन के विषय में वे टिप्पणी करते हैं, 'उसने अपने घर यही सीखा था कि मनुष्य को जीवन में सुख भोग करना चाहिए। उसने कभी वह धर्म-चर्चा न सुनी थी, वह धर्म शिक्षा न पाई थी, जो मन में सन्तोष का बीजारोपण करती है। उसका हृदय असन्तोष से व्याकुल रहने लगा।'[४]

सुमन का दाम्पत्य जीवन नष्ट हो जाता है। असन्तोषी सुमन, पति द्वारा, घर से निकाल दी जाती है और इसके बाद उसे वेश्या वृत्ति अपनानी पड़ती है।

सुभार्या बनने के लिए जैसी शिक्षा चाहिए, 'कर्मभूमि' उपन्यास की सुखदा की बाल्यावस्था की शिक्षा भी वैसी नहीं है। वह अपनी विधवा माता की इकलौती पुत्री है। उसके परिवार में धन की कोई कमी नहीं। अत 'उसकी माता ने बेटे की साध बेटी से पूरी की थी। त्याग की जगह भोग, शील की जगह तेज, कोमल की जगह तीव्र का सस्कार किया था। सिकुड़ने और सिमटने का उसे अभ्यास न था...।'[५] अपने पति (अमर) से उसकी

---

१ सेवासदन, पृष्ठ २

२. सेवासदन, पृष्ठ १६

३. "हम अपने गार्हस्थ्य-जीवन की ओर से कितने बेसुध है! इसके लिए किसी तैयारी, किसी शिक्षा की जरूरत नहीं समझते। गुड़ियाँ खेलने वाली बालिका, सहेलियों के साथ विहार करनेवाली युवती, गृहिणी बनन के योग्य समझी जाती है। अल्हड़ बछड़े के कन्धे पर भारी जुआ रख दिया जाता है। ऐसी दशा में यदि हमारा गार्हस्थ्य जीवन आनन्दमय न हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।" सेवासदन, पृष्ठ २१

४. सेवासदन, पृष्ठ २०

५ कर्मभूमि, पृष्ठ ११

कभी नहीं पटती, यहाँ तक कि अमर उसकी विलासिता और शासन-भावना से तंग आ कर सकीना की ओर आकृष्ट होता है और एक दिन घर छोड़ देता है।

पति-पत्नी में जब सच्चा प्रेम नहीं होता, तब बहुधा कलह, कपट और उपेक्षा आदि की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और दाम्पत्य जीवन दूभर हो जाता है। प्रेम का महत्त्व पुरुष के लिए भी बहुत है, किन्तु स्त्री के जीवन का तो वह आधार ही है।[1] 'बालक' कहानी में गगू कहता है, "जहाँ प्रेम नहीं है हुजूर, वहाँ कोई स्त्री नहीं रह सकती। स्त्री केवल रोटी-कपड़ा ही नहीं चाहती, कुछ प्रेम भी तो चाहती है।"[2] 'सेवासदन' उपन्यास में *गजाधर साधु हो जाने के बाद सुमन बाई—अपनी परित्यक्ता पत्नी—के सम्मुख अपना* अपराध स्वीकार करते हुए इसी तथ्य का उद्घाटन करता है, 'तुम आदर के योग्य थी, मैंने तुम्हारा निरादर किया।...स्त्री मैले-कुचैले, फटे पुराने वस्त्र पहन कर, आभूषणविहीन हो कर, आधे पेट सूखी रोटी खा कर, झोपड़ी में रह कर, मेहनत-मजदूरी कर, सब कष्टों को सहते हुए भी आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकती है। केवल घर में उसका आदर होना चाहिए, उससे प्रेम होना चाहिए। आदर या प्रेमविहीन महिला महलों में भी सुख से नहीं रह सकती।'[3]

'आभूषण' कहानी में कुँवर सुरेश सिंह अपनी पत्नी को इसलिए प्यार नहीं करते कि वह सुन्दर नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि वे दाम्पत्य सुख से वंचित रहते हैं; क्योंकि 'लावण्यहीन स्त्री वह भिक्षुक नहीं है, जो चुगुल भर आटे से सन्तुष्ट हो जाए। वह भी पति का सम्पूर्ण, अखण्ड प्रेम चाहती है, और कदाचित् सुन्दरियों से अधिक, क्योंकि इसके लिए वह असाधारण प्रयत्न और अनुष्ठान करती है। मंगला इस प्रयत्न में विफल हो कर और भी संतप्त होती थी।'[4] अन्त में वह पति के घर में नहीं रहना चाहती और मायके चली जाती है।

जब पुरुष एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह करता है, तब तो उसका दाम्पत्य जीवन नरक तुल्य हो जाता है। कोई स्त्री यह नहीं देख सकती कि उसका सर्वस्व—पति का प्रेम—किसी दूसरी स्त्री को मिले। सपत्नियों की ईर्ष्या के कारण घर में सदैव कलह और विवाद होता रहता है तथा परिवार में शान्ति नहीं रह जाती। 'कायाकल्प' उपन्यास में तीनों रानियों के बीच राजा विशाल सिंह सदैव दुखी बने रहते हैं। वे तीनों रानियों को देहात में लड़ने के लिए छोड़ कर मनोरमा से विवाह करके, शहर में, अपेक्षाकृत सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, किन्तु सबसे छोटी रानी रोहिणी का बलिदान—उसने सोलह वर्षों तक पति-प्रेम की प्रतीक्षा करने के बाद प्राण-त्याग कर दिया था—इनके जीवन में पुनः *अशान्ति ला*

---

१. "स्त्री को जीवन में प्यार न मिले, तो उसका अन्त हो जाना ही अच्छा।"—शांति। मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ १०२

२. मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ २१४

३. सेवासदन, पृष्ठ २४२-२४३

४. मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १४५

देता है। 'सौत' कहानी में गोदावरी पति प्रम से वंचित और सौत के ईर्ष्या द्वेष से दुखी हो कर आत्महत्या कर लेती है।

यदि पति पत्नी से विश्वासघात करता है या वह वेश्यागामी है, तो स्वभावत पत्नी का हृदय सदैव दु खपूर्ण बना रहता है। 'गोदान' उपन्यास की गोविन्दी जो, प्रेमचन्द द्वारा चित्रित आदर्श नारियों में परिगणनीय है, सब कुछ सहती है, किन्तु पति की प्रेयसी मालती का शासन न सह पाने के कारण पति से अलग रहने का निश्चय करने को बाध्य है।[1] 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की सुमित्रा को जब अपने पति कमला प्रसाद के पूर्णा के प्रति आकर्षण का पता चलता है, तो वह पति से छेड़ छेड़ कर लड़ती है, कटु वचन बोलती है और विद्रोह तक करती है।

वैवाहिक जीवन में सहानुभूति परम आवश्यक तत्त्व है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की प्रेमा अपने पूर्व प्रेम के सम्बन्ध में भी पति से सहानुभूति चाहती है। विवाह के पूर्व वह अमृतराय से प्रेम करती थी, दाननाथ से विवाह होने के बाद भी उसके हृदय में अमृतराय के प्रति श्रद्धा थी। एक अवसर पर, जब अमृतराय वनिताश्रम के चन्दा के लिए जलसा करनेवाले हैं, द्वेष के कारण दाननाथ गुण्डों द्वारा उपद्रव कराना चाहते हैं। प्रेमा चाहती है कि वह अमृतराय को अपने पति के दुराग्रह से परिचित करा दे, किन्तु वह कुछ निश्चित नहीं कर पाती और इसी उधेड़बुन में उत्सव का समय आ जाता है। उसकी कोमल भावनाएँ उसे अमृतराय के घर जा कर उन्हें रोकने को प्रेरित करने लगती हैं। उसे भय होता है कि दाननाथ को उसका यह कार्य बहुत बुरा लगेगा। किन्तु, वह इसकी चिन्ता छोड देती है। वह सोचती है, वह किसी की लौंडी नहीं है, उसने किसी के हाथ अपनी धारणाएँ नहीं बेची हैं और वह चली जाती है।

प्रेमा की इस हरकत से दाननाथ बहुत रुष्ट होते हैं, वे उसकी सूरत से नफरत करने लगते हैं, उसे बहुत दिनों तक क्षमा नही करते और कठोर व्यग्यपूर्ण बातें करने में जरा भी नहीं हिचकते। प्रमा जी-जान से उनकी सेवा करती है, उनका मुँह जोहा करती है, उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा किया करती है। किन्तु दाननाथ को उसकी भाव भगिमा में भी बनावट मालूम होती है। वह एकान्त में रोती है, पिछली घटना पर विचार करती है, पर उसे अपनी भूल नही मालूम होती, उसे पति की सहानुभूति शून्यता पर दु:ख होता है—'उस जलसे में जाना तो कोई अनुचित बात न थी। क्या कोई बात इसीलिए अनुचित हो जाती है कि अमृतराय का उसमें हाथ है—इनमें इतनी सहानुभूति भी नहीं, सब कुछ जान कर भी अनजान बनते हैं।'[2]

'रंगभूमि' उपन्यास में रानी इन्दु और राजा महेन्द्र में भी पारस्परिक सहानुभूति का अभाव है। राजा साहब नगर निगम के चेयरमैन हैं। वे इतने पद-लोलुप हैं कि बहुधा औचित्य की दृष्टि से नहीं, ख्याति लाभ की दृष्टि से, अपने आचरण का निश्चय करते हैं।

१. गोदान पृष्ठ २४७ २४८

२ प्रतिज्ञा, पृष्ठ २०४

उन्हें 'अपना नाम' संसार की सभी वस्तुओं से, पत्नी से भी, अधिक प्रिय है। इसके विपरीत इन्दु का पालन पोषण एक स्वतन्त्र विचार वाले न्यायप्रिय परिवार में हुआ है। वह किसी बात का निर्णय न्याय और अन्याय की तुला पर करती है। उसके भाई विनय सिंह ने एक सेवा-समिति खोली थी। एक बार उसके सदस्य गढ़वाल जा रहे थे। इन्दु की माता ने उसे भी, उन्हें विदा करने के लिए स्टेशन पर बुलाया। राजा साहब का इन्दु से सहानुभूति होनी चाहिए थी। सम्भव होता, तो उनके साथ उन्हें स्टेशन जाना चाहिए था, किन्तु इसके विपरीत वे इन्दु को भी जाने से रोकते हैं, क्योंकि इससे उनकी बदनामी होगी, वे हुक्काम की नजरों में राजद्रोही समझे जाएँगे।

राजा साहब की भावनाओं और विचारों से इन्दु को भी सहानुभूति नहीं है। वह बार बार पति से पद त्याग करने के लिए कहती है, दुराग्रह और हठ करती है तथा उनसे लड़ने को सदा तैयार रहती है। राजा साहब नहीं बोलते, तो वह भी नहीं बोलती, वे नहीं बैठते, तो वह भी उन्हें बैठने के लिए नहीं कहती। उन्हें (राजा साहब को) यह दुःख था कि 'इसे जरा भी परवा नहीं है। पग पग पर मेरा रास्ता रोकती है। मैं अपना पद त्याग दूँ, तब इसे तस्कीन होगी। इसकी यही इच्छा है कि सदा के लिए दुनिया से मुँह मोड़ लूँ, संसार से नाता तोड़ लूँ, घर में बैठा बैठा राम नाम भजा करूँ, हुक्काम से मिलना जुलना छोड़ दूँ, उनकी आँखों में गिर जाऊँ, पतित हो जाऊँ। मेरे जीवन की सारी अभिलाषाएँ और कामनाएँ इसके सामने तुच्छ हैं, दिल में मेरी सम्मान भक्ति पर हँसती है। शायद मुझे नीच, स्वार्थी और आत्मसेवी समझती है। इतने दिनों तक मेरे साथ रह कर भी, इसे मुझसे प्रेम नहीं हुआ, मुझसे मन नहीं मिला। पत्नी पति की हितचिन्तक होती है, यह नहीं कि उसके कामों का मजाक उड़ाये, उसकी निन्दा करे।"[1] राजा महेन्द्र और इन्दु के जीवन में बार बार ऐसे प्रश्न आते हैं और सहानुभूति के अभाव में दोनों एक दूसरे से दूर होते चले जाते हैं।

'रहस्य' कहानी में मिस्टर मेहरा और मंजुला में भी स्वभाव भेद के साथ, और इसके कारण, सहानुभूति का अभाव है, जिससे मंजुला के मन में विद्रोह का भाव उत्पन्न होता है और वह पति से अलग जीवन व्यतीत करने के लिए एक सेवाश्रम में नौकरी करने चली जाती है—'मंजुला के जीवन में आत्मदान की मात्रा ही ज्यादा थी। वह देह को इस भावना की पूर्ति का साधन मात्र समझती थी। दुनिया की बड़ी से-बड़ी विभूति भी उसे शान्ति न दे सकती थी। मि॰ मेहरा से उसे केवल इसलिए अरुचि थी कि वह भी साधारण प्राणियों की भाँति भोग विलास के प्रेमी थे। जीवन उनके लिए इच्छाओं में बहने का नाम था। स्वार्थ की सिद्धि में नीति या धर्म की बाधा उनके लिए असह्य थी। अगर उनमें कुछ उदारता होती और मंजुला से मतभेद होने पर भी वह उसकी भावनाओं का आदर करते और कम से कम मुख से ही सहयोग करते, तो मंजुला का जीवन सुखी होता, पर उस भले आदमी को पत्नी से जरा भी सहानुभूति न थी और वह हर एक

---

१ रंगभूमि, प्रथम भाग, पृष्ठ २९१ २९२

अवसर पर उसके मार्ग में खड़े हो जाते थे और मंजुला मन ही मन सिमट कर रह जाती थी। यहाँ तक कि उसकी भावनाएँ विकास का मार्ग न पा कर टेढ़े मेढ़े रास्तों पर जाने लगीं।"[१]

'कर्मभूमि' उपन्यास की सुखदा विलास का जीवन की सबसे काम्य वस्तु समझती है, जब कि उसका पति (अमरकान्त) त्याग को सर्वाधिक महत्त्व देता है। यह स्वभाव भिन्नता तो है ही, दोनों में परस्पर सहानुभूति और सहृदयता भी नहीं है। सुखदा पति की त्यागमय प्रवृत्ति को दया भाव से देखती है, सहानुभूति के भाव से नहीं। वह अमरकान्त को घर के काम काज की ओर खींचने के लिए उसे कभी समझाती, कभी उस पर बिगड़ती, कभी रूठती, कभी उस पर व्यंग्य करती। अमरकान्त भी कभी उससे सहानुभूति की भिक्षा नहीं माँगता, उस पर अपना प्रभाव डालने की कभी चेष्टा न करता। सुखदा की बातों को हँसी में उड़ा देता। वस्तुतः उसे सुखदा की विलासप्रियता से भय होता था। वह अपनी आशा और दुराशा, हार और जीत सुखदा से छिपाता, क्योंकि उसे उससे सहानुभूति की आशा नहीं थी। इस प्रकार विवाह के कई वर्षों बाद तक भी उनमें मेल नहीं हुआ, बल्कि मतभेद बढ़ता ही गया। प्रेमचन्द इस पर टिप्पणी करते हैं—'सुखदा उसके (अमर के) दृष्टिकोण का समर्थन करके कदाचित् उसे जीत सकती थी। उधर से हटाने की चेष्टा करके वह उसके संकल्प को और भी दृढ़ कर रही थी। अमरकान्त उससे सहानुभूति करके उसे अपने अनुकूल बना सकता था। पर, शुष्क त्याग का रूप दिखा कर वह उसे भयभीत कर रहा था।'[२]

'गोदान' उपन्यास में गोबर झुनिया को अपने साथ शहर ले आया, तो उसे अपनी कोठरी पिंजरे सी लगती। वह उसमें अकेली बैठी रोया करती। पुत्र लल्लू दिन भर आँगन या द्वार पर खेलने का अभ्यस्त था, यहाँ उसके खेलने की कोई जगह न थी। अतः, वह माँ को तंग करता। झुनिया को घर का भी सारा काम करना पड़ता था। उधर गोबर जवानी के नशे में मस्त था। झुनिया इस जीवन से ऊब उठी। उस पर विपत्ति यह कि वह फिर गर्भवती थी। उसे पति और पुत्र किसी से भी स्नेह न रहा। उसे उन पर क्रोध आता। बरसात के दिनों में जब लल्लू की तबीयत खराब हो गई और एक ही सप्ताह में उसका देहान्त हो गया, तो उसकी स्मृति उसे रुलाने लगी। ऐसी स्थिति में भी गोबर विषय भोग की लालसा को कुछ दिनों तक संयत न रख सका, तो उसे और भी दुःख हुआ। उसने गोबर को इतना पाषाण हृदय नहीं समझा था। उस समय झुनिया को सहानुभूति की अत्यन्त आवश्यकता थी, किन्तु गोबर इसके विपरीत अपनी वासना का नग्न रूप दिखा कर उसे और भी दुखी और उदासीन बना देता था और उसके प्रेम और सहानुभूति से वंचित रहता था— 'उसके (झुनिया के) शोक में भाग ले कर उसके अन्तर्जीवन में पैठ कर, गोबर उसके समीप जा सकता था, उसके जीवन का अंग बन सकता था, पर वह उसके बाह्य जीवन के सूखे तट पर आ कर ही प्यासा लौट जाता था।'[३]

---

१ 'कफन' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ ११

२ कर्मभूमि पृष्ठ १९

३ गोदान पृष्ठ ३५८

दाम्पत्य जीवन में बहुधा पति की ओर से पत्नी के प्रति उपेक्षा, अपमान, अनादर, कटुता, निष्ठुरता, शासन और उद्दण्डता का प्रदर्शन होता है। स्त्री भी हमेशा देवी नहीं होती, किन्तु हिन्दू समाज में पति की प्रभुता होने के कारण इन बातों की सम्भावना पुरुष की तरफ से अधिक होती है।[1] प्रेमचन्द ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। ऐसी दशा में पत्नी अपने पति के प्रति विद्रोह करती है और इस प्रकार दम्पति का जीवन दुःखपूर्ण हो जाता है।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास में कमला प्रसाद और सुमित्रा के दुःखपूर्ण दाम्पत्य जीवन के लिए अधिक दोषी कमला प्रसाद है। वह अपनी पत्नी की उपेक्षा करता है, उसकी भावनाओं से अधिक महत्त्व वह दान को देता है और रात में देर से घर लौटता है। पूर्णा जब कमला प्रसाद के आने के बारे में पूछती है, तो सुमित्रा व्यंग्य और दुःख से कहती है, "अभी नहीं, बारह ही तो बजे हैं। इतनी जल्द क्यों आएँगे? न एक, न दो, न तीन। मेरा विवाह तो इस महल से हुआ है। लाला बदरी प्रसाद की बहू हूँ, इससे बड़े सुख की कल्पना कौन कर सकता है? भगवान ने किसलिए मुझे जन्म दिया, समझ में नहीं आता। इस घर में मेरा कोई अपना नहीं है, बहन! मैं जबरदस्ती पड़ी हुई हूँ, मेरे मरने जीने की किसी को परवा नहीं है।"[2]

सुमित्रा अपने को विधवा पूर्णा से भी अधिक दुखी मानती है। वह पूर्णा से कहती है, "हम दोनों दुखिया हैं। तुम्हारे हृदय में सुखद स्मृतियाँ हैं, मेरे में वह भी नहीं। मैंने सुख देखा ही नहीं, न देखने की आशा ही रखती हूँ।"[3]

कमला प्रसाद की निष्ठुरता और उपेक्षा सुमित्रा को पीड़ित करती रहतीं। उसके हृदय में पति के प्रति अविश्वास की भावना इस प्रकार घर कर गई थी कि जब वह उससे प्रेम करता, तो उस समय भी उसे सुख नहीं मिलता था। कमला प्रसाद ने अपनी निष्ठुरता से उसके विश्वास और उसकी श्रद्धा का अपहरण कर लिया था—'जीवन में उसका (सुमित्रा का) कोई सगी न था। पति की निष्ठुरता नित्य ही उसके हृदय में चुभा करती थी। इस निष्ठुरता का कारण क्या है, यह समस्या उससे न हल होती थी। वह बहुत सुन्दर न थी, फिर भी कोई उसे रूपहीना न कह सकता था। बनाव श्रृंगार का तो उसे मरज़ सा हो गया था। पति के हृदय को पाने के लिए वह नित्य नया सिंगार करती थी और इस अभीष्ट के पूरे न होने से उसके हृदय में ज्वाला सी दहकती रहती थी। घी के छींटों से भभकना तो ज्वाला का स्वाभाविक ही था, वह पानी के छींटों से भी भभकती थी। कमला प्रसाद जब उससे अपना प्रेम जताते, तो उसके जी में आता, छाती में छुरी मार लूँ। घाव में यों ही क्या कम पीड़ा होती है कि कोई उस पर नमक छिड़के।'[4]

---

१ 'गबन' उपन्यास में जालपा कहती है, "मुझे तो ऐसी कोई स्त्री न मिली, जिसने अपने पति की निष्ठुरता का दुखड़ा न रोया हो। साल-दो-साल तो वह खूब प्रेम करते हैं, फिर न जाने क्यों उन्हें स्त्री से अरुचि सी हो जाती है।"—गबन, पृष्ठ १२९

२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ४७

३ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ४७

४. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ७२

'रंगभूमि' उपन्यास में राजा महेन्द्र अपनी पत्नी इन्दु का अपमान करते हैं। इन्दु अपनी सहज सरलता और सोफी के स्नेह से प्रेरित हो कर उसे अपने साथ अपनी ससुराल ले चलने का वचन दे देती है और इसके लिए तैयारियाँ भी करती है। किंतु, जब महेन्द्र इन्दु को विदा कराने आते हैं और इन्दु सोफी को साथ ले चलने की चर्चा छेड़ती है, तो वे अस्वीकार कर देते हैं। उन्हें भय है कि मि० सेवक की मर्जी के बगैर उनकी पुत्री को अपने घर में रखने से उनकी बदनामी होगी। और उधर इन्दु सोचती है, वह पति की बात मान लेती, किन्तु इसमें उसका अपमान कितना होगा। वह सोफिया को मुँह दिखाने योग्य न रहेगी। अत, वह पति से नम्रतापूर्वक निवेदन करती है, "इस समय मुझे सबसे बड़ी चिन्ता अपनी बात खोने की है। लोग कहेंगे, बात कह कर पलट गई। सोफी ने पहले साफ इनकार कर दिया था। मेरे बहुत कहने सुनने पर राजी हुई थी। आप मेरी खातिर अबकी मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए, फिर मैं आप से पूछे बगैर कोई काम न करूँगी।"[1] किन्तु, महेन्द्र किसी तरह नहीं मानते। अन्त में लेखक कहता है, महेन्द्र कुमार किसी तरह राजी न हुए। इन्दु रोयी, उसने अनुनय विनय की, उनके पैरो पड़ी, वे सभी मन्त्र फूँके, जो कभी निष्फल नहीं होते। पर, पति का पाषाण हृदय न पसीजा। उन्हें अपना नाम सब वस्तुओं से प्रिय था।"[2]

इन्दु के पति उसकी इतनी छोटी सी बात नहीं मानते। अत, उसकी आत्मा दुखी हो जाती है और वह पति की नेकनीयती पर भी सन्देह करती है, 'इन्हें तो यही मंजूर है कि यह दिन भर अकेली बैठी अपने नाम को रोया करे। दिल में जलते होंगे कि सोफी के साथ इसके दिन भी आराम से गुजरेंगे। मुझे कैदियों की भाँति रखना चाहते हैं। दिल में डरते हैं कि सोफी के जाने से घर का खर्च बढ़ जाएगा। स्वभाव के कृपण तो हैं ही। उस कृपणता को छिपाने के लिए बदनामी का बहाना निकाला है।" यही नहीं, पति पर से उसकी श्रद्धा भी हट जाती है और उसके रोम रोम से विद्रोह की प्रतिध्वनि निकलती है। वह अपनी माता से कहती है, "यह इतनी छोटी सी बात है कि अगर मेरा जरा भी खयाल होता, तो वह इनकार न करते। ऐसी दशा में आप क्योंकर आशा कर सकती हैं कि मैं उनकी प्रत्येक आज्ञा शिरोधार्य करूँ।"[4]

'प्रेमाश्रम' उपन्यास के ज्ञानशंकर भी विद्या का अपमान करते हैं, उस कटु वचन कहते हैं। ज्ञानशंकर धन-लोलुप और परले सिरे के स्वार्थी पुरुष हैं, जब कि विद्या उदार और सन्तोषी प्रकृति की स्त्री है। वह पति को उनकी स्वार्थपरता नीचता और अनुदारता के लिए समझाती रहती है, पर ज्ञानशंकर बात-बात में उसका अपमान करते हैं, उस पर व्यंग्य करते हैं, ऐसे ऐसे कटु शब्द कहते हैं कि वह सहन न कर सकने के कारण उठ कर दूसरी जगह चली जाती है। एक बार की बात है, अलग्योझा हो जाने पर

१ रंगभूमि, प्रथम भाग, पृष्ठ १३७ १३८

२. रंगभूमि, प्रथम भाग, पृष्ठ १३८

३. रंगभूमि, प्रथम भाग, पृष्ठ १३८

४. रंगभूमि, प्रथम भाग, पृष्ठ १३९

ज्ञानशंकर के चाचा, सदा की भाँति इस बार भी, होली के अवसर पर, ज्ञानशंकर के परिवार के लिए कपड़े ले आए। विद्या ने कपड़े रख लिये, पर इसके बदले उसने चाचा के लड़कों, लड़कियों और बहू के लिए कपड़ों की व्यवस्था की। ज्ञानशंकर का कहना था, "जब यही करना है तो उनके ही कपड़े क्यों न लौटा दिए जाएँ।" विद्या को पति की इस अनुदारता पर दुःख हुआ, "चाचा साहब तो मिलने को दौड़ते हैं और ये भागे-भागे फिरते हैं"--फिर उसने कहा, "मैं तुमसे रुपए तो नहीं माँगती।"

ज्ञानशंकर, "मैं अपने और तुम्हारे रुपयों में कोई भेद नहीं समझता। हाँ, जब रायसाहब (विद्या के पिता) तुम्हारे नाम कोई जायदाद लिख देंगे, तो समझने लगूँगा।"

विद्या, "मैं तुम्हारा एक पैसा नहीं चाहती।"

ज्ञानशंकर, "माना, लेकिन वहाँ से भी तुम रोकड़ नहीं लाती हो। साल में सौ-पचास रुपए मिल जाते होंगे, इतने पर ही तुम्हारे पैर जमीन पर नहीं पड़ते। छिछले ताल की तरह उबलने लगती हो।"

विद्या, "तो क्या चाहते हो कि वह तुम्हें अपना घर उठा कर दे दें?"

ज्ञानशंकर, "वह बेचारे आप तो अघा लें; मुझे क्या देंगे? मैं तो ऐसे आदमी को पशु से गया-गुजरा समझता हूँ, जो आप तो लाखों उड़ाये और अपने निकटतम सम्बन्धियों की बात भी न पूछे। वह तो अगर मर भी जाएँ, तो मेरी आँखों में आँसू न आवें।"

विद्या, "तुम्हारी आत्मा इतनी संकुचित है, यह मुझे आज मालूम हुआ।"

ज्ञानशंकर, "ईश्वर को धन्यवाद दो कि मुझसे विवाह हो गया, नहीं तो कोई बात भी नहीं पूछता। *लाला बरसों तक दरी-दरी हाँक लगाते रहे, पर कोई ऊँत भी न पूछता था।"*

विद्या इस मर्माघात को न सह सकी, क्रोध के मारे उसका चेहरा तमतमा उठा। वह झमक कर वहाँ से चली जाने को उठी कि इतने में महरी ने एक तार का लिफाफा ला कर ज्ञानशंकर के हाथ में रख दिया। लिखा था—

'पुत्र का स्वर्गवास हो गया, जल्द आओ।'—कमलानन्द।"[१]

विद्या के एकमात्र भाई के देहान्त का दुखद समाचार था। इन शब्दों में विद्या की दुःख-दशा और अपमान का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। परिचय देते समय, प्रारम्भ में ही, ज्ञानशंकर के दुःखपूर्ण दाम्पत्य जीवन का, प्रेमचन्द ने इन शब्दों में वर्णन किया है 'वह (ज्ञानशंकर) इतने शिक्षित हो कर भी स्त्री का आदर उससे अधिक न करते थे, जितना अपने पैर के जूतों का। अतएव उनका दाम्पत्य जीवन भी, जो चित्त की शान्ति का एक प्रधान साधन है, सुखकर न था।'[२]

'गोदान' उपन्यास में गोविन्दी और मिस्टर खन्ना के दुखी दाम्पत्य जीवन का एक कारण खन्ना का अपमानजनक व्यवहार भी है। खन्ना गोविन्दी से कभी सीधी तरह बात नहीं करते। गोविन्दी कविताएँ रचती थी। खन्ना उसकी कविताएँ देखते, तो उसका मजाक उड़ाते और कभी-कभी उन्हें फाड़ कर फेंक भी देते थे। उन्होंने उसे मारा भी था।

१. प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६२-६३

२. प्रेमाश्रम, पृष्ठ ११

'खन्ना अपने गाहकों के साथ जितना ही मीठा और नम्र था, घर में उतना ही कटु और उद्दण्ड। अक्सर क्रोध में गोविन्दी को अपशब्द कह बैठता, शिष्टता उसके लिए केवल दुनिया को ठगने का एक साधन थी, मन का संस्कार नहीं। ऐसे अवसरों पर गोविन्दी अपने एकान्त कमरे में जा बैठती और रात की रात रोया करती और खन्ना दीवानखाने में मुजरे सुनता या क्लब में जा कर शराबें उडाता।''[1]

'लाछन' कहानी में देवी का इतना अपराध अवश्य है कि वह मुन्नू मेहतर और शोहदे रजा मियाँ से घुल घुल कर बातें करती है और पति से कपट करती है। किन्तु, इसमें जितना दोष शोहदों का है, उतना देवी का नहीं। वे उसी समय देवी से बातें करने के लिए किसी न किसी बहाने पहुँच जाते हैं, जब उसके पति (श्यामकिशोर) का दफ्तर से लौटने का समय होता है। ऐसी दशा में श्यामकिशोर का, जो शोहदों की इन चालों को समझते थे, कर्त्तव्य था कि शान्त चित्त हो कर, स्नेहपूर्वक, शोहदों की घातों से अपनी पत्नी को परिचित कराते। किन्तु, इसके विपरीत वे बहुत क्रोधित हो जाते हैं और देवी पर अपशब्दों की बौछार करते हैं, लाछन लगाते हैं, उसे निर्दयता से पीटते हैं। परिणाम स्वरूप देवी को पति से घृणा और भय होता है, क्रोध में प्रतिकार और विद्रोह की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, वह उस घर में नहीं रहना चाहती, जहाँ उसका प्रेम और मान नहीं है—'रोते रोते देवी की आँखें सूज आई। क्रोध में मधुर स्मृतियों का लोप जाता है। देवी को ऐसा ज्ञात होता था कि श्यामकिशोर को उसके साथ कभी प्रेम ही नहीं था। हाँ, कुछ दिनों वह उसका मुँह अवश्य जोहते रहते थे, लेकिन वह बनावटी प्रेम था।··· कुछ नहीं। अब इनका दिल मुझसे फिर गया है, नहीं तो क्या इस जरा सी बात पर यों मुझ पर टूट पडते। कोई न कोई लाछन लगा कर मुझसे गला छुडाना चाहते हैं। . वाह री तकदीर। अब मैं इतनी नीच हो गई कि मेहतरों से, जूतेवालों से आशनाई करने लगी। इस भले आदमी को ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म भी नहीं आती। . जहाँ इज्जत नहीं, मर्यादा नहीं, प्रेम नहीं, विकास नहीं, वहाँ रहना बेहयाई है। कुछ मैं इनके हाथ बिक तो गई ही नहीं कि यह जो चाहे करें, मारें या काटें, पड़ी सहा करूँ। सीता-जैसी पत्नियाँ होती थीं, तो राम जैसे पति भी होते थे।''[2]

'निर्मला' उपन्यास में उदयभानु छोटी सी बात के लिए कल्याणी को जली कटी सुनाते हैं और उसका अपमान करते हैं। उनकी पुत्री (निर्मला) के विवाह में खर्च को ले कर पति पत्नी में विवाद हो जाता है। पहले उदयभानु का अनुमान पाँच हजार था, दस दिनों में यह दस हजार हो गया था और अभी विवाह में एक महीने की देर थी। कल्याणी को अपने पति की फिजूलखर्ची और नाते रिश्तेदारों के ऊपर बेमतलब पानी की तरह रुपए बहाना पसन्द न था। लडकी के विवाह के लिए उदयभानु ने कुछ इकट्ठा नहीं किया था, पर कर्ज के भरोसे प्रतिदिन विवाह के खर्च का अनुमान बढाते जाते थे। ऐसी दशा में पति की शाहखर्ची पर कल्याणी का ऐसा कहना कोई अनुचित न था—'कह तो रही हूँ,

१ गोदान, पृष्ठ २४४ ४४५
२ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ १३८

पक्का इरादा कर लो कि मैं पाँच हजार से अधिक न खर्च करूँगा। घर में तो टका है नही, कर्ज ही का भरोसा ठहरा, तो इतना कर्ज क्यों लें कि जिन्दगी में अदा न हो। आखिर मेरे और बच्चे भी तो हैं, उनके लिए भी तो कुछ चाहिए।"

इस पर उदयभानु क्रोधित हो गए। उनके काम में दखल देने वाली कल्याणी कौन होती है। बोले, "तो तुम बैठी यही मनाया करती हो?"

कल्याणी ने फिर ससार की बात कही, "इसमें बिगडने की तो कोई बात नही। मरना एक दिन सभी को है। कोई यहाँ अमर हो कर थोडे ही आया है? आँखें बन्द कर लेने से तो होनेवाली बात नही टलेगी। रोज आँखों देखती हूँ, बाप का देहान्त हो जाता है, उसके बच्चे गली गली ठोकरें खाते फिरते हैं। आदमी ऐसा काम ही क्यों करें?"

उदयभानु ने जल कर कहा, "तो अब समझ लूँ कि मेरे मरने के दिन निकट आ गए, यह तुम्हारी भविष्यवाणी है। सुहाग से स्त्रियो का जी ऊबते नही सुना था, आज यह नई बात मालूम हुई। रँडापे में भी कोई सुख होगा ही।"

कल्याणी, "तुमसे दुनिया की भी कोई बात कही जाती है, तो जहर उगलने लगते हो।···जितना ही दबती हूँ, तुम और भी दबाते हो। मुफ्तखोर माल उडाये, कोई मुँह न खोले, शराब कबाब में रुपए लुटें, कोई जबान न हिलाए। ये सारे काँटे मेरे बच्चों ही के सिर तो बोये जा रहे हैं।"

उदयभानु, "मैं कमा कर लाता हूँ, जैसे चाहूँ खर्च कर सकता हूँ। किसी को बोलने का अधिकार नही है।"

क्रोधवश कल्याणी भी उस घर में नही रहना चाहती, जहाँ उसकी कोई पूछ नही। किन्तु, पत्नी का इतना अपमान करके भी उदयभानु का चित्त शान्त नही हुआ था। उन्होंने निर्दयता से कहा, 'मैके का घमण्ड होगा?'[1]

पति की नासमझी के कारण आए दिन बहुतेरी स्त्रियों को ऐसे अपमान सहन करने पडते हैं। ऐसा देखा जाता है कि कुछ पुरुष बाहर जितने ही नम्र होते हैं, घर में उतने ही उद्दण्ड और कटु। बाहर यदि वे दुर्वचन कहेंगे, बिगडेंगे, तो उन पर भी बेभाव की पडेगी, किन्तु स्त्री तो चूँ भी नही कर सकती। इससे वे स्वय भी दु ख उठाते हैं और उनके लिए सुखी, स्फूर्तिदायक दाम्पत्य जीवन दुर्लभ हो जाता है। 'रगभूमि' उपन्यास के राजा महेन्द्र जनता के बीच, अपने मृदु और मधुर व्यवहार के लिए प्रसिद्ध हैं। किन्तु, इन्दु के साथ उनका व्यवहार असहिष्णु और अनुदार है। सूरदास की जमीन लेने की बात है। राजनीति के लिए, न्याय की हत्या कर, राजा साहब उसकी जमीन लेना चाहते हैं और ऐसी स्थिति में इन्दु पति का विरोध करती है। वह न्याय का गला घोंटने की अपेक्षा राजा साहब का पद त्याग करना ज्यादा अच्छा समझती है। इस विवाद में राजा साहब पूर्ण निरकुशता से काम लेते हैं। वे इन्दु से कहते हैं, "फिर सोच लो। यह मानी हुई बात है

१ निर्मला, पृष्ठ १०-११

कि वह जमीन मि० सेवक को अवश्य मिलेगी, मैं रोकना भी चाहूँ, तो नहीं रोक सकता और यह भी मानी हुई बात है कि इस विषय में तुम्हें मौन-व्रत का पालन करना पड़ेगा।"[१]

प्रेमचन्द इस स्थान पर टिप्पणी करते हैं—'राजा साहब अपने सार्वजनिक जीवन में अपनी सहिष्णुता और मृदु व्यवहार के लिए प्रसिद्ध थे; पर निजी व्यवहारों में वे इतने क्षमाशील न थे।'[२]

यश के आगे राजा साहब इन्दु की परवाह नहीं करते। यदि उससे अनजाने भी कोई भूल हो जाती है, तो वे उस पर अपशब्दों की बौछार करके उसका अपमान करते हैं। उन पर अन्धे सूरदास की हत्या को ले कर बोर्ड में अविश्वास का प्रस्ताव पेश होने वाला था, किन्तु उन्होंने इन्दु से कह दिया था कि उसके पारित होने की सम्भावना नहीं है। अतः, इन्दु ने सूरदास की प्रतिमा स्थापना के लिए चन्दा दे दिया; क्योंकि उसे राजा साहब के विरोध करने की आशंका नहीं थी—वे भी सूरदास की वीरता पर मुग्ध हो गए थे। किन्तु, बोर्ड में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो गया और उन्हें पद-त्याग करना पड़ा। ऐसी स्थिति में जब उन्हें इन्दु के चन्दा देने की बात मालूम हुई, तो वे उसका चन्दा देना अक्षम्य समझते हैं और उसका अपमान करते हैं। वे चाहते हैं, वह अपना चन्दा वापस ले ले। पर, इन्दु को यह स्वीकार नहीं है। विवाद बढ़ जाता है। राजा साहब के व्यंग्य और दुर्वचन से इन्दु को भी क्रोध आता है और वह उनसे लड़ कर मायके चली जाती है। उसके प्रति राजा साहब इन अपमानजनक शब्दों का व्यवहार करते हैं, "न जाने वह कौन दिन होगा कि तुमसे मेरा गला छूटेगा। मौत के सिवा शायद अब कहीं ठिकाना नहीं है। ...तुम्हारा बस चले, तो मुझे विष दे दो और दे ही रही हो, इससे बढ़ कर और क्या होगा। ...भगवान सब दुःख दे। बुरे का संग न दे। मौत भले ही दे दे। तुम-जैसी स्त्री का गला घोंट देना भी धर्म-विरुद्ध नहीं। इस राज्य की कुशल मनाओ कि चैन कर रही हो, अपना राज्य होता, तो यह कैंची की तरह चलनेवाली जबान तालू से खींच ली जाती। . गालियाँ दे रही है, जबान खींच लूँगा।"[३]

इन्दु और महेन्द्र का यह विवाद दाम्पत्य-क्षेत्र से निकल कर राजनीतिक क्षेत्र में आता है। राजा साहब प्रतिमा-आन्दोलन विफल करना चाहते हैं और इन्दु सोफिया के साथ चन्दा इकट्ठा करती फिरती है। सूरदास की प्रतिमा स्थापित हुई, उत्सव हुआ, किन्तु उसी रात सूरदास की प्रतिमा को तोड़ते हुए, राजा साहब, स्वयं उसके नीचे दब कर मर गए।

'जीवन का शाप' कहानी में सम्पादक कावसजी भी अपनी पत्नी के प्रति ऐसा ही दुर्व्यवहार करते हैं। गुलशन जब रूठ कर मायके चली जाती है, तो उन्हें अपनी भूल मालूम होती है और इस दशा में वे जो कुछ सोचते हैं, उससे ऐसे पतियों के दुर्व्यवहारों के पीछे से झाँकती हुई मनोवृत्ति भी स्पष्ट होती है, 'अपनी टिप्पणियों में वह कितनी शिष्टता

१ रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ २९१

२. रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ २९१

३ रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ ४३२-४३५

का व्यवहार करते हैं। कलम जरा भी गर्म पड जाए, तो गदन नापी जाए। गुलशन पर वह क्यों बिगड जाते हैं? इसलिए कि वह उनके अधीन है और उन्हे रूठ जाने के सिवा कोई दण्ड नहीं दे सकती। कितनी नीच कायरता है कि हम सबलों के सामने दुम हिलाएँ और जो हमारे लिए अपने जीवन का बलिदान कर रही है, उसे काटने दौडे।'[1]

'मगलसूत्र' उपन्यास में पुष्पा का सन्तकुमार के हाथों आए दिन अपमान सहना पडता है। सन्तकुमार के लिए दुनिया में केवल एक ही वस्तु है—सम्पत्ति। इसके आगे स्त्री की भावनाएँ और इच्छाएँ कुछ मूल्य नहीं रखतीं। एक बार पुष्पा के हाथ से एक चीनी का प्लेट टूट गया था। इसके लिए उन्होंने उसके कान ऐंठ दिये थे। उसे बार बार उनके मुख से सुनना पडता था कि उनके घर में उसका कोई अधिकार नहीं है, वह उनकी आश्रिता है, लौंडी है। सन्तकुमार के पिता ने बीस वर्षो पहले कोई जायदाद बहुत कम दामों में बेच दी थी। अब उसकी कीमत कई गुना बढ गई थी। सन्तकुमार वह जायदाद लड कर वापस लेना चाहते हैं, किन्तु मुकद्दमे के लिए रुपया की आवश्यकता है। वे पुष्पा की खुशामद करते हैं कि वह अपने पिता को दस हजार रुपए उधार देने के लिए लिखे। यह माँग पुष्पा को हर दृष्टि से अनुचित मालूम होती है, अत वह स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर देती है। इस बात के लिए सन्तकुमार कटु वचनों से उसका अपमान करते हैं—

सन्तकुमार, "क्या सोच रही हो? मैं तुमसे सच कहता हूँ, मैं बहुत जल्द रुपए दे दूँगा।"

पुष्पा ने निश्छल भाव से कहा, "तुम्हे कहना हो, जा कर खुद कहो, मैं तो नहीं लिख सकती।"

सन्तकुमार ने होंठ चबा कर कहा, "जरा सी बात तुमसे नहीं लिखी जाती, उस पर दावा यह है कि घर पर मेरा भी अधिकार है।"

पुष्पा ने जोश के साथ कहा, "मेरा अधिकार तो उसी क्षण हो गया, जब मेरी गाँठ तुमसे बँधी।"

सन्तकुमार ने गर्व के साथ कहा, "ऐसा अधिकार जितनी आसानी से मिल जाता है, उतनी ही आसानी से छिन भी जाता है।"[2]

दाम्पत्य जीवन में प्रेम और सेवा का शासन तो स्वीकृत होता है, किन्तु कोई अधिकार के बल पर शासन करना चाहे, तो उसे अपने साथी की कोमल भावनाओं, श्रद्धा और स्नेह से हाथ धोना पडता है।[3] हिन्दू स्त्री युगों से पति का शासन स्वीकार करती आई है अत पति यदि शासनप्रिय होता है, तो दम्पति के बीच कलह का कम अवकाश

१ मानसरोवर भाग २ पृष्ठ २३१

२ मगलसूत्र पृष्ठ १९ २०

३ सुमित्रा कहती है 'आखिर मैं क्यों इनकी (पति की) धौंस सहूँ। जो दस बातें प्यार की करे, उसकी एक धौंस भी सह ली जाती है। जिसकी तलवार सदा म्यान से बाहर रहती हो, उसकी कोई कहा तक सहे?' प्रतिज्ञा पृष्ठ ११०

रहता है। किन्तु, यदि पत्नी शासनप्रिय हुई, तब तो दम्पति के जीवन में सुख की सम्भावना ही नहीं रहती। स्त्री से पुरुष सहज कोमलता, माधुर्य, लज्जा, श्रद्धा और सेवा की माँग करता है। इनके अभाव में कलह अनिवार्य है।

'कर्मभूमि' उपन्यास की सुखदा में शासन भावना अधिक है, जिससे अमरकान्त परेशान रहता है। जिन दिनों अमर अपने पिता से अलग रहता था, उन दिनों वह कमीशन पर खादी के कपड़े बेचा करता था और रुपया, सवा-रुपया रोज की उसकी आय थी। सुखदा ने भी, अमर की इच्छा के विरुद्ध, एक स्कूल में नौकरी कर ली थी और पचास रुपए वेतन पाती थी। नौकरी करके वह और भी उद्दण्ड हो गई थी। घर के सारे कार्य अमर को करने पड़ते थे। दोनों किसी बात में एकमत नहीं होते और सुखदा के हठ तथा रोब के सामने अमर को हमेशा दबना पड़ता है—'अमर दिल खोल कर तो कुछ कह नहीं सकता, पर मन में जलता रहता है। घर के सारे काम, बच्चे को सँभालना, रसोई पकाना, बाजार से जरूरी चीज मँगाना वह सब उसके मत्थे है। सुखदा घर के कामों के नगीच नहीं जाती। अमर आम कहता है, तो सुखदा इमली कहती है। दोनों में हमेशा खटपट होती रहती है। सुखदा इस दरिद्रावस्था में भी उस पर शासन कर रही है।'[१]

सुखदा के कठोर शासन का परिणाम यह होता है कि अमर का दलित पुरुषत्व सकीना की कोमलता, मधुरता और नम्रता की ओर आकृष्ट होता है। सुखदा और अमर में विच्छेद सा हो जाता है। अमर घर छोड़ कर भाग जाता है।

'कपट' के कारण भी दम्पति दुखी रहते हैं। इससे सन्देह और अविश्वास बढ़ता है। जहाँ मन में कोई बात खटके, पति पत्नी को चाहिए कि खुले दिल से बातें करके उसे निकाल दें। अन्यथा इसका भयकर परिणाम उन्हें ही भोगना पड़ता है। सुमन के वेश्या बनने में कपट का बहुत बड़ा हाथ है। सुमन को अच्छा खाने और अच्छा पहनने की आदत है। पति का महीने भर का वेतन वह बीस दिनों में ही साफ कर देती है। पति जब उसे किफायत करने को कहता है, तो वह पति से छिपा कर अच्छी चीजें खाती है—'सुमन का जीवन सुख में कटा था। उसे अच्छा खाने, अच्छा पहनने की आदत थी। अपने द्वार पर खोमचेवालों की आवाज सुन कर उससे रहा न जाता। अब तक वह गजाधर का भी खिलाती थी। अब से अकेले ही खा जाती। जिह्वा रस भोग के लिए पति से कपट करने लगी।'[२]

सुमन की यह कपट भावना बढ़ती ही जाती है। वह क्या करती है, कहाँ जाती है, उसके साथ क्या घटनाएँ घटती हैं, वह क्या सोचती है, यह सब वह पति से छिपाती है। धीरे धीरे गजाधर के मन में सन्देह और अविश्वास जड़ जमा लेते हैं। एक दिन वह पति से पूछे बिना वेश्या का मुजरा देखने अपनी सखी के घर चली जाती है और वहाँ से एक बजे रात में लौटती है। गजाधर उस पर लाछन लगा कर उसे घर से निकाल देता है।

१　कर्मभूमि, पृष्ठ १२२-१२३
२　सेवासदन, पृष्ठ १६

'लाछन'[1] कहानी में देवी भी ऐसी ही स्त्री है। वह मुन्नू मेहतर और शोहदे रजा मियाँ से तो घुल घुल कर बातें करती है, यहाँ तक कि अपने पति श्यामकिशोर की गुप्त बातों को भी कह देती है, किन्तु पति से उन शोहदों की बातें छिपाती है। मुन्नू श्यामकिशोर की झूठी निन्दा करता है, तो देवी उस पर विश्वास कर लेती है। किन्तु, श्यामकिशोर जब मुन्नू को काम से हटा देने को कहते हैं, तो वह असमजस में पड जाती है। शोहदों की शरारत से बचने के लिए श्यामकिशोर घर बदल देते हैं और मुन्नू मेहतर को निकाल देते हैं। इतना हाने और श्यामकिशोर के समझाने पर भी, जब मुन्नू देवी से मिलने के लिए नए मकान में आता है, तो वह उसे दुतकारती नहीं, बल्कि उसका स्वागत करती है। अब श्यामकिशोर का सन्देह बढता है और वे देवी पर लाछन लगाते हैं, उसे अपशब्द कहते हैं और मारते भी हैं। देवी स्वय ही घर से निकल खडी होती है और किसी सहारे के अभाव में मुन्नू से सहायता लेती है। इस प्रकार केवल अपनी कपट भावना और पति पर अविश्वास के कारण वह शोहदों के चगुल में फँसती है। यदि वह निष्कपट भाव से अपने पति को बता देती कि मुन्नू ने उससे क्या कहा और पति के समझाने पर उनके कथनानुसार चलती, तो पति और उसके बीच सन्देह तथा अविश्वास की दीवार खडी न होती।

यदि पति-पत्नी एक दूसरे से कपट करते हैं, तो उनका जीवन कभी सुखपूर्ण नही हो सकता। प्रेमचन्द इसे सिद्धान्त-रूप में मानते हैं और प्रायः इसका वर्णन करते हैं। 'गबन' उपन्यास की जालपा सुन्दर और आभूषणप्रिय है। वह विवाह के बाद ससुराल आती है, तो चन्द्रहार पाये बिना कोई दूसरा आभूषण पहनने से इनकार कर देती है। उसके रूप और यौवन पर मुग्ध, उसका गरीब पति (रमानाथ), उसकी इस मनोवृत्ति को देख कर, उसके सामने अपने और अपने परिवार के बारे में डींग मारता है। वह जालपा से कपट करता है। वह सराफ का बकाया चुकाने के लिए उससे दो एक गहने माँग कर नहीं ले जाता, बल्कि सारे गहने चुरा लेता है। जालपा कहाँ तो चन्द्रहार के लिए रूठी हुई थी, कहाँ उसके सारे आभूषण चले गए। वह बहुत दुखी होती है। उसको खुश करने के लिए रमानाथ फिर कपट करता है—वह गहने और शृंगार प्रसाधन उधार लाता है। इस कपट का परिणाम यह होता है कि वह अपने दफ्तर से गबन करता है और घर छोड कर भाग खड़ा होता है, किन्तु जालपा को बतलाता तक नही। यदि वह जालपा से सारी बातें कह देता, तो वह अपने गहने बेच कर भी उसकी रक्षा करती। किन्तु, यह भी सत्य है कि पति को चिन्तित देख कर भी जालपा ने उसका कारण जानने के लिए कभी विशेष आग्रह नही किया। यद्यपि रमानाथ के भागने पर वह इस कपट के लिए उसे ही दोषी ठहराती है, किन्तु उसकी सहेली रतन कहती है, "ऐसे पुरुष तो बहुत कम होंगे, जो स्त्री से अपना दिल खोलते हों। जब तुम स्वय दिल में चोर रखती हो, तो उनसे क्यों आशा रखती हो कि वे तुमसे कोई परदा न रखें। तुम ईमान से कह सकती हो कि तुमने उनसे परदा नहीं रखा?"

---

१. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ ११६

जालपा ने सकुचाते हुए कहा, "मैंने तो अपने मन में परदा नहीं रखा।"

रतन ने जोर दे कर कहा, "झूठ बोलती हो, बिलकुल झूठ। अगर तुमने विश्वास किया होता, तो वे भी खुलते।"

'जालपा इस आक्षेप का अपने सिर से न टाल सकी। उसे आज ज्ञात हुआ कि कपट का आरम्भ पहले उसी की ओर से हुआ।'[1]

भोग विलास और आभूषणों पर जान देने वाली सुन्दर स्त्री से पुरुष अपनी आर्थिक स्थिति अवश्य छिपाता है, उस पर सन्देह और अविश्वास भी करता है। 'दो सखियां'[2] कहानी की पद्मा अत्यन्त सुन्दर और कपट तथा माया में निपुण स्त्री है। वह भोग विलास, मौज और आराम के लिए प्राण देती है, जब कि उसके पति (विनोद) इन्हें अनुचित समझते हैं। इस प्रकार दोनों के मन में गाँठ पड़ जाती है। न तो दोनों एक दूसरे के मनोभाव को समझ पाते हैं और न कभी निष्कपट हृदय से मन की गाँठ ही खोलते हैं। इस कपट और दुराव से आपस की दूरी बढ़ती जाती है। पद्मा एक ओर नाटक करती है, जिसके पीछे कोई बुरी भावना तो नहीं है किन्तु कपट अवश्य है। वह एक दूसरे युवक से स्नेह बढ़ाती है। बात यह है कि विनोद का हृदय इतना कोमल है कि वे अपने कठोर भावों को पत्नी के सामने कभी प्रकट नहीं करते। और, पद्मा पति की इच्छाएँ समझने, उनके मनोभावों को पढ़ने या उनके हृदय में पैठने की कोशिश न कर, गलत रास्ते पर चल पड़ती है। वह पर पुरुष से प्रेम का स्वाँग रचती है, क्योंकि वह देखना चाहती है कि तब भी विनोद उसे भला बुरा कहते हैं या नहीं। विनोद उसे अपशब्द तो नहीं कहते, किन्तु उन्हें अपनी पत्नी की दुश्चरित्रता का पूरा विश्वास हो जाता है। वे दुःख में विष खा लेते हैं और बड़ी कठिनता से बचते हैं। इस प्रकार पद्मा अपनी कपट भावना के कारण, दाम्पत्य सुख से वंचित हो जाती है और विधवा होते होते बचती है।

राजा महेन्द्र और इन्दु की चर्चा की जा चुकी है। राजा साहब को अपनी नेकनामी अत्यधिक प्रिय है। वे म्युनिसिपल चेयरमैन होने के कारण अपने को शासन का एक अंग समझते हैं, अतः सेवा समितियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। इन्दु के भाई विनय सिंह ने एक सेवा समिति खोली है। वह समिति गढ़वाल जा रही है, अतः, उसकी माँ, स्वयंसेवकों को विदा करने के लिए, इन्दु को भी स्टेशन पर बुलाती है। इन्दु स्टेशन न जाए, क्योंकि इससे बदनामी होगी, यह सोच कर महेन्द्र कपट का आश्रय लेते हैं। पहले वे बादल घिरने और वर्षा होने तथा स्टेशन पर बहुत भीड़ होने का बहाना कर, उसे रोकते हैं। इन्दु सहज भाव से राजा साहब के इन बहानों के उत्तर देती है और जाना चाहती है। राजा साहब को अब सच बात कहनी पड़ती है। इन्दु को इसका बहुत दुःख होता है कि पहले तो उससे कपट किया गया और अब बलात् उसे रोकने की चेष्टा की जा रही है। वह दुराग्रह कर स्टेशन चली जाती है। राजा साहब सोचते हैं, अब तो वे हुक्काम की टेढ़ी नजरों से बच नहीं सकते, तो क्यों नहीं जनता की श्रद्धा अर्जित की

१ ग़बन पृष्ठ ११९

२ मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २११

जाए? और, तब व भी स्टेशन के लिए चल पड़ते हैं। उधर इन्दु को अपने हठ पर खेद होता है और वह बीच रास्ते से ही लौट पड़ती है। राजा साहब उसे लौटते देखते हैं, तो उससे स्टेशन चलने को कहत हैं। किन्तु, इन्दु किसी प्रकार आश्वस्त नही होती और पति के कपटपूर्ण व्यवहार से खिन्न हा कर स्टेशन जाने से इनकार कर देती है।[1]

महेन्द्र और इन्दु के जीवन में एसे कई अवसर आते हैं, जब वे अपने हृदय की बातें एक दूसरे से छिपाते हैं और क्रमश एक दूसरे से दूर होत चले जाते हैं।[2]

'निर्मला' उपन्यास में मुशी तोताराम अपने बडे पुत्र तथा उसकी विमाता (निर्मला) के प्रति सन्देह, कपट तथा अविश्वास से पूर्ण व्यवहार के फलस्वरूप पुत्र की मृत्यु का कारण बनते हैं। इसके बाद भी वे कभी अपने हृदय की गाँठ नही खोलते और भीतर ही भीतर घुलते रहते हैं। निर्मला भी पति के सकोच को नहीं हटाती, यद्यपि उसे पति से सच्ची सहानुभूति है। मन की बात कहने का अवसर आता भी है, तो वह सब कुछ नही कह पाती। इस प्रकार यह विष दम्पति के जीवन में ही नही, बल्कि सारे परिवार में व्याप्त हा जाता है। जब निर्मला के गहने चोरी चले जाते हैं, तो उसे पूरा सन्देह होता है कि गहने उसके दूसरे सौतेले पुत्र जियाराम ने चुराये हैं—उसने रात मे जियाराम को अपने कमरे से निकलते देखा भी था। किन्तु, वह पति के भय से यह बात छिपा लेती है—पति शक्की ठहरे, जाने क्या सोच बैठें। तोताराम पुलिस में सूचना देते हैं। यदि उन्हें मालूम होता कि यह उनके पुत्र का ही काम है, तो वे पुलिस का सहारा क्यो लेते? तहकीकात में पुलिस के बार बार यह कहने पर कि यह किसी घर के आदमी का ही काम है, जियाराम आत्म हत्या कर लेता है। अन्तिम पुत्र सियाराम भी भाइयों की दुर्गति देख कर एक कपटी साधु के साथ भाग खडा होता है।

पति पत्नी में मतभेद अथवा वाद विवाद के कारण मनोमालिन्य हो, तो प्रय न होना चाहिए कि वह भुला दिया जाए, ताकि बिना किसी मानसिक तनाव के, सहज भाव से जीवन-गाडी चलती रहे, किसी अप्रिय प्रसग पर सोचते रहना दाम्पत्य सुख में बाधक होता है।[3]

'गोदान' उपन्यास में झुनिया और गोबर इसी तरह एक दूसरे के बुरे व्यवहारों को सोच-सोच कर परस्पर मनोमालिन्य बढाते हैं। झुनिया गर्भवती है, अत उसका शरीर और मन अस्वस्थ है। उसका पुत्र लल्लू तो उसे तग करता ही है, उसे घर गृहस्थी का काम भी देखना पड़ता है। इस पर गोबर की अतृप्त भोग-लालसा भी है। अत, झुनिया को मौत सामने खडी दिखलाई पडती है। ऐसे में जब बरसाती बीमारी के कारण लल्लू का देहान्त हो जाता है और उसकी स्मृति में वह रोती रहती है, तब गोबर की सहानुभूति शून्यता,

१ रगभूमि, भाग १, पृष्ठ २७१-२७८

२ रगभूमि, भाग १, पृष्ठ २७६ २८१, ३६८ ३७३

३ 'गोदान' उपन्यास में चुहिया झुनिया से कहती है—"मगर हाँ, इतना है कि आपस में लड़ाई हो, तो मुँह से चाहे जो बक ल, मन मे कोना न पाल। बीज अन्दर पड़ा, तो अँखुआ निकले बिना नहीं रहता।" गोदान, पृष्ठ ३११

निष्ठुरता और वासना उसके लिए असह्य हो जाती है। इस पर जब अन्य मजदूरों की संगति में शराब पी कर गोबर उसे पीटता, तो उसे ऐसा क्रोध आता कि छुरे से गोबर का गला रेत डाले। इसी स्थिति में झुनिया के पुत्र पैदा होता है, किन्तु फिर भी दोनों में नहीं पटती। इसका कारण है, दोनों ही, लड़ने के बाद उस विवाद को भूलते नहीं, बल्कि उसे मन में और पालते हैं। फलत वह किसी दूसरे मतभेद पर और भी भयकर हो जाता है—'झुनिया और गोबर में अब भी न पटती थी। झुनिया के मन में बैठ गया था कि यह पक्का मतलबी, बेदर्द आदमी है, मुझे केवल भोग की वस्तु समझता है, मैं मरूँ या जिऊँ। इसकी इच्छा पूरी किए जाऊँ, उसे बिलकुल गम नहीं। एक पुराना लिहाफ था। दोनों उसी में सोते थे, लेकिन फिर भी उनमें सौ कोस का अन्तर था। दोनों एक ही करवट में रात काट देते।

गोबर का जी शिशु को गोद में ले कर खेलाने के लिए तरस कर रह जाता था। कभी-कभी वह रात को उठ कर उसका प्यारा मुखड़ा देख लिया करता, लेकिन झुनिया की ओर से उसका मन खिंचता था। झुनिया भी उससे बात न करती, न उसकी कुछ सेवा ही करती और दोनों के बीच में यह मालिन्य समय के साथ लोहे के मोर्चे की भाँति गहरा, दृढ और कठोर होता जाता था। दोनों एक दूसरे की बातों का उलटा ही अर्थ निकालते, वही जिससे आपस का द्वेष और भड़के। और, कई दिनों तक एक एक वाक्य को मन में पाले रहते और उसे अपना रक्त पिला पिला कर, एक दूसरे पर झपट पड़ने के लिए तैयार करते रहते, जैसे शिकारी कुत्ते हों।'[1]

'रगभूमि' उपन्यास में राजा महेन्द्र और इन्दु में भी वाद विवाद होता है, तो दोनों मुँह फुला लेते हैं और एक दूसरे की कमजोरियों को सहृदयतापूर्वक समझने के बदले बार बार अपने ही अपमान की बात सोचते हैं। दोनों में से कोई भी क्षमा माँगने या क्षमा करने को तैयार नहीं है। दोनों कई दिनों तक एक दूसरे से रूठे, बिना बातचीत किए, रह सकते हैं—'सात आठ दिनों तक दोनों के मुँह में दही जमा रहा। राजा साहब कभी घर में आ जाते, तो दो-चार बातें करके यों भागते, जैसे पानी में भीग रहे हों। न वह बैठते, न इन्दु उन्हें बैठने को कहती। उन्हें यह दु ख था कि इसे जरा भी परवा नहीं है। पग पग पर मेरा रास्ता रोकती है। मैं अपना पद त्याग दूँ, तब इसे तस्कीन होगी। ...इतने दिनों तक मेरे साथ रह कर भी, इसे मुझसे प्रेम नहीं हुआ, मुझसे मन नहीं मिला। पत्नी पति की हितचिन्तक होती है, यह नहीं कि उसके कामों का मजाक उड़ाये, उसकी निन्दा करे।'[2]

इसी प्रकार इन्दु का हृदय भी राजा साहब के प्रति प्रतिकूल भावों से भरा रहता है—'इधर इन्दु को दु ख था कि ईश्वर ने इन्हें सब कुछ दिया है, यह हाकिमों से क्यों इतना दबते हैं, क्यों इतनी ठकुर सुहाती करते हैं, अपने सिद्धान्तों पर स्थिर क्यों नहीं रहते, उन्हें क्यों स्वार्थ के नीचे रखते हैं, जाति सेवा का स्वाँग क्यों भरते हैं? वह भी

१. गोदान, पृष्ठ ३६४
२ रगभूमि, भाग १, पृष्ठ ३६१-३६२

कोई आदमी है, जिसने मानापमान के पीछे धर्म और न्याय का बलिदान कर दिया हो।"[1] इस प्रकार इनका मनामालिन्य बढता जाता है और दोनों में से कोई किसी की सूरत भी नहीं देखना चाहता।

मनुष्य-मात्र में यह इच्छा स्वाभाविक है कि उसकी आत्मा का, उसके गुणों का, विकास हो। विवाह से स्त्री पुरुष एक दूसरे के अभिन्न हो जाते हैं, अत उनका कर्त्तव्य है कि जहाँ तक हो सके, वे अपने साथी के आत्म विकास में सहायक हों, ताकि दोनों का जीवन सुखी हो।[2] अपने सहयोगी पर अपनी इच्छाओं और उद्देश्यों का भार लादना दाम्पत्य सुख में बाधक सिद्ध होता है। आत्म विकास के साधन के अभाव में आत्मा विद्रोह करती है और यदि एक के जीवन में अशान्ति आती है, तो दूसरा भी सुखी नहीं रह सकता।

'रहस्य' कहानी की मजुला की चर्चा पहले आ चुकी है। उसके और मि० मेहरा के विचारों में आकाश पाताल का अन्तर है। वैसी स्थिति में, मि० मेहरा की अनुदारता और बाधा देने की प्रवृत्ति, दोनों के बीच समझौता नहीं होने देती और एक दिन मजुला विद्रोह करके स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लेती है—'अगर उनमें (मि० मेहरा में) कुछ उदारता होती और मजुला से मतभेद होने पर भी वह उसकी भावनाओं का आदर करते और कम-से-कम मुख से ही उससे सहयोग करते, तो मजुला का जीवन सुखी होता, पर उस भले आदमी का पत्नी से जरा भी सहानुभूति न थी और वह हर एक अवसर पर उसके मार्ग में खड़े हो जाते थे और मजुला मन ही मन सिमट कर रह जाती थी। यहाँ तक कि उसकी भावनाएँ विकास का मार्ग न पा कर टेढे मेढे रास्तों पर जाने लगीं। और उसकी आत्मा पिंजरे में बन्द पक्षी की भाँति हमेशा बेचैन रहती थी। उसका अह भाव इतना प्रचण्ड हो गया था कि वह जीवन से विरक्त हो कर बैठ न सकती थी। वह अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र हो कर पृथक रखना चाहती थी। उसे इसमें गर्व और उल्लास होता था कि वह भी कुछ है। वह केवल किसी वृक्ष पर फैलनेवाली और उसके सहारे जीनेवाली बेल नहीं हैं। उसकी अपनी अलग हस्ती है, अपना अलग कार्य क्षेत्र है।'[3]

'रगभूमि' उपन्यास में महेन्द्र और इन्दु का बार-बार अनुभव होता है कि एक दूसरे के कारण, उनके अपने गुणों के विकास में बाधा हो रही है। इन्दु पति को बार बार पद त्याग करने के लिए कह कर और उनकी इच्छाओं के विरुद्ध चन्दा दे कर उन्हें यह सोचने को विवश कर देती है—'पग-पग पर मेरा रास्ता रोकती है। मैं अपना पद त्याग दूँ, तब इसे तस्कीन होगी। इसकी यही इच्छा है कि सदा के लिए दुनिया से मुँह मोड लूँ, ससार से नाता तोड लूँ, घर में बैठा बैठा राम-नाम भजा करूँ, हुक्काम से

---

१ रगभूमि, भाग १, पृष्ठ २६२

२. प्रेमचन्द विवाह को आत्म विकास का साधन मानते हैं, ऐसा पीछे कहा जा चुका है।

३ 'कफ़न' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ ५१ ५४

मिलना जुलना छोड दूँ, उनकी आँखों में गिर जाऊ, पतित हो जाऊँ। मेरे जीवन की सारी अभिलाषाएँ और कामनाएँ, इसके सामने तुच्छ हैं ··।"[1]

और, पति के ऐसे दुराग्रह और हठ के कारण इन्दु को बार-बार यही अनुभव होता है कि वह परवश है, पराधीन है, उसकी आत्मा मर गई है, पति से स्वतन्त्र उसका कोई अस्तित्व नहीं है। हो सकता है कल को कहने लगे, अपने माता पिता से मिलने मत जाओ, मानो वह उनके हाथ बिक गई।

'कर्मभूमि' उपन्यास में सुखदा द्वारा अमर की आत्मा कुचली जाती है, उसकी प्रतिभा, गरिमा और शासन की प्रवृत्ति से उसका विकास कुण्ठित होता है। मन की इस दशा में मधुरभाषिणी, कोमल और नम्र सकीना, अमर को अपनी ओर आकृष्ट करती है। प्रेमचन्द ने स्पष्ट रूप से लिखा है—'उसका शासित, दलित पुरुषत्व यहाँ (सकीना के पास) अपने प्रकृत रूप में प्रकट हो सकता था। सुखदा की प्रतिभा, प्रगल्भता और स्वतन्त्रता, उसके सिर पर सवार रहती थी। वह जैसे उसके सामने अपने को दबाए रखने पर मजबूर था। आत्मा में जो एक प्रकार के विकास और व्यक्तिकरण की आकांक्षा होती है, वह अपूर्ण रहती थी। सुखदा उसे पराभूत कर देती थी, सकीना उसे गौरवान्वित करती थी। सुखदा उसका दफ्तर थी, सकीना घर। वहाँ वह दास था, यहाँ स्वामी।'[2]

पिता से अलग होने पर अमर की दशा और भी शोचनीय हो जाती है। वह कमीशन पर खादी के कपड़े बेच कर रुपया सवा रुपया रोज कमा लेता है। सुखदा भी एक स्कूल में पचास रुपए मासिक की नौकरी करती है, किन्तु अमर को यह पसन्द नहीं है, क्योंकि खाना बनाना, बच्चा सँभालना, गृह प्रबन्ध करना—सब उसके मत्थे है और सुखदा का काम केवल बाधा डालना तथा उस पर शासन करना है। जहाँ मतभेद होता है, वहाँ अपने दुराग्रह और अधिकार भावना के कारण सुखदा ही जीतती है। इन बातों से अमर को अपनी हीनता का अनुभव होता है और वह सुखदा को अपने विकास में बाधक मानता है। अमर कहता है, "आधा सेर दूध काफी है", सुखदा कहती है, "सेर भर आएगा", और सेर भर ही मँगाती है। वह खुद दूध नहीं पीता, इस पर भी रोज लड़ाई होती है। वह कहता है, "हम गरीब हैं, मजूर हैं, हमें मजदूरों की तरह रहना चाहिए।" वह कहती है, "हम मजूर नहीं हैं, न मजूरों की तरह रहेंगे।" फलत अमर उसको अपने आत्म विकास में बाधक समझता है और उस बाधा को हटा न सकने के कारण भीतर ही भीतर कुढता है।"[3]

अमर की दलित और पीड़ित आत्मा कराह उठती है। वह किसी तरह सुखदा से छुटकारा पाना चाहता है। अब सकीना के प्रति वह और तीव्र आकर्षण का अनुभव करता है। वह अपने मित्र सलीम से कहता है, "मुझे जिन्दा रखने के लिए एक ऐसे दिल की जरूरत है, जिसमें आरजुएँ हों, दर्द हो, त्याग हो, सौदा हो। जो मेरे साथ रो सकता हो,

१ रंगभूमि भाग १, पृष्ठ २६१-२६२
२ कर्मभूमि, पृष्ठ ६१
३. कर्मभूमि पृष्ठ ६१

मेरे साथ जल सकता हो । ' इन चन्द सालों में मेरा कितना रूहानी जवाल हुआ है, इसे मैं ही समझता हूँ सकीना ही मुझे आजाद कर सकती है, उसी के साथ में रूहानी बलन्दियों पर उड सकता हूँ, उसी के साथ मैं अपने को पा सकता हूँ।"[१]

'मगलसूत्र' उपन्यास में सन्तकुमार अपनी पत्नी (पुष्पा) के व्यक्तित्व अथवा उसके स्वतन्त्र विचार को थोडा महत्त्व भी नहीं देना चाहता। वह उससे अपनी ही बातें करना पसन्द करता है और उसके थोडा भी प्रतिकूल होने पर क्षुब्ध हो जाता है, उसे अपशब्द कहता है, दण्ड देता है। पुष्पा उसका विरोध करती है और उन दोनों में कलह होता है—'उसने (पुष्पा ने) यहाँ आने के एक दो महीने के बाद ही सन्तकुमार का स्वभाव पहचान लिया था। उनके साथ निर्वाह करने के लिए उसे उनके इशारों की लौंडी बन कर रहना पडेगा। उसे अपने व्यक्तित्व को उनके अस्तित्व में मिला देना पडेगा। वह वही सोचेगी, जो वह सोचेंगे, वह वही करेगी, जो वह करेंगे। अपनी आत्मा के विकास के लिए यहाँ कोई अवसर न था। उनके लिए लोक या परलोक में जो कुछ था, वह सम्पत्ति थी। यहीं से उनके जीवन को प्रेरणा मिलती थी। सम्पत्ति के मुकाबले में स्त्री या पुत्र की भी, उनकी निगाह में कोई हकीकत न थी।'[२]

स्त्री मायके की निन्दा सुन कर भी प्रतिक्रिया का अनुभव करती है, अतः वह पुरुष, जो स्त्री के पितृ-गृह की निन्दा करता है, स्त्री को प्रसन्न नहीं रख सकता।[३] 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में कमला प्रसाद और सुमित्रा में न बनने का एक बहुत बडा कारण यह भी है। कमला प्रसाद बात-बात में सुमित्रा के पितृ-गृह के विषय में व्यग्य करता रहता है। एक दिन उसने नौकर से कहा कि वह सुमित्रा से उसकी अचकन माँग लाए। सुमित्रा उन दिनों पति से रुष्ट थी। उसे कमला प्रसाद के विधवा पूर्णा के प्रति आकर्षण का ज्ञान हो गया था। उसने अचकन नहीं दी। कमला प्रसाद क्रोध से भरे हुए घर में आए और पहले सुमित्रा के माँ-बाप को ही भला-बुरा कहने लगे, "बैठी गप्पें लडा रही हो। जरा सी अचकन माँग भेजी, तो उठते न बना। बाप से कहा होता, किसी करोडपति सेठ के घर ब्याहते। यहाँ का हाल तो जानते थे।"

सुमित्रा ने तडप कर कहा, "बाप-दादे का नाम न लेना, कहे देती हूँ। वह चारपाई पर कुञ्जी पडी है और वह सामने सन्दूक है। अचकन लो और बाहर जाओ। यहाँ कोई तुम्हारी लौंडी नहीं है। जब अपनी कमाई खिलाना, तब डाँट लेना। बाप यह नहीं जानते थे कि यह ठाट बाहर ही बाहर है।"[४]

'रगभूमि' उपन्यास में राजा महेन्द्र भी इन्दु के माता पिता की निन्दा करते हैं। इन्दु के मायके का पूरा परिवार, अपार सम्पत्ति होते हुए भी, जनवादी था। उस परिवार

१. कर्मभूमि, पृष्ठ ६७
२. मगलसूत्र, पृष्ठ १६–२०
३. 'दाननाथ माता के सामने ससुराल की कोई बुराई न करते थे। औरतों को अप्रसन्न करने का इससे कोई सरल उपाय नहीं है।'—प्रतिज्ञा, पृष्ठ २०२
४. प्रतिज्ञा, पृष्ठ १४८

के सदस्यों ने, विशेष रूप से इन्दु की माता की प्रेरणा से, एक सेवा समिति स्थापित की थी। उनका रहन सहन भी सादा था। इन्दु के सामने उन्हे नीचा दिखाने के लिए राजा महेन्द्र उन पर इन शब्दों में कटाक्ष करते हैं—"जनवाद और साम्यवाद को सम्पत्ति से वैर है। मैं उस समय तक साम्यवादियों का साथ न दूँगा, जब तक मन में यह निश्चय न कर लूँ कि अपनी सम्पत्ति त्याग दूँगा। मैं उन लोगों को धूर्त और पाखण्डी समझता हूँ, जो अपनी सम्पत्ति को भोगते हुए साम्य की दुहाई देते फिरते हैं। अपने कमरे से फर्श हटा देना और सादे वस्त्र पहन लेना ही साम्यवाद नहीं है। यह निर्लज्ज धूर्तता है, खुला हुआ पाखण्ड है। अपनी भोजनशाला के बचे-खुचे टुकडो को गरीबों के सामने फेंक देना साम्यवाद को मुँह चिढाना, उसे बदनाम करना है।"[१]

इस कटाक्ष को समझ कर इन्दु की त्योरियाँ चढ जाती हैं।

'प्रेमाश्रम' उपन्यास के ज्ञानशकर भी विद्या के मायके और उसके पिता की सदा बुराई किया करते हैं। इसके कारण विद्या उनसे विवाद करने को प्राय तैयार हो जाती या जवाब न दे पाती, तो मन ही मन कुढ कर रह जाती। और, ज्ञानशकर दाम्पत्य सुख से वंचित रह जाते। एक बार ऐसा हुआ कि ज्ञानशकर का चचेरा भाई जेल में था और ज्ञानशकर ने इसी बीच चाचा के सामने घर के बँटवारे का प्रश्न छेड दिया। उनको ऐसा मालूम होता था कि चाचा का परिवार उनके हिस्से का धन भी खाये जा रहा है। विद्या ने समझाया, "ये लोग कोई पराये तो नहीं हैं, फिर इस समय चाचाजी पर विपत्ति भी है, बँटवारे का प्रश्न छेडना उचित नहीं।" इतनी सी बात पर ज्ञानशकर उसके पिता तक की खबर लेते हैं, "तुम जब ऐसी बडी बडी बातें करने लगती हो, तो मालूम होता है, धन्नासेठ की बेटी हो। तुम्हारे बाप के पास तो लाखो की सम्पत्ति है, क्यों नही उसमें से थोडी सी हमें दे देते? वह तो कभी बात नही पूछते और तुम्हारे पैरों तले गगा बहती है।"

विद्या, "पुरुषार्थी लोग दूसरा की सम्पत्ति पर मुँह नहीं फैलाते। अपने बाहुबल का भरोसा रखते हैं।"

ज्ञानशकर, 'लजाती तो नही हो, ऊपर से बढ-बढ कर बातें करती हो। लाला साहब तो पैसो को यों दाँतों से पकडते हैं और तुम इतनी उदार बनती हो, मानों जायदाद का कुछ मूल्य ही नही।"[२]

बहुधा अधिक सम्पत्ति भी स्त्री पुरुष के सौहार्द और सहयोग को मिटा देती है। सम्पत्ति का अधिकारी बनने के बाद पुरुष प्राय शराबी और वेश्यागामी हो जाता है और बेचारी स्त्री घुल घुल कर मर जाती है। प्रेमचन्द की धारणा है कि प्राय सभी बडे घरों का यही रोना है। सब-के सब हथकण्डों से पैसे कमाते हैं और अस्वाभाविक जीवन

---

१ रगभूमि, भाग १, पृष्ठ २७२ २७३

२. प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३१

व्यतीत करते हैं। उनसे सुखी तो गरीब किसान और मजदूर हैं। उनमें ऐयाशी और बदमाशी का कहीं नाम नहीं, उनके पास धन कहाँ, जो उड़ाएँ?'[1]

'गोदान' उपन्यास में खन्ना दम्पति की यही दशा है। धन के मद में खन्ना अपनी सती साध्वी पत्नी की उपेक्षा करता है, उसे अपशब्द कहता है। वह शराबी और वेश्यागामी भी है। प्रेमचन्द के शब्दों में—'खन्ना और गोविन्दी में नहीं पटती खन्ना के पास विलास के ऊपरी साधनों की कमी नहीं, अव्वल दरजे का बंगला है, अव्वल दरजे का फर्नीचर, अव्वल दरजे की कार, और अपार धन, पर गोविन्दी की दृष्टि में जैसे इन चीजों का कोई मूल्य नहीं, इस खारे सागर में वह प्यासी पड़ी रहती है। इन आडम्बरों और पाखण्डों से मुक्त होने के लिए उसका मन सदैव ललचाया करता है। अपने सरल और स्वाभाविक जीवन में वह कितनी सुखी रह सकती थी, इसका वह नित्य स्वप्न देखती रहती है। तब क्यों मालती उसके मार्ग में आ कर बाधक हो जाती, क्यों वेश्याओं के मुजरे होते, क्यों यह सन्देह और बनावट और अशान्ति उसके जीवन पथ में काँटा बनती। और सम्पत्ति की यह दीवार दिन दिन ऊँची होती जाती थी और दम्पति को एक दूसरे से दूर और पृथक करती जाती थी।'[2]

'जीवन का शाप' कहानी की शीरीं, जिसके पति मिस्टर शापूर धनी और विलासी हैं तथा रात रात भर गायब रहते हैं, दुखी हो कर, अपने पति के मित्र कावसजी से बातचीत कर रही है—

'कावसजी, "मुझे यह सुन कर आश्चर्य हो रहा है। तुम-जैसी देवी जिस घर में हो, वह स्वर्ग है। शापूरजी को तो अपना भाग्य सराहना चाहिए।"

शीरीं, "आपका यह भाव तभी तक है जब तक आपके पास धन नहीं है। आज तुम्हें कहीं से दो-चार लाख मिल जाए, तो तुम यों न रहोगे। और तुम्हारे ये भाव बदल जाएँगे। यही धन का सबसे बड़ा अभिशाप है। ऊपरी सुख शान्ति के नीचे कितनी आग है, यह तो उसी वक्त खुलता है, जब ज्वालामुखी फट पड़ता है। वह समझते हैं, धन से घर भर कर उन्होंने मेरे लिए वह सब कुछ कर दिया जो उनका कर्त्तव्य था और अब मुझे असन्तुष्ट होने का कोई कारण नहीं। यह नहीं जानते कि ऐश के ये सामान उन मिस्री तहखानों में पड़े हुए पदार्थों की तरह हैं, जो मृतात्मा के भोग के लिए रखे जाते हैं।"'[3]

सम्पत्ति के कारण ही 'कायाकल्प' उपन्यास के चक्रधर और अहल्या का सुखपूर्ण दाम्पत्य जीवन भी दुखी होता है। चक्रधर शान्त और त्यागी पुरुष हैं, उन्हें जनता की निःस्वार्थ सेवा करने की धुन है, अतः सम्पत्ति से उन्हें घृणा है। प्रारम्भ में अहल्या भी पति के विचारों से सहमत थी और दोनों का जीवन सुखी था। किन्तु, अचानक अहल्या को

१ 'जीवन का शाप', मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ २३३, 'घासवाली', मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ ३०१

२ गोदान, पृष्ठ २४३-२४४

३. मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ २२२

ज्ञात होता है कि वह राजा विशाल सिंह की खोयी हुई पुत्री है। राजा विशाल सिंह के और कोई सन्तान न थी, अत अहल्या का पुत्र शखधर ही उनका वारिस होता है और अहल्या राजमाता। एकाएक इतनी सम्पत्ति पा कर अहल्या के स्वभाव में विचित्र परिवर्तन होता है। वह साज सिंगार और आचरण में राजकुमारियों के ढंग अपनाती है। वह पति के मनोभावों को समझने का प्रयत्न नहीं करती—'लेकिन अहल्या इस जीवन का चरम सुख भोग रही थी। रहन सहन बिलकुल बदल गया था। वह अच्छी खासी अमीर ज़ादी बन गई थी। सारे दिन आमोद प्रमोद के सिवा उसे दूसरा काम न था। पति के दिल पर क्या गुजर रही है, यह सोचने का कष्ट वह क्यों उठाती? जब वह खुश थी, तब उसके स्वामी भी अवश्य खुश रहे होंगे। राज्य पा कर कौन रोता है?''[1] चक्रधर अहल्या को साथ ले जाना चाहते हैं, तो वह बहाने करती है और अपनी सारी कोमलता एव नम्रता त्याग कर लड़ने को तैयार हो जाती है। चक्रधर को मालूम होता है कि इस राजसी ठाट में उनकी आत्मा दबती जा रही है। अत, वे अहल्या से छिप कर घर से निकल पड़ते हैं और साधु के रूप में जिसकी जो सेवा हो सकती है, करते हैं।

अपनी धन लिप्सा और राज सुख भोग की तृष्णा के कारण, पति को खो कर, घर में रहते हुए, अहल्या वियोगिनी और सन्यासिनी का जीवन अपनाती है।[2] पर, सम्पत्ति का मोह नहीं जाता। एक घटना तो अत्यन्त ही हृदय विदारक है। उसका पुत्र शखधर बड़ा हो कर पिता की खोज में निकल पड़ता है और पाँच वर्षों के बाद, पिता के मिलने पर, अहल्या को आने के लिए पत्र लिखता है। पन्द्रह वर्षों के बाद अहल्या को पति दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है। किन्तु, वह फिर धन और राज्य के मोह में पड़ जाती है—'लेकिन सारा दिन गुजर गया, अहल्या ने यात्रा की कोई तैयारी न की। वह अब यात्रा के लिए उत्सुक न मालूम होती थी। आनन्द का पहला आवेश समाप्त होते ही वह इस दुविधे में पड़ गई थी कि वहाँ जाऊ या न जाऊँ? वहाँ जाना केवल दस पाँच दिन या महीने के लिए जाना न था वरन् राजपाट से हाथ धो लेना और शखधर के भविष्य का बलिदान करना था। वह जानती थी कि पितृभक्त शखधर पिता को छोड़ कर किसी भाँति न आएगा और मैं भी प्रेम के बन्धन में फँस जाऊँगी। उसने यही निश्चय किया कि शखधर को किसी हीले से बुला लेना चाहिए। उसका मन कहता था कि शखधर आ गया, तो स्वामी के दर्शन भी उसे अवश्य होंगे। शखधर ने पत्र में लिखा था कि पिताजी का मुझसे अपार स्नेह है। क्या वह पुत्र प्रेम उन्हें खींच न लाएगा?''[3]

और, अहल्या पुत्र को अपनी सख्त बीमारी का हाल लिख भेजती है। यहाँ लेखक टिप्पणी करता है, 'अभागिनी अहल्या! तू फिर धन-लिप्सा के जाल में फँस गई! क्या इच्छाएँ भी राक्षसों की भाँति अपने ही रक्त से उत्पन्न होती हैं? वे कितनी अजेय हैं। जब ऐसा ज्ञात होने लगा कि वे निर्जीव हो गई हैं, तो सहसा वे फिर जी उठीं और सख्या

१ कायाकल्प, पृष्ठ २४३

२. कायाकल्प, पृष्ठ २५८

३. कायाकल्प, पृष्ठ ३२७-३२८

में पहले से शतगुण हो कर। पन्द्रह वर्ष की दारुण वेदना एक क्षण में विस्मृत हो गई। धन्य रे तेरी माया।"[1]

'सेवासदन' उपन्यास की सुमन के असन्तुष्ट दाम्पत्य जीवन का मुख्य कारण उसकी विलास प्रवृत्ति ही है। उसका पति, निर्धन गजाधर, उसकी 'अच्छा खाने' और 'अच्छा पहनने' की लालसा का तृप्त नही कर पाता। इसीलिए सुमन पति से प्रेम नहीं करती तथा नीच कुल की स्त्रियों और वश्याओ से अपनी तुलना करती है। फलत, दाम्पत्य कलह होता है और गजाधर उसे घर से निकाल देता है। वह वेश्या वृत्ति अपनाती है। उसके वश्या होने के कारण उसकी बहन की बारात दरवाजे से लौट जाती है और पिता आत्महत्या कर लेता है। तब वह माचती है, 'हाय। मुझ-जैसी डाइन ससार में न होगी, मैंने विलास तृष्णा की धुन में अपने कुल का सर्वनाश कर दिया। ...अगर विलास की इच्छा और निदय अपमान ने उसकी लज्जा शक्ति का शिथिल न कर दिया हाता, ता वह कदापि घर से पाँव न निकालती।'[2]

सम्पत्ति से विलासिता बढती है, स्व-सुख की कामना होती है। अत, इसमें कर्त्तव्य पालन की अपेक्षा अधिकार लिप्सा की प्रधानता होती है। पति और पत्नी अधिकार-भावना के कारण केवल लेना ही जानत हैं, देना नही। इस प्रकार आपस का तनाव बढता है और दाम्पत्य कलह होता है। 'कर्मभूमि' उपन्यास की विलासिनी सुखदा ऐसी ही है, उसकी चर्चा विभिन्न दृष्टियो से की जा चुकी है। इस दृष्टि से 'दो सखिया' कहानी की पद्मा भी महत्त्वपूर्ण है। प्रोफेसर विनोद ने अपना प्रेम और अपनी आय सब कुछ पत्नी को सौंप दिया है, किन्तु भोग विलास पर प्राण देने वाली पद्मा इसमें कष्ट का अनुभव करती है। वह अपनी सखी को लिखती है—'विनोद के इस सम्पूर्ण आत्मसमर्पण ने मेरी निज की जरूरतों के लिए कोई गुजाइश ही नही रखी। अपने शौक की चीजें खुद खरीद कर लाते बुरा मालूम होता है, कम से कम मुझसे नही हो सकता। ३००) महीने की आमदनी में थिएटर और सिनमा का जिक्र ही क्या? ५०) तो मकान ही के निकल जाते हैं। मैं इस जजाल से तग आ गई हूँ। जी चाहता है, विनोद से कह दूँ कि मेरे चलाये यह ठेला न चलेगा। आप दो-ढाई घण्टा यूनिवर्सिटी में काम करके दिन भर चैन करें, खूब टेनिस खेलें, खूब उपन्यास पढें, और मैं सुबह से आधी रात तक घर के झझटों में मरा करूँ।'[3]

एक दूसरे के स्वभाव की जानकारी के अभाव के कारण भी, बहुधा पति पत्नी का दाम्पत्य जीवन दु खपूर्ण हो जाता है। 'निर्मला' उपन्यास में पुत्री के विवाह-खर्च को ले कर उदयभानु और कल्याणी में मतभेद है। कल्याणी कहती है, "जब घर में एक टका है नही, कर्ज ही का भरोसा ठहरा, तो इतना कर्ज क्यों लें कि जिन्दगी में अदा ही न हो।" कल्याणी के सत्परामर्श से उदयभानु अपव्यय पर नियन्त्रण करने के बदले क्षुब्ध

१ कायाकल्प, पृष्ठ ३२८

२. सेवासदन पृष्ठ २५१ २५३

३ मानसरोवर भाग ४ पृष्ठ २२५-२२७

हो उठते हैं और जो नहीं कहना चाहिए, कह डालते हैं। इस पर कल्याणी घर छोड़ कर चली जाना चाहती है, जहाँ उसकी पूछ नहीं, उसका कोई अधिकार नहीं। वकील साहब अब भी कल्याणी को नहीं मनाते, बल्कि चलते चलाते एक और चुभती बात कह देते हैं, "मैके का घमण्ड होगा ?" इस पर प्रेमचन्द कहते हैं, 'वकील साहब मुकदमों में तो खूब मीनमेख निकालते थे, लेकिन स्त्रियों के स्वभाव का उन्हें कुछ यों ही सा ज्ञान था। यही एक ऐसी विद्या है, जिसमें आदमी बूढ़ा होने पर भी कोरा रह जाता है। अगर अब भी नरम पड जाते और कल्याणी का हाथ पकड कर बिठा लेते, तो शायद वह रुक जाती, लेकिन आपसे यह तो न हो सका, उल्टे चलते चलाते एक और चरका दिया।"[१]

स्त्रियाँ भी पुरुषों के स्वभाव से प्राय: परिचित नहीं होतीं और इस कारण दुखी रहती हैं। 'कर्मभूमि' उपन्यास में डॉ० शान्तिकुमार सुखदा से कहते हैं, "पुरुष में थोडी-सी पशुता होती है, जिसे वह इरादा करके भी हटा नहीं सकता। वही पशुता उसे पुरुष बनाती है। विकास के क्रम में वह स्त्री से पीछे है। जिस दिन वह पूर्ण विकास को पहुँचेगा, वह भी स्त्री हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया—इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है और यह स्त्रियों के गुण हैं। अगर स्त्री इतना समझ ले, तो फिर दोनों का जीवन सुखी हो जाए। स्त्री पशु के साथ पशु हो जाती है, तभी दोनों दुखी होते हैं।"[२]

यही कारण है कि प्रेमचन्द दाम्पत्य जीवन में 'प्रतिकार' को बहुत बुरा समझते हैं। यदि एक मूर्खता करता है, अपने कर्त्तव्य को नहीं समझता, तो उसके साथी को समझदारी और धैर्य से काम करना होगा। विद्रोह और प्रतिकार द्वारा वह अपने साथी को अच्छी राह पर नहीं ला सकता, इससे तो दुराग्रह ही बढता है। हो सकता है उसके धैर्य, कोमलता, त्याग और सहिष्णुता के बावजूद उसका साथी न सुधरे और उसे आजीवन कष्ट सहना पड़े। किन्तु, इसमें भी उसे सन्तोष ही होगा, क्योंकि उसने तो अपना कर्त्तव्य किया, उसकी ओर से तो कोई ज्यादती न हुई। जीवन की सन्ध्या में उसे अपने पिछले कृत्यों पर रोने या पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

पुरुष हो या स्त्री, उसके मन में प्रतिकार की भावना का उत्पन्न होना प्रेमचन्द अवाछनीय समझते हैं। ऐसे लोगों के प्रति उनके मन में दया है, सहानुभूति है, किन्तु श्रद्धा नहीं है। स्त्रियों द्वारा प्रतिकार को तो वे उनके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल मानते हैं। पति के प्रति मन में दुर्भावना रखने का तात्पर्य है कि पत्नी ने अपनी सहज कोमलता, स्नेह, सहिष्णुता और त्याग भावना को ही नहीं छोड दिया, बल्कि वह पति को अपने से अलग भी समझने लगी। पुरुष यदि अपनी स्त्री की इज्जत नहीं करता, उसका अपमान करता है, तो स्त्री के लिए उचित यह है कि उसे अपने जीवन का एक अग समझ कर क्षमा कर दे

---

१. निर्मला, पृष्ठ ११

'कायाकल्प' उपन्यास में मनोरमा कहती है, "सच कहा है, पुरुष कितना ही विद्वान और अनुभवी हो, पर स्त्री को समझने में असमर्थ ही रहता है।" —पृष्ठ २१९

२. कर्मभूमि, पृष्ठ २१९

और अपने दैवी गुणों के बल पर उसकी दानवी प्रवृत्तियों पर विजय पाने की चेष्टा करे, यह नहीं कि पशु के साथ पशु हो जाए।

शिवरानी देवी और प्रेमचन्द में, कुछ मूर्ख पुरुषों द्वारा, स्त्रियों पर सदियों से हुए *अत्याचार पर, वार्तालाप हो रहा है। प्रेमचन्द कहते हैं,* "नहीं, वे (ऐसे पुरुष) तुम्हारी दया के पात्र हैं। और, तुम लोग उन पर क्रोध मत करो। जिन्हें तुमने अपने हाथ से बनाया, वे तुम्हारे हाथ से कैसे खराब होंगे? . जो जितना ही बडा होता है, वह उतना ही गम्भीर होता है। उसी के ऊपर दुनिया टिकती है। इसी से मनु भगवान ने कहा है—गुरु बाप से एक हजार गुना भी अधिक पूज्य है। इसके योग्य क्या सहज ही हो जाओगी?...इसी से तुम लोगों को शक्ति का स्थान मिला है।"

मैं, (शिवरानी देवी) 'पुरुषों को भुलावा देना खूब आता है।"

आप, (प्रेमचन्द) "स्त्री पुरुष का अलगौझा कैसा? स्त्रियों के अलगाव में तो हम जीवित भी नहीं रह सकते।"

मैं, "पुरुष तो पहले ही स्त्रियों पर डण्डा लेकर उठते हैं।"

आप, "वह पशुबल है। जिसकी दुनिया मे कोई वक्त नहीं। देव दानव में झगड़ा होने पर दानव हमेशा जीतते हैं, क्योंकि वे जायज-नाजायज सब कुछ कर सकते हैं, जहाँ कोई नीति नहीं, कोई धर्म नहीं। उस समय देव हमेशा बैठा रहता है; क्योंकि ओछा वह, जो ओछे के मुँह लगे। इसी वास्ते वह देव हमेशा ही ऊँचा रहेगा। जो दानव है, उससे शिकायत क्या की जाए? इसी तरह स्त्री और पुरुष हैं। पुरुषों को स्त्रियाँ मिटाना नहीं चाहतीं, तो खुद नहीं मिटेंगी तो होगा क्या? मगर हाँ, वे हमेशा पूजनीय हैं। यह उन्हीं के योग्य भी है।"[1]

'शान्ति' कहानी मे सुन्नी और केदारनाथ दोनों अपने माँ-बाप की इकलौती सन्तान हैं। अत्यधिक प्यार ने सुन्नी को अभिमानिनी बना दिया है और केदारनाथ को दुश्चरित्र। केदारनाथ आधी आधी रात तक मारा फिरता है। न वह सुन्नी की परवाह करता है, न सुन्नी उसकी। सुन्नी उन स्त्रियों में नहीं है, जो पति के दुर्व्यवहारों को क्षमा कर देती हैं। वह तो उन स्त्रियों मे है, जो आत्मसमर्पण करती हैं, तो अपने प्रति दूसरे का समर्पण चाहती भी हैं। यही कारण है कि वह पति से कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहती, चाहे उसका सारा जीवन रोते रोते कट जाए। वह अभिमान की पुतली है। जिन पैरों ने उसे ठुकरा दिया, उन्हें सहलाते रहने को वह तैयार नहीं। इस विषय में किसी तरह का समझौता करना उसके लिए असम्भव है। पशु को मनुष्य बनाना उसकी शक्ति के बाहर है। सुन्नी के चाचा और सुन्नी में इस प्रकार बातचीत होती है—

"यह बात क्या है? तुमलोगों में यह क्या अनबन है? गोपा देवी (सुन्नी की माँ) प्राण दिये डालती हैं। तुम खुद मरने की तैयारी कर रही हो। कुछ तो विचार से काम लो।"

---

१. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ १२२ १२३

सुन्नी के माथे पर बल पड़ गए, "आपने नाहक यह विषय छेड़ दिया चाचाजी। मैंने तो यह सोच कर अपने मन को समझा लिया कि मैं अभागिन हूँ। बस, इसका निवारण मेरे बूते से बाहर है। मैं उस जीवन से मृत्यु को कहीं अच्छा समझती हूँ, जहां अपनी कदर न हो। मैं व्रत के बदले व्रत चाहती हूँ। जीवन का दूसरा रूप मेरी समझ में नहीं आता। इस विषय में किसी तरह का समझौता करना मेरे लिए असम्भव है। नतीजे की मैं परवाह नहीं करती।"

"लेकिन ।"

'नहीं चाचाजी, इस विषय में अब कुछ न कहिए, नहीं तो मैं चली जाऊँगी।"

"आखिर सोचो तो ।"

"मैं सब सोच चुकी और तय कर चुकी। पशु को मनुष्य बनाना मेरी शक्ति के बाहर है।"[१]

प्रेमचन्द ने सुन्नी के ससुर (मदारीलाल) के द्वारा, ऐसी पत्नियों का, जिन शब्दों में विश्लेषण कराया है, उससे यह स्पष्ट है कि दाम्पत्य जीवन के सुख के लिए वे सहिष्णुता, समझौता, सेवा, त्याग और प्रेम की आवश्यकता मानते हैं। उनके विचारानुसार अभिमान और उपेक्षा से सुख और सन्तोष कभी प्राप्त नहीं हो सकते। मदारीलाल सुन्नी के चाचा से कहते हैं, "सोचा, ऐसी रूपवती पत्नी पा कर इसका (पुत्र का) मन स्थिर हो जाएगा, पर वह (सुन्नी) भी लाडली लड़की थी—हठीली, अबोध, आदर्शवादिनी। सहिष्णुता तो उसने सीखी ही न थी। समझौते का जीवन में क्या मूल्य है, इसकी उसे खबर ही नहीं। लोहा लोहे से लड़ गया। वह अभिमान से इसे पराजित करना चाहती है, यह उपेक्षा से। यही रहस्य है। और साहब, मैं तो बहू को ही अधिक दोषी समझता हूँ। लड़के तो प्रायः मनचले होते हैं। लड़कियाँ स्वभाव से ही सुशीला होती हैं और अपनी जिम्मेदारी समझती हैं। उनकी सेवा, त्याग और प्रेम ही उनका अस्त्र है, जिनसे वे पुरुष पर विजय पाती हैं। उसमें ये गुण हैं ही नहीं। डोंगा कैसे पार होगा, ईश्वर ही जाने।"[२]

सुन्नी के इस अभिमान और विद्रोह की प्रवृत्ति का अन्त करुणाजनक होता है। केदारनाथ एक अभिनेत्री के साथ भाग जाता है और क्रोध में सुन्नी अपनी चूड़ियाँ तोड़ डालती है, माँग का सिन्दूर पोंछ डालती है और घर वालों के विरोध करने पर आत्महत्या कर लेती है। वह सारे अरमान लिये संसार से विदा हो जाती है।

'रहस्य' कहानी की मंजुला भी इसी अभिमान और प्रतिकार भावना से पीड़ित है। वह सोचती है, विवाह का आशय यह तो नहीं है कि स्त्री को पुरुष के दामन में छिपा रहना चाहिए। जब उसने अपनी जरूरतों को घटा कर शून्य तक पहुँचा दिया है, तो किसी पर क्यों भार बने? अगर पुरुष स्वतन्त्र है, तो स्त्री भी स्वतन्त्र है। लेखक ने मंजुला और मि० मेहरा के मतभेद का वर्णन इन शब्दों में किया है, 'मंजुला के जीवन में आत्मदान की मात्रा ही ज्यादा थी। देह को वह इस भावना की पूर्ति का साधन मान

१ मानसरोवर भाग १, पृष्ठ ९९

२ मानसरोवर, भाग १ पृष्ठ ९८

समझती थी। दुनिया की बड़ी-से-बड़ी विभूति भी उसे शान्ति न दे सकती थी। मि० मेहरा से उसे केवल इसलिए अरुचि थी कि वह भी साधारण प्राणियों की भाँति भोग विलास के प्रेमी थे। जीवन उनके लिए 'इच्छाओं में बहने' का नाम था। स्वार्थ की सिद्धि में नीति या धर्म की बाधा उनके लिए असह्य थी।''[१]

पति से अलग हो कर मंजुला लड़कियों के सेवाश्रम की संचालिका बन जाती है। इस प्रकार उसे सन्तोष होता है कि उसके जीवन का भी कुछ महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है और वह केवल अपने लिए नहीं जीती। किन्तु, उसे शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है कि यहाँ सामंजस्य और समझौते की और भी आवश्यकता है। यहाँ प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं कि मंजुला को संसार की यथार्थता का अनुभव न था—'लेकिन यथार्थताओं के इस संसार में आ कर उसे मालूम हुआ कि आत्मदान का जो आशय उसने समझ रखा था, वह सरासर गलत था। सेवाश्रम में ऐसे लोग अक्सर आते रहते थे, जिनसे थोड़ी-सी खुशामद करके बहुत कुछ सहायता ली जा सकती थी, लेकिन मंजुला का आत्माभिमान खुशामद पर किसी तरह राजी न होता था। . लेकिन सेवाश्रम के संचालन का भार उस पर था और उसे अपने मन को दबा कर और कर्त्तव्य का आदर्श सामने रख कर, यह सारी नाजबरदारियाँ करनी पड़ती थी, यद्यपि वह इन विद्रोही भावों को मकदूर भर छिपाती थी। पर जिस काम में मन न हो, वहाँ उल्लास और उत्साह कहाँ से आए? जिन समझौतों से घबड़ा कर वह भागी थी, वे यहाँ और भी विकृत रूप में उसका पीछा कर रहे थे। उसके मन में कटुता *आती जाती थी और एकाग्र सेवा की धुन मिटती जाती थी।*'[२]

'आभूषण' कहानी की मंगला भी मैत्रा, सौहार्द और समझौते के स्थान पर आलोचना, प्रत्याघात और उच्छृंखलता का सहारा लेती है, जिससे उसके दाम्पत्य प्रेम की समस्या जटिलतर हो जाती है। यों वह गृह-कार्य में निपुण है, पति के इशारे पर चलती है, अत्यन्त विचारशील, मधुरभाषिणी एवं धर्मभीरु है, जो पति-हृदय पर शासन करने के लिए पर्याप्त हैं, किन्तु सौन्दर्य विहीन होने के कारण वह पति प्रेम से वंचित रहती है। पति प्रेम न पा कर उसमें विद्रोह भाव अंकुरित होता है। वह निश्चय करती है, ऐसे क्रूर, हृदय-हीन मनुष्य से वह भी उसी का सा व्यवहार करेगी। जो पुरुष केवल रूप का भक्त है, वह प्रेम के योग्य नहीं। इस विद्रोह से दाम्पत्य कलह और बढ़ जाता है—'मंगला सुन्दरी न सही, पर पति पर जान देती थी। जो अपने को चाहे, उससे हम विमुख नहीं हो सकते। प्रेम की शक्ति अपार है । वह (मंगला के पति) अपने मन को बहुत समझाते, संकल्प करते कि अब मंगला को प्रसन्न रखूँगा। यदि वह सुन्दरी नहीं है, तो उसका क्या दोष? पर, उनका यह सब प्रयास मंगला के सम्मुख जाते ही विफल हो जाता था। वह बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मंगला के मन के बदलते हुए भावों को देखते थे, पर एक पक्षाघात पीड़ित मनुष्य की भाँति घी के घड़े को लुढ़कते देख कर भी, रोकने का कोई उपाय न कर सकते थे। परिणाम क्या होगा, यह सोचने का उन्हें साहस ही न होता था। पर, जब मंगला ने

१. 'कफन' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ ५१
२. 'कफन' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ ५२

अम्न को बात-बात में उनकी तीव्र आलोचना करनी शुरू कर दी, वह उनसे उच्छृंखलता का व्यवहार करने लगी, तो उसके प्रति उनका वह उतना सौहार्द भी विलुप्त हो गया। घर में आना जाना ही छोड़ दिया।''[1]

'सेवासदन' उपन्यास में सुमन अपनी भोग लालसा के कारण पति से विद्रोह करती है, उसे जली कटी सुनाती है और पति द्वारा घर से निकाली जाने पर, वेश्या-वृत्ति करने को विवश होती है। किन्तु, इससे उस सुख की प्राप्ति नहीं होती। जब वह वेश्या जीवन की वास्तविकताओं से परिचित होती है और समाज से ठुकराई जाती है, तब उसे ज्ञात होता है कि विद्रोह, असन्तोष अथवा प्रत्याघात का परिणाम अच्छा नहीं होता, ये स्त्री के कर्त्तव्य नहीं हैं। वह सोचती है, 'मुझे कष्ट अवश्य था। मैं गहने कपड़े को तरसती थी, अच्छे भोजन को तरसती थी, प्रेम को तरसती थी, उस समय मुझे अपना जीवन दुःखमय दिखाई देता था, पर वह अवस्था भी तो मेरे पूर्व जन्म के कर्मों का ही फल थी और क्या ऐसी स्त्रियाँ नहीं, जो उससे कहीं अधिक कष्ट झेल कर भी अपनी आत्मा की रक्षा करती हैं? दमयन्ती पर कैसे कैसे दुःख पड़े, सीता को रामचन्द्र ने घर से निकाल दिया और वह बरसों जंगलों में नाना प्रकार के क्लेश उठाती रहीं, सावित्री ने कैसे कैसे दुःख सहे, पर वह धर्म पर दृढ़ रहीं।'[2]

'प्रतिज्ञा' उपन्यास की सुमित्रा और कमला प्रसाद में पर्याप्त स्वभाव भेद है। सुमित्रा उदार, नम्र और दयालु है, इसके विपरीत कमला प्रसाद अत्यन्त कृपण, स्वार्थी, घमण्डी और उच्छृंखल है। यह स्वभाव भेद तो है ही, दोनों में सेवा, त्याग और समझौते का भी अभाव है। सुमित्रा कमला प्रसाद को अपनी सेवा, त्याग और सहिष्णुता से प्रसन्न नहीं रखती, बल्कि प्रतिकूल आचरण करके उसे चिढ़ाती है। वह पूर्णा से कहती है, "मैं धन को तुच्छ नहीं समझती। सञ्चय करना अच्छी बात है पर यह क्या कि आदमी धन का दास हो जाए। केवल इन्हें (पति को) चिढ़ाने के लिए कुछ-न कुछ फिजूलखर्ची किया करती हूँ।"[3] कमला प्रसाद भी अपनी स्वार्थान्धता, उद्दण्डता और निष्ठुरता में परिवर्त्तन करने के लिए तैयार नहीं है। अतः, वे दोनों एक दूसरे से दूर हो जाते हैं। यहाँ प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं 'आज से तीन साल पहले सुमित्रा ने कमला को पा कर अपने को धन्य माना था। दो तीन महीने उसके दिन सुख से कटे लेकिन ज्यों ज्यों दोनों की प्रकृति का विरोध प्रकट होने लगा, दोनों एक दूसरे से खिंचने लगे। सुमित्रा उदार थी, कमला परले सिरे का कृपण। •• सुमित्रा में नम्रता, विनय और दया थी, कमला में घमण्ड, उच्छृंखलता और स्वार्थ। एक वृक्ष का जीव था, दूसरा पृथ्वी पर रेंगने वाला। उनमें मेल कैसे होता? धर्म का ज्ञान जो दाम्पत्य जीवन का सुख मूल है, दोनों में किसी को न था।'[4]

---

१ मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १४५ १४६
२ सेवासदन, पृष्ठ ३३८
३ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ४८ ४९
४ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ७२-७३

ऐसी दशा में कमला प्रसाद जब विधवा पूर्णा के रूप और यौवन पर मुग्ध होता है, तो सुमित्रा और कमला प्रसाद के दाम्पत्य जीवन की समस्या जटिलतर हो जाती है। सुमित्रा अपनी विद्रोही प्रकृति के कारण अपने पति से महीनों नही बोलती। सेवा और प्रेम तो दूर, वह कमला प्रसाद से छेड़ छेड़ कर लड़ती है और यदि कमला एक कहता है, तो बदले में वह चार सुनाती है। वह कमला प्रसाद की गुजारे का दावा करने की धमकी भी देती है। कमला प्रसाद सुमित्रा को अपनी अचकन निकालने को कहता है। सुमित्रा नही निकालती। कमला प्रसाद कहता है, *"अनर्थ हो जाएगा सुमित्रा। अनर्थ हो जाएगा; कहे देता हूँ।"*

सुमित्रा, "जो कुछ जी में आए, कर लेना। यहाँ बाल बराबर परवाह नहीं है।"

कमला, "तुम अपने घर चली जाओ।"

सुमित्रा, "मेरा घर यही है। यहाँ से और कही नही जा सकती।"

कमला, "लखपती बाप का घर तो है।"

सुमित्रा, "बाप का घर जब था, तब था, अब यही घर है। मै अदालत से लड कर ५००) महीना ले लूँगी लाला, इस फेर में न रहना। *पैर की जूती नही हूँ कि नई थी तो* पहना, पुरानी हो गई तो निकाल फेंका।"[1]

पूर्णा सुमित्रा के इस कार्य का 'हठधर्मी' कहती है। उसके विचार में सारा दोष सुमित्रा का ही था। वह सोचती है, 'जरा उठ कर अचकन निकाल देती, तो इस ठायँ-ठायँ की नौबत ही क्यो आती। औरत को मर्द के मुँह लगना शोभा नही देता। न जाने इनके मुँह से ऐसे कठोर शब्द कैसे निकले? पत्थर का कलेजा है। बेचारे कमला बाबू तो जैसे ठक रह गए। ऐसी औरत की अगर मर्द बात न पूछे, तो गिला कैसा?'[2]

एक ओर तो कमला प्रसाद के मन में पर स्त्री के प्रति आकर्षण है और दूसरी ओर पत्नी का ऐसा आचरण। परिणाम यह होता है कि वह सुमित्रा से और दूर हो जाता है। कौन जानता है, इसका क्या दुष्परिणाम होता? किन्तु, घटनाएँ सुमित्रा के अनुकूल होती हैं। कमला प्रसाद धोखे से पूर्णा को अपने दूर के एकान्त बगीचे में ले जाता है और उसके साथ बलात्कार करना चाहता है। पूर्णा उसे कुर्सी से घायल कर देती है। कमला प्रसाद की इतनी बदनामी होती है कि उसका घर से बाहर निकलना कठिन हो जाता है। इस प्रकार सुमित्रा का भाग्य फिरता तो है, किन्तु इसका थोडा भी श्रेय सुमित्रा को नहीं दिया *जा सकता।*

'कर्मभूमि' उपन्यास की सुखदा की चर्चा पहले आ चुकी है। उसमें भी सेवा, त्याग और सहिष्णुता की कमी है। उसके मन में अमर की सेवा और त्याग-वृत्ति के लिए श्रद्धा या सहानुभूति नहीं है, दया भाव है। वह न कभी पति को कुशल पूछती है, न कुछ बना कर खिलाती है और न कभी उसके सर में तेल डालती है। स्नेह और सेवा तो जैसे वह जानती ही नही, इन्हें वह गुलामी समझती है। उसके मन में केवल प्रतिक्रियात्मक भाव हैं,

---

१. प्रतिज्ञा पृष्ठ १४८-१४६

२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ १५१

'जब वह मेरी बात नहीं पूछते, तो मुझे क्या गरज पड़ी है ? वह बोलते हैं, तो मैं भी बोलती हूँ। मुझसे किसी की गुलामी नहीं होगी।''

परिणाम यह होता है कि सुखदा की कटुता, उसके अभिमान, शासन, दुराग्रह और असहयोग से पीडित तथा क्षुब्ध हो कर अमर कोमल, नम्र, सहानुभूतिपूर्ण मुस्लिम युवती सकीना की ओर आकृष्ट होता है और बदनामी होने के डर से भाग खड़ा होता है। यदि अमर के इस कार्य को सुखदा ने क्षम्य माना होता और सकीना के मुस्काने पर, पति का पता मालूम होते ही, उसे मना लायी होती और सेवा तथा प्रेम से उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती, तो उसके दाम्पत्य जीवन का एक नया एवं सुखद अध्याय प्रारम्भ होता। पर, इसके विपरीत वह प्रतिकार और विद्रोह का झण्डा लेकर खड़ी होती है—'उसका विद्रोही मन मारे समार से प्रतिकार करने के लिए जैसे नगी तलवार लिये खड़ा रहता है। कभी कभी उसका मन इतना उद्विग्न हो जाता है कि समाज और धर्म के सारे बन्धनों को तोड कर फेंक दे। ऐसे आदमियों की सजा यही है कि उनकी स्त्रियाँ भी उन्ही के मार्ग पर चलें। तब उनकी आँखें खुलेंगी और उन्हें ज्ञात होगा कि जलना किसे कहते हैं। एक मैं कुल मर्यादा के नाम को रोया करूँ लेकिन यह अत्याचार बहुत दिनों तक न चलेगा। अब कोई इस भ्रम में न रहे कि पति चाहे जो करे, उसकी स्त्री उसके पाँव धो धो कर पियेगी, उसे अपना देवता समझेगी, उसके पाँव दबाएगी और वह उससे हँस कर बोलेगा, तो अपने भाग्य को धन्य मानेगी। वे दिन लद गए। इस विषय पर उसने पत्रों में कई लेख भी लिखे थे।'[२]

सुखदा के इस प्रकार के विचारों का उपन्यास में एकाधिक बार उल्लेख है। सकीना और सुखदा में बातचीत होती है—

सकीना, "अब तो उनका पता मालूम हो गया है, आप एक बार उनके पास चली जाएँ। वह खिदमत के गुलाम हैं और खिदमत से ही आप उन्हें अपना सकती हैं।"

सुखदा ने पूछा, "बस, या और कुछ ?"

'बस, और मैं आपको क्या समझाऊँगी, आप मुझसे कहीं ज्यादा समझदार हैं।"

"उन्होंने मेरे साथ विश्वासघात किया है। मैं ऐसे कमीने आदमी की खुशामद नहीं कर सकती। अगर आज मैं किसी मर्द के साथ भाग जाऊं, तो तुम समझती हो, वह मुझे मनाने जाएँगे ? वह शायद मेरी गर्दन काटने जाएँ। मैं औरत हूँ और औरत का दिल इतना कड़ा नहीं होता, लेकिन उनकी खुशामद तो मैं मरते दम तक नहीं कर सकती।"[३]

ऐसे विचारों के रहते सुखदा को पुन दाम्पत्य सुख प्राप्त होता, यह कहना कठिन है। हाँ, यह दूसरी बात है कि जीवन की परिस्थितियाँ ऐसा मोड लेती हैं कि उसमें आप से-आप सेवा और त्याग की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और वह अनजाने ही अपने पति के लक्ष्यमार्ग पर चल पड़ती है। वह अछूतों के मन्दिर प्रवेश वाले आन्दोलन में गोलिया का सामना करती है। यह घटना उसके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाती है और धीरे धीरे

१. कर्मभूमि, पृष्ठ २३
२. कर्मभूमि, पृष्ठ १९७ १९८
३. कर्मभूमि, पृष्ठ १९६

वह नगर के सार्वजनिक जीवन की नेत्री हो जाती है और जेल भी जाती है। अमर की ऊँची-से-ऊँची कल्पना की उडान भी इससे दूर नहीं जा सकती थी। सुखदा के मन में भी, जेल जाते समय, पहली बार, पति के प्रति क्षमा-भाव उदय हुआ, उसके और उसके पति के विचारों और भावनाओं में सामजस्य हुआ—'आज उसे अपनी पराजय का ज्ञान हुआ, अन्याय के सामने नहीं, असत्य के सामने नहीं, बल्कि त्याग के सामने और सेवा के सामने। इसी सेवा और त्याग के पीछे तो उसका पति से मतभेद हुआ था, जो अन्त में इस वियोग का कारण हुआ। उन सिद्धान्तों से अभक्ति रखते हुए भी, वह उनकी ओर, खिचती चली आती थी और आज वह अपने पति की अनुगामिनी थी।···और पहली बार पति के प्रति क्षमा का भाव उसके मन में प्रस्फुटित हुआ। इस क्षमा में दया नहीं, सहानुभूति थी, सहयोगिता थी। अब दोनों एक ही मार्ग के पथिक हैं, एक ही आदर्श के उपासक हैं। उनमें कोई भेद नहीं है, कोई वैषम्य नहीं है। आज पहली बार उसका अपने पति से आत्मिक सामजस्य हुआ। जिस देवता को अमगलकारी समझ रखा था, उसी की आज धूप-दीप से पूजा कर रही थी।"[१]

'गोदान' उपन्यास में झुनिया भी गोबर को क्षमा करना नहीं जानती और मन में प्रतिक्रियात्मक भावों को प्रश्रय देती है। वह सास से झगड कर, पति के साथ, शहर तो चली जाती है, किन्तु वहाँ की कोठरी उसे पिंजरे-सी लगती है और वह अकेली बैठी रोया करती है। उसे गोबर पर क्रोध आता है। उसने शहर के जीवन का कितना मोहक चित्र खींचा था, और यहाँ इस काल-कोठरी के सिवा और कुछ नहीं। ऐसी स्थिति के कारण उसे अपने बालक से भी चिढ होती है। कहीं खेलने की जगह नहीं होने के कारण, वह उसे ही तग करता था। वह गर्भवती है, अतः सर-दर्द और आलस्य के कारण चाहती है कि कोई उससे न बोले, चुपचाप कोने में पडी रहे। किन्तु, गोबर की विषय-भोग की अतृप्त लालसा उसे चैन नहीं लेने देती। बरसात में ठन्ड लगने से बालक की मृत्यु हो जाती है। फिर भी, गोबर झुनिया से अपनी वासना की तृप्ति चाहता है। झुनिया के दिल में यह बात घर कर जाती है कि गोबर पक्का मतलबी और बेदर्द आदमी है। कुछ महीनों में झुनिया के पुत्र होता है, किन्तु तब भी वह गोबर को क्षमा नहीं करती, न तो उसकी कुछ परवाह करती है, न उसकी सेवा ही करती है। गोबर के हृदय में बच्चे के प्रति प्यार उमड़ता है, किन्तु झुनिया से उसका मन खिंचा ही रहता है। दोनों एक दूसरे की बातों का वही अर्थ निकालते हैं, जिससे आपस का मनोमालिन्य बढ़े। कोई भी सहानुभूति-पूर्वक दूसरे को समझने और क्षमा करने के लिए तैयार नहीं है—'झुनिया और गोबर में अब भी न पटती थी। झुनिया के मन में बैठ गया था कि यह पक्का मतलबी, बेदर्द आदमी है, मुझे केवल भोग की वस्तु समझता है, मैं मरूँ या जिऊँ। उसकी इच्छा पूरी किये जाऊँ, उसे बिलकुल गम नहीं। ·· एक पुराना लिहाफ था, दोनों उसी में सोते थे; लेकिन फिर भी उनमें सौ कोस का अन्तर था।··· और दोनों के बीच में यह मालिन्य समय के साथ लोहे के मोर्चे की भाँति गहरा, दृढ़ और कठोर होता जाता था।

१. कर्मभूमि, पृष्ठ २७२

दोनों एक दूसरे की बातों का उलटा ही अर्थ निकालते, वही जिससे आपस का द्वेष और भड़के।''[1]

मिल मजदूरों की हड़ताल में गोबर पर मार पड़ती है और वह मरणासन्न हो जाता है। इस अवस्था में झुनिया उसकी सेवा करती है। इस बीमारी में दम्पति सेवा, स्नेह और क्षमा का महत्त्व समझते हैं।

'गोदान' उपन्यास में ही राय साहब की पुत्री मीनाक्षी के जीवन से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। वह अपने पति कुँवर दिग्विजय सिंह के पति-कर्त्तव्य भूलने पर, विद्रोह करके, सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है। पति और पत्नी के जीवन में फिर समझौते के लिए अवकाश नहीं रह जाता। मीनाक्षी को सलाह देने वाली स्त्रियाँ आधुनिक शिक्षासम्पन्न हैं। वे सेवा और कर्त्तव्य पर नहीं, बल्कि अधिकार और स्वतन्त्रता पर जोर देती हैं। ये ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिनकी अपने पुरुषों से नहीं पटती, जो शिक्षित होने के अभिमान में, प्राचीन मर्यादा को कुचलने में ही, अपनी भलाई समझती हैं, जो वैवाहिक जीवन को आत्मप्रतिष्ठा के लिए घातक मानती हैं और आजादी एवं सुख के लिए नौकरी करती हैं। नए युग की ऐसी स्त्रियों को प्रेमचन्द निन्दनीय समझते हैं, जिनमें बुद्धि ही बुद्धि है, हृदय नहीं। मीनाक्षी इन्हीं देवियों के जाल में पड़ कर, प्रत्याघात की शरण लेती है और इसमें सन्देह नहीं कि उसका जीवन पहले से कहीं अधिक दुखी और अन्धकारपूर्ण हो जाता है। उसकी पति से सम्बन्ध विच्छेद की कहानी, लेखक के ही शब्दों में, इस प्रकार है—'साधारण हिन्दू-बालिकाओं की तरह मीनाक्षी भी बेजबान थी। बाप ने जिसके साथ ब्याह कर दिया, उसके साथ चली गई, लेकिन स्त्री पुरुष में प्रेम न था। दिग्विजय सिंह ऐयाश भी थे, शराबी भी। गाँव की नीच जाति की बहू बेटियों पर डोरे डाला करता था। सोहबत भी नीचों की थी, जिनकी खुशामदों ने उसे और भी खुशामदपसन्द बना दिया था। मीनाक्षी ऐसे व्यक्ति का सम्मान दिल से न कर सकती थी। फिर पत्रों में स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा पढ़-पढ़ कर, उसकी आँखें खुलने लगी थीं। वह जनाना क्लब में आने-जाने लगी। वहाँ कितनी ही शिक्षित, ऊँचे कुल की महिलाएँ आती थीं। उनमें वोट और अधिकार और स्वाधीनता और नारी-जागृति की खूब चर्चा होती थी, जैसे पुरुषों के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र रचा जा रहा हो। अधिकतर वही देवियाँ थीं, जिनकी अपने पुरुषों से न पटती थी, जो नई शिक्षा पाने के कारण पुरानी मर्यादाओं को तोड़ डालना चाहती थीं। कई युवतियाँ भी थीं, जो डिग्रियाँ ले चुकी थीं और विवाहित जीवन को आत्मसम्मान के लिए घातक समझ कर, नौकरियों की तलाश में थीं। उन्हीं में एक मिस सुलताना थीं, जो विलायत से बार एट लॉ हो कर आई थीं और यहाँ परदानशीन *महिलाओं को कानूनी सलाह देने का व्यवसाय करती थीं। उन्हीं की सलाह से, मीनाक्षी* ने, पति पर, गुजारे का दावा किया। वह अब उसके घर में न रहना चाहती थी। गुजारे की मीनाक्षी को जरूरत न थी। मैके में वह बड़े आराम से रह सकती थी, मगर वह दिग्विजय सिंह के मुख में, कालिख लगा कर, वहाँ से जाना चाहती थी। दिग्विजय सिंह

१. गोदान, पृष्ठ ३६४

ने उस पर उलटा बदचलनी का आक्षेप लगाया। राय साहब ने इस कलह को शान्त करने की भरसक बहुत चेष्टा की, पर मीनाक्षी अब पति की सूरत भी न देखना चाहती थी। यद्यपि दिग्विजय सिंह का दावा खारिज हो गया और मीनाक्षी ने उस पर गुजारे की डिग्री पाई, मगर यह अपमान उसके जिगर में चुभता रहा। वह अलग एक कोठरी में रहती थी और समष्टिवादी आन्दोलन में प्रमुख भाग लेती थी; पर वह जलन शान्त न होती थी।

एक दिन वह क्रोध में आ कर हन्टर लिये दिग्विजय सिंह के बँगले पर पहुँची। शोहदे जमा थे और वेश्या का नाच हो रहा था। उसने रणचण्डी की भाँति, पिशाचों की इस चण्डाल-चौकड़ी में, पहुँच कर, तहलका मचा दिया। हन्टर खा-खा कर लोग इधर-उधर भागने लगे। उसके तेज के सामने वे नीच शोहदे क्या टिकते! जब दिग्विजय सिंह अकेले रह गए, तो उसने उन पर सड़ासड़ हन्टर जमाने शुरू किये और इतना मारा कि कुँवर साहब बेदम हो गए। ... तब से स्त्री-पुरुष दोनों एक दूसरे के खून के प्यासे थे। दिग्विजय सिंह रिवाल्वर लिये उसकी ताक में फिरा करते और वह भी अपनी रक्षा के लिए दो पहलवान ठाकुरों को अपने साथ लिये रहती थी।"[१]

इस प्रकार प्रेम, सहानुभूति, सेवा, त्याग, सहिष्णुता, उदारता, समझौता और पुरुष तथा नारी-मनोविज्ञान की जानकारी के अभाव को, और अभिमान, निष्ठुरता, उपेक्षा, अपमान, शासन, कपट, मनोमालिन्य, असन्तोष, विलासिता आदि को प्रेमचन्द दुखी दाम्पत्य जीवन का मूल कारण मानते हैं। साथ ही, यह भी द्रष्टव्य है कि जब दाम्पत्य जीवन में एक मूर्खता या अविवेक से पूर्ण व्यवहार करे, तो दूसरे का कर्त्तव्य है कि वह धैर्य और विवेक से काम ले। विद्रोह और प्रतिकार की भावनाएँ तो यहाँ विष का काम करती हैं। जिसके प्रति शत्रु-भावना होती है, उसका सुधार नहीं होता, बल्कि पारस्परिक सम्बन्ध और भी बुरा हो जाता है। साधारण जीवन में भी प्रतिक्रिया का कभी अच्छा परिणाम नहीं होता; वैवाहिक जीवन में तो यह नितान्त असम्भव है। पति से स्वतन्त्र हो जाने या अलग हो जाने से दुःख का अन्त नहीं हो सकता। समझदारी से काम लेने में ही दोनों का कल्याण है। अहंकार को मिटा कर और सेवा, त्याग तथा सहिष्णुता का जीवन अपना कर, दूसरे से समझौता करना ही होगा। इसमें हमारे प्राचीन आदर्श ही हमारी सहायता करेंगे; स्वतन्त्रता, समानता, आत्म प्रतिष्ठा आदि के नवीन आदर्श नहीं।

●

१. गोदान, पृष्ठ ४२१-४२३

: ५ :

वैवाहिक जीवन : सुखी दाम्पत्य जीवन

पिछले अध्याय में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्रेम, सहानुभूति, सेवा, त्याग, सहिष्णुता और पुरुष तथा नारी-मनोविज्ञान की जानकारी के अभाव को और निष्ठुरता, उपेक्षा, कटुता, अपमान, कपट, शासन, सम्पत्ति, आत्म-विकास के साधनों के अभाव आदि कारणों को, प्रेमचन्द दाम्पत्य सुख के लिए बाधक मानते हैं। अतः, सुख और शान्ति के इच्छुक दम्पति के लिए यह आवश्यक है कि वह इन बुराइयों से बचा रहे। सुखी, सन्तुष्ट, कलह रहित दाम्पत्य जीवन के लिए प्रेमचन्द ने यह आवश्यक बताया है कि पति-पत्नी में परस्पर प्रेम, आत्मसमर्पण, सहानुभूति, त्याग, सेवा और सहिष्णुता हो, पारस्परिक आत्म-विकास के लिए सचेष्टता हो, विनोद-भाव तथा नाटकीयता हो और यदि उनमें एक की ओर से इनकी उपेक्षा भी हो, तो दूसरा अपने में वैमनस्य एवं प्रतिकार की भावना न लाए और अपना कर्त्तव्य करता रहे।

दाम्पत्य जीवन में सहानुभूति, संयम, त्याग, सन्तोष और समझौते का कितना महत्त्व है, यह 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में कमला प्रसाद तथा वसन्तकुमार के वार्त्तालाप से ज्ञात होता है। कमला प्रसाद की उपेक्षा, निष्ठुरता, कृपणता और दुर्व्यवहार के कारण ही सुमित्रा की उससे नहीं पटती। अतः, वह एक दिन अपने मित्र वसन्तकुमार से कहता है, "यार वसन्तकुमार, धर्मपत्नियों को प्रसन्न रखने का कोई आसान नुस्खा बताओ। मैं तो तंग आ गया।"

वसन्तकुमार ने मुस्करा कर कहा, "हमारे यहाँ तो यह बीमारी कभी नहीं होती।"

कमला, "तो यार, तुम बड़े भाग्यवान् हो। क्या पूर्णा तुम से कभी नहीं रूठती?"

वसन्त, "कभी नहीं।"

कमला, "कभी किसी चीज के लिए हठ नहीं करती?"

वसन्त, "कभी नहीं।"

कमला, "तो यार, तुम बड़े भाग्यवान् हो! यहाँ तो उम्र कैद हो गई है। यदि घड़ी-भर भी घर से बाहर रहूँ, तो जवाब तलब होने लगे। सिनेमा रोज जाता हूँ और रोज घण्टों मनावन करनी पड़ती है।"

वसंत, "तो सिनेमा देखने न जाया कीजिए।"

कमला, "वाह! वाह! वाह! यह तो तुमने खूब कही! कसम अल्लाह पाक की, खूब कही! जिस कल वह बिठाये, उस कल बैठ जाऊँ? फिर झगड़ा ही न हो, क्यों! अच्छी बात है। कल दिन भर घर से निकलूँगा ही नहीं, देखूँ तब क्या कहती है!"[1]

---

१. प्रतिज्ञा, पृष्ठ २६-२७

'धिक्कार' कहानी में इन्द्रनाथ और उनके मित्रों में जो बातचीत होती है, उससे भी वैवाहिक जीवन में संयम, त्याग और सन्तोष का महत्त्व सिद्ध होता है।

एक मित्र बोले, "क्यों इन्द्र, तुमने तो वैवाहिक जीवन का कुछ अनुभव किया है, हमें क्या सलाह देते हो? बनावें कहीं घोंसला या यों ही डालियों पर बैठे-बैठे दिन काटें? पत्र-पत्रिकाओं को देख कर तो यही मालूम होता है कि वैवाहिक जीवन और नरक में कुछ थोड़ा ही सा अन्तर है।"

इन्द्रनाथ ने मुसकिरा कर कहा, "यह तो तकदीर का खेल है भाई, सोलहो आना तकदीर का। अगर एक दशा में वैवाहिक जीवन नरक तुल्य है, तो दूसरी दशा में स्वर्ग से कम नहीं।"

दूसरे मित्र बोले, "इतनी आजादी तो भला क्या रहेगी?"

इन्द्रनाथ, "इतनी क्या, इसका शतांश भी न रहेगी। अगर तुम रोज सिनेमा देख कर बारह बजे घर लौटना चाहते हो, नौ बजे सो कर उठना चाहते हो और दफ्तर से चार बजे लौट कर ताश खेलना चाहते हो, तो तुम्हें विवाह करने से कोई सुख न होगा। और जो हर महीने सूट बनवाते हो, तब शायद साल भर में न बनवा सको।"[1]

यों तो दाम्पत्य सुख के लिए स्त्री पुरुष के स्वभाव में समानता आवश्यक है ही, किन्तु इससे अधिक आवश्यक वस्तु है पारस्परिक सद्भाव। पति-पत्नी यदि एक दूसरे के प्रति सद्भावपूर्ण बने रहें, तो दाम्पत्य कलह हो ही नहीं। 'सुहाग की साड़ी' नामक कहानी का आरम्भ प्रेमचन्द इस प्रकार करते हैं—'यह कहना भूल है कि दाम्पत्य सुख के लिए स्त्री पुरुष के स्वभाव में मेल होना आवश्यक है। श्रीमती गौरा और श्रीमान् कुँवर रतन सिंह में कोई बात न मिलती थी। गौरा उदार थी, रतन सिंह कौड़ी-कौड़ी को दाँतों से पकड़ते थे। वह हँसमुख थी, रतन सिंह चिन्ताशील थे। वह कुल मर्यादा पर जान देती थी, रतन सिंह इसे आडम्बर समझते थे। उनके सामाजिक व्यवहार और विचार में भी घोर अन्तर था।... राजनैतिक विषयों में यह विभिन्नता और भी जटिल थी। इतनी विषमताओं पर भी उनका दाम्पत्य जीवन सुखमय था। कभी-कभी उनमें मतभेद अवश्य हो जाता था, पर व समीर के वे झोंके थे, जो स्थिर जल को हलकी हलकी लहरों से आभूषित कर देते हैं, वे प्रचण्ड झोंके नहीं, जिनसे सागर विप्लव-क्षेत्र बन जाता है। थोड़ी सी सदिच्छा सारी विषमताओं और मतभेदों का प्रतिकार कर देती है।'[2]

कहानी यों है—स्वदेशी आन्दोलन में विदेशी कपड़ों के जलाने का प्रश्न है। गौरा ने जबरदस्ती एक तजेब की साड़ी, जो उसके सुहाग की साड़ी है, घर में रख ली है। कुँवर साहब को प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करने हैं, स्वदेशी व्रत का पालन करना है। यह स्त्री हठ उन्हें असमंजस में डाल देता है। प्रतिज्ञा-पत्र पर झूठे हस्ताक्षर करने में उनकी आत्मा उन्हें धिक्कारती है और इधर गौरा के मनोभावों का आदर करना भी उनका कर्त्तव्य है। सुहाग की साड़ी जलाने के लिए देते हुए, गौरा, अमंगल की आशंका से त्रस्त है। कुँवर

१. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २१७-२१८
२. मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ २७०

साहब यह निश्चय करते हैं कि पत्नी की भावना पर अत्याचार करने से यह अधिक अच्छा है कि अपने सिद्धान्त पर अत्याचार करें—'रतन सिंह असमंजस में पड़े हुए थे कि प्रतिज्ञा-पत्र पर कैसे हस्ताक्षर करूँ ? विदेशी वस्त्र घर में रख कर स्वदेशी व्रत का पालन क्यों कर होगा ? आगे कदम बढ़ा चुका हूँ। पीछे नहीं हट सकता। लेकिन, प्रतिज्ञा का अक्षरश पालन करना अभीष्ट भी तो नहीं, केवल उसके आशय पर लक्ष्य रहना चाहिए। इस विचार से मुझे प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करने का पूरा अधिकार है। त्रिया हठ के सामने किसी की नहीं चलती। यों चाहूँ तो एक ताने में काम निकल सकता है, पर उसे बहुत दु'ख होगा, बड़ी भावुक है, उसके भावों का आदर करना मेरा कर्त्तव्य है।'[1]

उधर गौरा ने भी पति से हठ तो किया, किन्तु उसे भी चिन्ता हुई और उसने भी निश्चय किया कि वह पति को साडी दे देगी, अमगल के भय से पति की आत्मा को नहीं कुचलेगी—'सुहाग की साडी सुहाग का चिह्न है, उसे आग कितने अपशकुन की बात है। ये कभी-कभी बालकों की भाँति जिद करने लगते हैं, अपनी धुन में किसी की नहीं सुनते। बिगडते हैं, तो मानों मुँह ही नहीं सीधा होता। लेकिन, वे बेचारे भी तो अपने सिद्धान्तों से मजबूर हैं। झूठ से उन्हें घृणा है। प्रतिज्ञा पत्र पर झूठी स्वीकृति लिखनी पड़ेगी, उनकी आत्मा को बडा दु ख होगा, घोर धर्म सकट में पड़े होंगे, यह भी तो नहीं हो सकता कि सारे शहर में स्वदेशानुरागियों के सिरमौर बन कर, उस प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करने से आनाकानी करें। कहीं मुँह दिखाने को जगह न रहेगी, लोग समझेंगे, बना हुआ है।'[2] गौरा अपनी भूल के लिए पति से क्षमा भी माँगती है और साड़ी जबर दस्ती दे देती है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के प्रति सदिच्छा और सहानुभूति के कारण, दाम्पत्य कलह से बच जाते हैं। बाद में भी, उस सुहाग की साडी के दे देने से, गौरा के मन में अमगल का जो भय उत्पन्न होता है, उसके कारण वह कभी पति को दोषी नहीं ठहराती है और सदा अपना मन बहलाने का उपाय किया करती है। कुँवर रतन सिंह भी पत्नी की यह मानसिक वेदना देख कर मन ही मन अपने सिद्धान्त प्रेम का तिरस्कार किया करते हैं और उसकी दिलजोई किया करते हैं। शिकायत, क्रोध या दुर्वचन के लिए यहाँ स्थान नहीं है। दो महीने बाद गौरा को ज्ञात होता है कि उसकी सुहाग की साडी ने स्वदेशी ससार में हलचल मचा दिया है। लोग एक भी विदेशी कपड़ा घर में नहीं रखना चाहते, जिससे स्वदेशी आन्दोलन जोर पकड़ रहा है, गरीबों को काम मिल रहा है और लोग सुखी हैं। दूसरों की शुभकामनाएँ गौरा के हृदय पर से शका और भय का बोझ हटा देती हैं और वह भी स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार करने में सलग्न हो जाती है।

१ 'स्मृति का पुजारी' कहानी में अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद, होरीलाल, दीवाने हो गए हैं। कार्य वे सभी करते हैं, किन्तु उत्साह से नहीं, बल्कि इसलिए कि करना पड़ता है। हाँ, एक कार्य, उस स्वर्गवासिनी का गुण-गान, करने में वे कभी नहीं थकते। इस गुणानुवाद में जितना समय जाता है, उतनी देर ही वे जीवित रहते हैं।

१ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २७४

२ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २७८

महाशय होरीलाल और उनकी पत्नी में प्रेम था, इसका कारण यह नहीं कि दोनों का किसी बात पर मनभेद नहीं होता था और दोनों के विचार एक समान थे। इसके विपरीत दोनों में पर्याप्त विभिन्नता थी, दोनों खूब विवाद भी करते थे, किन्तु उनमें एक खूबी थी कि दोनों सहृदय थे। विवाद और मतभेद केवल मस्तिष्क को प्रभावित करते थे, हृदय को नहीं। पत्नी को विधवा-विवाह से घृणा थी और होरीलाल इसके पक्के समर्थक थे। होरीलाल पश्चिमी या नई सभ्यता के भक्त थे और देवीजी का मजाक उड़ाया करते थे। वे इस्लामी सिद्धान्तों के कायल थे और उनकी पत्नी हिन्दू-धर्म की अनुगामिनी थीं। पति पत्नी में इस तरह के कितने ही मतभेद थे, किन्तु दोनों के प्रेम पर इनका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता था, बल्कि पचीस साल के दाम्पत्य जीवन में दोनों दिनोंदिन एक दूसरे के निकट आते गए थे, यहाँ तक कि जो बात एक के दिल में आती थी, वही दूसरे के दिल में भी आती। इस दम्पति के मतभेद, विवाद, सहृदयता और प्रेम का वर्णन प्रेमचन्द ने इन शब्दों में किया है—'यह बात नहीं कि उनमें मतभेद न होता हो। बहुत से विषयों में उनके विचारों में, आकाश पाताल का अन्तर था और अपने पक्ष के समर्थन और पर-पक्ष के खण्डन में उनमें खूब काँव-काँव होती थी। कोई बाहर का आदमी सुने, तो समझे कि दोनों लड़ रहे हैं और अब हाथापाई की नौबत आनेवाली है, मगर उनके मुबाहसे मस्तिष्क से होते थे। हृदय दोनों के एक, दोनों सहृदय, दोनों प्रसन्नचित्त, स्पष्ट कहने वाले, निस्पृह, मानों देवलोक के निवासी हों; इसलिए पत्नी का देहान्त हुआ, तो कई महीने तक हम लोगों (मित्रों) को यह अन्देशा रहा कि यह महाशय आत्महत्या न कर बैठें।'[१]

दाम्पत्य जीवन में स्त्री और पुरुष एक दूसरे की भावनाएँ सहृदयता से समझें, इसका विशेष महत्त्व है। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में श्रद्धा की धार्मिक निष्ठा इतनी प्रबल है कि वह सात वर्षों पर विदेश से लौटे हुए पति से भी सम्बन्ध रखते डरती है; क्योंकि जो पति सात समुद्र पार गया, जाने क्या खाया-पिया, जाने किससे सम्पर्क रखा, उससे सम्बन्ध रख कर वह अपना लोक परलोक बिगाड़ना नहीं चाहती। उसके इस दुर्व्यवहार का प्रेमशंकर को इतना आघात लगता है कि वे क्रोध में पुनः अमरीका लौट जाना चाहते हैं और वह भी सदा के लिए। श्रद्धा के प्रेम ने ही उन्हें स्वदेश लौटने को प्रेरित किया था, जब उसी का यह व्यवहार है, तो वे यहाँ क्यों रहें? किन्तु, जब वे उसकी परिस्थिति के सम्बन्ध में, सहृदयता से विचार करते हैं, तो धैर्य से काम लेते हैं। वे सोचते हैं, शायद कभी देश और समाज की अवस्था का ज्ञान उसमें सद्विचार उत्पन्न कर दे। बाद में जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि उनके भाई ज्ञानशंकर ने ही, स्वार्थवश, उनके विरुद्ध उसके कान भरे हैं, तो उस पर क्रोध के बदले उन्हें दया आती है। फलतः उन्हें एक बार उसमें मिलने और उसके मनोगत भावों को जानने की बड़ी आकांक्षा होती है। और श्रद्धा भी, चाहे पति की छाया से वह दूर रहे, पति-सेवा का अवसर कभी नहीं चूकती। एक बार प्रेमशंकर को कुछ रुपयों की आवश्यकता हुई। उन्होंने ज्ञानशंकर को लिखा। श्रद्धा ज्ञानशंकर के तेवर देख कर समझ जाती है कि ये रुपए न देंगे। अतः, वह अपने सारे आभूषण और

१. मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २६७

एकत्र किए हुए एक हजार रुपए, पति की सेवा में भेज देती है। प्रेमशकर उसकी सेवा, त्याग और पति भक्ति पर मुग्ध हैं, किन्तु उसकी खातिर भी वे प्रायश्चित्त नहीं करते। उनका मन इसे कदापि स्वीकार नहीं करता कि विदेश-यात्रा कोई पाप है और कई नदियों में नहाने से, लकड़ियाँ जलाने से, घृणित वस्तुओं के खाने या ब्राह्मणों को खिलाने से, उनकी अपवित्रता जाती रहेगी। फिर भी श्रद्धा की धार्मिक वृत्ति और नि स्वार्थ पति भक्ति के कारण, उन्हें अपनी हृदयशून्यता और सिद्धान्त प्रेम पर, कभी-कभी ग्लानि होती है और वे अपने को कोसते हुए, प्रायश्चित्त करने की भी सोचते हैं—'मैंने विचार को मनुष्य से उत्तम समझा। माना, प्रायश्चित्त पर मेरा विश्वास नहीं है, पर उससे दो प्राणियों का जीवन सुखमय हो सकता था। इस सिद्धान्त प्रेम ने दोनों का ही सर्वनाश कर दिया। क्यों न चल कर श्रद्धा से कह दूँ कि मुझे प्रायश्चित्त करना अंगीकार है।···उसका विश्वास मिथ्या ही सही, पर कितना दृढ है। कितनी नि स्वार्थ पति भक्ति है, कितनी अविचल धर्मनिष्ठा।"[1] किन्तु, प्रेमशकर फिर भी प्रायश्चित्त नहीं करते।

उधर श्रद्धा के मन में पति प्रेम और भक्ति के बावजूद उनसे (प्रेमशकर) मिलने में लोक मत और धर्म का भय है। किन्तु, धीरे धीरे उसे भी अनुभव होता है कि ससार की हँसी का भय अकारण है। ससार बहुधा धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म बना देता है। वैसे प्रायश्चित्त का मोह तो अब भी उसमें है, क्योंकि वह जानती है, यह उन शास्त्रों का विधान है, जिन्हें हमारे ऋषि मुनियों ने रचा था और जिन्हें मानना ही चाहिए। मनुष्य में इतनी बुद्धि कहाँ कि शास्त्रों के सभी आदेशों को समझ सके? एक ओर उसे पति की निर्दयता, सिद्धान्त प्रेम और अहमन्यता से दु ख है, तो दूसरी ओर अपनी टेक पर वह पछताती भी है। कभी-कभी प्रेमशकर के सद्गुणों पर उसे अभिमान भी होता है और वह उनकी चर्चा करते नहीं थकती।

इस प्रकार सात वर्ष और निकल जाते हैं। प्रेमशकर की लोक सेवा की भावना और परोपकार वृत्ति बढती ही जाती है। एक दिन सैकड़ों गलों से निकलने वाली प्रेमशकर की जय-जयकार-ध्वनि श्रद्धा पर विजय पाती है। वह सोचती है—'क्या इतने अन्त करणों से निकली हुई शुभेच्छाओं का महत्त्व प्रायश्चित्त से कम है? कदापि नहीं। परोपकार की महिमा प्रायश्चित्त से किसी तरह कम नहीं हो सकती, बल्कि सच्चा प्रायश्चित्त तो परोपकार ही है। इतनी आशीषें तो किसी महान् पापी का भी उद्धार कर सकती हैं। कोरे प्रायश्चित्त का इनके सामने क्या महत्त्व हो सकता है? और, इन आशीषों का आज ही थोड़े अन्त हो गया? जब यह सब घर पहुँचेंगे, तो इनके घर वाले और भी आशीष देंगे। जब तक दम में-दम रहेगा, उनके हृदय से नित्य यह सदिच्छाएँ निकलती रहेंगी। ऐसे यशस्वी, ऐसे श्रद्धेय पुरुष को प्रायश्चित्त की कोई जरूरत नहीं। इस सुधा-वृष्टि ने उसे पवित्र कर दिया है।'[2] और श्रद्धा अपने पति से उसी प्रकार मिलती है, जिस प्रकार कोई उपासिका अपने इष्टदेव से।

१· प्रेमाश्रम, पृष्ठ २१०

२· प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३६५ ३६६

मनुष्य-मात्र की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि उसकी आत्मा का, उसके गुणों का विकास हो। विवाह स्त्री और पुरुष के जीवन को सयुक्त अवश्य कर देता है, किन्तु दानों का कर्त्तव्य है कि वे इस बात का ध्यान रखें कि एक के विचारों का अनुचित दबाव दूसरे पर नहीं पडे और वे इस बात का भी प्रयत्न करें कि दोनों एक दूसरे के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास में सहायक हों। इसके लिए सेवा भाव, सहानुभूति, विनय और धैर्य की आवश्यकता होती है। 'उन्माद' कहानी में मनहर अपनी पत्नी के सदाचरण स इतना प्रभावित होता है कि उसके मुख से आप-से-आप प्रशसा के ये शब्द निकल आते हैं— "मुझे मालूम हुआ कि सुभार्या स्वर्ग की सबसे बडी विभूति है, जा मनुष्य को उज्ज्वल और पूर्ण बना देती है, जो आत्मोन्नति का मूल मन्त्र है। मुझे मालूम हुआ कि विवाह का उद्देश्य भोग नहीं, आत्मा का विकास है।"[1]

मनहर के आत्म विकास में वागेश्वरी सेवा, त्याग और सन्तोष के द्वारा ही सहायता पहुँचाती है। मनहर अपने विवाह के समय एक दफ्तर में क्लर्क था। सामान्य युवकों की भाँति उसे भी जासूसी उपन्यासों से बहुत प्रेम था। वागेश्वरी ने मोटे-से-मोटा काम स्वय कर के, पति को घर की जिम्मेवारियों से पृथक् रख कर और घर के सारे आनन्द प्रदान करते हुए, उसे जासूसीविषयक साहित्य पढने और उस पर विचार करने की निश्चिन्तता प्रदान की। फलस्वरूप मनहर ने इस विषय पर एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक ने देश में ही नही, विदेशा में भी धूम मचा दी और इगलैण्ड जा कर जासूसी का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए सरकार ने उसे वृत्ति प्रदान की। यह सब वागेश्वरी की सत्प्रेरणा का ही शुभ फल था। मनहर वागेश्वरी की सेवा और तपस्या की प्रशसा, उसी के सामने, इन शब्दों में करता है, "तुमने मेहनत करने का वह अवसर और अवकाश दिया, जिनके बिना कोई सफल हो ही नहीं सकता। अगर तुमने अपनी अन्य विलासप्रिय, रगीन मिजाज बहनों की तरह, मुझे अपने तकाजों से दबा रखा होता, तो मुझे उन्नति करने का अवसर कहाँ मिलता? तुमने मुझे वह निश्चिन्तता प्रदान की, जो स्कूल के दिनों में भी न मिली थी। मुझे घर के सारे आनन्द प्राप्त हैं और जिम्मेदारी एक भी नहीं। तुमने ही मेरे हौसलों को उभारा, मुझे उत्तेजना दी। जब कभी मेरा उत्साह टूटने लगता था, तो तुम मुझे तसल्ली देती थीं। मुझे मालूम ही नही हुआ कि तुम घर का प्रबन्ध कैसे करती हो। तुमने मोटे-से-मोटा काम अपने हाथों किया, जिसमें मुझे पुस्तकों के लिए रुपए की कमी न हो।"[2]

दाम्पत्य सुख के लिए एक सीमा तक यह भी आवश्यक है कि पति पत्नी की रुचियाँ और आकाक्षाएँ समान हों।[3] यदि उनकी रुचियों में भेद हो, तो उन्हे यह प्रयत्न

१ मानसरोवर भाग २ पृष्ठ ११४

२. मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ ११३-११४

३ 'कायाकल्प' उपन्यास मे यशोदानन्दन अपने भावी दामाद से कहते हैं, 'मेरी पुत्री का स्वभाव विचार, सिद्धान्त सभी आपसे मिलते हैं और मुझे पूरा विश्वास है कि आप दोनों साथ रह कर सुखी होंगे।' कायाकल्प पृष्ठ १४ १५

करना चाहिए कि वे एक दूसरे में दिलचस्पी लेना सीखें, एक दूसरे के विचारो से सहानुभूति करें। तभी उन्हे एक दूसरे का प्रेम प्राप्त हो सकता है। 'शिकार' कहानी में वसुधा के पति (कुँवर साहब) शिकार, घुडदौड आदि के इतने शौकीन हैं कि पत्नी के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा नहीं कर पाते। महीनों पति पत्नी की भेंट नहीं होती। वसुधा का पति प्रेम से वञ्चित हृदय रोता है, कुढता है और वह दिनोदिन घुलती जाती है। एक दिन वह इसी झुँझलाहट में पति के पास पहुँच जाती है। उस समय कुँवर साहब पीलीभीत के जगलों में शिकार खेल रहे होते हैं। वसुधा दो सौ मील मोटर से चलती है। कमजोरी के कारण उसे तीव्र ज्वर हो जाता है। पत्नी का यह ज्वर कुँवर साहब का सारा नशा हिरन कर देता है। वह तन मन से उसकी सेवा करते हैं। वसुधा अच्छी हो कर *शिकार और शिकार के ताहफों में रुचि दिखलाती है। अब पति पत्नी दोनों में* प्रेम की व्याप्ति प्रदीप्त होती है। लेखक ने पति पत्नी के रुचि साम्य से परिणत प्रेम का ऐसा वर्णन किया है—'*अब तक कुँवर साहब का ससार अलग था, जिसके दु ख-सुख, हानि-लाभ, आशा निराशा से वसुधा को कोई सरोकार न था। वसुधा को इस ससार* के व्यापार से कोई रुचि न थी, वल्कि अरुचि थी। कुँवर साहब इस पृथक ससार की बातें उससे छिपाते थे, पर अब वसुधा उनके इस ससार में एक उज्ज्वल प्रकाश, एक *वरदानों वाली देवी के समान अवतरित हो गई थी। वसुधा के जीवन में अब एक नया* उत्साह, एक नया उल्लास, एक नई आशा थी। पहले की भाँति उसका वञ्चित हृदय अशुभ कल्पनाओं से त्रस्त न था। अब उसमें विश्वास था, बल था, अनुराग था।''[१]

यही नही, वसुधा बन्दूक चलाना सीखती है और चिड़िया मारती है। इसके बाद वह पति के साथ एक शेर का शिकार खेलने जाती है, जिसमें वह पति की प्राण रक्षा करती है। कुँवर साहब और वसुधा का आनन्द सहज अनुमेय है।

यदि पति पत्नी का स्वभाव न मिले, तो दाम्पत्य कलह से बचने के लिए, कम से-कम एक को, त्याग और समझौते के लिए, तैयार रहना चाहिए। दुराग्रह और हठ से कलह ही होता है और कुछ हाथ नहीं आता। 'रगभूमि' उपन्यास में रानी जाह्नवी और कुँवर भरत सिंह के सिद्धात और आदर्श एक नही हैं। रानी जाह्नवी वीरता, आत्म-बलिदान और जन सेवा को महत्त्व देती हैं और कुँवर साहब साधारण मनुष्यों की भाँति सुख और विलास को। रानी अपने इकलौते पुत्र विनय को बाल्यावस्था से ही कठोर जीवन का अभ्यास कराना चाहती हैं, उसे जाति सेवा के लिए तैयार करना चाहती हैं। ऐसी स्थिति में पति पत्नी के आदर्शों की भिन्नता के कारण दोनों में कलह हो सकता था, किन्तु कुँवर साहब, पुरुष हो कर भी, धैर्य और त्याग से काम लेते हैं। वे जाह्नवी से झगडते नही, विवाद नही करते। उधर पुत्र की ममता भी है, अत पुत्र के साथ वे भी त्यागी का जीवन व्यतीत करते हैं, हृदय पर पत्थर रख कर सब कुछ सहते हैं। विनय युवा हो कर सेवा समिति की स्थापना करता है। रानी जाह्नवी कुँवर साहब के

---

१. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २४४

पूर्व और वर्तमान जीवन का वर्णन, सोफिया से, इन शब्दों में करती हैं, "कुँवर साहब को जो सेवा-समिति से इतना प्रेम है, वह विनय ही के सत्संग का फल है; नहीं तो आज के तीन साल पहले इनका-सा विलासी सारे नगर में न था। दिन में दो बार हजामत बनती थी। दरजनों धोबी और दरजी कपड़े धोने और सीने के लिए नौकर थे। पेरिस से एक कुशल धोबी कपड़े सँवारने के लिए आया था। कश्मीर और इटली के बावरची खाना पकाते थे। तसवीरों का इतना व्यसन था कि कई बार अच्छे चित्र लेने के लिए इटली तक की यात्रा की। तुम उन दिनों मसूरी रही होगी। सैर करने निकलते, तो सशस्त्र सवारों का एक दल साथ चलता। शिकार खेलने की लत थी, महीनों शिकार खेलते रहते। कभी कश्मीर, कभी बीकानेर, कभी नेपाल, केवल शिकार खेलने जाते। विनय ने उनकी काया ही पलट दी।"[१]

विनय सेवा-क्षेत्र के लिए उदयपुर राज्य चुनता है और जनता की सेवा करते हुए, सरकार की नजरों में, जनता को भड़काने का, विद्रोह फैलाने का, अपराधी बनता है और जेल में ठूँस दिया जाता है। पुत्र की प्रथम परीक्षा में जाह्नवी उसकी मदद नहीं करना चाहती। भरत सिंह भी मित्रों के सामने रानी का समर्थन करते हैं, उसकी हाँ में-हाँ मिलाते हैं, किन्तु उनका हृदय रोता है। वे बड़े धर्म-संकट में पड़ कर, नायकराम पण्डा को, किसी भी उपाय से, पुत्र को जेल से छुड़ा लाने के लिए, भेजते हैं। उनकी व्याकुलता, भावुकता और ममता किसी माता के हृदय से कम नहीं। वे पण्डाजी से कहते हैं, "तुम जानते हो, मैंने तुमसे यह सवाल क्यों किया। मेरे यहाँ सैकड़ों आदमी हैं। खुद डाक्टर गांगुली तैयार हैं। महेन्द्र को भेज दूँ, तो वह भी चले जाएँगे। लेकिन, इन लोगों के सामने मैं अपनी बात नहीं छोड़ना चाहता। सिर पर यह इलजाम नहीं लेना चाहता कि कहते कुछ हैं, और करते कुछ। धर्म-संकट में पड़ा हुआ हूँ। पर, बेटे की मुहब्बत नहीं मानती। हूँ तो आदमी, काठ का कलेजा तो नहीं है। कैसे सब्र करूँ? उसे बड़े-बड़े अरमानों से पाला है, वही एक जिन्दगी का सहारा है। तुम उसे किसी तरह अपने साथ लाओ। उदयपुर के अमले और कर्मचारी देवता नहीं, उन्हें लालच दे कर जेल में जा सकते हो, विनय सिंह से मिल सकते हो, अमलों की मदद से उन्हें बाहर ला सकते हो, यह कुछ कठिन नहीं। कठिन है, विनय को आने पर राजी करना। वह तुम्हारी बुद्धि और चतुरता पर छोड़ता हूँ। ... जब उन्हें मालूम हो जाएगा कि मैं कितना विकल हूँ, तो वह चले आएँगे। वह अपने बाप की जान को सिद्धान्त पर बलिदान न करेंगे। उनके लिए मैंने अपने जीवन की कायापलट कर दी, यह फकीरी भेष धारण किया, क्या वह मेरे लिए इतना भी न करेंगे? पण्डाजी, सोचो, जिस आदमी ने हमेशा मखमली बिछौनों पर आराम किया हो, उस इस काठ के तख्त पर आराम मिल सकता है? विनय का प्रेम ही वह मन्त्र है, जिसके वश हो कर मैं यह कठिन तपस्या कर रहा हूँ। जब विनय ने त्याग का व्रत ले लिया, तो मैं किस मुँह से बुढ़ापे में भोग विलास में लिप्त रहता?

१. रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ १४१

आह ! ये सब जाह्नवी के बोए हुए काँटे हैं । उसके आगे मेरी कुछ नहीं चलती । मेरा सुख स्वर्ग उसी के कारण नरक तुल्य हो रहा है । उसी के कारण मेरा प्यारा विनय मेरे हाथों से निकला जाता है, ऐसा पुत्र रत्न खो कर यह ससार मेरे लिए नरक हो जाएगा।"[1]

नायकराम चला जाता है, तो कुँवर साहब कई मिनट तक खडे रोते रहते हैं।

इसी प्रकार जब स्वार्थवश, विनय ने रियासत का पद लिया और अधिकारियों से मिल कर, प्रजा के दमन में भाग लेना आरम्भ किया, तो रानी जाह्नवी को उसके नाम तक से चिढ हो गई। एक दिन वे डॉ॰ गागुली से कहती हैं, "आपकी तबीयत कौसिल से नहीं थकती, मैं तो जिन्दगी से थक गई। जो कुछ चाहती हूँ, वह नहीं होता, जो नही चाहती, वही होता है। डाक्टर साहब, सब कुछ सहा जाता है, बेटे का कुत्सित व्यवहार नही सहा जाता, विशेषत ऐसे बेटे का, जिसके बनाने के लिए कोई बात न उठा रखी गई हो। दुष्ट जसवन्त नगर के विद्रोह में मर गया होता, तो मुझे इतना दु ख न होता।"[2] कुँवर साहब भी वही थे, वे और ज्यादा न सुन सके। उठ कर बाहर चले गए।

विनय का अन्तिम समय आता है। जिस लाश पर रानी जाह्नवी हीरे और जवाहरात लुटाना चाहती हैं, उसे कुँवर साहब देखने भी नही आते। ऐसे अवसर पर भी कुँवर साहब के पुत्र प्रेम और सासारिकता के प्रति व्यग्य करती हुई, रानी उनके मोह की खिल्ली उडाती हैं, "उनकी राह अब मत देखो, वह न आएँगे, और न आ सकते हैं। वह उन पिताओं में हैं, जो पुत्र के लिए जीते हैं, पुत्र के लिए मरते हैं, और पुत्र के पुत्रों के लिए मन्सूबे बाँधते हैं। उनकी आँखों में अँधेरा छा गया होगा, सारा संसार सूना जान पडता होगा, अचेत पडे होंगे। सम्भव है, उनके प्राणान्त हो गए हों। उनका धर्म, उनका कर्म, उनका जीवन, उनका मरण, उनका दीन, उनकी दुनिया, सब कुछ इसी पुत्र रत्न पर अवलम्बित था। अब वह निराधार हैं, उनके जीवन का कोई लक्ष्य, कोई अर्थ नही है। वह अब कदापि न आएँगे, आ ही नहीं सकते।"[3]

विनय की मृत्यु के बाद कुँवर साहब का व्यथित हृदय फिर विलासमय जीवन में शान्ति पाता है, जब कि रानी जाह्नवी पूर्ववत् देश भक्ति, सेवा और परोपकार का जीवन व्यतीत करती है।

रानी जाह्नवी की अधिकार भावना, शासनप्रियता, दृढता और प्रखरता से परिचित पाठक, निश्चित रूप से यह कह सकता है कि केवल कुँवर साहब के त्याग, धैर्य और समझौते की भावना के कारण उनके घर में शान्ति बनी रहती है और उनके दाम्पत्य जीवन में कलह और विवाद के अवसर नही आते।

दाम्पत्य जीवन में दुराग्रह अथवा हठ से सुख नही मिलता सहानुभूति, विनय और धैर्य ही सुख प्रदान कर सकते हैं। 'गोदान' उपन्यास के होरी और धनिया से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। धनिया और होरी दोना हठी एव स्वतन्त्र विचारों वाले

---

१ रगभूमि, भाग १, पृष्ठ ४३०-४३१

२ रगभूमि भाग २, पृष्ठ १८६।

३ रगभूमि, भाग २, पृष्ठ ३८

प्राणी हैं, किन्तु वे इतना हठ नहा करत हैं कि आपस का सम्बन्ध कटु हो जाए। धनिया हठ और तर्क करती है, तो होरी हार मान जाता है। माला को भूसा देने की बात है। होरी एक ही खाँचा भूसा देना चाहता है और धनिया तीन खाँचे (उनमें भी दो खाँचे होरी और गोबर भोला के घर तक पहुँचा दें)। होरी हार कर कहता है, "अच्छा भाई, जान न खा, हम दोना चले जाएँगे। कहाँ से कहाँ मैंने इसे भूसा देने को कहा। या तो चलेगी ही नहीं, या चलेगी, तो दौडने लगेगी।"[1]

जब घर में गाय आती है, उस समय भी होरी और धनिया में इस बात पर बहस हो जाती है कि गाय घर में बाँधी जाए या द्वार पर—

'धनिया ने भयातुर हो कर कहा, "खडे क्या हो, आँगन में नाँद गाड दो।"

"आँगन में। जगह कहाँ है?"

"बहुत जगह है।"

"मैं तो बाहर ही गाडता हूँ।"

"पागल न बनो। गाँव का हाल जान कर भी अनजान बनते हो।"

"अरे, बित्ते भर के आँगन में गाय कहाँ बाँधेगी भाई?"

"जो बात नही जानते, उसमें टाँग मत अडाया करो। ससार भर की विद्या तुम्हीं नहीं पढे हो।"[2]

यद्यपि होरी गाय को बाहर ही बाँधना चाहता है, किन्तु धनिया को लडने के लिए तैयार देख कर, उसकी बात मान लेता है। यहाँ प्रेमचन्द कहते हैं—'होरी सचमुच आपे में न था। गऊ केवल उसके लिए भक्ति और श्रद्धा की वस्तु नहीं, सजीव सम्पत्ति भी थी। वह उससे अपने द्वार की शोभा और अपने घर का गौरव बढाना चाहता था।' आँगन में बँधी, तो कौन देखेगा? धनिया इसके विपरीत सशक थी। वह गाय को सात परदों के अन्दर छिपा कर रखना चाहती थी, अगर गाय आठों पहर कोठरी में रह सकती, तो शायद वह उसे बाहर न निकलने देती, यों हर बात में हारी की जीत होती थी। वह अपने पक्ष पर अड जाता था और धनिया को दबना पडता था, लेकिन आज धनिया के सामने होरी की एक न चली। धनिया लडने पर तैयार हो गई। गोबर और सोना और रूपा, सारा घर होरी के पक्ष में था, पर धनिया ने अकेले सबको परास्त कर दिया। आज उसमें एक विचित्र आत्मविश्वास और होरी में एक विचित्र विनय का उदय हो गया था।'[3]

'प्रतिज्ञा' उपन्यास में देवकी के सामने अपनी पुत्री (प्रेमा) के विवाह की महत्त्वपूर्ण समस्या है। प्रेमा का विवाह अमृतराय से होने वाला है—इसी बीच वह विधवा विवाह की प्रतिज्ञा कर लेता है। देवकी यह सुनती है, तो पति को, उसे समझाने के लिए भेजना चाहती है, किन्तु वे अमृतराय से चिढे हुए हैं। वे उस प्राणी से, जो विधवा विवाह जैसे घृणित कार्य में हाथ डालता हो, कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। देवकी पहले तो पति

१ गोदान पृष्ठ २६

२. गोदान, पृष्ठ ४५ ४६

३. गोदान, पृष्ठ ४६

से तर्क करती है, किन्तु उनका हठ देख कर चुप रहती है। उसे पूरा विश्वास है कि अमृतराय समझाने से मान जाएँगे, पर पति के विरुद्ध कैसे आचरण करे। 'देवकी बड़े असमंजस में पड़ गई। वह पति के स्वभाव से परिचित थी; लेकिन उन्हें इतना विचार-शून्य न समझती थी। उसे आशा थी कि अमृतराय समझाने से मान जाएँगे, लेकिन उनके पास जाए कैसे? पति से रार कैसे मोल ले?'[1]

इसी प्रकार 'निर्मला' उपन्यास में रँगीली बाई के पुत्र भुवनमोहन से निर्मला का विवाह होने वाला है, जो उसके पति और पुत्र की धन-लिप्सा के कारण टूट रहा है। रँगीली बाई देख रही है कि केवल रुपयों के कारण बाप बेटा मिल कर, उस गरीब लड़की का बलिदान करना चाहते हैं, किन्तु वह दुराग्रह नहीं करती, केवल उन्हें धिक्कार कर सन्तोष कर लेती है :—

रँगीली, *"तुम बाप-पूत दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हो। दोनों उस गरीब* लड़की के ऊपर छुरी फेरना चाहते हो।"

भुवन, "जो गरीब है, उसे गरीबों ही के यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए। अपनी हैसियत से बढ़ कर..."

रँगीली, "चुप भी रह, आया है वहाँ से हैसियत ले कर। तुम कहाँ के ऐसे धन्ना सेठ हो? कोई आदमी द्वार पर आ जाए, तो एक लोटा पानी को तरस जाए। बड़े हैसियत वाले बने हैं।"[2]

यह कह कर रँगीली बाई वहाँ से उठ कर रसोई का प्रबन्ध करने चली जाती है।

दाम्पत्य जीवन में एक हद तक नाटकीयता का भी महत्त्व होता है। 'गोदान' उपन्यास का गँवार होरी इस कला में निपुण है। वह धनिया की थोड़ी-सी प्रशंसा कर, उसे भोला को भूसा देने के लिए, राजी कर लेता है। धनिया, जो पहले भूसा देने को एकदम तैयार नहीं है, अपनी प्रशंसा सुन कर फूल उठती है और भूसा देने को राजी ही नहीं होती, बल्कि बहुत अधिक भूसा देना चाहती है। होरी पछताता है कि कहाँ-से-कहाँ उसने उसे भूसा देने को कहा। इसी प्रकार जब होरी अपने भाइयों को बुलाने के लिए रूपा को भेजता है, तो धनिया उसे राह में ही मिल जाती है और उसे रास्ते से ही पकड़ कर घर ले आती है। घर में घुसते ही पति को वह आड़े हाथों लेती है, "मैंने तुम से हजार बार कह दिया, मेरे लड़कों को किसी के घर न भेजा करो। किसी ने कुछ कर-करा दिया, तो मैं तुम्हें ले कर चाटूँगी? ऐसा ही बड़ा परेम है, तो आप क्यों नहीं जाते? अभी पेट नहीं भरा जान पड़ता है।"

होरी नाँद जमा रहा था। हाथों में मिट्टी लपेटे हुए, अज्ञान का अभिनय करके, बोला, "किस बात पर बिगड़ती है भाई? यह तो अच्छा नहीं लगता कि अन्धे कूकर की तरह हवा को भूँका करें।"[3]

१ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १६

२ निर्मला, पृष्ठ २७-२८

३. गोदान, पृष्ठ ५०

इसी प्रकार सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए विनोद भाव भी आवश्यक है। विनोद में हँसी आ जाती है, दुःख और क्रोध हवा हो जाते हैं तथा स्वच्छ-निर्मल प्रेम सामने आ जाता है।' 'प्रतिज्ञा' उपन्यास मे लाला बदरी प्रसाद को इसलिए क्रोध है कि दाननाथ ने, जिसके पास उन्होंने अपनी पुत्री (प्रेमा) के विवाह का सन्देश भेजा था, स्वय पत्र न लिख कर अमृतराय से क्यो लिखवाया। उन्होंने इसी क्रोध मे दाननाथ को कुछ ऐसी कठोर बातें लिखनी चाहीं, जिनके बाद दाननाथ उनकी सूरत देखना भी पसन्द नहीं करते, प्रेमा से विवाह करने की बात तो दूर रही। देवकी ने देखा, दाननाथ-जैसा सुन्दर, सुशील और विद्वान वर, पति की नादानी के कारण, हाथ से निकल जाएगा। अतः वह पति का विरोध करती है, किन्तु बात किसी तरह नहो बनती। लेकिन, विनोद का आश्रय लेते ही बिगडी हुई बात बन जाती है—

बदरी, "उसने अपने हाथ से क्यों खत नही लिखा? मेरा तो यही कहना है। क्या उसे इतना भी मालूम नही कि इसमें मेरा कितना अनादर हुआ? सारी परीक्षाएँ तो पास किए बैठा है। डाक्टर भी होने जा रहा है, क्या उसे इतना भी नही मालूम? स्पष्ट बात है। दोनों मिल कर मेरा अपमान करना चाहते हैं।"

देवकी, "हाँ, शोहदे तो हैं ही, तुम्हारा अपमान करने के सिवा उनका और उद्यम ही क्या है? साफ तो बात है और तुम्हारी समझ में नही आती। न जाने बुद्धि का हिस्सा

---

१. शिवरानी देवी ने 'प्रेमचन्द : घर मे' मे लिखा है कि वे स्वयं 'जरूरत से ज्यादा गुस्सेवर' थीं, किन्तु प्रेमचन्द उनका गुस्सा हँसी-मजाक करके शान्त कर देते थे। विनोद के कई प्रसंगों का उल्लेख उन्होंने अपना उक्त पुस्तक मे किया है। एक बार की बात है, प्रेमचन्द बीमार बेटी को देख कर उसकी ससुराल से लौटे थे और पति-पत्नी दुखी थे। उसी रात उनके घर चोरी हुई। चोरी एक खाना पकाने वाले महाराज ने की थी। चोरी में १०००) नकद और १५००) के जेवर गए। जब चोर का कुछ भी पता न लगा, तो प्रेमचन्द पत्नी से बोले, "तुम जेवरों का शोक तो करो न। वे तो तुम्हारे पास रखे ही रहते थे। उस बेचारे की बीबी पहन कर खुश होगी। हाँ, तुम्हे रुपयों का अफसोस होगा; क्योंकि प्रेस के मजदूरों का वेतन देना था। मगर, वह भी क्या। कहीं-न-कहीं से वेतन दे ही दिया जाएगा।"
मै बोली, "मेरे ढाई हजार निकल गए। आपको मजाक सूझी है।"
तब अपनी हँसी हँसते हुए बोले, "तुम ढाई हजार की चिन्ता कर रही हो। आदमी का जीवन एक दिन चला जाएगा। यों ही मजाक में चला जाता है, हम कुछ नहीं कर पाते। तुम को तो यही सोच कर खुशी मनानी चाहिए कि बेटी मरने से बची। वह अच्छी हो जाए, यही क्या कम है? समझ लूँगा, तीन महीने मैंने मजूरी नहीं की।" पृष्ठ २१९
'हंस' मासिक घाटे मे निकल रहा था। इसके कारण बडी परेशानी थी और प्रेमचन्द को परिश्रम भी बहुत करना पड़ता था। 'हंस' को समय पर निकालने के लिए बहुधा उन्हे बीमारी में भी काम करना पड़ता था। शिवरानी देवी का सारा क्रोध प्रेमचन्द पर से हट कर उसी पर निकलता था। उन्होंने एक बार ऐसे ही अवसर पर कहा, "तो कौन 'हंस' मोती उगल रहा है!" प्रेमचन्द हँस कर बोले, "साहब, 'हंस' मोती उगलता नहीं, चुगता है।" उनके इस कथन ने शिवरानी देवी का क्रोध शान्त कर दिया, यद्यपि वे बड़ी देर तक विवाद करती रहीं। शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ २२५-२२७

लगते वक्त तुम कहाँ चले गए थे। पचास वर्ष के हुए और इतनी मोटी-सी बात नहीं समझ सकते।"

बदरी प्रसाद ने हँस कर कहा, "मैं तुम्हें तलाश करने गया था।"

देवकी अधेड़ होने पर भी विनोदशील थी, बोली, "वाह! मैं पहले ही पहुँच कर कई हिस्से उड़ा ले गई थी। दोनों में कितनी मैत्री है, यह तो जानते ही हो। दाननाथ मारे संकोच के खुद न लिख सका होगा। अमृतराय ने सोचा होगा कि लालाजी कोई और वर न ठीक करने लगें, इसलिए यह खत लिख कर दानू से जबरदस्ती हस्ताक्षर करा लिया होगा।"

बदरी प्रसाद ने झेंपते हुए कहा, "इतना तो मैं भी समझता हूँ, क्या ऐसा गँवार हूँ?"

देवकी, "तब किसलिए इतना जामे से बाहर हो रहे थे। बुला कर कह दो, मजूर है।"[1]

'पत्नी से पति' कहानी में दीनानाथ सेठ सरकारी नौकर हैं और अपने को राज-भक्त सिद्ध करने एवं सुर्खरू बनने की फिक्र में एक भी देशी चीज इस्तेमाल नहीं करते। गोदावरी को विदेशी चीजों से चिढ़ है, किन्तु दिल पर बहुत जब्र करके, पति की लायी हुई वस्तुओं का, व्यवहार करती है। समाचारपत्रों में विदेशी-बहिष्कार-आन्दोलन में स्त्रियों को भाग लेते, जोश भरे व्याख्यान देते पढ़ कर, उसे अपनी परवशता पर रोना आता। एक बार उसके मकान के सामने ही विदेशी कपड़ों की होली जलायी जाती है। गोदावरी के धैर्य का बाँध टूट जाता है और वह काँग्रेस के जलसे में जाती है, वहाँ चन्दा भी देती है। सेठजी से दफ्तर में जवाब-तलब होता है। अँगरेज-अधिकारी उन पर रूल ले कर दौड़ता है और वे इस्तीफा दे कर चले जाते हैं। गोदावरी के प्रति उनके क्रोध का कहना ही क्या! किन्तु, वह उनके क्रोध को मजाक में उड़ा देती है—

गोदावरी, "इस्तीफा देने की क्या जल्दी थी?"

सेठ, "और क्या सिर के बाल नुचवाता? तुम्हारा यही हाल है, तो आज नहीं, कल अलग होना ही पड़ता।"

गोदावरी, "खैर, जो हुआ, अच्छा ही हुआ। आज से तुम भी काँग्रेस में शरीक हो जाओ।"

सेठ ने ओठ चबा कर कहा, "लजाओगी तो नहीं, ऊपर से घाव पर नमक छिड़कती हो।"

गोदावरी, "लजाऊँ क्या, मैं तो खुश हूँ कि तुम्हारी बेड़ियाँ कट गईं।"

सेठ, "आखिर कुछ सोचा है, काम कैसे चलेगा?"

गोदावरी, "सब सोच लिया है, मैं चला कर दिखा दूँगी। हाँ, मैं जो कुछ कहूँ, वह तुम किये जाना। अब तक मैं तुम्हारे इशारों पर चलती थी, अब से तुम मेरे इशारे पर चलना। मैं तुम से किसी बात की शिकायत न करती थी, तुम जो कुछ खिलाते थे, खाती थी, जो कुछ पहनाते थे, पहनती थी। महल में रखते, महल में रहती। झोपड़ी में रखते,

[1] प्रतिज्ञा, पृष्ठ ६२-६३

झोपडी में रहती। उसी तरह तुम भी रहना। जो काम करने को कहूँ, वह करना। फिर देखूँ कैसे काम नही चलता। आज तक तुम मेरे पति थे, आज से मै तुम्हारी पति हूँ।"

सेठजी उसकी ओर स्नेह की आँखो से देख कर हँस पडे।

'गोदान' उपन्यास का गँवार होरी इस फन का उस्ताद है। यह भी एक गुण है, जो विपत्तियों में उसे सहारा देता है। धनिया की उग्रता भी इसी के कारण अनियन्त्रित नही हो जाती। इस उपन्यास के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही हम होरी के इस गुण से परिचित हो जाते हैं। वह जमीदार से मिलने जाने के लिए धनिया से लाठी माँगता है। पति द्वारा जमीदार की खुशामद धनिया को पसन्द नही है। जब कितना ही पेट-तन काटो, एक एक पैसे को दाँत से पकडा, तब भी लगान बेबाक नही होता, तो जमीदार की खुशामद क्यों? वह पति से तर्क करती है, फिर परास्त हो कर उसकी लाठी, मिरजई, पगडी, जूते और तमाखू का बटुवा ला कर उसके सामने पटक देती है। होरी पत्नी की ओर आँखें तरेर कर कहता है, "क्या ससुराल जाना है, जो पाँचो पोशाक लाई है? ससुराल में भी तो कोई जवान साली सलहज नहीं बैठी है, जिसे जा कर दिखाऊँ।" इतना कहते कहते उसके मुख पर मुसकुराहट छा जाती है। पति के इस विनोद से धनिया के क्रोध भरे चेहरे पर भी लज्जा की लाली छा जाती है और वह कहती है, "ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देख कर रीझ जाएँगी।"[२]

बिरादरी ने होरी पर इसीलिए १००) नकद और तीस मन अनाज का दण्ड लगाया कि उसने झुनिया को, जो उसके पुत्र की प्रयसी थी और रात में जिसके पुत हुआ था, घर में क्यों रखा। होरी ने घर का सब अनाज दण्ड में भर दिया। खाने तक का ठिकाना न रहा। नकद रुपए नही थे, अत ८०) पर घर रेहन रख दिया। धनिया पति के इस कार्य का अन्त अन्त तक विरोध करती रही। पति जब दण्ड भर कर घर आया, तो उसने फिर आड़े हाथों लिया, "न हुक्का खुलता, तो हमारा क्या बिगडा जाता था? चार पाँच महीने नही किसी का हुक्का पिया, तो क्या छोटे हो गए? मै कहती हूँ, तुम इतने भोंदू क्यों हो? मेहरिया रख लेना पाप नहीं है, हाँ, रख के छोड देना पाप है। आदमी का बहुत सीधा होना भी बुरा है। उसके सीधेपन का फल यही होता है कि कुत्ते भी मुँह चाटने लगते हैं। आज उधर तुम्हारी वाह-वाह हो रही होगी कि बिरादरी की कैसी मरजाद रख ली। मेरे भाग्य फूट गए थे कि तुम-जैसे मर्द से पाला पड़ा। कभी सुख की रोटी न मिली।"

होरी बोला, "मै तेरे बाप के पाँव पडने गया था? वही तुझे मेरे गले बाँध गया।"

"पत्थर पड गया था उनकी अक्ल पर और उन्हें क्या कहूँ। न जाने क्या देख कर लट्टू हो गए। ऐसे कोई बडे सुन्दर भी तो न थे तुम।"

---

१ मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ २८ २६

२. गोदान, पृष्ठ ३ ४

विवाद विनोद के क्षेत्र में आ गया। अस्सी रुपए गए तो गए, लाख रुपए का बालक तो मिल गया। उसे तो कोई न छीन लेगा। गोबर घर लौट आए, धनिया अलग झोपड़ी में भी सुखी रहेगी।

होरी ने पूछा, "बच्चा किसको पड़ा है?"

धनिया ने प्रसन्न-मुख होकर जवाब दिया, "बिलकुल गोबर को पड़ा है। सच।"

"रिस्ट-पुस्ट तो है?"

"हाँ, अच्छा है।"[१]

इसी प्रकार जब गोबर घर लौटता है, तो मर्यादा के बन्धनों में जकड़े हुए माता-पिता से उसकी नहीं पटती। होरी तो कुछ नहीं बोलता, धनिया से उसकी लड़ाई हो जाती है। गोबर की ओर से भुनिया भी उससे लड़ने लगती है। लड़-झगड़ कर गोबर और झुनिया शहर चलने को होते हैं। जाते समय गोबर माता से बोलता तक नहीं। धनिया कई दिनों तक उदास रही। उसे इसमें पुत्र का दाप नहीं मालूम होता था। वह झुनिया को ही झगड़े की जड़ समझ रही थी—उसी ने उसके पुत्र की मति हर ली थी और अपने को रानी समझती थी। वह हमेशा इसी तरह अपनी पुत्र-वधू को कोसा करती। एक दिन होरी ने समझाया, "मान ले, बहू ने गोबर को फोड़ ही लिया, तो तू इतना कुढ़ती क्यों है? जो सारा जमाना करता है, वही गोबर ने भी किया। अब उसके बाल-बच्चे हुए। मेरे बाल-बच्चों के लिए क्यों अपनी साँसत कराए, क्यों हमारे सिर का बोझ अपने सिर पर रखे?"

धनिया, "तुम्हीं उपद्रव की जड़ हो।"

होरी, "तो मुझे भी निकाल दे। ले जा बैलों को, अनाज माँड। मैं हुक्का पीता हूँ।"

धनिया, "तुम चल कर चक्की पीसो, मैं अनाज माड़ूँगी।"

यहाँ प्रेमचन्द कहते हैं, 'विनोद में दुःख उड़ गया। यही उसकी दवा है। धनिया प्रसन्न हो कर रूपा के बाल गूँथने बैठ गई, जो बिलकुल उलझ कर रह गए थे और होरी खलिहान चला।'[२]

पुरुष को चाहिए कि वह स्त्री के स्वाभिमान की रक्षा करे, यदि स्त्री ने किसी काम का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है, तो वह उसको अपना काम समझ कर पत्नी की मदद करे, वह काम उसके लिए अरुचिकर ही क्यों न हो। दाम्पत्य सुख के लिए प्रेमचन्द इसे आवश्यक समझते थे। शिवरानी देवी की जिम्मेवारियाँ वे स्वयं प्रसन्नतापूर्वक पूरी करते थे। शिवरानी देवी ने 'प्रेमचन्द घर में' में उनकी इस उदाराशयता का अच्छा विश्लेषण किया है। वे लिखती हैं—'मैं दूसरे के भी जिम्मे का काम अपने ऊपर ले लेती

१. गोदान, पृष्ठ १६७

२. गोदान, पृष्ठ ३११

थी। चाहे काम अच्छा हो, चाहे बुरा। मेरे ले चुकने पर वह काम को पूरा कर ही देते। मैं अक्सर ऐसा ही किया करती थी। व करने को तैयार भी हो जाते थे, मामूली से मामूली बात और बुरी से बुरी बात, इसीलिए मैंने कभी सोचा ही नहीं कि कौन काम करूँ और कौन काम न करूं। शायद वे इसीलिए मेरा कहना न टालते, जिससे मै महसूस न करूँ कि मैं नहा कर सकती। शायद उन्हें मेरी हार प्रिय न थी। या प्रेम से करते रहे हों, जिससे मै दुखी न होऊँ।"[1]

'प्रेमाश्रम' उपन्यास में स्त्री की मान रक्षा का बहुत उत्तम उदाहरण मिलता है। शीलमणि अपने पति के मित्र (ज्ञानशंकर) की स्वार्थपरता और कूटनीति से अपरिचित है, अत उनके मुकदमे के सम्बन्ध में, जो उसके पति डिप्टी ज्वाला सिंह के इजलास में है, यह वचन दे देती है कि वह पति से कह कर, उनकी डिग्री करा देगी। ज्ञानशंकर ने उसे विश्वास दिला दिया था कि उनका दावा सच्चा है। ज्वाला सिंह के सामने जितनी गवाहियाँ आती हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि क्रूर ज्ञानशंकर ने असामियों को दबाने के लिए झूठा मुकदमा दायर किया है। ज्वाला सिंह बड़े असमंजस में पड़ जाते हैं—न्याय की रक्षा करें या स्त्री के स्वाभिमान की। 'कल सन्ध्या समय शीलमणि ने उनसे ज्ञानशंकर के मुकदमे की बात कही थी और तभी से वह बड़े असमंजस में पड़े हुए थे। सामने एक जटिल समस्या थी, न्याय या प्रणय, कर्तव्य या स्त्री की मान रक्षा। वह सोचते थे, मुझसे बड़ी भूल हुई कि इस मुकदमे को अपने इजलास में रखा। लेकिन, मै यह क्या जानता था कि ज्ञानशंकर यह कूटनीति ग्रहण करेंगे। शीलमणि यह चालें क्या जाने, शील में पड़ कर वचन दे आई। अब यदि उसकी बात नहीं रखता, तो वह रो रो कर जान ही दे देगी। उसे क्या मालूम कि इस अन्याय से मेरी आत्मा को कितना दु ख होगा। नहीं, मुझसे यह अन्याय न हो सकेगा, देख कर मक्खी न निगली जाएगी। शीलमणि रूठेगी, तो रूठे। उसे स्वयं समझना चाहिए था कि मुझे ऐसा वचन देने का कोई अधिकार नहीं था। लेकिन, मुश्किल तो यह है कि वह केवल रो कर ही मेरा पिण्ड न छोड़ेगी। बात बात पर ताने देगी। कदाचित् मैके की तैयारी भी करने लगे। यही उसकी बुरी आदत है कि या तो प्रेम और मृदुलता की देवी बन जाएगी या बिगड़ेगी, तो भालों से छेदने लगेगी। ज्ञानशंकर ने मुझे ऐसे संकट में डाल रखा है कि उससे निकलने का कोई मार्ग ही नहीं दीखता।'[2]

ज्वाला सिंह की दृढ़ धारणा है कि ज्ञानशंकर का दावा बिलकुल निस्सार है, फिर भी शीलमणि की खातिर, वे ज्ञानशंकर के पक्ष में, निर्णय करने का निश्चय करते हैं और शीलमणि प्रसन्न हो जाती है—

शील, "तब तुम उनका दावा अवश्य ही खारिज कर दोगे?"

ज्वाला, "कदापि नहीं, मैं यह सब जानते हुए भी उन्हीं की डिग्री करूँगा, चाहे, अपील से मेरा फैसला मसूख हो जाए।"

१ शिवरानी देवी प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ १४४

२ प्रेमाश्रम पृष्ठ १४०

शील, (प्रसन्न हो कर) "हाँ, बस मैं भी यही चाहती हूँ, तुम अपनी सी कर दो, जिसमें मेरी बात बनी रहे।"[1]

इसके बाद ज्वाला सिंह शीलमणि को अपनी कठिनाई बतलाते हैं। बेकसूर, गरीब, विपत्ति के मारे किसानों के प्रति अन्याय करते उनके प्राण काँपते हैं। आखिर दोनों की हाय किस पर पड़ेगी—उन गरीबों में अब तो अपील करने की सामर्थ्य नहीं है। तब शीलमणि स्वय ही कहती है, "यदि यह हाल है, तो आप वही कीजिए जो न्याय और सत्य कहे। मैं गरीबों की आह नहीं लेना चाहती। मैं क्या जानती थी कि जरा से दाने का यह भीषण परिणाम होगा?"[2]

इस प्रकार पति पत्नी दोनों एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने में सफल होते हैं। पत्नी हठ नहीं करती और न्याय की रक्षा होती है।

'बड़े घर की बेटी' कहानी में भी ऐसा ही वर्णन आया है। श्रीकण्ठ को जब उसकी पत्नी आनन्दी, देवर लालबिहारी द्वारा किये अपने अपमान की बात सुनाती है, तो व क्रोध में घर छोड़ने को तैयार हो जाते हैं तथा ऐसे क्रूर और अविवेकी भाई का मुँह तक नहीं देखना चाहते। लालबिहारी ने छोटी सी बात के लिए आनन्दी को खड़ाऊँ फेंक कर मारा था। श्रीकण्ठ अपने पिता से कहते हैं, "जिस स्त्री की मान प्रतिष्ठा का ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूँ, उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है।' या तो वही घर में रहेगा, या मैं ही। आपको यदि वह प्यारा है, तो मुझे विदा कीजिए, मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं, तो उससे कहिए, जहाँ चाहे चला जाए।"[1] अपने प्यारे भाई के प्रति पति का यह क्रोध देख कर, आनन्दी को अपने देवर पर दया आ जाती है। उसने उसकी शिकायत तो की थी, लेकिन अब मन में पछता रही थी। उसे इसकी आशंका न थी कि बात इतनी बढ़ जाएगी। लालबिहारी ग्लानि के कारण घर छोड़ कर जा रहा था। आनन्दी पति और देवर दोनों को मनाती है। भाई भाई गले मिलते हैं।

इस प्रकार पुरुष स्त्री की मान रक्षा करे और स्त्री उसके कर्त्तव्य की, तो दोनों सुखी होते हैं।

दाम्पत्य जीवन में सन्तोष और सयम का भी अत्यन्त महत्त्व है। दुःख और विपत्ति में दम्पति सन्तोष से ही सुख पाते हैं। जरा जरा सी बात के लिए झगड़े, विवाद और मुँह लटकाना—सुखमय दाम्पत्य जीवन में बाधक होते हैं। सन्तोष और सयम के इस मन्त्र को, सभी आदर्श दम्पति जानते हैं। 'दो बहनें' कहानी में दो बहनें दो साल के बाद, एक तीसरे नातेदार के घर मिलती हैं। बड़ी बहन रूपकुमारी अपनी छोटी बहन रामदुलारी के अच्छे गहनों-कपड़ों से प्रभावित होती है और अपने दुःख दारिद्र्य से कुण्ठित होती है। आज तक उमानाथ (उसके पति) ने उसका सहानुभूतिपूर्ण सहयोग पाया

१ प्रेमाश्रम पृष्ठ १४७
२. प्रेमाश्रम, पृष्ठ १४७
३. मानसरोवर, भाग ७ पृष्ठ १४७

था, किन्तु आज उसके मन में असन्तोष का बीज अंकुरित हुआ, घर आते-ही-आते वह पति पर बरस पडती है, "तुम्हारे दिल में मेरे आराम का विचार आया ही नहीं। तुम तो खुश थे कि अच्छी लौंडी मिल गई है। एक रोटी खाती है और चुपचाप पड़ी रहती है। महज खाने और कपड़े पर। यह भी जब घर की जरूरतों से बचे। पचहत्तर रुपल्लियाँ ला कर मेरे हाथ पर रख देते हो और सारी दुनिया का खर्च। मेरा दिल ही जानता है, मुझे कितनी कतर-ब्योंत करनी पडती है। क्या पहनूँ और क्या ओढ़ूँ। तुम्हारे साथ जिन्दगी खराब हो गई। संसार मे ऐसे मर्द हैं, जो स्त्री के लिए आसमान के तारे तोड लाते हैं। गुरुसेवक ही को देखो, दूर क्यों जाओ? तुम से कम पढा है, उम्र में तुम से कही कम है, मगर पाँच सौ का महीना लाता है और रामदुलारी रानी बनी बैठी रहती है।"[1]

स्त्री की इस प्रकार की शिकायतों का पुरुष पर क्या प्रभाव पड़ता है और दाम्पत्य जीवन में सन्तोष का क्या महत्त्व है, यह उमानाथ के विचारों से उदाहृत है। उमानाथ सोचते हैं, 'अपनी जान में उन्होंने रूपकुमारी को शिकायत का कभी मौका नही दिया। उनका वेतन कम है, यह सत्य है, पर यह उनके बस की बात तो नही। वह दिल लगा कर अपना काम करते हैं, अफसरों को खुश रखने की सदैव चेष्टा करते हैं।'···अगर गुरुसेवक वास्तव में पाँच सौ रुपए लाता है, तो बेशक वह भाग्य का बली है। लेकिन, दूसरों की ऊँची पेशानी देख कर अपना माथा तो नहीं फोडा जाता। किसी संयोग से उसे यह अवसर मिल गया। मगर, हर एक को तो ऐसे अवसर नही मिलते। वह इसका पता लगावेंगे कि सचमुच उसे पाँच सौ मिलते हैं, या महज डींग है। और मान लिया कि पाँच सौ ही मिलते हैं, तो क्या इससे रूपकुमारी को यह हक़ है कि वह उनको ताने दे और उन्हें जली-कटी सुनावे? अगर इसी तरह वह भी रूपकुमारी से ज्यादा रूपवती और सुशीला रमणी को देख कर, रूपकुमारी को कोसना शुरू करें, तो कैसा हो? रूपकुमारी सुन्दरी है, मृदुभाषिणी है, त्यागमयी है, लेकिन उससे बढ कर सुन्दरी, मृदुभाषिणी, त्यागमयी देवियों से दुनिया खाली नहीं है। तो क्या इसी कारण वह रूपकुमारी का अनादर करें?···अब तो विवाहित जीवन का उन्हें काफी अनुभव हो गया है। एक को दूसरे के गुण-दोष मालूम हो गए हैं। अब तो सन्तोष में ही उनका जीवन सुखी रह सकता है। मगर, रूपकुमारी समझदार हो कर भी इतनी मोटी-सी बात नही समझती।'[2]

निःस्वार्थ सेवा और त्याग से ही हृदय पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जिसने इस मन्त्र का अर्थ समझ लिया, उसका दाम्पत्य जीवन सुखी होता है। जहाँ मतभेद है, प्रेम का अभाव है, स्वार्थ और नीचता है, यहाँ तक कि विश्वासघात भी है, वहाँ भी सेवा-भावना से दाम्पत्य जीवन में कलह और विवाद नही होते। 'गोदान' उपन्यास में वीमेन्स लीग में भाषण करते हुए मेहता कहते हैं, "सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। सेवा ही वह

१. 'कफ़न' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ १३६

२. 'कफ़न' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ १३७-१३८

सीमेण्ट है, जो दम्पति को जीवनपर्यन्त स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है, जिस पर बड़े बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है, वहाँ विवाह विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है।''

यह सेवा और त्याग की भावना पुरुष और स्त्री दोनों में होती है, किन्तु स्त्री में अधिक होती है, क्योंकि उसे प्रकृति ने माता बनाया है—निस्सहाय और अबोध बच्चों के पालन पोषण, शिक्षा दीक्षा की जिम्मेवारी उसे ही दी है। सेवा, वात्सल्य और त्याग की भावनाएँ उस में प्रकृत रूपस मौजूद होती हैं। इसके विपरीत पुरुष में हिंसा, प्रभुत्व, शासन आदि की भावनाएँ जन्मजात हैं, वह विद्या और बुद्धि से ही इनका परिष्कार कर सकता है।[२] यही कारण है कि सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए प्रेमचन्द स्त्री और पुरुष दोनों से सेवा और त्याग की माँग करते हुए भी, नारी से, उसकी श्रेष्ठता के कारण, अपेक्षया अधिक त्याग और सेवा की आशा करते हैं। उन्होंने अपने कुछ पात्रों से इस अतिवादी दृष्टिकोण का भी प्रतिपादन कराया है कि यदि पत्नी के साथ पति अन्याय भी करे, उसके सामने किसी दूसरी स्त्री से प्रेम भी करे, तब भी पत्नी के मन में प्रतिकार भावना उत्पन्न नहीं होनी चाहिए, पत्नी को चाहिए कि ऐसी स्थितियों में भी वह प्रेमपूर्वक पति की सेवा करती रहे। 'गोदान' उपन्यास में डाक्टर मेहता मिर्जा खुर्शेद से कहते हैं, "मेरे जेहन में औरत वफा और त्याग की मूर्ति है जो अपनी बेजबानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिलकुल मिटा कर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। देह पुरुष की रहती है, पर आत्मा स्त्री की होती है। आप कहेंगे, मर्द अपने को क्यों नहीं मिटाता? औरत ही से क्यों इसकी आशा करता है? मर्द में वह सामर्थ्य ही नहीं है। वह अपने को मिटाएगा, तो शून्य हो जाएगा। वह किसी खोह में जा बैठेगा और सर्वात्मा में मिल जाने का स्वप्न देखेगा। वह तेजप्रधान जीव है और अपने अहंकार में यह समझ कर कि वह ज्ञान का पुतला है, सीधा ईश्वर में लीन होने की कल्पना किया करता है। स्त्री पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है, शान्ति सम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं, तो वह महात्मा बन जाता है। नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं, तो वह कुलटा हो जाती है। संसार में जो कुछ सुन्दर है, उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ, मैं उससे यह आशा रखता हूँ कि मैं उसे मार ही डालूँ तो भी प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आए, अगर मैं उसकी आँखों के सामने किसी स्त्री को प्यार करूँ, तो भी उसकी ईर्ष्या न जागे।"[३]

डॉ० मदान के नाम लिखे अपने एक पत्र में, प्रेमचन्द ने, आदर्श नारीत्व के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था, वह मेहता के विचारों से विशेष भिन्न नहीं है। प्रेमचन्द ने लिखा था—'मेरा नारी का आदर्श है एक ही स्थान पर त्याग, सेवा और पवित्रता का केन्द्रित होना। त्याग बिना फल की आशा के हो, सेवा सदैव बिना असन्तोष प्रकट किये

१ गोदान पृष्ठ २११ २१२

२ गोदान, पृष्ठ २०४ २०५

३ गोदान, पृष्ठ १८९

हुए हो और पतिव्रता सीजर की पत्नी की भाँति ऐसी हो, जिसके लिए पछताने की आवश्यकता न पड़े।"[1]

सेवा और त्याग के द्वारा पति पत्नी एक दूसरे के हृदय पर विजय पाते हैं। 'वरदान' उपन्यास में चन्द्रा रूप और गुण में अपने पति के तुल्य नहीं, किन्तु उसकी सेवा-भावना और त्याग वृत्ति के कारण, उसके पति उसके अधीन हो जाते हैं। पति प्रेम में उसने अपना अहंभाव भुला दिया है, अपना अस्तित्व मिटा दिया है। पति के सुख में वह सुख मानती है और दु:ख में दु:ख —'चन्द्रा में चाहे और गुण न हों, परन्तु पति की सेवा वह तन-मन से करती थी। उनका तनिक भी सिर धमका कि इसके प्राण निकले। उनको घर आने में तनिक देर हुई कि यह व्याकुल होने लगी। जब से वे रुड़की चले गए, तब से चन्द्रा का हँसना-बोलना सब छूट गया था। उसका विनोद उनके संग चला गया था। इन्हीं कारणों ने राधाचरण को स्त्री का वशीभूत बना दिया था। प्रेम रूप, गुण आदि सब त्रुटियों का पूरक है।'[2]

'वरदान' उपन्यास में बृजरानी प्रताप से प्रेम करती है, किन्तु उसका विवाह कमलाचरण से होता है। विवाह के बाद वह पति के प्रति कर्त्तव्य पालन करती है और प्रताप को भूल भी जाती है। किन्तु, प्रताप जब उसके द्वार तक आ कर, उससे बिना मुलाकात किये, दूर इलाहाबाद पढ़ने चला जाता है, तो उसे ऐसा विश्वास हो जाता है कि वह उनकी नजरों से गिर गई है—तभी तो उससे मिले बिना ही वे चले गए। इसी चिन्ता में वह सख्त बीमार पड़ जाती है। उसकी मरणासन्न अवस्था का तार पा कर प्रताप उसे देखने आता है। उसके स्नेह का आश्वासन पा कर वह शीघ्र ही स्वस्थ हो जाती है, साथ ही बीमारी में पति की व्याकुलता और सेवा की याद कर, उसके मन में, पति के प्रति प्रेम और आदर में वृद्धि होती है। अभी तक उसने कर्त्तव्य समझ कर पति की सेवा की थी, किन्तु अब उसे पति से सच्ची प्रीति होती है। पति के त्याग और उपकार

१. (क) डॉ० इन्द्रनाथ मदान, प्रेमचन्द एक विवेचना, परिशिष्ट २, पत्र २

(ख) 'रंगभूमि' उपन्यास की इन्दु राजा महेन्द्र के कपट, असहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, शासन-प्रियता और हठ से पीड़ित हो कर, सदैव विद्रोह करती है, किन्तु जब शान्त भाव से विचार करती है, तब वह भी सेवा को महत्त्व देती है। उसकी माता ने बाल्यावस्था से ही पातिव्रत्य का बहुत ऊँचा आदर्श उसके सम्मुख रखा था, जिसका पालन न कर पाने पर उसे दु:ख होता है और वह अपने को धिक्कारती है—'मेरा धर्म उनका आज्ञा-पालन करना है। मुझे तन-मन से उनकी सेवा करनी चाहिए। मेरा सबसे पहला कर्त्तव्य उनके प्रति है, देश और जाति का स्थान गौण है, पर मेरा दुर्भाग्य बार-बार मुझे कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित कर देता है।' रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ ३६८-३६९

(ग) 'गबन' उपन्यास की जालपा कहती है, "मैं आदर्श पत्नी नहीं हूँ, इसे मैं खूब जानती हूँ। पति-सेवा अब तक मैंने नाम को भी नहीं की।" गबन, पृष्ठ ६४

(घ) 'कायाकल्प' उपन्यास में अहल्या कहती है, "नारी के लिए पुरुष-सेवा से बढ़ कर और कोई शृंगार, कोई विलास, कोई भोग नहीं है।" कायाकल्प, पृष्ठ २६४

२. वरदान, पृष्ठ २९

ने उसे मुग्ध कर लिया था। प्रेमचन्द लिखते हैं—'सच्चे प्रेम का कमल बहुधा कृपा के प्रभाव से खिल जाया करता है। जहाँ रूप, यौवन, सम्पत्ति और प्रभुता तथा स्वाभाविक सौजन्य प्रेम का बीज बोने में असमर्थ रहते हैं, वहाँ प्राय. उपकार का जादू चल जाता है। कोई हृदय ऐसा वज्र और कठोर नहीं हो सकता, जो सत्य सेवा से द्रवीभूत न हो जाए।'[१]

'प्रतिज्ञा' उपन्यास की प्रेमा का विवाह अमृतराय से नहीं होता, जिससे वह प्रेम करती थी, बल्कि दाननाथ से होता है। प्रेमा अमृतराय से प्रेम अवश्य करती थी, किन्तु विवाह हो जाने के बाद, वह दाननाथ के प्रति अपने कर्त्तव्य में त्रुटि नहीं आने देती, वह उनकी सेवा करती है, उनका आदर करती है और सभी तरह उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करती है। दाननाथ का प्रेम भी उसे इसकी प्रेरणा देता है, फिर भी वे उसके हृदय पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने में असफल रहते हैं। अवसर मिलने पर उसके प्रति विश्वास बनाये रख कर और उसकी सेवा करके वे उसके हृदय पर भी अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। प्रेमा का भाई कमला प्रसाद विधवा पूर्णा का सतीत्व भग करने के प्रयास के बाद, सारे शहर में, बदनाम हो जाता है। चूँकि दाननाथ और कमला प्रसाद अभिन्न मित्र समझे जाते हैं, इसलिए दाननाथ भी बदनाम होते हैं। वे अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए, एक व्याख्यान दे कर, कमला प्रसाद का भण्डाफोड करना चाहते हैं। प्रेमा पति को रोकती है। दाननाथ उसकी इच्छा पर अपनी ख्याति और मर्यादा का बलिदान कर देते हैं और इस त्याग से प्रेमा के हृदय पर पूर्ण विजय पा लेते हैं।

प्रेमा, "मैं तो समझती हूँ, इस समय तुम्हारा चुप रह जाना ही अच्छा है। कुछ दिनों तक लोग तुम्हें बदनाम करेंगे, पर अन्त में तुम्हारा आदर करेंगे। मुझे यही शका है कि यदि तुमने भैयाजी का विरोध किया, तो पिताजी को बडा दुःख होगा।"

दाननाथ ने मानों विष का घूँट पी कर कहा, "अच्छी बात है, जैसी तुम्हारी इच्छा। मगर याद रखो, मैं कहीं बाहर मुँह दिखाने लायक न रहूँगा।"

प्रेमचन्द लिखते हैं, 'प्रेमा ने कृतज्ञ नेत्रों से देखा। कण्ठ गद्‌गद् हो गया। मुँह से एक शब्द न निकला। पति के महान त्याग ने उसे विभोर कर दिया। उसके एक इशारे पर अपमान, निन्दा, अनादर सहने के लिए तैयार हो कर दाननाथ ने आज उसके हृदय पर अधिकार पा लिया। वह मुँह से कुछ न बोली, पर उसका एक एक रोम पति को आशीर्वाद दे रहा था।

त्याग ही वह शक्ति है, जो हृदय पर विजय पा सकती है।'[२]

'कायाकल्प' उपन्यास में मनोरमा अपने शिक्षक चक्रधर से, जो सेवा-कार्य के इच्छुक हैं, प्रेम करती है। सेवा कार्य में चक्रधर को धन की जरूरत पडती रहती है, अत मनोरमा अपने सरल, निष्कपट भाव से बूढे राजा विशाल सिंह की रानी बनना मजूर कर लेती है और विवाह के पहले ही उनसे कह देती है कि वे उससे प्रेम की आशा न करें, वह

१. वरदान, पृष्ठ ८२
२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ २०७

ता धन लुटाने के लिए उनसे विवाह कर रही है। किन्तु, राजा साहब मनोरमा के लिए कष्ट और अपमान सहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विवाह के पूर्व ही, मनोरमा के हृदय में, उनके प्रति प्रेम अंकुरित हो जाता है। किसानों की सेवा के पुरस्कार में चक्रधर जेल में बन्द कर दिया जाता है। जेल में दंगा होने पर, मध्यस्थता करने में, उसे गहरी चोट आती है। मनोरमा राजा साहब से कहती है कि वे जिलाधीश से कह कर उसके मास्टर साहब को अस्पताल में भरती करा दें, नहीं तो उनका बचना कठिन हो जाएगा। राजा साहब मिस्टर जिम के पास पहुंचते हैं, किन्तु वह बागी पर दया करने को तैयार नहीं होता। राजा साहब उससे तर्क करते हैं, चक्रधर की जमानत करने को तैयार होते हैं, किन्तु जिम किसी तरह नहीं मानता और सैर करने चला जाता है। मनोरमा का निराश और मलिन मुख याद करके राजा साहब, इस प्रकार अपमानित हो कर भी, एक बजे रात तक जिम की राह देखते हैं। वह नशे में चूर आता है और बहकी-बहकी बातें करने लगता है। राजा साहब चुप रहते हैं कि कहीं उन्हें पाँच करोड़ रुपए की जायदाद से हाथ न धोना पड़े। किन्तु जब जिम उन्हें ठोकर मारने को उठता है, तो वे उसे पटक देते हैं और उसकी छाती पर चढ़ कर उसका गला जोर से दबाते हैं। जिम का सारा नशा हिरन हो जाता है और वह राजा साहब की बात मान लेता है। राजा साहब उतनी रात को घर पहुँचते हैं, तो मनोरमा को प्रतीक्षा करते हुए पाते हैं। वे बड़े गर्व के साथ, आदि से अन्त तक, सारी कहानी खूब नमक मिर्च लगा कर, बयान करते हैं। राजा साहब के इस त्याग और अपमान-सहन के कारण मनोरमा के मन में पहली बार उनके प्रति प्रेम का आविर्भाव होता है। वह प्रेम और श्रद्धा से विह्वल हो कर उनके चरणों पर गिर पड़ती है और काँपते हुए स्वर में कहती है, "मैं आपका यह एहसान कभी न भूलूंगी।"[1]

'स्वर्ग की देवी' कहानी की लीला के सास-ससुर और दोनों बच्चों की, (हैजे से) तीन दिनों के अन्दर मृत्यु हो जाती है। बच्चे ही उसके प्राणों के आधार थे, अतः अब उसे कुछ अच्छा नहीं लगता। वह हरदम खोई सी रहती है। न कपड़ों की परवाह रहती है, न खाने पीने की। महीनों सर में तेल नहीं डालती। उसका स्वास्थ्य ऐसा खराब हो जाता है कि उठने-बैठने की शक्ति नहीं रहती। उसके पति (सीतासरन) को भी बहुत दुःख हुआ था, किन्तु धीरे धीरे उसका जी सँभल जाता है। फिर पहले की भाँति मित्रों के साथ हँसी दिल्लगी होने लगती है। अब वह घर का मालिक था, जो चाहे कर सकता था। वह लीला को शोकमग्न देख कर झुँझला उठता है, 'जिन्दगी रोने ही के लिए तो नहीं है। ईश्वर ने लड़के दिये थे, ईश्वर ही ने छीन लिये। क्या लड़कों के पीछे प्राण दे देना होगा?"

पति के मुख से ऐसी बातें सुन कर लीला अवाक् रह जाती है।

होली आती है। त्योहारों में लीला का समय रोते ही कटता था। ऐसे अवसरों पर बच्चों की याद और ताजी हो जाती थी। उधर सीतासरन मरदाने कमरे में दावत, गाने-बजाने आदि का सामान करता है और लीला को देख कर कहता है, "क्या दिन भर रोती

---

१ कायाकल्प, पृष्ठ २६१

ही रहोगी ? जरा कपडे तो बदल डालो। आदमी बन जाओ। यह क्या तुमने अपनी गत बना रखी है। मेरे साथ भी तो तुम्हारा कुछ कर्त्तव्य है ? .. मैं अब इस नहूसत का अन्त कर देना चाहता हूँ। अगर तुम्हारा अपने दिल पर काबू नहीं है, तो मेरा भी अपने दिल पर काबू नही है। मैं अब जिन्दगी भर मातम नही मना सकता।"[१]

सीतासरन रात बडी देर तक मित्रों के साथ गाने बजाने और भोग विलास में मग्न रहा। पिछले पहर जब लीला ने सन्नाटे का अनुभव किया, तो कुतूहलवश बैठक में झाँकने आई। क्या देखती है कि सभी लोग चले गए हैं और सीतासरन एक सुन्दरी से धीरे धीरे बातें कर रहा है। उस समय वह कुछ नही कहती और उलटे पाँव लौट जाती है। शाम को जब सीतासरन का खुमार टूटता है, तो वह आभूषण पहने और मुसकुराती हुई लीला को देखता है। लीला का यह त्याग उसे मोहित कर लेता है। जिस शोक में महीनों से उसे अपनी और घर की सुध नही थी, उसे उसने पति के लिए भुला दिया था। उस दिन सीतासरन का एक दोस्त उसे बुलाने के लिए आता है, तो वह जाने से इनकार कर देता है और लीला की प्रशंसा करता है, "मुझे इस समय अपनी क्षुद्रता पर जितनी लज्जा आ रही है, वह मैं ही जानता हूँ। जिस सन्तान शोक में उसने अपने शरीर को घुला डाला और अपने रूप लावण्य को मिटा दिया, उसी शोक को केवल मेरा एक इशारा पा कर उसने भुला दिया। ऐसा भुला दिया, मानों कभी शोक हुआ ही नहीं। मैं जानता हूँ, वह बडे से-बडे कष्ट सह सकती है। मेरी रक्षा उसके लिए आवश्यक है। जब अपनी उदासीनता के कारण उसने मेरी दशा बिगडते देखी, तो अपना सारा शोक भूल गई। मैंने उसे जो कठोर शब्द कहे, वे अपनी सारी सम्पत्ति बेच कर भी मिल सकते, तो लौटा लेता। लीला वास्तव में स्वर्ग की देवी है।"[२]

सेवा और त्याग की भावनाओं को महत्त्व देने के कारण पति पत्नी सम्बन्ध के लिए, पाश्चात्य आदर्शों की तुलना में, प्रेमचन्द भारतीय आदर्शों को उत्कृष्टतर बताते हैं। आदर्शों की दृष्टि से पाश्चात्य और भारतीय सभ्यताओं में बहुत बडा अन्तर है—एक में भोग-विलास है, दूसरी में सेवा और त्याग, एक स्त्री पुरुष के प्रेम में दिखावे को महत्त्व देती है, दूसरी हृदय को। एक में आमोद प्रमोद के लिए लालसा है, दूसरी में सेवा, त्याग, श्रद्धा और विश्वास है। पश्चिमी सभ्यता में स्वार्थ, अशान्ति और विद्रोह हैं, तो भारतीय सभ्यता में शान्ति, कर्त्तव्य भावना, सहानुभूति और आत्मसमर्पण हैं। 'शान्ति' कहानी के नायक को शुरू में सभी भारतीय आदर्शों और रिवाजों से चिढ है और पाश्चात्य सभ्यता के प्रति अन्धभक्ति। और, इसी धुन में वह अपनी पत्नी को ले कर माता पिता से अलग हो जाता है तथा दोनों आधुनिक जीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु, शीघ्र ही दोनों को ज्ञात होता है कि वाह्याडम्बरों में उन्होंने चाहे जितनी उन्नति की हो, लेकिन एक दूसरे के प्रति पहले का-सा प्रेम और सद्भाव नहीं रह गया है—यहाँ तक कि पति की सख्त बीमारी में पत्नी उसकी तीमारदारी नहीं करती, उसे उपन्यासों और क्लब का ही ध्यान रहता है।

१ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ७८

२. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ७८

पति को अपनी भूल मालूम होती है। वह पुन पहले का सादा और पवित्र जीवन अपनाता है। वह अपनी पत्नी से कहता है, "यहाँ न तो हृदय का शान्ति है, न आत्मिक आनन्द। यह एक उन्मत्त, अशान्तिमय, स्वार्थपूर्ण, विलासयुक्त जीवन है। यहाँ न नीति है, न धर्म, न सहानुभूति, न सहृदयता। परमात्मा के लिए मुझे इस अग्नि से बचाओ। ...मुझे शारीरिक नहीं, मानसिक कष्ट है। म फिर तुम्हें वही पहले की सी सलज्ज, नीचा सिर करके चलने वाली, पूजा करने वाली, रामायण पढ़नेवाली, घर का काम-काज करने वाली, चरखा कातने वाली, ईश्वर से डरने वाली, पति श्रद्धा से परिपूर्ण स्त्री देखना चाहता हूँ। .. तुमको सोलहो आने अपनी बनाना और सालहो आने तुम्हारा बनना चाहता हूँ। अब म समझ गया कि उसी सादे पवित्र जीवन में वास्तविक सुख है।"[1]

'दो सखियाँ' कहानी भी इसी तथ्य क उद्‌घाटन के लिए लिखी गई है। पद्मा पाश्चात्य सभ्यता क आदर्शों के बीच पली है। उसमें गर्व, दिखावा और भोग विलास की इच्छा है, उसमें क्रोध और प्रतिहिंसा की भावना है। वह पति पर बहुत शीघ्र अविश्वास कर लेती है। उसके हृदय में सेवा और त्याग की भावनाओं का सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर उसकी सहेली चन्दा है। उसकी ससुराल में उसे विशेष सुख-सुविधा नहीं है, न उसके पति पद्मा के पति की भाँति सुन्दर और विद्वान् हैं। उसकी सास और ननदें रूखे स्वभाव की, शासनप्रिय और ईर्ष्यालु हैं, फिर भी वह सेवा, त्याग और आत्मसमर्पण द्वारा परिवार को अशान्ति और कलह से बचाती है। इसके विपरीत विलासिनी पद्मा अपने पति को भी प्रसन्न नहीं रख पाती। परिणामत. वह विष खा लेता है। जब वह एक पड़ोसी की स्त्री 'कुसुम' की सेवा से अच्छा होता है, तो पद्मा भी दाम्पत्य जीवन में सेवा और आत्मसमर्पण का महत्त्व समझती है। वह चन्दा को लिखती है—'बहन, कुसुम कल चली जाएगी। मुझे तो अब वह देवी सी दीखती है। जी चाहता है, उसके चरण धो-धो कर पीऊँ। उसके हाथों मुझे विनोद ही नहीं मिले हैं, सेवा का सच्चा आदर्श और स्त्री का सच्चा कर्त्तव्य ज्ञान भी मिला है। आज से मेरे जीवन का नवयुग आरम्भ होता है, जिसमें भोग और विलास की नहीं, सहृदयता और आत्मीयता की प्रधानता होगी।'[2]

आदर्श पत्नियों में, सेवा और त्याग के अतिरिक्त, एक और दुर्लभ गुण होता है। वे प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पति क प्रति अपने मन में विद्रोह, शत्रुता, प्रतिहिंसा, क्रोध और प्रतिकार को स्थान नहीं देतीं। वे रोती हैं, जलती हैं, कुढ़ती हैं, किन्तु पति से अलग होने की कल्पना तक नहीं कर सकतीं, उसका अहित सोच भी नहीं सकतीं। बाद में, ऐसी ही स्त्रियों क पति अपने किये पर लज्जित होते हैं।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास में प्रेमा के पति (दाननाथ) अमृतराय क भाषण के अवसर पर गुण्डों द्वारा उपद्रव कराना चाहते हैं। प्रेमा का विवाह पहले अमृतराय से ही होने वाला था और विवाह के पहले वह अमृतराय से प्रेम भी करती थी। अमृतराय यों भी देवतुल्य पुरुष थे। प्रेमा अब भी उनके प्रति श्रद्धालु थी। अत', वह चाहती है कि पति के

---

१. मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ ९२-९३

२. मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २७७-२७८

दुराग्रह से अमृतराय को परिचित करा दे। पर, वह कुछ निश्चित नहीं कर पाती। अन्त में उत्सव का समय आ जाता है। उस वक्त उसे अपनी दशा पर रोना आ जाता है। ये दोनों मित्र, जिनमें दाँत काटी रोटी थी, आज एक दूसरे के शत्रु हो रहे हैं और उसी के कारण। उसकी सारी करुणा, कोमलता और ममता उसे अमृतराय के घर जा कर उन्हें रोकने को प्रेरित करने लगती है। एक बार उसे यह भय होता है कि उसका यह काम दाननाथ को बहुत बुरा लगेगा, लेकिन वह इसकी चिन्ता छोड़ देती है। वह किसी की लौंडी नहीं है। उसने किसी के हाथ अपनी धारणाएँ नहीं बेची हैं। प्रेम पति के लिए है, पर भक्ति सदा अमृतराय के साथ रहेगी। और, वह चली जाती है।

प्रमा की इस हरक्त से दाननाथ बहुत रुष्ट होते हैं, वे उसकी सूरत से नफरत करने लगते हैं और उससे बोलना भी छोड़ देते हैं। किन्तु, प्रेमा अपनी सेवा और अपने कर्त्तव्य में त्रुटि नहीं आने देती, हालाँकि उसे अपने आचरण के औचित्य में सन्देह नहीं है—"जिस दिन प्रेमा ने टाउन हाल में जा कर उनके (दाननाथ) कुचक्रों को मटियामेट कर दिया, उस दिन से तो वह अमृतराय के खून के प्यासे हो रहे हैं। प्रेमा से पहले ही दिल साफ न था (दाननाथ प्रेमा की प्रेम कथा से परिचित थे), अब तो उनके क्रोध का वार पार न रहा। प्रेमा से कुछ न कहा, इस विषय की चर्चा तक न की। प्रेमा जवाब देने को तैयार बैठी थी, लेकिन उससे बोलना चालना छोड़ दिया। भाई (प्रेमा का भाई कमला प्रसाद) पर तो जान देते थे और बहन की सूरत से भी बेजार। बल्कि यों कहिए कि जिन्दगी ही से बेज़ार थे। प्रमा जी-जान से उनकी सेवा करती थी, उनका मुँह जोहा करती थी, उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा किया करती थी, पर दाननाथ का उसकी भाव भंगियों में बनावट की गन्ध आती।"[1]

इसी प्रकार दिन बीतते जाते हैं, किन्तु दाननाथ प्रमा को क्षमा नहीं करते, बल्कि अब व्यंग्य और विवाद करने का अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। पर, प्रेमा प्रतिकार की दुर्भावना न रख कर विवाद के अवसरों को बचाती है और जब सहन नहीं कर पाती, तो रोती है। अन्त में दाननाथ लज्जित होते हैं। प्रेमा का भाई (कमला प्रसाद) विधवा पूर्णा को धोखे से अपने एकान्त और निर्जन बगीचे में ले जाता है और उसके साथ बलात्कार करना चाहता है। पूर्णा उसे कुर्सी से घायल करके भाग खड़ी होती है और वनिताश्रम पहुँच जाती है। कमला प्रसाद के मुँह और छाती में गहरी चोट आती है और एक दाँत भी टूट जाता है। दाननाथ उसे देख आए थे और प्रेमा के पूछने पर उससे सारे समाचार घृणा और क्रोध के साथ कहते भी हैं। प्रेमा को पूरी बात मालूम न थी, अतः अपने भाई के प्रति पति के कठोर शब्द उसे बुरे मालूम होते हैं। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसे जलाने के लिए, उसका अपमान करने के लिए, यह चोट की गई है। अतः भाई को देखने की प्रबल उत्कण्ठा होते हुए भी वह यह इच्छा प्रकट नहीं करती, क्योंकि तब तो दाननाथ और भी अप्रसन्न होंगे।

एक क्षण के बाद दाननाथ ने कहा, "जी चाहता हो, तो जा कर देख आओ। चोट तो ऐसी गहरी नहीं है, पर मक्र ऐसा किए हुए हैं, मानों गोली लग गई हो।"

१ प्रतिज्ञा पृष्ठ १९२-१९३

प्रेमा ने विरक्त हो कर कहा, "तुम तो देख ही आए, मैं जा कर क्या करूँगी ।"

"नही भाई, मै किसी का रोकता नही। ऐसा न हो, पीछे से कहने लगो, तुमने जाने न दिया। में बिलकुल नही रोकता।"

"मैंने तो कभी तुम से किसी बात की शिकायत नही की। क्यों व्यर्थ का दोष लगाते हो? मेरी जाने की बिलकुल इच्छा नहीं है।"

"हाँ, इच्छा न होगी, मैंने कह दिया न। मना करता, तो जरूर इच्छा होती। मेरे कहने से छूत लग गई।"

'प्रेमा समझ गई कि यह उसी चन्दे वाले जलसे की तरफ इशारा है। अब और कोई बातचीत करने का अवसर न था। दाननाथ ने वह अपराध अब तक न क्षमा किया था। वहाँ से उठ कर अपने कमरे में चली गई।

दाननाथ के दिल का बुखार न निकलने पाया। वह महीनों से अवसर खोज रहे थे कि एक बार प्रेमा से खूब खुली खुली बातें करें, पर यह अवसर उनके हाथ से निकल गया।'[1]

प्रेमा कमरे में जा कर रो रही थी। इधर दाननाथ को माँ से मालूम होता है कि पूर्णा वनिताश्रम पहुँच गई। उनके पेट में कोई बात पच नहीं सकती थी। वे प्रेमा के कमरे के द्वार पर जा कर कहते हे, "कुछ सुना, पूर्णा वनिता भवन पहुँच गई?"

'प्रेमा ने उनकी ओर देखा। उसकी आँखें लाल थी। वह बातें, जो हृदय को मलते रहने पर उसके मुख से न निकल पाती थीं—कर्तव्य और शका जिन्हे अन्दर ही दवा देती थी—आँसू बन कर निकल जाती थीं। चन्दे वाले जलसे में जाना क्या इतना घोर अपराध था कि क्षमा ही न किया जा सके? वह जहाँ जाते हैं, जो करते हैं, क्या उससे पूछ कर करते हैं? इसमें सन्देह नहीं कि विद्या, बुद्धि और उम्र में उससे बढ़े हुए हैं, इसीलिए वह अधिक स्वतन्त्र हैं। उन्हे उस पर निगरानी रखने का हक़ है। वह अगर उसे कोई अनुचित बात करते देखें, तो रोक सकते हैं, लेकिन उस जलसे में जाना तो कोई अनुचित बात न थी। क्या कोई बात इसलिए अनुचित हो जाती है कि अमृतराय का उसमे हाथ है—इनमें इतनी सहानुभूति भी नही, सब कुछ जान कर भी अनजान बनते हैं।

दाननाथ उसकी लाल आँखें देख कर प्रेम से द्रवित हो उठे। अपनी कठोरता पर लज्जा आई।'[2]

स्त्री और पुरुष में सन्तान की स्वाभाविक लालसा होती है। निस्सन्तान दम्पति के प्रेम में प्राय. शिथिलता आ जाती है। 'सेवासदन' उपन्यास की सुभद्रा पद्म सिंह की दूसरी पत्नी है। अपनी पहली पत्नी से उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ था, किन्तु वह कम उम्र की थी और शिशु पालन का मर्म नहीं जानती थी। छठे महीने पुत्र और पत्नी दोनों ही चल बसे थे। सुभद्रा से विवाह हुए सात साल हो जाते हैं और पद्म सिंह सन्तान का मुख नहीं देख पाते। वे मन को बहुत समझाते हैं कि सन्तान से कोई सुख तो होता नहीं, केवल

१. प्रतिज्ञा, पृष्ठ २०१-२०२
२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ २०३-२०४

परेशानी ही होती है, किन्तु नैराश्य के कारण दुखी रहते हैं। सुभद्रा के प्रति वह प्रेम नहीं रह जाता। सुभद्रा पति के मन की बात समझ लेती है और उसे दु ख भी होता है, किन्तु इसके कारण उसके मन में पति के प्रति दुर्भाव नहीं आता, बल्कि अब वह उन्हें और प्रसन्न रखने की चेष्टा करती है—'पहले दो तीन साल तक तो पद्म सिंह को सन्तान का ध्यान ही नहीं हुआ। यदि भामा (भाभी) कभी इसकी चर्चा करती, तो वह टाल जाते। कहते, मुझे सन्तान की इच्छा नहीं। मुझसे यह बोझ न सँभलेगा। अभी तक सन्तान की आशा थी, इसलिए अधीर न होते थे।

लेकिन, जब चौथा साल भी यों ही कट गया, तो उन्हें कुछ निराशा होने लगी। मन में चिन्ता उत्पन्न होने लगी, क्या सचमुच मैं निस्सन्तान ही रहूँगा ? ज्यों ज्यों दिन गुजरते थे, यह चिन्ता बढ़ती जाती थी। अब उन्हें अपना जीवन कुछ शून्य सा मालूम होने लगा। सुभद्रा से वह प्रेम न रहा, सुभद्रा ने इसे ताड लिया। उसे दु ख तो हुआ, पर इसे अपने कर्मों का फल समझ कर उसने सन्ताप किया।

पद्म सिंह अपने को बहुत समझाते कि हमें सन्तान लेकर क्या करना है ? जन्म से ले कर पच्चीस वर्ष तक की आयु तक उसे जिलाओ, खिलाओ, पढाओ, लिखाओ, तिस पर भी यह शका ही लगी रहती है कि यह किसी ढग की भी होगी या नहीं। लडका मर गया तो उसके नाम को लेकर रोओ, जो कहीं हम मर गए, तब तो उसकी जिन्दगी ही नष्ट हो गई। हमें यह सुख नहीं चाहिए। लेकिन, इन विचारों से मन को शान्ति न होती। वह सुभद्रा से अपने भावों को छिपाने की चेष्टा करते थे और उसे निर्दोष समझ कर उसके साथ पूर्ववत् प्रेम करना चाहते थे, पर जब हृदय पर नैराश्य का अन्धकार छाया हो, तो मुख पर प्रकाश कहाँ से आवे ? साधारण बुद्धि का मनुष्य भी कह सकता था कि स्त्री पुरुष के बीच में कुछ न-कुछ अन्तर है। कुशल यही था कि सुभद्रा की ओर से पति प्रेम और सेवा में कुछ कमी न थी, वरन् दिनोंदिन उसमें और कोमलता आती जाती थी, वह अपने प्रेमानुराग से सन्तान लालसा को दबाना चाहती थी, पर इस दुस्तर कार्य में वह उस वैद्य से अधिक सफल न होती थी, जो रोगी को गीतों से अच्छा करना चाहता हो। गृहस्थी की छोटी छोटी बातों में, जो अनुचित होने पर भी पति को ग्राह्य हो जाया करती हैं, उसे सदैव दबना पड़ता था।'[1]

फिर भी सेवाशील, सहानुभूतिपूर्ण, उदार, दयालु और विचारशील सुभद्रा सन्तान-हीन होकर भी पद्म सिंह को सुख और शान्ति प्रदान करती है। पद्म सिंह नगर निगम के सदस्य हैं और उन्होंने वेश्याओं को शहर से दूर रखने का प्रस्ताव किया है, किन्तु धीरे धीरे उन्हें वेश्याओं से सहानुभूति होती है और वे उनके सुधार के पक्ष में हो कर कुछ अन्य सदस्यों के इस सुझाव को भी, उसमें जोड़ देते हैं कि जो वेश्याएँ नौ महीने के अन्दर अपना निकाह कर लेंगी, या कोई ऐसा हुनर सीख लेंगी, जिससे जायज तरीके पर जिन्दगी बसर कर सकें, उन पर यह कानून लागू न होगा। पद्म सिंह इसे मान लेते हैं, किन्तु उनके मित्र इसी कारण उनके विरोधी हो जाते हैं कि उन्होंने तरमीम क्यों स्वीकार की। उनके मित्रों

---

१ सेवासदन, पृष्ठ २४१-२४१

में एक पत्र के सम्पादक (प्रभाकर राव) भी थे। वे अपने पत्र में पद्म सिंह को गालियाँ देते हैं, उनके चरित्र पर आक्षेप करते हैं, जिससे पद्म सिंह खिन्न रहते हैं। सुभद्रा पद्म सिंह की मनोदशा अच्छी तरह समझती है और वह पति से पूर्ण सहमत है। वह पति के सहकारियों की उनसे भी तीव्र आलोचना करती है। पद्म सिंह को सुभद्रा की बातों से बड़ी शान्ति मिलती है। वह जैसे उनके व्यथित चित्त पर शीतल लेप करती है। एक दिन पद्म सिंह प्रभाकर राव की गालियों का उत्तर गालियों से देने को उद्यत होते हैं। सुभद्रा उन्हें रोकती है, "गालियों का उत्तर मौन है। गालियों का उत्तर गाली तो मूर्ख भी देते हैं, फिर उन में और तुम में अन्तर ही क्या है ? ··उसे जो जी में आवे, बकने दो। कभी-न-कभी वह अवश्य लज्जित होगा। बस, वही इन गालियों का दण्ड होगा।" पद्म सिंह सुभद्रा से कहते हैं, "सम्पादक कभी लज्जित नहीं होते, वे तो अपने पत्रों की बिक्री के लिए ऐसी कोई न-कोई फुलझड़ी छोड़ते ही रहते हैं।"

सुभद्रा पद्म सिंह को जो उत्तर देती है, वह उसके बारे में पद्म सिंह की आँखें खोल देता है—

सुभद्रा, "तब तो ये लोग पैसे के गुलाम हैं। इन पर क्रोध करने की जगह दया करनी चाहिए।"

प्रेमचन्द लिखते हैं—'पद्म सिंह मेज से उठ आए। उत्तर लिखने का विचार छोड़ दिया। वे सुभद्रा को ऐसी विचारशीला कभी न समझते थे, उन्हें अनुभव हुआ कि यद्यपि मैंने बहुत विद्या पढ़ी है, पर इसके हृदय की उदारता को मैं नहीं पहुँचता। यह अशिक्षिता हो कर भी मुझसे कहीं उच्च विचार रखती है। उन्हें आज ज्ञात हुआ कि स्त्री सन्तानहीन हो कर भी पुरुष के लिए शान्ति, आनन्द का एक अविरल स्रोत है। सुभद्रा के प्रति उनके हृदय में एक नया प्रेम जाग्रत हो गया। एक लहर उठी, जिसने बरसों से जमे हुए मालिन्य को काट कर बहा दिया। उन्होंने विमल, विशुद्ध भाव से उसे देखा। सुभद्रा इसका आशय समझ गई और उसका हृदय आनन्द से गद्गद् हो गया।'[1]

प्रेमचन्द का यह आदर्श कि यदि पति किसी कारणवश रूठ जाए या पत्नी का अपमान करे, तो भी स्त्री के मन में दुर्भाव नहीं आना चाहिए, उनके द्वारा बार-बार चित्रित है। 'कायाकल्प' उपन्यास में बूढ़े राजा विशाल सिंह अपनी छठी पत्नी (मनोरमा) पर सन्देह करते हैं कि उसी ने उनकी पाँचवीं पत्नी रुक्मिणी का विष दे दिया है। वे उसकी सूरत से भी घृणा करने लगते हैं, जब कि पहले उसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते थे। फिर उनका एकमात्र नाती, जो राज्य का उत्तराधिकारी है, पाँच वर्षों से गायब था, अतः वे पुत्र के लिए सातवें विवाह की तैयारियाँ शुरू करते हैं। निरपराध मनोरमा का महल, सवारी, सजावट के सामान, सभी नई रानी के वास्ते ले लिये जाते हैं, किन्तु मनोरमा पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। उसकी जबान पर शिकायत का एक शब्द भी नहीं आता। वह पति के सभी अत्याचार धैर्य और शान्ति से, मुसकराती हुई, सहती है। महल के जिस हिस्से में पहले महरियाँ रहती थीं, अब वह उसी में रहती है। किन्तु उसे पति पर

१. सेवासदन, पृष्ठ २७१-२७२

क्रोध नहीं है, उसे तो इस बात का दु ख है कि वह उनसे पूरी तरह सहानुभूति नहीं कर रही है। मनोरमा का भाई (गुरुसेवक) राजा साहब पर क्रोधित होता है, किन्तु वह उसे भी समझाती है, 'मुझे उनसे कोई शिकायत नहीं है। वह इस समय अपने होश में नहीं हैं। यही क्या, कोई आदमी शोक के ऐसे निर्दय आघात सह कर अपने होश में नहीं रह सकता। मैं या आप उनके मन के भावों का अनुमान नहीं कर सकते। राजा साहब ने सिर पटक कर प्राण नहीं दे दिये, यही क्या कम है। कम से-कम मैं तो इतना धैर्य न रख सकती। मुझे इस बात का दु ख है कि उनके साथ मुझे जितनी सहानुभूति होनी चाहिए, मैं नहीं कर रही हूँ।"[1]

भाई द्वारा यह पूछे जाने पर—"वह तो तुम्हें ठोकरें मारते हैं और तुम उनके पाँव सहलाती हो। क्या समझती हो कि तुम्हारी इस भक्ति से राजा साहब फिर तुम से खुश हो जाएँगे?" मनोरमा उसे तिरस्कार की दृष्टि से देख कर कहती है, "अगर ऐसा समझती हूँ, तो क्या कोई बुराई करती हूँ? उनकी खुशी की परवा नहीं, तो फिर किसकी खुशी की परवा करूँगी? जो स्त्री अपने पति से दिल में कीना रखे, उसे विष खा कर प्राण दे देने चाहिए। हमारा धर्म कीना रखना नहीं, क्षमा करना है।"[2]

बाद में राजा साहब मनोरमा के सामने अपनी भूल स्वीकार करते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं, "मैंने जीवन में जो कुछ सुख और स्वाद पाया, वह तुम्हारे स्नेह और माधुर्य में पाया। यह भाग्य की निर्दय क्रीड़ा है कि जिसे मैं अपना सुख सर्वस्व समझता था उस पर सबसे अधिक अन्याय किया, किन्तु अब मुझे अपने अन्याय पर दु ख के बदले एक प्रकार का सन्तोष हो रहा है। वह परीक्षा थी, जिसने तुम्हारे सतीत्व को और भी उज्ज्वल कर दिया, जिसने तुम्हारे हृदय की उस अपार कोमलता का परिचय दे दिया, जो कठोर होना नहीं जानती, जो कंचन की भाँति तपने पर और भी विशुद्ध एवं उज्ज्वल हो जाती है। इस परीक्षा के बिना तुम्हारे ये गुण छिपे रह जाते। मैंने तुम्हारे साथ जो जो नीचताएँ कीं, वे किसी दूसरी स्त्री में शत्रुता के भाव उत्पन्न कर देतीं। वह मानसिक वेदना, वह अपमान, वह दुर्जनता दूसरा कौन सहता और सह कर हृदय में मैल न आने देता? इसका बदला मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ?"[3]

'प्रेमाश्रम' उपन्यास के डिप्टी ज्वाला सिंह अपने कुटिल जमींदार मित्र (ज्ञानशंकर) का दावा खारिज कर देते हैं। इस पर वह उनके पीछे हाथ धो कर पड़ जाता है। अपने लेखों में वह उनके उज्ज्वल चरित्र को तरह तरह से कलंकित सिद्ध करता है। किन्तु इससे शीलमणि उन पर जरा भी सन्देह नहीं करती, न उनसे विमुख ही होती है। उसके श्रद्धापूर्ण प्रेम के कारण ही ज्वाला सिंह इन आक्षेपों को सहन करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा वे जहर खा लेते। ज्वाला सिंह प्रेमशंकर से कहते हैं, "मैंने कई बार जहर खाने का इरादा किया, किन्तु यह सोच कर कि कदाचित् इससे इन आक्षेपों की पुष्टि हो जाएगी, रुक गया। यह

१ कायाकल्प पृष्ठ ३३५

२ कायाकल्प पृष्ठ ३३६

३ कायाकल्प, पृष्ठ ३५०

भय भी था कि शीलमणि रो रो कर प्राण न त्याग दे। सच पूछिए, तो उसी के श्रद्धामय प्रेम ने अब तक मेरी प्राण रक्षा की है, अगर वह एक क्षण के लिए भी मुझसे विमुख हो जाती, तो मैं अवश्य ही आत्मघात कर लेता।"[1]

'उन्माद' कहानी की वागेश्वरी आदर्श पत्नी है। मनहर बिलकुल साधारण व्यक्ति है और एक दफ्तर में क्लर्क है। किन्तु, वागेश्वरी की सेवा भावना के कारण वह इस योग्य होता है कि उसे विलायत में जासूसी का अध्ययन करने के लिए वृत्ति मिलती है। मनहर विलायत जा कर उस भूल जाता है और एक अँगरेज युवती (जेनी) से विवाह कर लेता है। वागेश्वरी को यह मालूम होता है, फिर भी उसे आशा है कि मनहर एक दिन उसके पास आएगा। जब वह सुनती है कि मनहर ईसाई हो गया है, तब वह निराश हो जाती है। फिर भी वह ससुराल छोड़ कर नहीं जाती। मायका सम्पन्न है, वहाँ से कई बार बुलावा आता है, पर वह ससुराल में ही रहती है। कदाचित् उसे यह आशा है कि भूले भटके मनहर कहीं आ ही गया, तो वह उसके दर्शन भी न कर सकेगी—'वागेश्वरी निराशा में भी आस बाँध बैठी हुई थी। उसका मायका सम्पन्न था। बार-बार बुलावे आते, बाप आया, भाई आया, पर धैर्य और व्रत की देवी घर से न टली। जब मनहर भारत आया, तो वागेश्वरी ने सुना कि वह विलायत से एक मेम लाया है। फिर भी उसे आशा थी कि वह आएगा, लेकिन उसकी आशा पूरी न हुई। फिर उसने सुना, वह ईसाई हो गया है और आचार विचार त्याग दिया है, तब उसने माथा ठोंक लिया।'[2]

पति के प्रति, वागेश्वरी के मन में, कभी प्रतिहिंसा की भावना नहीं आती। पाँच साल बाद जब मनहर उसके पास आता है, तो वह उसका स्वागत करती है। मनहर का 'सेवा का चस्का' पाया हुआ मन विलासिनी और मायाविनी जेनी से शीघ्र ही ऊब गया था और एक दिन मानसिक अस्वस्थता की स्थिति में वह वागेश्वरी के पास गाँव चला आया था। वागेश्वरी पति के प्रति मन में सहानुभूति रखती ही है, यहाँ तक कि जेनी जब मनहर का पता लगाती हुई वहाँ पहुँचती है, तो वह उसे भी आदर के साथ घर में लाती है।

'वेश्या' कहानी में लीला के सम्पत्तिशाली पति सिंगार सिंह का एक वेश्या से प्रेम हो जाता है। लीला को मालूम है कि उसके पति ने वेश्या से विवाह का प्रस्ताव भी किया है। वह शोक में अत्यन्त दुर्बल हो जाती है। उसे पति पर कभी-कभी क्रोध भी आता है, किन्तु ऐसी स्थिति में, पति को छोड़ कर, वह मायके जाना नहीं चाहती। डरती है, तब तो वे और भी स्वतन्त्र हो जाएँगे। वह उनकी अपार सम्पत्ति को, उनका वेश्यागामी होने का, मूल कारण समझती है। वेश्या सिंगार सिंह को धोखा देती है और उस पर प्राण देनेवाले सिंगार सिंह की महफिल सूनी रहती है। लीला, जो वीतराग की भाँति, बिना कुछ कहे-सुने पति के आदेश पूरा करती थी, इस उदासीनता से चिन्तित हो कर पति से कुशल-समाचार पूछती है। आज कई महीनों के बाद पति की आँखों में वह स्नेह की झलक देखती है। वे कह रहे थे, "मैं बिलकुल अच्छा हूँ। ऐसे वेश्याओं को मौत भी नहीं आती। अब इस जीवन

१ प्रेमाश्रम, पृष्ठ १५०
२ मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ १२८

से जी भर गया। कुछ दिनों के लिए बाहर जाना चाहता हूँ। तुम अपने घर चली जाओ, तो मैं निश्चिन्त हो जाऊँ। ...अपने साथ जो कुछ ले जाना चाहती हो, ले जाओ।.. मैं नाराज हो कर नहीं कह रहा हूँ लीला। न जाने कब तक लौटूँ, तुम यहाँ अकेली कैसे रहोगी?"

लीला कहती है, "मेरा विवाह तो इस घर की सम्पत्ति से नहीं हुआ है, तुमसे हुआ है। जहाँ तुम रहोगे वहीं मैं भी रहूँगी।"

"मेरे साथ तो अब तक तुम्हें रोना ही पड़ा।"

लीला ने देखा, सिंगार की आँखों में आँसू की एक बूँद नीले आकाश में चन्द्रमा की तरह गिरने गिरने हो रही थी। उसका मन भी पुलकित हो उठा। महीनों की क्षुधाग्नि में जलने के बाद अन्न का एक दाना पा कर वह उसे कैसे ठुकरा दे? पेट नहीं भरेगा, कुछ भी नहीं होगा, लेकिन उस दाने को ठुकराना क्या उसके बस की बात थी?

उसने बिलकुल पास आ कर, अपने अंचल को उसके समीप ले जा कर कहा, "मैं तो तुम्हारी हो गई। हँसाओगे, हँसूँगी, रुलाओगे, रोऊँगी, रखोगे तो रहूँगी, निकालोगे तो भी रहूँगी, मेरा घर तुम हो, धर्म तुम हो, अच्छी हूँ तो तुम्हारी हूँ, बुरी हूँ तो तुम्हारी हूँ।"

और, दूसरे क्षण सिंगार के विशाल सीने पर उसका सिर रखा हुआ था और उसके हाथ थे लीला की कमर में। दोनों के मुख पर हर्ष की लाली थी, आँखों में हर्ष के आँसू और मन में एक ऐसा तूफान, जा उन्हें न जाने कहाँ उड़ा ले जाएगा।"[1]

'स्वर्ग की देवी' कहानी की लीला, पति के वेश्या गमन को मानसिक रोग समझती है और जिस कारण पति को ऐसी आदत बन रही है, वह उसे दूर करने का प्रयत्न करती है। लीला अपनी दोनों सन्तानों की, एक ही दिन में, (हैजे से) मृत्यु हो जाने के कारण इतनी दुखी हो जाती है कि उसे रोने के सिवा कुछ सूझता ही नहीं, यहाँ तक कि वह अपने पति के प्रति न्यूनतम कर्त्तव्य भी पूरे नहीं कर पाती। उसका पति (सीतासरन) मन बहलाने के लिए ज़िन्दादिल मित्रों और वारांगनाओं की शरण लेता है।

'लीला ने देखा, मेरे स्वामी मेरे हाथों से निकले जा रहे हैं। उन पर विषय का भूत सवार हो गया है और कोई समझाने वाला नहीं। वह अपने होश में नहीं हैं। मैं क्या करूँ? अगर मैं चली जाती हूँ, तो थोड़े ही दिनों में सारा घर मिट्टी में मिल जाएगा और इनका वही हाल होगा, जो स्वार्थी मित्रों के चंगुल में फँसे हुए नौजवान रईसों का होता है। कोई कुलटा घर में आ जाएगी और इनका सर्वनाश कर देगी। ईश्वर, मैं क्या करूँ? अगर इन्हें कोई बीमारी हो जाती, तो क्या मैं उस दशा में इन्हें छोड़ कर चली जाती? कभी नहीं। मैं तन मन से इनकी सेवा सुश्रूषा करती, ईश्वर से प्रार्थना करती, देवताओं की मनौतियाँ करती। माना इन्हें शारीरिक रोग नहीं है, लेकिन मानसिक रोग अवश्य है। जो आदमी रोने की जगह हँसे और हँसने की जगह रोए, उसके दीवाना होने में क्या सन्देह है? मेरे चले जाने से इनका सर्वनाश हो जाएगा। इन्हें बचाना मेरा धर्म है। हाँ,

१ मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ ५७-५८

मुझे अपना शोक भूल जाना होगा। रोऊँगी, रोना तो मेरी तकदीर में लिखा ही है—रोऊँगी लेकिन हँस हँस कर।''[1]

सीतासरन जब लीला में यह परिवर्त्तन देखता है, तो उसके त्याग पर मुग्ध हो जाता है और उसकी नजरों में वह स्वर्ग की देवी हो जाती है।

कभी-कभी स्त्री को अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ता है। पति उसकी सूरत नहीं देखना चाहता, उससे बातें नहीं करना चाहता।

'स्त्री और पुरुष' कहानी में विपिन आशा की बात इसलिए नही पूछता कि वह चौडे मुँह और चपटी नाक वाली बदसूरत स्त्री है। आशा पति को हर तरह से प्रसन्न करने की चेष्टा करती है। उसकी सेवा के लिए अवसर ढूँढा करती है, लेकिन विपिन उसकी परछाई से भी दूर रहना चाहता है। आशा यदि बात करना चाहती है, तो वह उसे ऐसी जली-कटी सुनाता है कि वह रोती हुई चली जाती है—

'विपिन को अपना जीवन नरक सा जान पडता था। आशा पर उसे दया अवश्य आती थी, वह अपने मन को समझाता कि इसमें उस बेचारी का क्या दोष है, उसने जबर दस्ती तो मुझसे विवाह किया नही। लेकिन यह दया और यह विचार उस घृणा को न जीत सकता था, जो आशा को देखते ही उसके रोम रोम में व्याप्त हो जाती थी। आशा अपने अच्छे से अच्छे कपडे पहनती, तरह तरह से बाल सँवारती, घण्टों आइने के सामने खडी हो कर अपना श्रृंगार करती, लेकिन विपिन का यह शुतुरगमजे से मालूम होते। वह दिल से चाहती थी कि उन्हे प्रसन्न करूँ, उनकी सेवा करने के लिए अवसर खोजा करती थी, लेकिन विपिन उससे भागा भागा फिरता था। अगर कभी भेंट हो भी जाती, तो कुछ ऐसी जली-कटी बातें करने लगता कि आशा रोती हुई वहाँ से चली जाती।''[2]

धीरे धीरे विपिन बुरी आदतों का शिकार होता है और आशा शोक एव चिन्ता के कारण बिछावन पकड़ती है। विपिन को जैसे मुँह माँगी मुराद मिलती है। वह दिल में मनाता है कि यह मर जाती, तो इस बार अपनी पसन्द से विवाह करता। किन्तु, आशा बीमार ही रहती है और विपिन को अपने कलुषित भोग विलास का फल मिलता है—शारीरिक और मानसिक कमजोरी के कारण, उस पर फालिज गिरता है। आशा अपना रोग भूल जाती है और पति की सेवा करती है—

'फालिज के भयकर रोग में रोगी की सेवा करना आसान काम नहीं। उस पर आशा महीनों से बीमार थी। लेकिन, इस रोग के सामने वह अपना रोग भूल गई। १५ दिनों तक विपिन की हालत बहुत नाजुक रही। आशा दिन-के दिन और रात-की रात उसके पास बैठी रहती, उनके लिए पथ्य बनाना, उन्हें गोद में सँभाल कर दवा पिलाना, उनके जरा-जरा से इशारे को समझना उसी जैसी धैर्यशीला स्त्री का काम था। अपना सिर दर्द से फटा करता, ज्वर से देह तपा करती, पर इसकी उसे जरा भी परवा न थी।''[3]

१ मानसरोवर, भाग ३ पृष्ठ ७८
२. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ३१
३. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ३१

फालिज से विपिन का मुँह टेढ़ा हो जाता है, किन्तु आशा को कोई अन्तर नहीं मालूम होता। एक दिन वह आशा से कहता है, "आशा, ईश्वर ने मुझे गरूर की सज़ा दे दी। वास्तव में यह उसी बुराई का बदला है, जो मैंने तुम्हारे साथ की। अब तुम अगर मेरा मुँह देख कर घृणा से मुँह फेर लो, तो मुझे तुम से जरा भी शिकायत न होगी। मैं चाहता हूँ कि तुम मुझसे उस दुर्व्यवहार का बदला लो, जो मैंने तुम्हारे साथ किये हैं।"

आशा ने पति की ओर कोमल भाव से देख कर कहा, "मैं तो आपको अब भी उसी निगाह से देखती हूँ। मुझे तो आप में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता।"[1]

यही नहीं, आशा को पति का 'बन्दर सा मुँह' पहले से कहीं अच्छा मालूम होता है, क्योंकि रूप के बदले उसे पति की आत्मा मिल जाती है। विपिन भी अब आशा को सुन्दरी समझता है, क्योंकि अब वह उसकी सूरत नहीं, उसकी आत्मा देखता है।

'गोदान' उपन्यास की गोविन्दी आदर्श पत्नीत्व की उत्कृष्टतम उदाहरण है। खन्ना और गोविन्दी में नहीं पटती, जिसका कारण खन्ना का स्वभाव है। खन्ना उसकी अवहेलना और अपमान करता है, अन्य स्त्रियों के पीछे मारा फिरता है, किन्तु गोविन्दी प्रेम और निष्ठा से पति की सेवा करती है। उसमें ईर्ष्या द्वेष नहीं है। खन्ना प्राय क्रोध में उसे अपशब्द कहता है। गोविन्दी अपने कमरे में बैठ कर रोती है। वह शराबी और पर स्त्रीगामी है, फिर भी गोविन्दी उससे कभी कभी लड़ भर लेती है, उससे पृथक् अस्तित्व की कल्पना भी नहीं करती।

लेखक ने गोविन्दी और खन्ना के दुखी दाम्पत्य जीवन का वर्णन इन शब्दों में किया है—'खन्ना और गोविन्दी में नहीं पटती। ...खन्ना के पास विलास के ऊपरी साधनों की कमी नहीं। अव्वल दरजे का बँगला है, अव्वल दरजे का फरनीचर, अव्वल दरजे की कार और अपार धन, पर गोविन्दी की दृष्टि में जैसे इन चीजों का कोई मूल्य नहीं, इस खारे सागर में वह प्यासी पड़ी रहती है। बच्चों का लालन पालन और गृहस्थी के छोटे-मोटे काम ही उसके लिए सब कुछ हैं। वह इतनी व्यस्त रहती है कि भोग की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। आकर्षण क्या वस्तु है और कैसे उत्पन्न हो सकता है, इसकी ओर उसने कभी विचार नहीं किया। वह पुरुष का खिलौना नहीं है, न उसके भोग की वस्तु, फिर क्यों आकर्षक बनने की चेष्टा करे, अगर पुरुष उसका असली सौन्दर्य देखने के लिए आँखें नहीं रखता, कामिनियों के पीछे मारा मारा फिरता है, तो यह उसका दुर्भाग्य है। वह उसी प्रेम और निष्ठा से पति की सेवा किये जाती है। जैसे द्वेष और मोह-जैसी भावनाओं को उसने जीत लिया है।... खन्ना अपने ग्राहकों के साथ जितना ही मीठा और नम्र था, घर में उतना ही कटु और उद्दण्ड। अक्सर क्रोध में गोविन्दी को अपशब्द कह बैठता, शिष्टता उसके लिए केवल दुनिया को ठगने का एक साधन थी, मन का संस्कार नहीं। ऐसे अवसरों पर गोविन्दी अपने एकान्त कमरे में जा बैठती और रात-की रात रोया करती और खन्ना दीवानखाने में मुजरे सुनता या क्लब में जा कर शराबें उड़ाता। लेकिन,

१ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ३६

यह सब कुछ होने पर भी खन्ना उसके सर्वस्व थे। वह दलित और अपमानित हो कर भी खन्ना की लौंडी थी। उनसे लड़ेगी, जलेगी, रोएगी, पर रहेगी उन्ही की। उनसे पृथक जीवन की वह कोई कल्पना ही न कर सकती थी।''[1]

'गोदान' उपन्यास के बुद्धिवादी, आदर्शवादी और दार्शनिक पात्र मेहता गोविन्दी को आदर्श नारी, अत आदर्श पत्नी, कहते हैं। वे उसकी प्रशसा इन शब्दों में करते हैं—"वह एक लखपती की पत्नी है, पर विलास को तुच्छ समझती है, जो उपेक्षा और अनादर सह कर भी अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं होती, जो मातृत्व की वेदी पर अपने को बलिदान करती है, जिसके लिए त्याग ही सबसे बडा अधिकार है और जो इस योग्य है कि उसकी प्रतिमा बना कर पूजी जाए। यह आदर्श नारी है और जो आदर्श नारी हो सकती है, *वह आदर्श पत्नी भी हो सकती है*।"[2]

खन्ना के बारे में, जो साध्वी गोविन्दी का आदर नहीं करता, मेहता कहते हैं, "खन्ना अभागे हैं, जो हीरा पा कर काँच का टुकडा समझ रहे हैं। सोचिए, कितना त्याग है और उसके साथ ही कितना प्रेम है। *खन्ना के रूपासक्त मन में शायद उसके लिए रत्ती भर स्थान* भी नहीं है, लेकिन आज खन्ना पर कोई आफत आ जाए, तो वह अपने को उन पर न्योछावर कर देगी। खन्ना आज अन्ध या कोढी हो जाएँ, तो भी उसकी वफादारी में फर्क न आएगा। अभी खन्ना उसकी कद्र नही कर सकते हैं, मगर आप देखेंगे, एक दिन यही खन्ना उसके चरण धो धो कर पियेंगे।"[3]

खन्ना की चीनी मिल में आग लग जाती है और वे एक क्षण में राह के भिखारी हो जाते हैं। उस समय गोविन्दी की सहानुभूति ही उन्हें बल प्रदान करती है।

सामाजिक मान्यताओ की अवहेलना कर पति पत्नी सम्बन्ध रखने वाले दम्पति से भी, विशेषत स्त्री से, प्रेमचन्द विद्रोह और प्रतिकार के स्थान पर सेवा, विश्वास एव उत्सर्ग का उदाहरण ही उपस्थित कराते हैं। 'कायाकल्प' उपन्यास की लौंगी यद्यपि ठाकुर हरिसेवक की उपपत्नी है, फिर भी ठाकुर साहब उसे पत्नी ही समझते हैं और वह भी उन्हें अपना पति समझती है। लौंगी पहले ठाकुर साहब के घर में लौंडी थी, किन्तु उनकी पत्नी की मृत्यु *के बाद अपनी सेवा, त्याग और सहिष्णुता से ठाकुर साहब की दासी न रह कर वह गृहिणी* का रिक्त पद प्राप्त कर लेती है और इन गुणों के कारण इस पद को कुशलता और निष्ठा से निभाती है। ठाकुर साहब बहुत ही क्रूर और भयकर जीव हैं, उन्हें किसी पर दया नहीं आती, नौकरों को साल साल भर तक वेतन नही देते। लौंगी के साथ भी उनका व्यवहार अच्छा नही है। वे बार-बार उस पर झुँझला पडते हैं, उसे मारने उठते हैं, किन्तु वह अपनी सेवा, विनय और सहिष्णुता से ऐसे क्रोधी, अविनयशील पुरुष को भी नियन्त्रण में रखती है। यह उसके त्याग और धैर्य का ही परिणाम है कि ठाकुर साहब चपरासी से दीवान होते हैं।

---

१ गोदान, पृष्ठ २४३ २४५

२. गोदान, पृष्ठ २५२

३ गोदान, पृष्ठ १६०

प्रेमचन्द ने लौंगी का परिचय इस प्रकार दिया है—'सरल, सदय, हँसमुख, सहनशील स्त्री थी, जिसने सारे घर को वशीभूत कर लिया था। यह उसी की सज्जनता थी, जो नौकरों को वेतन न मिलने पर भी जाने न देती थी। मनोरमा (दीवान साहब की पुत्री) पर तो वह प्राण देती थी। ईर्ष्या, क्रोध, मत्सर उसे छू भी न गया था। वह उदार न हो, पर कृपण न थी। ठाकुर साहब कभी कभी उस पर भी बिगड़ जाते थे, मारने दौड़ते थे, दो एक बार मारा भी था, पर उसके माथे पर जरा भी बल न आता था। ठाकुर साहब का सिर भी दुखे, तो उसकी जान निकल जाती थी। वह उसकी स्नेहमयी सेवा ही थी, जिसने ऐसे हिंसक जीव को जकड़ रखा था।'[1]

दीवान साहब के पुत्र (गुरुसेवक) को, लौंगी ने बड़े कष्ट से पाला था, किन्तु बड़े होने पर उसे इसमें अपनी बदनामी मालूम होती है कि उसका पिता उपपत्नी रखता है। अत, वह बलपूर्वक, लौंगी को तीर्थयात्रा करने के लिए भेज देता है। लौंगी के जाते ही दीवान साहब अर्ध विक्षिप्त हो जाते हैं। उन्हें जान पड़ता है, उनकी आत्मा कहीं चली गई है। उनकी विचार शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि रियासत के कार्य में उनसे बडी बडी भूलें होती हैं। लोगों को आश्चर्य होता है कि उन्हें हो क्या गया। गुरुसेवक को मालूम हो जाता है कि पिताजी की आड़ में, कोई दूसरी ही शक्ति रियासत का सचालन करती थी। घर की भी पहली श्री नहीं रहती। दीवान साहब अपना कष्ट भुलाने के लिए अत्यधिक शराब पीते हैं और खाना पीना छोड़ देते हैं। फल यह होता है कि वे बीमार पड़ जाते हैं। मृत्युशय्या पर वे लौंगी का ही गुणगान करते हैं। लौंगी भी किसी अव्यक्त प्रेरणा से वहाँ पहुँच जाती है। उसकी गोद में सर रखे दीवान साहब प्राण त्याग करते हैं, जैसे उसी की प्रतीक्षा में रुके हुए थे। वे अपनी सारी जायदाद उसे वसीयत कर जाते हैं।

'गोदान' उपन्यास में सिलिया चमारिन और मातादीन ब्राह्मण में प्रेम है। प्रकट है, ऐसे प्रेम का अन्त सुखकर नहीं हो सकता। किन्तु सिलिया में प्रारम्भ से ही सेवा भाव प्रधान है, जो उसकी सर्वत्र रक्षा करता है। वह मातादीन के घर और खेत में हँस खेल कर अकेली तीन मजदूरों का काम करती है, किन्तु मातादीन उसे केवल खाने को दे देता है, वह उसके प्रेम का नाजायज फायदा उठाता है—

'सिलिया का तन और मन दोनों ले कर भी बदले में कुछ न देना चाहता था। सिलिया अब उसकी निगाह में केवल काम करने की मशीन थी, और कुछ नहीं। उसकी ममता को वह बड़े कौशल से नचाता रहता था।'[2]

एक दिन मुट्ठी भर अनाज के लिए मातादीन सिलिया को अपमानित कर देता है। सिलिया महीना भर पहले दुलारी सहुआइन की दूकान से रग ले आई थी। आज उसने टोका, तो सिलिया, जो उस वक्त मातादीन का अनाज ओसा रही थी, थोड़ा सा अनाज उसे दे देती है। मातादीन उसी वक्त वह अनाज दुलारी से रखवा देता है और सिलिया

१. कायाकल्प, पृष्ठ २०

२ गोदान, पृष्ठ ३२२

को भी कठार बातें कहता है। दुलारी के चले जाने पर सिलिया आहत गव से पूछती है, "तुम्हारी चीज में मेरा कुछ अख्तियार नहीं है?

मातादीन आँखें निकाल कर कहता है, 'नहीं, तुझे कोई अख्तियार नहीं है। काम करती है, खाती है। जो तू चाहती है कि खा भी और लुटा भी, तो यह यहाँ न होगा। अगर तुझे यहाँ न परता पडता हो, ता कहीं और जा कर काम कर। मजूरों की कमी नहीं है। खेत में काम नहीं लेते, खाना-कपड़ा देते हैं।"[1]

सिलिया मातादीन को कुछ जवाब नहीं देती। वह व्यथित हृदय से सोचती है, 'अब उसके लिए दूसरा कौन सा ठौर है। वह ब्याहता न हो कर भी सरकार में और व्यवहार में और मनाभाव में ब्याहता थी, और अब मातादीन चाहे उसे मारे या काटे, उसे दूसरा आश्रय नहीं है, दूसरा अवलम्ब नहीं है।'

सिलिया काम करती है, किन्तु उसमें पहले का-सा उत्साह नहीं रहता। उसी समय उसके माता पिता आ कर मातादीन की इज्जत उतार लेते हैं—उसे चमार बनाने के लिए उसके मुख में हड्डी का टुकडा ठूँस देते हैं और सिलिया को घर ले जाना चाहते हैं। किन्तु, वह उनके साथ नहीं जाती। उनके द्वारा मातादीन की बेइज्जती उसे अच्छी नहीं लग रही थी। उसे क्षाभ था कि ये लाग उसके बीच में क्या बोलते हैं। उसकी माता उसे मारती-मारती अधमरी कर देती है। सिलिया रोती हुई कहती है, "सौर में ही क्यों न गला घोंट दिया? हाय! मेरे पीछे पण्डित का भी तुमने भिरस्ट कर दिया। उसका धरम ले कर तुम्हें क्या मिला? अब तो वह भी मुझे न पूछेगा, लेकिन पूछे या न पूछे, रहूँगी ता उसी के साथ। वह मुझे चाहे भूखा रखे, चाहे मार डाले, पर उसका साथ न छोडूँगी। उसकी साँसत करा के छोड दूँ। मर जाऊँगी, पर हरजाई न बनूँगी। एक बार जिसने बाँह पकड ली, उसी की रहूँगी।'[2]

किन्तु, मातादीन उसी दिन उससे कह देता है, "मेरा तुमसे कोई वास्ता नहीं।'

उस दिन से सिलिया, जो गर्भवती है, मजदूरी करके अपना दिन काटती है। धनिया उसे रहने का स्थान दे देती है। सिलिया का अब भी विश्वास है कि एक दिन मातादीन दौडा आएगा। यदि नहीं भी आएगा, ता उसे इस बात का सन्तोष रहेगा कि उसने अपना कर्त्तव्य पालन किया—

'सोना, 'तू इसे (मातादीन को) छोड़ क्यों नहीं देती? अपनी बिरादरी में किसी के साथ बैठ जा और आराम से रह। वह तेरा अपमान तो न करेगा।'

सिलिया, "हाँ रे, क्या नहीं, मेरे पीछे उस बेचारे की इतनी दुरदसा हुई, अब मैं उसे छोड़ दूँ। अब वह चाहे पण्डित बन जाए, चाहे देवता बन जाए, मेरे लिए तो वही मतई है, जो मेरे पैरों पर सिर रगडा करता था और बाम्हन भी हो जाए और बाम्हनी से ब्याह भी कर ले, फिर भी जितनी उसकी सेवा मैने की है, वह कोई बाम्हनी क्या

१ गोदान पृष्ठ ३२३
२ गोदान पृष्ठ ३२७

करेगी? अभी मान मरजाद के मोह में वह चाहे मुझे छोड़ दे, लेकिन देख लेना, फिर दौड़ा आएगा।"

"आ चुका अब। हमें पा जाए, तो कच्चा ही खा जाए।"

"तो उसे बुलाने ही कौन जाता है? अपना अपना धरम अपने अपने साथ है। वह अपना धरम तोड़ रहा है, तो मैं अपना धरम क्यों तोड़ूँ?"[1]

और, एक दिन मातादीन सिलिया के पास वास्तव में दौड़ा आता है। उसने तीन सौ रुपए खर्च करके प्रायश्चित्त किया था, किन्तु समाज उसे ब्राह्मण मानने को तैयार नहीं था। वह मलेरिया से मरणासन्न हो कर सोचता है, यह सिलिया के प्रति किये गए उसके अत्याचार का फल है। सिलिया के पुत्र होता है, तो वह और जोरों से उसकी ओर आकृष्ट होता है। उसके पास दो रुपए भेज कर उसकी मदद करता है। रुपए पा कर सिलिया मानों अपनी तपस्या का वरदान पा जाती है। सिलिया का बालक मर जाता है, तो मातादीन उसे स्वयं नदी में फेंकने जाता है और जब सिलिया उसकी याद में रोती है, तो वह भी रोता है और ढाढस बँधाता है। फिर वह उसके साथ रहने भी लगता है। सिलिया तो सदैव उसे क्षम्य समझती ही आई है।

अपवादस्वरूप, 'जीवन का शाप' जैसी कहानी में प्रेमचन्द ने पत्नीत्व का सर्वथा भिन्न रूप भी सामने रखा है। इसमें धनी और ऐयाश शापूरजी की पत्नी शीरीं, पति के रात भर गायब रहने के कारण, घर से निकल खड़ी होती है और पति के मित्र (कावसजी) की सहानुभूति पा कर कहती है, "मैं तुम्हारे साथ चलूँगी, अभी, इसी दम, शापूर से अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।"

कावसजी मधुरभाषिणी शीरीं की ओर आकृष्ट हैं और अपनी कटुभाषिणी स्त्री गुलशन को तलाक देने के लिए तैयार हैं। किन्तु, शीरीं के आत्मसमर्पण से, एक क्षण के लिए, असमंजस में पड़ जाते हैं। वे टैक्सी लाने के बहाने बाहर आते हैं। राह में उन्हें गुलशन मिल जाती है और उससे उन्हें शीरीं की सारी बातें बतानी पड़ती हैं, यद्यपि वे अपने मनोगत भाव होशियारी से छिपा लेते हैं। गुलशन पति (कावसजी) को कहती है कि वह शीरीं से जा कर कहे कि इसमें घर से भागने की क्या जरूरत। जो द्वार शापूरजी के लिए खुले हैं, क्या उसके लिए बन्द हैं? वह भी शापूर के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसा वह करता है—जलना और कुढ़ना छोड़ कर विलास करे। वह कहती है, "ऐयाश मर्द की स्त्री अगर ऐयाश न हो, तो यह उसकी कायरता है—लतखोरपन है।"[2]

प्रेमचन्द के कथा साहित्य में पत्नीत्व का यह रूप अपवादस्वरूप ही है। उनकी विद्रोहिणी और आत्माभिमानी नारियाँ पति का विरोध अवश्य करती हैं, किन्तु प्रतिहिंसा में इस प्रकार होश हवास नहीं खो बैठतीं कि अपना ही सर्वनाश कर लें। अलग रह कर, स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करती हुई भी, वे पत्नीत्व के भारतीय आदर्श की रक्षा करती हैं।

---

१ गोदान, पृष्ठ ३३८

२. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ १३३

सेवा, त्याग और सहिष्णुता को महत्त्व देने के कारण ही प्रेमचन्द तलाक को वांछनीय नहीं मानते। वे विवाह का सम्बन्ध शरीर से नहीं, आत्मा से मानते हैं, उसे प्रेम का नहीं, धर्म का बन्धन समझते हैं। अतः उनकी दृष्टि में विवाह आत्म-विकास का साधन है, जिसके लिए आत्मसमर्पण और समझौता आवश्यक हैं। तलाक वहीं होता है, जहाँ प्रेम, त्याग और आत्मसमर्पण का अभाव होता है और भोग, विलास, असन्तोष तथा प्रतिकार की प्रधानता होती है। यही कारण है कि प्रेमचन्द विवाह का आदर्श भारतीय संस्कृति के अनुकूल रखना चाहते हैं।

'दो सखियाँ' कहानी में चन्दा के विचार हैं, "मैं मानती हूँ कि हमारे समाज में कुछ लोगों का वैवाहिक जीवन सुखकर नहीं है, लेकिन संसार में ऐसा कौन समाज है, जिसमें दुखी परिवार न हो . मैं तो विवाह को सेवा और त्याग का व्रत समझती हूँ और इसी भाव से उसका अभिवादन करती हूँ।"[१] 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में गायत्री कहती है, "विवाह स्त्री पुरुष के अस्तित्व को संयुक्त कर देता है। उनकी आत्माएँ एक दूसरे में समाविष्ट हो जाती हैं।"[२] इसी प्रकार 'कर्मभूमि' उपन्यास में नैना कहती है, "जो विवाह को धर्म का बन्धन नहीं समझता है, उसे केवल वासना की तृप्ति का साधन समझता है, वह पशु है।"[३] यद्यपि 'गोदान' उपन्यास में मेहता विवाह को एक 'सामाजिक समझौता' मानते हैं,[४] फिर भी इस 'सामाजिक समझौते' का पाश्चात्य विवाह-पद्धति के सामाजिक समझौते से पर्याप्त भेद है; क्योंकि आगे मेहता ही कहते हैं, "विवाह तो आत्मसमर्पण है।"[५] डॉ० मदान के नाम लिखे अपने एक पत्र में विवाह के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने अपने ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं, 'अपने श्रेष्ठतम रूप में विवाह भी एक प्रकार का समझौता और समर्पण ही है। यदि कोई सुखी होना चाहते हैं, तो उन्हें एक दूसरे के लिए गुंजाइश रखनी चाहिए।'[६]

विवाह के सम्बन्ध में ऐसा मत रखने का स्पष्ट अर्थ है कि प्रेमचन्द तलाक के विरोधी हैं। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में गायत्री, कई दृष्टियों से तलाक का विरोध करती है—

गायत्री, "जिस पुरुष के साथ विवाह हो गया, उसके साथ निर्वाह करना प्रत्येक कर्मनिष्ठ नारी का धर्म है।"

ज्ञान, "चाहे पुरुष नास्तिक और विधर्मी हो जाए?"

गायत्री, "हाँ, मैं तो ऐसा ही समझती हूँ। विवाह स्त्री-पुरुष के अस्तित्व को संयुक्त कर देता है। उनकी आत्माएँ एक दूसरे में समाविष्ट हो जाती हैं।"

---

१. मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २१६
२. प्रेमाश्रम, पृष्ठ १६०
३. कर्मभूमि, पृष्ठ २५३
४. गोदान, पृष्ठ ७७
५. गोदान, पृष्ठ १६०
६. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, प्रेमचन्द : एक विवेचना, परिशिष्ट २, पत्र १

ज्ञान, "पुराने जमाने में लोगों के विचार ऐसे रहे हों, पर नया युग इसे नहीं मानता। वह स्त्री को सम्पूर्णत स्वाधीन ठहराता है। वह मनसा, वाचा, कर्मणा किसी के अधीन नहीं है। परमात्मा से आत्मा का जो घनिष्ट सम्बन्ध है, उसके सामने मानवकृत सम्बन्ध की कोई हस्ती नहीं हो सकती। पश्चिम के देशों में आए दिन धार्मिक मतभेद के कारण तलाक होते रहते हैं।"

गायत्री, "उन देशों की बात न चलाइए! वहाँ के लोग तो विवाह को केवल सामाजिक सम्बन्ध समझते हैं। आपने ही एक बार कहा था कि वहाँ कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो विवाह सस्कार को मिथ्या समझते हैं। उनके विचार में स्त्री पुरुषों की अनुमति ही विवाह है, लेकिन भारतवर्ष में कभी इन विचारों का आदर नहीं हुआ। . ईश्वर वह कुदिन यहाँ न लाए, जब लोगों में विचार स्वातंत्र्य का इतना प्रकोप हो जाए।"

ज्ञान, "इसका कारण यही है कि हम भीरु प्रकृति के हैं, यथार्थ का सामना न करके मिथ्या आदर्श प्रेम की आड में अपनी कमजोरी छिपाते हैं। . मैं उस स्त्री को सराहनीय नहीं समझता, जो एक दुराचारी पुरुष से केवल इसीलिए भक्ति करती है कि वह उसका पति है। वह अपने उस जीवन को, जो सार्थक हो सकता है, नष्ट कर देती है। यही बात पुरुषों पर भी घटित होती है। हम ससार में रोने और कींखने के लिए नहीं आए हैं और न आत्म दमन हमारे जीवन का ध्येय है।"

गायत्री, "तो आपके कथन का निष्कर्ष यह है कि हम अपनी मनोवृत्तियों का अनुसरण करें, जिस ओर इच्छाएँ ले जाएँ, उसी ओर आँख बन्द किए चले जाएँ। उसके दमन की चेष्टा न करें। . लेकिन, हृदय इसे किसी भाँति स्वीकार नहीं करता। इच्छाओं को जीवन का आधार बनाना बालू की दीवार बनाना है। धर्म ग्रन्थों में आत्म दमन और सयम की अखण्ड महिमा कही गई है, बल्कि इसी को मुक्ति का साधन बताया गया है। इच्छाओं और वासनाओं को ही मानव पतन का मुख्य कारण सिद्ध किया गया है और मेरे विचार में यह निर्विवाद है। ऐसी दशा में पश्चिमवालों का अनुसरण करना नादानी है। *प्रथाओं की गुलामी इच्छाओं की गुलामी से श्रेष्ठ है।*"[१]

इसी प्रश्न को 'सुहाग का शव' नामक कहानी में प्रेमचन्द पुन उठाते हैं। केशव और उसकी पत्नी (सुभद्रा) में प्रगाढ प्रेम है। केशव उच्च शिक्षा के लिए इगलैण्ड जाता है। पति के पत्र जब बहुत देर करके आने लगते हैं, तो सुभद्रा इगलैण्ड पहुँच जाती है, किन्तु पति को नहीं बताती, क्योंकि इससे उनकी पढाई में बाधा होगी। केशव उस समय वहाँ एक भारतीय युवती के प्रेम में पड़ा हुआ था। उससे उसका विवाह सुभद्रा के इगलैण्ड पहुँचने के बाद होता है, किन्तु मामला बहुत बढा हुआ देख कर, वह चुप रहती है। उसका परिचय उस युवती से हो जाता है, किन्तु वह उससे अपना वास्तविक परिचय छिपाये ही रहती है। तलाक की सुविधा होने से, तलाक करनेवाला, किस प्रकार अपने साथी की भावनाओं के साथ अन्याय करता है, यह इस कहानी से ज्ञात होता है। केशव दूसरा विवाह करके, सुभद्रा के बारे में, केवल यही सोचता है कि वह उसके भरण पोषण

१ प्रेमाश्रम, पृष्ठ १६२-१६३

का प्रबन्ध कर देगा, इसके सिवा वह और क्या कर सकता है। हिन्दू समाज में पति-पत्नी में विच्छेद नहीं होता, अतः कथव सुभद्रा को पूर्णतः स्वाधीन कर देने के विचार से वह ईसाई या मुसलमान होने को तैयार है। सुभद्रा व्यंग्य से कहती है, "रोटी-कपड़ा देने को तैयार ही हैं, स्त्री को इसके सिवा और क्या चाहिए?"[1]

तलाक की प्रथा होने से, विदेशों में, बिना किसी ठोस कारण के भी, छोटी-छोटी बातों पर तलाक दे दिया जाता है। कथव तलाक का समर्थन करता है, "विवाह एक प्रकार का समझौता है। दोनों पक्षों को अधिकार है, जब चाहें उसे तोड़ दें", किन्तु सुभद्रा शंका करती है, "किसी समझौते को तोड़ने के लिए कारण भी तो होना चाहिए।"

केशव कहता है, "जब इसका अनुभव हो जाए कि हम इस बन्धन से मुक्त हो कर अधिक सुखी हो सकते हैं, तो यही कारण काफी है। स्त्री को यदि मालूम हो जाए कि वह दूसरे पुरुष के साथ...।"

सुभद्रा बात काट कर कहती है, "क्षमा कीजिए मिस्टर कथव, मुझ में इतनी बुद्धि नहीं कि इस विषय पर आप से बहस कर सकूँ। आदर्श समझौता वही है, जो जीवन पर्यन्त रहे। मैं भारत की नहीं कहती। वहाँ तो स्त्री पुरुष की लौंडी है, मैं इंगलैण्ड की कहती हूँ। यहाँ भी कितनी ही औरतों से मेरी बातचीत हुई है। वे तलाकों की बढ़ती हुई संख्या देख कर खुश नहीं होतीं। विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श उसकी पवित्रता और स्थिरता है।"[2]

यहाँ प्रेमचन्द के विचार स्पष्ट हैं। व विवाह को आदर्श की दृष्टि से अविच्छेद्य मानते हैं। 'गोदान' उपन्यास में विद्वान् और विचारशील मेहता भी तलाक के पक्के विरोधी हैं। मेहता कहते हैं, "विवाह को मैं सामाजिक समझौता मानता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।"

"तो आप तलाक के विरोधी हैं, क्यों?"

"पक्का।"[3]

इस प्रकार प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में तलाक का सर्वत्र विरोध है, अपवादस्वरूप केवल 'कर्मभूमि' उपन्यास में सुखदा इसका समर्थन करती है—

नैना सुखदा से कहती है, "तुम कहती हो, पुरुष के आचार विचार की परीक्षा कर लेनी चाहिए। क्या परीक्षा कर लेने पर धोखा नहीं होता? आए दिन तलाक क्यों होते रहते हैं?"

सुखदा बोली, "तो इसमें क्या बुराई है? यह तो नहीं होता कि पुरुष तो गुलछर्रे उड़ाए और स्त्री उसके नाम को रोती रहे।"

---

१. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २१७

२. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २२३-२२४

३ गोदान, पृष्ठ ७७

नैना ने जैसे रहे हुए वाक्य को दुहराया, "प्रेम के अभाव में सुख कभी नहीं मिल सकता। बाहरी रोक थाम से कुछ न होगा।"

सुखदा, "अगर देख भाल कर विवाह करने में कभी कभी धोखा हो सकता है, तो बिना देखे भाले करने में बराबर धोखा होता है। तलाक की प्रथा यहाँ हो जाने दो, फिर मालूम होगा कि हमारा जीवन कितना सुखी है।"[१]

किन्तु, यह भी स्पष्ट है कि सुखदा के विचार लेखक के विचार नहीं हैं। पर-स्त्री प्रेम के कारण, अपने पति के भाग जाने से, सुखदा में जो विद्रोह और प्रतिकार की भावनाएँ आती हैं, उसके तलाक सम्बन्धी विचार उन्हीं के द्योतक हैं। स्वय सुखदा दूसरे अवसर पर कहती है, "पुरुष को जो आजादी मिली है, वह उसे मुबारक रहे, वह अपना तन मन गली गली बेचता फिरे। मैं अपने बन्धन में प्रसन्न हूँ। और ईश्वर से यही विनय करती हूँ कि वह इस बन्धन में मुझे डाले रखे। मैं जलन या ईर्ष्या से विचलित हो जाऊँ, उस दिन के पहले वह मेरा अन्त कर दे।"[२]

प्रेमचन्द के विचार इस मत की पुष्टि करते हैं कि वे स्वय तलाक को आदर्श समाधान नहीं मानते—'सर्वहारा वर्ग में तलाक साधारण सी बात है। केवल तथाकथित उच्च वर्ग में ही उसने गम्भीर रूप धारण कर लिया है। अपने श्रेष्ठतम रूप में विवाह भी एक प्रकार का समझौता और समर्पण ही है। यदि कोई सुखी होना चाहते हैं, तो उन्हे एक दूसरे के लिए गुजाइश रखनी चाहिए। वैसे ऐसे भी लोग हैं, जो अच्छी से-अच्छी परिस्थिति में भी सुखी नहीं रह सकते। स्वच्छन्द प्रेम और सभी प्रकार के सम्बन्धो की छूट होने पर भी अमरीका में तलाक कम हों, ऐसी बात नही है। चाहे स्त्री हो या पुरुष, उनमें से एक को झुकने के लिए तैयार रहना चाहिए। मैं यह नहीं मानता कि दोषी केवल पुरुष ही है। बहुत-से मामले ऐसे हैं, जहाँ स्त्रियाँ सकट पैदा करती हैं और काल्पनिक दुखों की सृष्टि कर लेती हैं। जब इस बात का निश्चय ही नहीं है कि तलाक हमारी वैवाहिक बुराइयों को दूर करेगा, मैं इसे समाज पर लादना नहीं चाहता। हाँ, कुछ मामलों में तलाक आवश्यक हो जाता है। लेकिन, मेरी समझ में, झगडे की जड एक-दूसरे की उपेक्षा को छोड कर और कोई नहीं है।'[३]

तलाक को वाछनीय नहीं मानते हुए और दाम्पत्य सुख के लिए सेवा एव त्याग को महत्त्व देते हुए भी, प्रेमचन्द स्त्री पुरुष के अधिकारों में तत्कालीन असमानता के विरोधी हैं। कानूनी दृष्टि से वे स्त्री और पुरुष को बराबर रखना चाहते हैं—पुरुष के अधिकारों को नियन्त्रित करना चाहते हैं और स्त्री के अधिकारों को पुरुष के अधिकारों के समान देखना चाहते हैं, ताकि पुरुष स्त्री की कमजोरियों का अनुचित लाभ न उठा सके। उनकी दृष्टि में पुरुष का स्त्री पर शासन एव अत्याचार करना, उसे अपना गुलाम समझना, कानूनी असमानता का ही फल है। 'कुसुम' कहानी का एक विचारशील पात्र कहता है, "पुरुष अपनी दूसरी,

१ कर्मभूमि, पृष्ठ १९८
२ कर्मभूमि पृष्ठ २३०
३. डा० इन्द्रनाथ मदान, प्रेमचन्द एक विवेचना, परिशिष्ट २, पत्र १

तीसरी, चौथी शादी कर सकता है, स्त्री से कोई सम्बन्ध न रख कर भी उस पर उसी कठोरता से शासन कर सकता है। वह जानता है कि स्त्री कुल मर्यादा के बन्धनों में जकडी हुई है, उसे रो रो कर मर जाने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। अगर उसे भय होता कि औरत भी उसकी ईंट का जवाब पत्थर से नहीं, ईंट से भी नहीं, केवल थप्पड से दे सकती है, तो उसे कभी इस बदमिजाजी का साहस न होता। बेचारी स्त्री कितनी विवश है।"[1] आगे यही पात्र दम्पति के अधिकारों की समानता का समर्थन करता है, "जब तक स्त्री पुरुष के अधिकार समान न होंगे, ऐसे आघात नित्य होते रहेंगे। दुर्बल को सताना कदाचित् प्राणियों का स्वभाव है। काटने वाले कुत्तों से लोग दूर भागते हैं सीधे कुत्ते पर बालवृन्द विनोद के लिए पत्थर फेंकते हैं। तुम्हारे दो नौकर एक ही श्रेणी के हों, उनमें कभी झगडा न होगा, लेकिन आज उनमें से एक को अफसर और दूसरे को उसका मातहत बना दो, फिर देखो, अफसर साहब अपने मातहत पर कितना रोब जमाते हैं। सुखमय दाम्पत्य की नींव अधिकार-साम्य ही पर रखी जा सकती है। इस वैषम्य में प्रेम का निवास हो सकता है, मुझे तो इसमें सन्देह है। हम आज जिसे स्त्री पुरुषों में प्रेम कहते हैं, वह वही प्रेम है, जो स्वामी को अपने पशु से होता है। पशु सिर झुकाए काम किए चला जाए, स्वामी उसे भूसा और खली भी देगा, उसकी देह भी सहलाएगा, उसे आभूषण भी पहनाएगा, लेकिन जानवर ने जरा चाल धीमी की, जरा गर्दन टेढी की कि मालिक का चाबुक पीठ पर पडा। इसे प्रेम नहीं कहते।"[2]

शिवरानी देवी लिखित 'प्रेमचन्द : घर में' से भी इस मत की पुष्टि होती है। पुरुषों के स्त्रियों पर शासन करने की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखने के लिए प्रेमचन्द यह सुझाव देते हैं— "अब सोचना यह है कि कैसे दोनों को बराबर किया जाए और बदमाशों को कैसे ठीक किया जाए। इसमें जरूरत इस बात की है कि स्त्रियाँ शिक्षित हों और उसके साथ साथ स्त्रियों को वह अधिकार मिल जाएँ, जो सब पुरुषों को मिले हुए हैं। जब तक सब स्त्रियाँ शिक्षित न होंगी और सब कानून-अधिकार उनको बराबर न मिल जाएँगे, तब तक महज बराबर काम करने (स्त्री के नौकरी करने) से ही काम नहीं चलेगा।"[3]

निष्कर्ष यह है कि सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए पति-पत्नी में परस्पर प्रेम, आत्म समर्पण, सहानुभूति, सेवा, सहिष्णुता, त्याग और विनोद भाव को आवश्यक मानते हुए, प्रेमचन्द इस बात पर बल देते हैं कि यदि उनमें एक की ओर से इनकी उपेक्षा भी हो, तो दूसरा अपने में वैमनस्य और प्रतिकार की भावना न लाए और अपना कर्त्तव्य करता रहे। सेवा और त्याग की भावनाओं को महत्त्व देने के कारण प्रेमचन्द पति पत्नी-सम्बन्ध के लिए, पाश्चात्य आदर्शों की तुलना में, भारतीय आदर्शों को उत्कृष्टतर बताते हैं। यही कारण है कि उनकी आत्माभिमानी और विद्रोहिणी नारियाँ भी पति का विरोध करते समय, प्रतिहिंसा में इस प्रकार होश हवास नहीं खो बैठतीं कि अपना ही सर्वनाश कर लें।

---

१. मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ १०-११
२. मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ १७-१८
३. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ १९२-१९३

अलग रह कर, स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करती हुई भी, वे पत्नीत्व के भारतीय आदर्श की रक्षा करती हैं। सेवा, त्याग और सहिष्णुता को महत्त्व देने के कारण ही प्रेमचन्द तलाक को वाञ्छनीय नहीं मानते। हाँ, स्त्री पुरुष के अधिकारों में तत्कालीन असमानता का वे तीव्र विरोध करते हैं और दाम्पत्य सुख के लिए, कानूनी दृष्टि से, स्त्री पुरुष के समानाधिकार को आवश्यक समझते हैं।

●

: ६ :

नारी और मातृत्व

पिछले दो अध्यायों में वैवाहिक जीवन की समस्याओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया था। विवाह का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सन्तानोत्पादन और वश रहा है। वस्तुत वैवाहिक जीवन की पूर्णता सन्तान से होती है। इसके बिना दम्पति जीवन में एक सूनापन का अनुभव करते हैं। फिर विशेषत नारी के लिए तो सन्तान की महत्ता और भी बढ जाती है, क्योंकि प्रकृति ने उसे सन्तान को जन्म देने और उसका पालन पोषण करने के लिए ही चुना है। उसके लिए गर्भावस्था मगलमय और आनन्ददायक होती है। वह मनुष्य की सृष्टि कर रही है, परिवार, पति और समाज को वह ऐसी वस्तु दे रही है, जिसे केवल वही दे सकती है, आदि बातें उसके मन में शक्ति और अपूर्व सफलता का सचार करती हैं। नारीत्व का चरमोत्कर्ष मातृत्व में ही सम्भव है, क्योंकि इसी रूप में नारी अपना 'अह' भूल जाती है और अपना समस्त स्नेह, वात्सल्य, सेवा और त्याग भाव लुटाती है।

'मन्दिर' कहानी में प्रेमचन्द कहते हैं—'मातृप्रेम तुझे धन्य है। ससार में और जो कुछ है, मिथ्या है, निस्सार है। मातृप्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है।'[१]

शिशु का गर्भ में आना, उसके माता पिता तथा परिवार के लोगो के लिए, हर्ष का हेतु है। भावी शिशु की कल्पना, माता पिता के लिए बहुत आनन्ददायक होती है। माता का तो वह सर्वस्व होता है और वह उसे दिल्लगी में भी नही छोड सकती।

'कर्मभूमि' उपन्यास में सुखदा के प्रथम सन्तान होने वाली है। वह रेणुका देवी की इकलौती सन्तान है, अत उसका पुत्र उनकी सम्पत्ति का वारिस होगा। रेणुका देवी ने कभी पुत्री से दिल्लगी की थी कि वह बच्चे को ले कर अपने घर चली जाएँगी। सुखदा को यह विनोद बुरा लगा था और उसने माता से स्पष्ट कह दिया था कि वह अपना बच्चा नहीं देगी। यह बात वह अपने पति से कहती है। फिर पति पत्नी शिशु के रग रूप के बारे में भी आनन्ददायक कल्पना करते हैं—

सुखदा ने उसे (अमर को) पान का एक बीडा देते हुए कहा, "अम्मा कहती हैं, बच्चे को ले कर मैं लखनऊ चली जाऊँगी। मैंने कहा—'अम्मा, तुम्हे बुरा लगे या भला, मैं अपना बालक न दूँगी।"

अमर ने उत्सुक हो कर पूछा, "तो बिगड़ी होंगी?"

"नहीं जी, बिगड़ने की क्या बात थी। हाँ, उन्हें कुछ बुरा जरूर लगा होगा, लेकिन मैं दिल्लगी में भी अपने सर्वस्व को नहीं छोड सकती। अच्छा बताओ, बालक किसको पडेगा, मुझे या तुम्हें? मैं कहती हूँ, तुम्हें पडेगा।"

---

१ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ ?

"मैं चाहता हूँ, तुम्हे पढ़े।"

"यह क्यों ? मैं तो चाहती हूँ तुम्हे पढ़े।"

"तुम्हें पढेगा, तो मैं उसे और ज्यादा चाहूँगा।"[1]

नवीन मातृत्व की पुलक का अनुभव करती हुई नारी, शिशु के प्रति, अपने धर्म को देश धर्म से भी अधिक महत्त्व देती है। वह आशा करती है कि जिस शिशु का निर्माण वह अपने हृदय के रक्त से करती है, उसे उसका पति भी अपना सर्वस्व समझे।

'कर्मभूमि' उपन्यास में, अमर, काँग्रेस में इतना जोशीला और उद्दडतापूर्ण भाषण करता है कि पुलिस अधीक्षक उसके पिता को बुला कर लडके को सँभालने की चेतावनी देता है। गर्भवती सुखदा को जब यह बात मालूम होती है, तो उसे बहुत दु ख होता है। वह पति को तीक्ष्ण नेत्रों से देखते हुए कहती है, "तुम मुझे थोडी सी संखिया क्यों नहीं दे देते ? तुम्हारा गला भी छूट जाए, मैं भी जजाल से मुक्त हो जाऊँ।"

अमर घबडा कर भारी स्वर में बोला, "ऐसा क्यों कहती हो सुखदा, मुझसे कोई गलती हुई हो, तो बता दो।"

सुखदा लेटी हुई थी। तकिये के सहारे टेक कर बोली, "तुम आम जलसों में कड़ी कडी स्पीचें देते फिरते हो, इसका इसके सिवा और क्या मतलब है कि तुम पकड़े जाओ और अपने साथ घर को भी ले डूबो। दादा से पुलिस के किसी बडे अफसर ने कहा है। तुम उनकी कुछ मदद तो करते नहीं, उलटे और उनके किए कराए को धूल में मिलाने को तुले बैठे हो। मैं तो आप ही अपनी जान स मर रही हूँ, उस पर तुम्हारी यह चाल और भी मारे डालती है। तुम अपने मालिक नहीं हो, कि जिस राह चाहो, जाओ। तुम्हारे पाँव में बेडियाँ हैं। क्या अब भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलतीं ?"

अमरकान्त ने कहा, "अच्छी बात है। फिर तुम्हारे सामने ऐसी शिकायत आए, तो मेरे कान पकडना।"

सुखदा नर्म हो कर बोली, "मै भी जानती हूँ कि हम लोग पराधीन हैं। पराधीनता मुझे भी उतनी ही अखरती है, जितनी तुम्हें। हमारे पाँवों में तो दोहरी बेड़ियाँ हैं—समाज की अलग, सरकार की अलग, लेकिन आगे पीछे भी तो देखना होता है। देश के साथ हमारा जो धर्म है, वह और प्रबल रूप में पिता के साथ है और उससे भी प्रबल रूप में अपनी सन्तान क साथ। पिता का दुखी और सन्तान को निस्सहाय छोड कर देश धर्म को पालना ऐसा ही है, जैसे कोई अपने घर में आग लगा कर खुले आकाश में रहे। जिस शिशु को मैं अपना हृदय रक्त पिला पिला कर पाल रही हूँ, उसे मैं चाहती हूँ, तुम भी अपना सर्वस्व समझो। तुम्हारे सारे स्नेह, वात्सल्य और निष्ठा का मैं एकमात्र उसी को अधिकारी देखना चाहती हूँ।"[2]

---

१ कर्मभूमि पृष्ठ ३३

२ कर्मभूमि पृष्ठ ३१-३२

यदि पति-पत्नी में नहीं पटती और परिवार के गुरुजन उनके भविष्य के विषय में चिन्तित रहते हैं, तो शिशु-आगमन का सम्वाद उनकी चिन्ता का शमन कर देता है। सम्भवतः वे सोचते हैं कि सन्तान-प्रेम पति-पत्नी को एक दूसरे की प्रेमडोर में बाँध सकेगा।

'कर्मभूमि' उपन्यास में अमर और सुखदा में नहीं बनती। सुखदा की माता (रेणुका देवी) इस सम्बन्ध में सारा दोष पुत्री का मानती हैं और कन्या के भविष्य के विषय में बहुत चिन्तित हो जाती हैं। किन्तु, ज्यों ही उन्हें ज्ञात होता है कि सुखदा गर्भवती है, वे हर्षातिरेक में उसे गले लगा लेती हैं और उनकी सारी चिन्ता भी मिट जाती है—'बातों-बातों में माता को ज्ञात हो गया कि उनकी सम्पत्ति का वारिस आने वाला है। कन्या के भविष्य के विषय में उसे बड़ी चिन्ता हो गई थी। इस सम्वाद ने उस चिन्ता का शमन कर दिया। उसने आनन्द से विह्वल हो कर सुखदा को गले लगा लिया।'[1]

गर्भवती होने के कारण स्वयं सुखदा के असन्तुष्ट दाम्पत्य जीवन में रस-संचार होता है। अमर सादा रहन-सहन, सेवा और त्याग के सिद्धान्तों में विश्वास करता है और सुखदा विलासप्रिय है। अतः, दोनों का मन नहीं मिलता। किन्तु सुखदा जब माता बनने वाली होती है, अमर कई कारणों से उसकी दिलजोई करता है—'अमर इन दिनों आदर्श पति बना हुआ था। रूप-ज्योति से चमकती हुई सुखदा आँखों को उन्मत्त करती थी, पर मातृत्व के भार से लदी हुई यह पीले मुख वाली रोगिणी उसके हृदय को ज्योति से भर देती थी। वह उसके पास बैठा हुआ उसके रूखे केशों और सूखे हाथों से खेला करता। उसे इस दशा में लाने का अपराधी वह है, इसलिए इस भार को सह्य बनाने के लिए वह सुखदा का मुँह जोहता रहता था। सुखदा उससे कुछ फरमाइश करे, इन दिनों यही उसकी सबसे बड़ी कामना थी। वह एक बार स्वर्ग के तारे तोड़ लाने पर भी उतारू हो जाता। उसे बराबर अच्छी अच्छी किताबें सुना कर उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता रहता था। शिशु की कल्पना से उसे जितना आनन्द होता था, उससे कहीं अधिक सुखदा के विषय में चिन्ता थी—न जाने क्या होगा।'[2]

'जीवन में कुछ सार है, अमरकान्त को इसका अनुभव हो रहा है। वह एक शब्द भी मुँह से ऐसा नहीं निकालना चाहता, जिससे सुखदा को दुःख हो, क्योंकि वह गर्भवती है। उसकी इच्छा के विरुद्ध वह छोटी-से-छोटी बात भी नहीं कहना चाहता। वह गर्भवती है। उसे अच्छी अच्छी किताबें पढ़ कर सुनाई जाती हैं, रामायण, महाभारत और गीता से अब अमर को विशेष प्रेम है, क्योंकि सुखदा गर्भवती है। बालक के संस्कारों का सदैव ध्यान बना रहता है। सुखदा को प्रसन्न रखने की निरन्तर चेष्टा की जाती है। उसे थिएटर, सिनेमा दिखाने में अब अमर को संकोच नहीं होता। कभी फूलों के गजरे आते हैं, कभी कोई मनोरञ्जन की वस्तु।'[3]

---

१. कर्मभूमि, पृष्ठ २४
२ कर्मभूमि, पृष्ठ ३१
३. कर्मभूमि, पृष्ठ ५२

इतनी खुशी तो रहती है, किन्तु प्रसव पीडा की याद कर घर की बडी-बूढी स्त्रियों को आशका भी होती है और वे मन ही मन ईश्वर से प्रार्थना करती हैं कि सब कुछ कुशल से बीते। सुखदा की माता की यही दशा है। जब सुखदा के ससुर इस सम्बन्ध में प्रसन्न हो हो कर बात करते हैं, रेणुका देवी आशका से व्याकुल हुई जाती हैं—'एक दिन उनकी (लाला समरकान्त की) रेणुका से बातें हो रही थीं। रेणुका उतनी प्रसन्न न थी। प्रसव के कष्टों की याद करके वह भयभीत हो जाती थी। बोली, "लालाजी, मैं तो भगवान से यही मनाती हूँ कि जब हँसाया है, तो बीच में रुलाना मत। पहलौठी में बडा सकट रहता है। स्त्री का दूसरा जन्म होता है।"

समरकान्त को ऐसी कोई शका न थी। बोले, "मैंने तो बालक का नाम सोच लिया है। उसका नाम होगा—रेणुकान्त।"

रेणुका आशकित हो कर बोली, "अभी नाम वाम न रखिए लालाजी। इस सकट से उद्धार हो जाए, तो नाम सोच लिया जाएगा। मैं तो सोचती हूँ, दुर्गा पाठ बैठा दीजिए। इस मुहल्ले में एक दाई रहती है। उसे अभी से रख लिया जाए, तो अच्छा हो। बिटिया अभी बहुत सी बातें नही समझती। दाई उसे सँभालती रहेगी।"[1]

स्वय गर्भवती स्त्री के हृदय में एक ओर तो शिशु के जन्म लेने की प्रसन्नता होती है, तो दूसरी ओर प्रसव के कष्टों का भय भी होता है—'सुखदा का प्रसव काल समीप आता जाता था। उसका मुख पीला पड गया था, भोजन बहुत कम करती थी और हँसती बोलती भी बहुत कम थी। वह तरह तरह के दु स्वप्न देखती रहती थी, इससे चित्त और भी सशकित रहता था। रेणुका ने जनन सम्बन्धी कई पुस्तक उसको मँगा दी थीं। उन्हें पढ कर वह और भी चिन्तित रहती थी। शिशु की कल्पना से चित्त में एक गर्वमय उल्लास होता था, पर इसके साथ ही हृदय में कम्पन भी होता था—न जाने क्या होगा।'[2]

इस प्रकार शिशु का, विशेषत प्रथम शिशु का गर्भ में आना, माता तथा परिवार के अन्य सदस्यों का शिशु-आगमन की कल्पना से प्रसन्न और त्रस्त होना, गर्भिणी स्त्री की आलस्य, तन्द्रा, सर दर्द, भूख की कमी, दुर्बलता आदि अवस्थाएँ कष्टप्रद होने के बावजूद मागलिक भी होती हैं। किन्तु यदि परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं होतीं, तो माता बनना एक बहुत कठिन और कष्टदायक कार्य है।

'निर्मला' उपन्यास में नायिका (निर्मला) का विवाह बूढे मुशी तोताराम से होता है। पहली पत्नी से मुशीजी के तीन पुत्र हैं। बड़ा पुत्र (मसाराम) निर्मला का हमउम्र है। बूढे मुशीजी उसको निमला से अधिक हँसते-बोलते देख कर, उस पर शक करने लगते हैं। मसाराम पर पिता का सन्देह प्रकट होता है, तो वह आत्म ग्लानि से बीमार पड़ जाता है और शीघ्र ही उसकी मृत्यु भी हो जाती है। मुशीजी जवान बेटे की मृत्यु का कारण स्वय को समझ कर इतने दुखी होते हैं कि काम काज में मन नहीं लगाते और चिन्ता से दुर्बल एव बीमार भी होते जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों के बीच निर्मला

१ कर्मभूमि पृष्ठ १३
२ कर्मभूमि, पृष्ठ ३१

गर्भवती होती है। यद्यपि प्रथम शिशु के जन्म की कल्पना से उसे प्रसन्नता होनी चाहिए, किन्तु वह सुधा से कहती है, "आठवाँ महीना बीत रहा है। यह चिन्ता तो मुझे और भी मारे डालती है। मैंने तो इसके लिए ईश्वर से कभी प्रार्थना न की थी। यह बला मेरे सिर न जाने क्यों मढ दी? मैं बडी अभागिन हूँ बहन।"[1]

'गोदान' उपन्यास में झुनिया अपनी सास से झगड कर पति के साथ शहर तो चली जाती है, किन्तु वहाँ जा कर पछताती है। घर का सारा काम करना, बच्चे को देखना, पति की सेवा करना यह सब उसके ऊपर है, उस पर रहने और खाने पहनने की भी दिक्कतें हैं। जब वह फिर गर्भवती होती है, तब तो उसे अपने सामने मौत खडी मालूम होती है। ऐसी स्थिति में उसे सर दर्द और तन्द्रा मालूम होती है और इच्छा होती है कि वह एकान्त में पडी रहे, कोई उससे कुछ न बोले। खाने से अरुचि हो जाती है, जैसे जैसे गर्भ में बच्चा पुष्ट होता है, वह दुर्बल और शक्तिहीन होती जाती है। कोई उसकी सेवा करने वाला और उससे सहानुभूति रखने वाला नहीं है। पुत्र और पति उसे आराम तो क्या पहुँचाते, अपने अपने स्वार्थों से उसे तंग ही करते हैं। गोबर जब मिल में नौकरी कर लेता है और अन्य मजदूरों के साथ उसे शराब की लत लग जाती है, तो वह गर्भवती झुनिया को पीटता भी है। ज्यों-ज्यों गर्भावस्था पूरी होती है, झुनिया प्रसव पीड़ा की याद करके सोचती है, अच्छा है, मर जाएगी, सारे दुखों से छूट जाएगी—'उस पर विपत्ति यह कि उसे (झुनिया के) दूसरा बच्चा पैदा होनेवाला था। कोई आगे, न पीछे, अक्सर सिर में दर्द हुआ करता। खाने से अरुचि हो गई थी। ऐसी तन्द्रा होती थी कि कोने में चुपचाप पडी रहे। कोई उससे न बोले, न चाले, मगर यहाँ गोबर का निष्ठुर प्रेम स्वागत के लिए द्वार खटखटाता रहता था। स्तन में दूध नाम को नहीं, लेकिन लल्लू छाती पर सवार रहता था। देह के साथ उसका मन भी दुर्बल हो गया था। वह जो सङ्कल्प करती, उसे थोडे से आग्रह पर तोड देती। वह लेटी होती और लल्लू आ कर जबरदस्ती उसकी छाती पर बैठ जाता और स्तन मुँह में ले कर चबाने लगता। वह अब दो साल का हो गया था। बडे तेज दाँत निकल आए थे। मुँह में दूध न जाता, तो वह क्रोध में आ कर स्तन में दाँत काट लेता, लेकिन, झुनिया में अब इतनी शक्ति भी न थी कि उसे छाती पर से ढकेल दे। उसे हरदम मौत सामने खडी नजर आती। गोबर ने खींचे से निराश हो कर शक्कर की मिल में नौकरी कर ली थी (अन्य श्रमिकों की भाँति) गोबर को भी शराब का चस्का पडा। घर आता तो नशे में चूर, और पहर रात गए। और आ कर कोई-न कोई बहाना खोज कर, झुनिया को गालियाँ देता, घर से निकालने लगता और कभी-कभी पीट भी देता। . गर्भ ज्यों-ज्यों पूरा होता जाता है, उसकी (झुनिया की) चिन्ता बढती जाती है। इस घर में तो उसकी मरन हो जाएगी। कौन उसकी देख भाल करेगा, कौन उसे सँभालेगा? और जो गोबर इसी तरह मारता-पीटता रहा, तब तो उसका जीवन नरक ही हो जाएगा।

---

१ निर्मला, पृष्ठ १०८

एक दिन वह बम्बे पर पानी भरने गई, तो पड़ोस की एक स्त्री ने पूछा, "के महीने का है रे?...मुझे तो जान पड़ता है, दिन पूरे हो गए हैं। आज ही कल में होगा। कोई दाई-वाई ठीक कर ली है?"

झुनिया ने भयातुर स्वर में कहा, "मैं तो यहाँ किसी को नहीं जानती।"

"तेरा मर्दुआ कैसा है, जो कान में तेल डाले बैठा है?"

"उन्हें मेरी क्या फिकर।"

"हाँ, देख तो रही हूँ। तुम तो सौर में बैठोगी, कोई करने-धरने वाला चाहिए कि नहीं? सास-ननद, देवरानी-जेठानी कोई है कि नहीं? किसी को बुला लेना था।"

"मेरे लिए सब मर गए।"

वह पानी ला कर जूठे बरतन माँजने लगी, तो प्रसव की शका से हृदय में धडकनें हो रही थी। सोचने लगी—कैसे क्या होगा भगवान्। ऊँह। यही तो होगा मर जाऊँगी, अच्छा है, जजाल से छूट जाऊँगी।'[1]

प्रेमचन्द ने प्रसव वेदना का भी चित्रण किया है। 'कर्मभूमि' उपन्यास में अमरकान्त दिन भर दूसरे कामो में व्यस्त रह कर साढे दस बजे रात में घर पहुँचता है, तो उसके पिता लेडी डाक्टर को बुलाने के लिए कहते हैं। सुखदा (उसकी पत्नी) को प्रसव-पीडा हो रही थी। अमरकान्त जाने के लिए बाइसिकिल पर बैठ रहा होता है कि भीतर से घर की दाई निकल आती है और अमर को देखते ही कहती है, "अरे भैया, सुनो, कहाँ जाते हो? बहूजी बहुत बेहाल हैं, कब से तुम्हें बुला रही हैं। सारी देह पसीने से तर हो रही है। देखो भैया, मैं सोने की कण्ठी ले लूँगी। पीछे से हीला-हवाला न करना।"

अमरकान्त समझ गया। बाइसिकिल से उतर पड़ा और हवा की भाँति झपटता हुआ अन्दर जा पहुँचा। वहाँ रेणुका, एक दाई, पडोस की एक ब्राह्मणी और नैना (अमर की बहन) आँगन में बैठी हुई थी। बीच में एक ढोलक रखी हुई थी। कमरे में सुखदा प्रसव-वेदना से हाय हाय कर रही थी।

नैना ने दौड कर अमर का हाथ पकड लिया और रोती हुई बोली, "तुम कहाँ थे भैया, भाभी बड़ी देर से बेचैन हैं।"

अमर के हृदय में आँसुओं की ऐसी लहर उठी कि वह रो पड़ा। सुखदा के कमरे के द्वार पर जा कर खडा हो गया। पर, अन्दर पाँव न रख सका। उसका हृदय फटा जाता था।

सुखदा ने वेदना-भरी आँखों से उसकी ओर देख कर कहा, "अब नहीं बचूँगी। हाय! पेट में जैसे कोई बर्छी चुभो रहा है। मेरा कहा-सुना माफ करना।"

---

१. (क) गोदान, पृष्ठ ३५७-३६०

(ख) 'कफन' कहानी में माधव की स्त्री (बुधिया) गरीबी तथा पति और ससुर की अकर्मण्यता एवं काहिलपन के कारण और प्रसव के समय न्यूनतम प्रबन्ध के अभाव में पीड़ा से छटपटा कर मर ही जाती है।

रेणुका ने दौड़ कर अमरकान्त से कहा, "तुम यहाँ से जाओ भैया। तुम्हें देख कर वह और भी बेचैन होगी। किसी को भेज दो, लेडी डाक्टर को बुला लाए। जी कड़ा करो, समझदार हो कर रोते हो?"

सुखदा बोली, "नहीं अम्मा, उनसे कह दो जरा यहाँ बैठ जाएँ। मैं अब न बचूँगी। हाय भगवान्!"

रेणुका ने अमर को डाँट कर कहा, "मैं तुमसे कहती हूँ, यहाँ से चले जाओ, और तुम खड़े रो रहे हो। जा कर लेडी डाक्टर को बुलवाओ।"

अमरकान्त रोता हुआ बाहर निकला और जनाने अस्पताल की ओर चला, पर रास्ते में भी रह रह कर उसके कलेजे में हूक-सी उठती रही। सुखदा की वह वेदनामयी मूर्ति आँखों के सामने फिरती रही।"[1]

'गोदान' उपन्यास में झुनिया के पहले बच्चे का देहान्त हो चुका है और दूसरे का जन्म होनेवाला है। वह पति से क्रुद्ध है, अतः प्रसव वेदना प्रारम्भ हो जाती है, फिर भी वह पति को बतलाती नहीं। घर में कोई दूसरी स्त्री भी नहीं है, दाई कौन बुलाता? गोबर शराब पी कर बरामदे में पड़ा हुआ है। पिछले पहर उसे सर्दी लगती है, तो वह घर में कम्बल लेने जाता है और झुनिया के कराहने की आवाज सुनता है। वह झुनिया से पूछता है, तो मालूम होता है कि उसके पेट में जोर से दर्द हो रहा है। गोबर घबड़ाता है—दाई खोजने कहाँ जाए? उसे कुछ न मालूम था और अगर मालूम ही होता तो वह इस वक्त आने क्यों लगी? तब पड़ोस की 'चुहिया' नाम की एक अधेड़ स्त्री उसकी मदद करती है—'वह झुनिया के पास जा बैठी और उसका सिर अपनी जाँघ पर रख कर उसका पेट सहलाती हुई बोली, "मैं तो आज तुझे देखते ही समझ गई थी। सच पूछो, तो इसी धन्धे में आज मुझे नींद नहीं आई। यहाँ तेरा कौन सगा बैठा है?"

झुनिया ने दर्द से दाँत जमा कर 'सी' करते हुए कहा, "अब न बचूँगी दीदी! हाय! मैं तो भगवान से माँगने न गई थी। एक को पाला पोसा। उसे तुमने छीन लिया, तो फिर इसका कौन काम था? मैं मर जाऊँ माता, तो तुम बच्चे पर दया करना। उसे पाल-पोस लेना। भगवान तुम्हारा भला करेंगे।"

चुहिया स्नेह से उसके केश सुलझाती हुई बोली, "धीरज धर बेटी, धीरज धर। अभी छन भर में कष्ट कटा जाता है। तूने भी तो जैसे चुप्पी साध ली थी। इसमें किस बात की लाज? मुझसे बता दिया होता, तो मैं मौलवी साहब के पास से तावीज ला देती। वही मिर्जाजी जो इस हाते में रहते हैं।"

इसके बाद झुनिया को कुछ होश न रहा। नौ बजे सुबह उसे होश आया, तो उसने देखा, चुहिया शिशु को लिए बैठी है और वह साफ साड़ी पहने लेटी-सोई है। ऐसी कमजोरी थी, मानों देह में रक्त का नाम न हो।'[2]

---

१. कर्मभूमि, पृष्ठ १७-१८

२. गोदान, पृष्ठ ३१२

शिशु जन्म के बाद नारी में मातृत्वजनित सहज कोमलता आ जाती है। सन्तान के मगलमय कल्याण के लिए वह सदैव उत्सुक रहती है। उस समय उसे आशीर्वाद और हितकामना की सबसे अधिक आवश्यकता होती है।

'कर्मभूमि' उपन्यास में सुखदा और अमर ने पुत्र के जन्मोत्सव पर सारे शहर को आमन्त्रित किया था, किन्तु अपने पुराने मृत सेवक की पत्नी बुढिया पठानिन को नही। एक दिन बुढिया पठानिन उनके घर आती है। उस दिन शिशु को थोडा ज्वर आ गया था। बुढिया देखते ही कहती है, यह तो नजर का फसाद है, उसकी एक तावीज से बच्चा हँसने खेलने लगेगा। अब अमर और सुखदा उसकी खुशामद करने लगते हैं। सुखदा विनम्र भाव से बुढिया के चरणों का आँचल से स्पर्श करती है और जब वह जाने लगती है, तो मिठाई आदि देती है—'तीन महीने बीत गए थे। सन्ध्या का समय था। बच्चा पालने में सो रहा था। सुखदा हाथ में पखिया लिए एक मोढे पर बैठी हुई थी। कृशागी गर्भिणी विकसित मातृत्व के तेज और शक्ति से जैसे खिल उठी थी। उसके माधुर्य में किशोरी की चपलता न थी, गर्भिणी की आलस्यमय कातरता न थी, माता का शान्त तृप्त मगलमय विलास था।

अमरकान्त कॉलेज से सीधे घर आया और बालक को सचिन्त नेत्रों से देख कर बाला, "अब तो ज्वर नहीं है? देखो, कैसा मुसक्रा रहा है।"

मुखदा ने मीठे तिरस्कार से कहा, "तुम्ही ने देख देख कर नजर लगा दी है।"

"मेरा जी तो चाहता है, इसका चुम्बन ले लूँ।"

"नहीं नही, सोते हुए बच्चों का चुम्बन न लेना चाहिए।"

सहसा किसी ने ड्योढी में आ कर पुकारा। अमर ने जा कर देखा, तो बुढिया पठानिन लठिया के सहारे खडी है। बोला, "आओ पठानिन, तुमने तो सुना होगा। घर में बच्चा हुआ है।"

पठानिन ने भीतर आ कर कहा, "अल्लाह करे, जुग जुग जिए और मेरी उम्र पाए। क्यों बेटा, सारे शहर का नेवता हुआ और हम पूछे तक न गए? क्या हमीं सबसे गैर थे? अल्लाह जानता है, जिस दिन यह खुशखबरी सुनी, दिल से दुआ निकली कि अल्लाह इसे सलामत रखे।"

अमर ने लज्जित हो कर कहा, "हाँ, यह गलती मुझसे हुई पठानिन, मुआफ करो। आओ, बच्चे को देखो। आज इसे न जाने क्यों बुखार हो आया है।"

बुढिया दबे पाँव आँगन से होती हुई सामने के बरामदे में पहुँची और बहू को दुआएँ देती हुई बच्चे को देख कर बोली, "कुछ नहीं बेटा, नजर का फसाद है। मैं एक तावीज दिये देती हूँ, अल्लाह चाहेगा, तो अभी हँसने खेलने लगेगा।"

सुखदा ने मातृत्वजनित नम्रता से बुढिया के पैरों को अचल से स्पर्श किया और बोली, "चार दिन भी अच्छी तरह नहीं रहता माता! घर में कोई बडी-बूढी तो है नहीं। मैं क्या जानूँ, कैसे क्या होता है।"

बुढिया ने सलूके की जेब से एक रेशमी कुरता और टोपी निकाली और शिशु के सिरहाने रखती हुई बोली, "यह मेरे लाल की नजर है बेटा, इसे मजूर करो। मै और किस लायक हूँ।"

. सुखदा के पास सम्बन्धियों से मिले हुए कितने ही अच्छे-से अच्छे कपडे रखे हुए थे, पर इस सरल उपहार से उसे जो हार्दिक आनन्द प्राप्त हुआ, वह और किसी उपहार से न हुआ था, क्योंकि इसमें अमीरी का गव, दिखावे की इच्छा या प्रथा की शुष्कता न थी। इसमें एक शुभचिन्तक की आत्मा थी, प्रेम था और आशीर्वाद था।

बुढिया चलने लगी, तो सुखदा ने उसे एक पोटली में थोडी सी मिठाई दी, पान खिलाये और बरौठे तक उसे बिदा करने आई।''[1]

प्रथम शिशु का आगमन नारी के लिए सर्वथा आनन्दमय होता है। शिशु पुत्रीरूप में जन्म ले कर निधन परिवार को भले ही मुश्किल में डाल दे, पर माता के लिए वह किसी दुर्लभ रत्न से कम नही।

'निर्मला' उपन्यास में किशोरी निर्मला बूढे वकील तोताराम को ब्याही जाती है। कई वर्षों के पश्चात् उसके एक कन्या होती है। हानहार पुत्र मसाराम के स्वर्गवास, धन के नाश और कन्या-जन्म की चिन्ता से तोताराम समझते हैं, अब उनके सर्वनाश में कसर नहीं। किन्तु इसके विपरीत निर्मला इस अभाव में भी इतनी प्रसन्न है, मानों उसे कोई निधि मिल गई हो। बालिका को हृदय से लगा कर उसकी सारी चिन्ताएँ मिट जाती हैं। ऐसी अवस्था में पति की उदासीनता उसके हृदय में काँटे सी चुभती है और वह रोती हुई अपने कमरे में चली जाती है। अब वकील साहब को अपनी भूल मालूम होती है और वे उसे बातों से प्रसन्न करते हैं—

'उस दिन से मुशीजी और भी चिन्ताग्रस्त रहने लगे। जिस धन का सुख भोगने के लिए उन्होंने विवाह किया था, वह अब अतीत की स्मृति मात्र था। वह मारे ग्लानि के निर्मला को अपना मुँह तक न दिखा सकते थे। उन्हे अब उस अन्याय का अनुमान हो रहा था, जो उन्होंने निर्मला के साथ किया था और कन्या के जन्म ने तो रही-सही कसर भी पूरी कर दी—सर्वनाश ही कर डाला।

बारहवें दिन सौर से निकल कर, निर्मला नवजात शिशु को गोद में लिए, पति के पास गई। वह इस अभाव में भी इतनी प्रसन्न थी, मानों कोई चिन्ता नहीं है। बालिका को हृदय से लगा कर वह अपनी सारी चिन्ताएँ भूल गई थी। शिशु के विकसित और हर्ष प्रदीप्त नेत्रों को देख कर उसका हृदय प्रफुल्लित हो रहा था। मातृत्व के इस उद्‌गार में उसके सारे क्लेश विलीन हो गए थे। वह शिशु को पति की गोद में दे कर निहाल हो जाना चाहती थी, लेकिन मुशीजी कन्या को देख कर सहम उठे। गोद में लेने के लिए उनका हृदय हुलसा नही, पर उन्होंने एक बार उसे करुण नेत्रो से देखा, और फिर सिर झुका लिया। शिशु की सूरत मसाराम से बिलकुल मिलती थी।

१ कर्मभूमि, पृष्ठ ८३-८४

निर्मला ने उनके मन का भाव कुछ और ही समझा। उसने शतगुण स्नेह से लड़की को हृदय से लगा लिया, मानों उनसे कह रही है—अगर तुम इसके बोझ से दबे जाते हो, तो आज से मैं इस पर तुम्हारी साया भी न पड़ने दूँगी। जिस रत्न को मैंने इतनी तपस्या के बाद पाया है, उसका निरादर करते हुए तुम्हारा हृदय फट नहीं जाता? वह उसी क्षण शिशु को गोद से चिपकाते हुए अपने कमरे में चली गई और देर तक रोती रही।

मुंशीजी को एक ही क्षण में अपनी भूल मालूम हो गई। माता का हृदय प्रेम में इतना अनुरक्त रहता है कि भविष्य की चिन्ता और बाधाएँ उसे जरा भी भयभीत नहीं करतीं। उसे अपने अन्तःकरण में एक अलौकिक शक्ति का अनुभव होता है, जो बाधाओं को उसके सामने परास्त कर देती है। मुंशीजी दौड़ते हुए घर में आए और शिशु को गोद में ले कर बोले, "मुझे याद आती है, मंसा भी ऐसा ही था—बिलकुल ऐसा ही।"

निर्मला, "दीदीजी भी तो यही कहती हैं।"

मुंशीजी, "बिलकुल वही बड़ी बड़ी आँखें और लाल लाल ओठ हैं। ईश्वर ने मुझे मेरा मंसाराम इस रूप में दे दिया। वही माथा है, वही मुँह, वही हाथ-पाँव। ईश्वर, तुम्हारी लीला अपार है।"[१]

प्राणों से प्रिय ऐसी सन्तान के भावी सुख के लिए स्त्री अपने पति से भी कलह कर लेती है। ऐसी स्थिति में कभी कभी वह घर छोड़ने को भी तैयार हो जाती है, किन्तु बच्चों का मोह उसे रोक लेता है।

'निर्मला' उपन्यास में कल्याणी के चार बच्चे हैं। पति अच्छे वकील हैं, किन्तु वे सारी कमाई अपने नातेदारों रिश्तेदारों में उड़ा देते हैं। यहाँ तक कि जब बड़ी लड़की के विवाह का समय आता है, उन्हें कर्ज लेना पड़ता है। वकील साहब को यहाँ भी आवश्यक और अनावश्यक खर्च का ज्ञान नहीं है, अतः बहुत अधिक खर्च हो जाने की सम्भावना है और यह सब कुछ कर्ज के भरोसे। कल्याणी पति का विरोध करती है, आखिर उसके और बच्चे भी हैं, उनके प्रति भी उसका कुछ कर्त्तव्य है। बातों-बातों में ही पति पत्नी में झगड़ा हो जाता है और कल्याणी उस घर में नहीं रहना चाहती, जहाँ उसकी कोई पूछ नहीं। बच्चे केवल उसी के तो हैं नहीं, पति के भी हैं। अब वह उन्हें रखे, मारे या जिलाए। वह सामने न होगी तो उसे दुःख तो न होगा, किन्तु वह बच्चों के स्नेह के कारण घर छोड़ती नहीं—'रात के ग्यारह बज गए थे। घर में सन्नाटा छा गया था, दोनों बेटों की चारपाई उसी के कमरे में रहती थी। वह अपने कमरे में आई, देखा, चन्द्रभानु सोया है। सबसे छोटा सूर्यभानु चारपाई पर से उठ बैठा है। माता को देखते ही वह बोला, "तुम तहाँ दई तीं अम्माँ?"

कल्याणी दूर ही से खड़े खड़े बोली, "कहीं तो नहीं बेटा, तुम्हारे बाबूजी के पास गई थी।"

सूर्य०, "तुम त्तली दई, मुधे अतेले दर लदता ता। तुम त्यों त्तली दई तीं, बताओ।"

१. निर्मला, पृष्ठ ११५-११६

यह कह कर बच्चे ने गोद चढ़ने के लिए दोनों हाथ फैला दिए। कल्याणी अब अपने को न रोक सकी। मातृस्नेह के सुधा प्रवाह से उसका सन्तप्त हृदय परिप्लावित हो गया। हृदय के कोमल पौधे, जो क्रोध के ताप से मुरझा गए थे, फिर हरे हो गए। आँखें सजल हो गईं। उसने बच्चे को गोद में उठा लिया और छाती से लगा कर बोली, "तुमने पुकार क्यों न लिया, बेटा?"

सूर्य०, "पुकारता तो था, तुम सुनती न थीं। बताओ, अब तो कभी न जाओगी?"

कल्याणी, "नहीं भैया, अब कहीं न जाऊँगी।"

यह कह कर कल्याणी सूर्यभानु को ले कर चारपाई पर लेटी। माँ के हृदय से लिपटते ही बालक निःशंक हो कर सो गया, कल्याणी के मन में संकल्प विकल्प होने लगे, पति की बातें याद आतीं, तो मन होता—घर को तिलाञ्जलि दे कर चली जाऊँ। लेकिन बच्चों का मुँह देखती, तो वात्सल्य से चित्त गद्गद् हो जाता। बच्चों को किस पर छोड़ कर जाऊँ? मेरे इन लालों को कौन पालेगा, ये किसके हो कर रहेंगे? कौन प्रातःकाल इन्हें दूध और हलवा खिलाएगा, कौन इनकी नींद सोएगा, इनकी नींद जागेगा? बेचारे कौड़ी के तीन हो जाएँगे। नहीं प्यारो, मैं छोड़ कर न जाऊँगी। तुम्हारे लिए सब कुछ सह लूँगी। निरादर-अपमान, जली-कटी, खोटी-खरी, घुड़की झिड़की सब तुम्हारे लिए सहूँगी।'[1]

सन्तान के अनिष्ट की आशंका से माता सदा भीत रहती है और इस सम्बन्ध में यदि पति से भी भूल हो जाए, तो वह उसे खरी-खोटी सुना देती है।

'गोदान' उपन्यास में होरी को अपने भाइयों (हीरा और शोभा) की दूषित मनोवृत्ति के कारण दुःख है, फिर भी वह भाइयों को अपना समझता है। किन्तु, धनिया को वे फूटी आँखों नहीं सुहाते। होरी के घर में जब गाय आती है, तो पूरा गाँव उसे देखने आता है, नहीं आते हैं तो हीरा और शोभा। होरी यह बात धनिया से कहता है, तो वह उससे लड़ने को तैयार हो जाती है। बाद में जब वह दूध लाने चली जाती है, तो होरी अपनी पुत्री (रूपा) को फुसला कर हीरा और शोभा काका को बुला लाने को भेजता है। किन्तु, धनिया उसे राह में ही मिल जाती है और हाथ पकड़ कर लौटा लाती है। वह घर आ कर होरी पर बरस पड़ती है—

'रूपा कूदती हुई हीरा के घर चली।...लेकिन रूपा घर से निकली ही थी कि धनिया तेल लिए मिल गई। उसने पूछा, "साँझ की बेला कहाँ जाती है, चल घर।"

रूपा माँ को प्रसन्न करने के प्रलोभन को न रोक सकी।

धनिया ने कहा, "चल घर, किसी को बुलाने नहीं जाना है।"

रूपा का हाथ पकड़े हुए वह घर लाई और होरी से बोली, "मैंने तुम से हजार बार कह दिया, मेरे लड़कों को किसी के घर न भेजा करो। किसी ने कुछ कर-करा दिया, तो मैं तुम्हें ले कर चाटूँगी? ऐसा ही बड़ा परेम है, तो आप क्यों नहीं जाते? अभी पेट नहीं भरा जान पड़ता है।"[2]

---

१. निर्मला, पृष्ठ १२-१३
२. गोदान, पृष्ठ ४०-५०

पिता भी अपनी सन्तान का शुभैषी होता है, किन्तु माता तो उसके अनिष्ट की कल्पना मात्र से कातर हो उठती है।

'गोदान' उपन्यास में हीरा होरी की गाय को विष दे देता है। गाय मर जाती है। होरी ने कुछ देर पहले हीरा को गाय के पास चोरों की भाँति खडा देखा था, अत उसे हीरा पर सन्देह हो जाता है। वह धनिया से यह बात कह देता है, किन्तु उसे किसी से बताने के लिए रोक देता है। धनिया कहती है, "कौन, सबेरा होते ही लाला को थाने न पहुँचाऊँ, तो अपने असल बाप की बेटी नहीं। हत्यारा भाई कहने जोग है। यही भाई का काम है। वह बैरी है, पक्का बैरी, और बैरी को मारने में पाप नहीं, छोडने में पाप है।"

प्रात काल जब धनिया थाने में रपट लिखाने जाना चाहती है, तो होरी उसे मारता है और पूरे गाँव में हगामा हो जाता है। पूरा गाँव इकट्ठा हो जाता है। गाँव का मुखिया होरी से कहता है, "तू कसम खा जा कि तूने हीरा को गाय की नाँद के पास खडे नहीं देखा।"

"हाँ, मैंने नही देखा, कसम खाता हूँ।"

"बेटे के माथ पर हाथ रख के कसम खा।"

होरी ने गोबर के माथ पर काँपता हुआ हाथ रख कर काँपते हुए स्वर में कहा, "मैं बेटे की कसम खाता हूँ कि मैंने हीरा को नाँद के पास नही देखा।"

धनिया ने जमीन पर थूक कर कहा, "थुडी है, तेरी झुठाई पर। तूने मुझसे कहा कि हीरा चोरों की तरह नाँद के पास खडा था। और अब भाई के पच्छ में झूठ बोलता है। थुडी है। अगर मेरे बेटे का बाल भी बाँका हुआ, तो घर में आग लगा दूँगी। सारी गृहस्ती में आग लगा दूँगी। भगवान आदमी मुँह से बात कह कर इतनी बेसरमी से मुकर जाता है।"[1]

इसी प्रकार 'रगभूमि' उपन्यास में बजरगी अहीर की स्त्री जमुनी, सुभागी के विरुद्ध, उससे गवाही देने को कहती है। सुभागी को उसका पति (भैरों) बेदर्दी से पीटता था, अत वह घर से निकल भागी थी और 'सूरदास' नाम के अन्धे भिखारी ने, अपनी झोपड़ी में उसे आश्रय दे दिया था। भैरों सूरदास पर मुकद्दमा दायर करके, उसके मुख में कालिख लगाना चाहता है और बजरगी को गवाही देने के लिए बुलाने आता है। बजरगी इसमें सारा दोष भैरों का देखता है, अत वह गवाही देने से इनकार कर जाता है। किन्तु जमुनी धमकी से, लाछन से, किसी प्रकार इसके लिए उसे जबर्दस्ती राजी करती है—

बजरगी भैरों से कहता है, "अँधेर तो है ही, आँखों देख रहा हूँ। सूरे को इतना छिछोरा न समझता था। पर, मै कहीं गवाही साखी करने न जाऊँगा।"

जमुनी, "क्यों, कचहरी में कोई तुम्हारे कान काट लेगा?"

बजरगी, "अपना मन है, नहीं जाते।"

जमुनी, "अच्छा, तुम्हारा मन है। भैरों, तुम मेरी गवाही लिखा दो। मैं चल कर गवाही दूँगी। साँच को आँच क्या!"

---

१. गोदान, पृष्ठ १३८ १३९

बजरंगी (हँस कर), "तू कचहरी जाएगी ?"

जमुनी, "क्या करूँगी, जब मरदों की वहाँ जाते चूड़ियाँ मैली होती हैं, तो औरत ही जाएगी। किसी तरह इस कसबिन के मुँह में कालिख तो लगे।"

बजरंगी, "तू सोचती होगी, यह धमकी देने से मैं कचहरी जाऊँगा, यहाँ इतने बुद्धू नहीं हैं। और सच्ची बात तो यह है कि सूरे लाख बुरा हो, मगर अब भी हम सबों से अच्छा है।"...

जमुनी, "बस चुप रहो, मैं तुम्हें खूब समझती हूँ। तुम भी जा कर चार गाल हँस-बोल आते हो न, क्या इतनी यारी भी न निभाओगे ? सुभागी को सजा हो गई, तो तुम्हें भी तो नजर लड़ाने को कोई न रहेगा।"

बजरंगी यह लाञ्छन सुन कर तिलमिला उठा। जमुनी उसका आसन पहचानती थी। बोला, "मुँह में कीड़े पड़ जाएँगे।"

जमुनी, "तो फिर गवाही देते क्यों कोर दबती है ?"

बजरंगी, "लिखा दो भैरों, मेरा नाम, यह चुड़ैल मुझे जीने न देगी। मैं अगर हारता हूँ, तो इसी से। मेरी पीठ में अगर धूल लगाती है, तो यही, नहीं तो यहाँ कभी किसी से दब कर नहीं चले। जाओ, लिखा दो।"[1]

किन्तु, जगधर खोंचेवाले से जब जमुनी को मालूम होता है कि कचहरी में बेटे के सर पर हाथ रख कर क़सम खानी पड़ती है, तो वह एकदम पलट जाती है—

जगधर, "अदालत में जा कर गवाही देना क्या तुमने हँसी समझ ली है ? गंगाजली उठानी पड़ती है, तुलसी-दल लेना पड़ता है, बेटे के सिर पर हाथ रखना पड़ता है। इसी से बाल-बच्चे वाले डरते हैं कि और कुछ।"

जमुनी "सच कहो, ये सब कसमें भी खानी पड़ती हैं ?"

जगधर, "बिना कसम खाए तो गवाही होती ही नहीं।"

जमुनी, "तो भैया, बाज आई ऐसी गवाही से, कान पकड़ती हूँ। चूल्हे में जाए सूरा और भाड़ में जाए भैरों कोई बुरे दिन काम न आएगा। (पति से) तुम रहने दो।"[2]

पुत्र को पा कर माता धन-सम्पत्ति को तुच्छ समझती है। पुत्र कल्याण उसके लिए प्रधान है, सम्पत्ति गौण। यदि उसे पति की ओर से भी पुत्र के कल्याण के सम्बन्ध में आशंका हो जाए, तो उसे पति से घृणा हो जाती है और वह पुत्र रक्षा के लिए प्राण भी दे देती है।

'प्रेमाश्रम' उपन्यास में विद्या का पति (ज्ञानशंकर) उसकी बड़ी बहन गायत्री के साथ प्रेम का स्वाँग रच कर, उसके प्रेम और जमींदारी दोनों को पाना चाहता है। गायत्री निस्सन्तान विधवा है, अत ज्ञानशंकर उसे अपने इकलौते पुत्र मायाशंकर को गोद लेने के लिए तैयार करता है। गायत्री के पिता को ज्ञानशंकर की यह नीचता मालूम हो जाती है और वे विद्या को बुला कर, उसे सारी बातें बताते हुए, उसे एक प्रकार से शाप देते हैं कि

---

१ रंगभूमि भाग २, पृष्ठ ११८ ११६

२. रंगभूमि, भाग २ पृष्ठ ११८ ११६

वह गायत्री के सतीत्व की रक्षा करे, नहीं तो उसके कुल का सर्वनाश हो जाएगा, "उस दुष्ट को समझाओ, नहीं तो उसकी कुशल नहीं है। मैं गायत्री को उसकी काम चेष्टा का शिकार न बनने दूँगा। मैं तुमको वैधव्य रूप में देख सकता हूँ, पर अपने कुल गौरव को यों मिट्टी में मिलते नहीं देख सकता। सरल हृदय गायत्री की रक्षा का भार तुम्हारे ही ऊपर है। अगर उसके सतीत्व पर जरा भी धब्बा लगा, तो तुम्हारे कुल का सर्वनाश हो जाएगा। यह मेरी अन्तिम चेतावनी है। इस शाप का निवारण गायत्री की सतीत्व रक्षा से ही होगा। तुम्हारे कल्याण की और कोई युक्ति नहीं है।"[१]

विद्या सोचती है, वह पति से कहेगी, 'ऐसी जायदाद को मेरी तिलाञ्जलि है। मेरा लडका गरीब रहेगा, अपने पसीने की कमाई खाएगा, लेकिन जब तक मेरा वश चलेगा, मैं इस जायदाद (गायत्री की जायदाद) की हवा भी न लगने दूँगी।' किन्तु, वह पाती है कि उसके पति और गायत्री के बीच इतनी घनिष्ठता बढ चुकी है कि वह कुछ नहीं कर सकती—यहाँ तक कि मायाशकर के गोद लेने की तैयारियाँ भी हो रही हैं। ज्ञानशकर विद्या से कुछ नहीं पूछता और मायाशकर को भी उससे दूर ही रखता है। विद्या को अपने पति से घृणा हो जाती है। वह माया के बचने का कुछ उपाय न देख कर विष खा लेती है। उसके मरने से कुल का सर्वनाश होने से बच सकता है और यदि पुत्र का कुछ अनिष्ट होगा भी, तो वह देखने के लिए जीवित नहीं रहेगी। वह अपने पिता की चेतावनी को याद करती हुई श्रद्धा से कहती है, "बहिन, इस कुल का सर्वनाश होने में विलम्ब नहीं है। जहाँ इतना अधर्म, इतना पाप, इतना छल कपट हो, वहाँ कल्याण कैसे हो सकता है? अब मुझे पिताजी की चेतावनी याद आ रही है। हाय! मेरे रोएँ खडे हो रहे हैं। बेचारे माया पर क्या बीतेगी? यह हराम का माल, यह हराम की जायदाद उसकी जान का गाहक हो जाएगी, सर्प बन कर उसे डँस लेगी। बहिन मेरा कलेजा फटा जाता है। मैं अपने माया को इस आग से क्योंकर बचाऊं? वह मेरी आँखों की पुतली है, वही मेरे प्राणों का आधार है। यह निर्दयी पिशाच, यह वधिक मेरे लाल की गर्दन पर छुरी चला रहा है। कैसे उसे गोद में छिपा लूँ? कैसे उसे हृदय में बिठा लूँ? बाप हो कर उसको विष दे रहा है। पाप का अग्निकुण्ड जला कर मेरे लाल को उसमें झोंके देता है। मैं अपनी आँखों यह सर्वनाश नहीं देख सकती।"[२]

विद्या के विष खा लेने के बाद, उसकी मरणासन्न अवस्था में, जब ज्ञानशकर सामने आता है, तो वह जो कुछ कहती है, उससे भी उसके विष खाने के उद्देश्य का पता चलता है। वह पति को देख कर इस प्रकार चौंक कर भागना चाहती है, जैसे कोई राक्षस सामने खड़ा हो और वह कहती है, "मुझे इससे बचाओ, ईश्वर के लिए मुझे इससे बचाओ। यह पिशाच है। इसके लम्बे बाल हैं। वह देखो, दाँत निकाले मेरी ओर दौड़ा आता है। हाय! हाय! इसे भगाओ, मुझे खा जाएगा। देखो देखो, मुझे पकड़े लेता है। इसके सींग हैं, बडे-बडे दाँत हैं, बड़े-बड़े नख हैं। नहीं, मैं न जाऊँगी। छोड दे दुष्ट, मेरा हाथ

१ प्रेमाश्रम, पृष्ठ २८४ २८५

२. प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३११ ३१७

छोड दे। हाय। मुझे अग्निकुण्ड में झोंके देता है। अरे देखो, माया को पकड लिया। कहता है, बलिदान दूँगा। दुष्ट, तेरे हृदय में जरा भी दया नहीं है? उसे छोड दे, मैं चलती हूँ, मुझे कुण्ड में झोंक दे, पर ईश्वर के लिए उसे छोड दे।"[१]

पुत्र कहीं भी रहे, सुख से रहे, यही माता की हार्दिक इच्छा होती है। 'गोदान' उपन्यास में गोबर भुनिया को, जो गर्भवती है, अपने घर की राह दिखा कर भाग जाता है और फिर साल भर तक उसकी खबर नहीं लेता। गोबर की माता (धनिया) को विश्वास है कि गोबर जहाँ भी होगा, सकुशल होगा। गोबर के इस काम से भुनिया का पिता क्रोध से भरा हुआ आता है और गोबर के पिता (होरी) से लडता है तथा उसके बैलों की जोडी छीन ले जाता है। बिरादरी होरी पर अस्सी रुपए नकद और तीस मन अनाज का दण्ड लगा देती है। होरी को मजदूरी करनी पडती है और घर में एक ही समय आग जुटती है। होरी कडी मजूरी करते हुए, खेत में गिर कर बेहोश हो जाता है। धनिया रोने लगती है। होश आने के बाद होरी घर में लेटा हुआ होता है, तभी गोबर परदेश से लौटता है। इतने दिनों के बाद पुत्र को देख कर धनिया फूली नहीं समाती और उसके पूछने पर भी घर की सच्ची दशा कह कर उसे दुखी नहीं करना चाहती—'गोबर ने माँ-बाप के चरण छुए और रूपा को गोद में उठा कर प्यार किया। धनिया ने उसे आशीर्वाद दिया और उसका सिर अपनी छाती से लगा कर मानों अपने मातृत्व का पुरस्कार पा गई। उसका हृदय गर्व से उमडा पडता था। आज तो वह रानी है। इस फटे हाल में भी रानी है। कोई उसकी आँखें देखे, उसका मुख देखे, उसकी चाल देखे। रानी भी लजा जाएगी। धनिया के मन में कभी अमगल की शका न हुई थी। उसका मन कहता था, गोबर कुशल से है और प्रसन्न है। आज उसे आँखों देख कर मानों उसके जीवन के धूल धक्कड में गुम हुआ रत्न मिल गया है, मगर होरी ने मुँह फेर लिया था।

गोबर ने पूछा, "दादा को क्या हुआ है, अम्मा?"

धनिया घर का हाल कह कर उसे दुखी न करना चाहती थी। बोली, "कुछ नहीं बेटा, जरा सिर में दर्द है। चलो, कपडे उतारो हाथ मुँह धाओ। कहाँ थे तुम इतने दिन? भला इस तरह कोई घर से भागता है? और कभी एक चिट्ठी तक न भेजी। आज साल भर के बाद जाके सुधि ली है। तुम्हारी राह देखते देखते आँखें फूट गई। यही आस बँधी रहती थी कि कब वह दिन आएगा और कब तुम्हें देखूँगी। कोई कहता था, मिरच भाग गया, कोई डमरा टापू बताता था। सुन-सुन कर जान सूखी जाती थी। कहाँ रहे इतने दिन?"

गोबर ने शरमाते हुए कहा, "कहीं दूर नहीं गया था अम्मा, यहीं लखनऊ में तो था।"

"और इतने नियरे रह कर भी कभी एक चिट्ठी न लिखी।"[२]

त्याग और आत्मसमर्पण माता की सबसे बडी विभूतियाँ हैं। 'बेटोंवाली विधवा' कहानी में फूलमती के चार पुत्र हैं और एक कन्या। कन्या (कुमुद) का विवाह अभी

१. प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३१३ ३१६

२. गोदान, पृष्ठ २६७-२६८

नहीं हुआ है और फूलमती विधवा हो जाती है। कुमुद के पिता (पण्डित अयोध्यानाथ पाँच हजार दहेज का वादा कर, उसका विवाह एक अच्छी जगह निश्चित किया था। यद्यपि पण्डित अयोध्यानाथ ने मरते समय पर्याप्त सम्पत्ति छोडी थी, किन्तु उनके लडके इतने स्वार्थी हैं कि बहन के विवाह में रुपए खर्च नहीं करना चाहते और पहला सम्बन्ध छोड कर एक बुड्ढे से उसका विवाह करना चाहते हैं। फूलमती के पास लगभग दस हजार के आभूषण—स्त्री धन—हैं। उसके,पुत्र यह सोच कर कि कहीं इनके बल पर माता कुमुद का विवाह पहली जगह न कर दे, या पुत्री को ही सारे आभूषण न दे दे, माता से छल करते हैं और फूलमती सहज मातृस्नेह से अपने गहने की पिटारी ला कर उन्हे दे देती है—

'फूलमती रात को भोजन करके लेटी थी कि उमा और दया उसके पास जा कर बैठ गए। दोनों ऐसा मुँह बनाये हुए थे, मानों कोई भारी विपत्ति आ पडी है। फूलमती ने सशंक हो कर पूछा, "तुम लोग घबराए हुए मालूम होते हो।"

उमा ने सिर खुजाते हुए कहा, "समाचारपत्रों में लेख लिखना बडे जोखिम का काम है अम्मा। कितना ही बच कर लिखो, लेकिन कहीं न-कहीं पकड हो ही जाती है। दयानाथ ने एक लेख लिखा था। उस पर पाँच हजार की जमानत माँगी गई है। अगर कल तक जमानत न जमा कर दी गई, तो गिरफ्तार हो जाएँगे और दस साल की सजा ठुक जाएगी।"

फूलमती ने सिर पीट कर कहा, "तो ऐसी बातें क्यों लिखते हो बेटा? जानते नहीं हो, आजकल हमारे अदिन आए हुए हैं। तो तुमने कामता (बडा पुत्र) से रुपए का प्रबन्ध करने को नहीं कहा है? चलो, मैं कहती हूँ, देगा कैसे नहीं? रुपए इसी दिन के लिए होते हैं कि गाड कर रखने के लिए?"

उमानाथ ने माता को रोक कर कहा, "नहीं अम्मा, उनसे कुछ न कहो। रुपए तो न देंगे, उलटे और हाय हाय मचाएँगे। उनको अपनी नौकरी की खैरियत मनानी है, इन्हें घर में रहने भी न देंगे। अफसरों में जा कर खबर दे दें, तो आश्चर्य नहीं।"

फूलमती ने लाचार हो कर कहा, "तब फिर जमानत का क्या प्रबन्ध करोगे? मेरे पास तो कुछ नहीं है। हाँ, मेरे गहने हैं, इन्हें ले जाओ, कहीं गिरों रख कर जमानत दे दो। मेरे जीते जी तुम्हें कौन गिरफ्तार कर सकता है? उसका मुँह झुलस दूँ। गहने इसी दिन के लिए हैं या और किसी दिन के लिए? जब तुम्हीं न रहोगे, तो गहने ले कर क्या आग में झोकूँगी?'

उसने गहनों की पिटारी ला कर उसके सामने रख दी।

उमानाथ और दयानाथ पिटारी ले कर चले, तो 'माता वात्सल्य भरी आँखों से उनकी ओर देख रही थी और उसकी सम्पूर्ण आत्मा का आशीर्वाद जैसे उन्हें अपनी गोद में समेट लेने के लिए व्याकुल हो रहा था। आज कई महीने के बाद उसके भग्न मातृहृदय को अपना सर्वस्व अर्पण करके जैसे आनन्द की विभूति मिली (पति की मृत्यु के बाद पुत्र और पुत्र वधुओं ने उसे गृह-स्वामिनी के आसन से उतार दिया था)। उसकी स्वामिनी कल्पना इसी त्याग के लिए, इसी आत्मसमर्पण के लिए, जैसे कोई मार्ग ढूँढती रहती थी।

अधिकार या लोभ या ममता की वहाँ गन्ध तक न थी। त्याग ही उसका आनन्द और त्याग ही उसका अधिकार है। आज अपना खोया हुआ अधिकार पा कर, अपनी सिरजी हुई प्रतिमा पर अपने प्राणों की भेंट करके वह निहाल हो गई।"[1]

'वरदान' उपन्यास की सुवामा पुत्र के धनवान होने के लिए कठोर श्रम करती है— 'जब से मुंशी सजीवनलाल (पडोसी) तीर्थयात्रा को निकले और प्रतापचन्द (पुत्र) प्रयाग चला गया, उस समय से सुवामा के जीवन में बडा अन्तर हो गया था। वह ठेके के कार्य को उन्नत करने लगी। मुंशी सजीवनलाल के समय में भी, व्यापार में इतनी उन्नति न हुई थी। सुवामा रात रात भर बैठी ईंट पत्थरों से माथा लडाया करती और गारे चूने की चिन्ता में व्याकुल रहती। पाई-पाई का हिसाब समझती और कभी-कभी स्वयं कुलिया के कार्य की देख भाल करती। इन कार्यों में उसकी ऐसी प्रवृत्ति हुई कि दान से और व्रत से भी वह पहले का-सा प्रेम न रहा। प्रतिदिन आय-वृद्धि होने पर भी सुवामा ने व्यय किसी प्रकार का न बढाया। कौडी-कौडी दाँतों से पकडती और यह सब इसलिए कि प्रतापचन्द धनवान हो जाए और अपने जीवनपर्यन्त सानन्द रहे।'[2]

कर्तव्यवश माता पुत्र से अलग रहना चाह सकती है, किन्तु उसकी ममता नहीं जाती। 'कर्मभूमि' उपन्यास में गोरों-द्वारा अपना सतीत्व भंग किए जाने पर मुन्नी यह उचित समझती है कि अपने दो वर्षीय पुत्र को अपने कलंकित जीवन से दूर ही रखे। वह किसी तीर्थस्थान में जा कर जीवन के शेष दिन काट देना चाहती है, किन्तु पुत्र को देख कर, दोनों बाहें फैला कर वह मूर्च्छित हो जाती है। वह डॉ॰ शान्तिकुमार से, जो उसे मोटर पर स्टेशन छोडने के लिए जा रहे हैं, कहती है, "आप मुझे जल्दी से ले चलिए। अपने बालक को देख कर मेरे हृदय में मोह की ऐसी आँधी उठेगी कि मेरा सारा विवेक और विचार उसमें तृण के समान उड जाएगा। उस मोह में मैं भूल जाऊँगी कि मेरा कलंक उसके जीवन का सर्वनाश कर देगा। मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है। आप मुझे जल्दी यहाँ से ले चलिए। मैं उस बालक को देखना नहीं चाहती, मेरा देखना उसका विनाश है।"

शान्तिकुमार ने मोटर चला दी, पर दस ही बीस गज गए होंगे कि पीछे से मुन्नी का पति, बालक को गोद में लिये, दौडता और 'मोटर रोको! मोटर रोको!' पुकारता चला आता था। उस पर मुन्नी की नजर पडी। उसने मोटर की खिडकी से सिर निकाल कर हाथ से मना करते हुए चिल्ला कर कहा, "नहीं, नहीं, तुम मत आओ, मेरे पीछे मत आओ। ईश्वर के लिए मत आओ।"

फिर उसने दोनों बाहें फैला दीं, मानो बालक को गोद में ले रही हो और मूर्च्छित हो कर गिर पडी।"[3]

---

१ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ ६७-७०
२ वरदान, पृष्ठ १२७-१२८
३ कर्मभूमि, पृष्ठ ८१

पुत्र चाहे अपना धर्म परिवर्त्तन कर ले, पर माता के लिए वह छोटा-सा बच्चा ही बना रहता है, जिसे उसने कभी अपना दूध पिलाया था। उसे उससे क्या छूत और क्या अलगाव? यदि जाति इसमें बाधा दे, तो वह एक बार उसे भी छोड़ने के लिए तैयार हो जाती है।

'खून सफेद' कहानी में जादोराय और देवकी अपने तीन चार साल के पुत्र (साधो) के साथ अकाल में गाँव छोड़ कर दूर जाते हैं और मजदूरी करके किसी भाँति पेट पालते हैं। पास ही एक पादरी का पड़ाव है। वह साधो को बिस्कुट, केले और नारंगियाँ देता है। बिस्कुट और नारंगियों के लोभ में साधो पादरी के साथ भाग जाता है। देवकी और जादोराय, भूखे प्यासे, तीन दिनों तक, अपने खोए हुए लाल की तलाश करते रहते हैं, किन्तु वह नहीं मिलता। इस घटना के चौदह वर्ष बीत जाते हैं और साधो की याद में देवकी नित्य रोती है—'खोए हुए साधो की याद अभी तक बाकी है। उसकी चर्चा नित्य हुआ करती है और कभी बिना रुलाए नहीं रहती। देवकी कभी-कभी सारे दिन उस लाडले बेटे की सुध में अधीर रहा करती है।'[१]

पादरी ने साधो को एक ईसाई स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिया था। बड़े होने पर, साधो को, अपने घर और माता की याद आती है। वह अपने गाँव पहुँचता है और देवकी उसे हृदय से लगा कर रोती है। किन्तु, बिरादरी के मुखिया उसे किसी भाँति जाति में शामिल करने का तैयार नहीं हैं। वे इतनी रियायत कर देते हैं कि वह घर में रहे, पर छुआछूत का ध्यान रखा जाए। देवकी की ममता उमड आती है और वह अधीर हो कर कहती है, "मैं अपने लाल को अपने घर में रखूँगी और कलेजे से लगाऊंगी। इतने दिनों बाद मैंने उसे पाया है, अब उसे नहीं छोड सकती।.. चाहे बिरादरी छूट ही जाए। लडके वालों ही के लिए आदमी आड पकडता है। जब लडका ही न रहा, तो भला बिरादरी किस काम आवेगी?"[२]

किन्तु, देवकी की कौन सुनता? साधो अपने ही घर में अछूत बन कर नहीं रहना चाहता, वह जाने को तैयार हो जाता है। देवकी रो कर उसे रोकना चाहती है, तो वह मुस्कुरा कर कहता है, "मैं तो तेरी थाली में खाऊँगा।" देवकी उसे ममता और प्रेम की दृष्टि से देख कर कहती है, "मैंने तो तुझे छाती से दूध पिलाया है, तू मेरी थाली में खाएगा तो क्या? मेरा बेटा ही तो है, कोई और तो नहीं हो गया?"[३]

साधो जलपान करके चला जाता है, वह अपने कारण माता को जातिच्युत नहीं कराना चाहता। देवकी फूट-फूट कर रोने लगती है।

माता अपने कमजोर, दुर्बल और बीमार बच्चे को सर्वाधिक प्यार करती है। यह उसके निस्स्वार्थ प्रेम की पराकाष्ठा है।

१ मानसरोवर, भाग ८, पृष्ठ ११
२ मानसरोवर, भाग ८, पृष्ठ १३ १४
३. मानसरोवर भाग ८, पृष्ठ १५

'गोदान' उपन्यास की गोविन्दी ऐसी ही माता है। 'भीष्म उनका (खन्ना-दम्पति का) सबसे छोटा पुत्र था और जन्म से ही दुर्बल होने के कारण उसे रोज एक न एक शिकायत बनी रहती थी। आज खाँसी है तो कल बुखार, कभी पसली चल रही है, कभी हरे-पीले दस्त आ रहे हैं। दस महीने का हो गया था, पर लगता था पाँच छः महीने का। खन्ना की धारणा हो गई थी कि यह लड़का बचेगा नहीं, इसलिए उसकी ओर से उदासीन रहते थे, पर गोविन्दी इसी कारण उसे और सब बच्चों से ज्यादा चाहती थी।''[1]

यदि पुत्री का विवाह माता के आदर्शों के अनुरूप नहीं होता, तो वह शोक में घुल घुल कर प्राण दे देती है।

'वरदान' उपन्यास में विरजन सुशीला की इकलौती सन्तान है। वह अपने जीवन के सारे अरमान विरजन द्वारा ही पूरा करना चाहती है, किन्तु जब उसके दुर्भाग्य से वह एक दुश्चरित्र, लम्पट युवक (कमलाचरण) से ब्याही जाती है, तो वह पुत्री के कष्टों का अनुमान कर चिन्तित रहती है और इसी दुःख में उसका देहान्त हो जाता है— 'सुशीला के लिए विरजन से प्रिय जगत् में अन्य वस्तु न थी। विरजन उसका प्राण थी, विरजन धर्म थी और विरजन ही उसका सत्य थी। वही उसका प्राणाधार थी, वही उसके नयनों की ज्योति और हृदय का उत्साह थी। उसकी सर्वोच्च सांसारिक अभिलाषा यह थी कि मेरी प्यारी विरजन अच्छे घर जाए। इसके सास-ससुर देवी देवता हों, उसका पति शिष्टता की मूर्त्ति और श्री रामचन्द्रजी की भाँति सुशील हो, उस पर किसी कष्ट की छाया भी न पड़े। उसने मर मर कर बड़ी मिन्नतों से यह पुत्री पाई थी और उसकी इच्छा थी कि इस रसीले नयना वाली अपनी भोली-भाली बाला को अपने मरणपर्यन्त आँखों से अदृश्य न होने दूँगी। अपने जामाता को भी यहीं बुला कर अपने घर रखूँगी। विरजन के बच्चे होंगे। उनका पोषण करूँगी। जामाता मुझे माता कहेगा, मैं उसे लड़का समझूँगी। .. क्या सोचती थी और क्या हो गया। अपने मन को बार-बार समझाती कि अभी क्या है, जब कमला सयाना हो जाएगा, तो सब बुराइयाँ स्वयं त्याग देगा। पर, एक निन्दा का घाव भरने नहीं पाता था कि, फिर कोई नवीन घटना सुनने में आ जाती। इसी प्रकार, आघात पर-आघात पड़ते गए। हाय! नहीं मालूम विरजन के भाग्य में क्या बदा है? क्या यह गुन की मूर्ति, मेरे घर की दीप्ति, मेरे शरीर का प्राण इसी दुष्प्रकृति मनुष्य के संग जीवन व्यतीत करेगी? क्या मेरी श्यामा इसी गिद्ध के पाले पड़ेगी? यह सोच कर सुशीला रोने लगती और घण्टों रोती।...जिस प्रकार वधिक की छुरी के तले अपने बछड़े को देख कर गाय का रोम रोम काँपने लगता है, उसी प्रकार विरजन के दुःख का ध्यान करके सुशीला को आँखों में संसार सूना जान पड़ता था। इन दिनों विरजन को पल भर के लिए नेत्रों से दूर करते उसे वह कष्ट और व्याकुलता होती थी, जो चिड़िया को घोंसले से बच्चों के खो जाने पर होती है।

सुशीला एक तो यों ही जीर्ण रोगिणी थी। उस पर भविष्य की असाध्य चिन्ता और जलन ने उसे और भी घुला डाला। (दामाद की) निन्दाओं ने कलेजा चलनी कर

१ गोदान, पृष्ठ २४१

डाला। छ मास भी न बीतने पाए थे कि क्षय रोग के चिह्न दिखाई देने लगे।[1] और कुछ ही महीनों में सुशीला का देहान्त हो जाता है।

सन्तान का वियोग माता के लिए असह्य होता है। कुछ माताएँ तो पुत्र वियोग में पागल भी हो जाती हैं और कुछ उसके वियोग में प्राण तक दे देती हैं।

'स्वर्ग की देवी' कहानी की लीला के दोनों बच्चों की मृत्यु (हैजे से) एक साथ ही हो जाती है, तो उसकी दशा भी शोचनीय हो जाती है। वह चेतना हीन हो जाती है। उसके पति (सीतासरन) को भी बच्चों के चले जाने का दु ख होता है, पर वह शीघ्र ही अपना शोक भूल कर दोस्तों में मन बहलाता है। प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं—'सन्तान का दु ख तो कुछ माता ही को होता है।' लीला का मातृहृदय बच्चों की याद में महीनों रोना रहता है। वह जीवन के सारे कर्त्तव्यों को भूल जाती है। तीज त्योहार में तो उसकी दशा और भी बुरी हो जाती है और उसका पूरा समय रोते ही बीतता है—'लीला का स्वास्थ्य पहले भी कुछ अच्छा न था, अब तो वह और भी बेजान हो गई। उठने-बैठने की शक्ति भी न रही। हरदम खोई सी रहती, न कपड़े लत्ते की सुधि थी, न खाने पीने की। उसे न घर से वास्ता था, न बाहर से। जहाँ बैठती, वहीं बैठी रह जाती। महीनों कपड़े न बदलती, सिर में तेल न डालती। बच्चे ही उसके प्राणों के आधार थे। जब वही न रहे, तो मरना और जीना बराबर था। रात दिन यही मनाया करती कि भगवान यहाँ से ले चलो। सुख दु ख सब भुगत चुकी। अब सुख की लालसा नहीं है, लेकिन बुलाने से मौत किसी को आई है?'[2] इस पर पति की निष्ठुरता उसे और दुखी बना देती है। सीतासरन उसे उदास और शोक मग्न देख कर भुँझलाता है—जिन्दगी रोने के लिए ही तो नहीं है। ईश्वर ने लडके दिए थे, ईश्वर ही ने छीन लिए। क्या लडकों के पीछे प्राण दे देना होगा? लीला पति के मुख से ऐसे कठोर शब्द सुन कर और भी रोती है।

'गोदान' उपन्यास की झुनिया की भी दशा ठीक लीला-जैसी है। वह भी पुत्र वियोग में अत्यन्त शोक मग्न है और पति की निष्ठुरता एव राग-रग की लालसा देख कर क्रोध से कह उठती है—"तुम कितने पशु हो।" उसके हृदय में पुत्र की स्मृति इतनी ताजी रहती है कि मरने के बाद वह उसे और प्यारा हो जाता है। आर्थिक दिक्कतों के कारण, लल्लू से, उसकी जीवितावस्था में, उसके चचल स्वभाव और जिद्दी प्रकृति के कारण, वह कष्ट ही पाती थी। लल्लू मर कर, भोला भाला, शान्त हो कर झुनिया का और अधिक स्नेह पा लेता है। पति की बेदर्दी उसके हृदय में पुत्र को अत्यधिक सजीव कर देती है—'झुनिया को अब लल्लू की स्मृति लल्लू से भी कहीं प्रिय थी। लल्लू जब तक सामने था, वह उससे जितना सुख पाती थी, उससे कहीं ज्यादा कष्ट पाती थी। अब लल्लू उसके मन में आ बैठा था, शान्त, स्थिर, सुशील, साहसी। उसकी कल्पना में अब वेदनामय आनन्द था, जिसमें प्रत्यक्ष की काली छाया न थी। दूध की जगह वह उसे अपना रक्त पिला पिला कर पाल रही थी। उसे अब वह बन्द कोठरी और वह दुर्गन्ध भरी वायु और

१ वरदान पृष्ठ ४४ ४५

२. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ७६-७७

वह दोनो जून धुएँ में जलना, इन बातो का मानो ज्ञान ही न रहा। वह स्मृति उसके भीतर बैठी हुई जैसे उसे शक्ति प्रदान करती रहती। जीते-जी जो उसके जीवन का भार था, मर कर उसके प्राणों में समा गया था। उसकी सारी ममता अन्दर जा कर बाहर से उदासीन हो गई थी। गोबर देर में आता है या जल्द, रुचि से भोजन करता है या नहीं, प्रसन्न है या उदास, इसकी अब उसे बिलकुल चिन्ता न थी।...एक दिन उसने (गोबर ने) रूखे स्वर में कहा, "तो लल्लू के नाम को कब तक रोए जाएगी ? चार पाँच महीने तो हो गए।"

झुनिया ने ठण्डी साँस ले कर कहा, "तुम मेरा दुःख नही समझ सकते। अपना काम देखो। मै जैसी हूँ, वैसी पड़ी रहने दो।"

"तेरे रोते रहने से लल्लू लौट आएगा ?"

झुनिया के पास इसका कोई जवाब न था। वह उठ कर पतीली में कचालू के लिए आलू उबालने लगी। गोबर को ऐसा पाषाण-हृदय उसने न समझा था।

इस बेदर्दी ने लल्लू को उसके मन में और भी सजग कर दिया। लल्लू उसी का है, उसमें किसी का साझा नही, किसी का हिस्सा नही। अभी तक लल्लू किसी अंश में उसके हृदय के बाहर भी था, गोबर के हृदय में भी उसकी कुछ ज्योति थी। अब वह सम्पूर्ण रूप से उसका था।"[1]

'गोदान' उपन्यास में पुत्र की मृत्यु के बाद सिलिया की भी यही दशा होती है। पुत्र की याद में वह रात-दिन तडपती रहती है—'बालक मर कर भी सिलिया के जीवन का केन्द्र बना रहा। उसकी छाती में दूध का उबाल सा आता और आँचल भीग जाता। उसी क्षण आँखों से आँसू भी निकल पड़ते। पहले सब कामों से छुट्टी पा कर रात को जब वह रामू को हिये से लगा कर, स्तन उसके मुँह में दे देती, तो मानों उसके प्राणों में बालक की स्फूर्ति भर जाती। तब वह प्यारे-प्यारे गीत गाती, मीठे-मीठे स्वप्न देखती और नए नए संसार रचती, जिसका राजा रामू होता। अब सब कामो से छुट्टी पा कर वह अपनी सूनी झोपड़ी में रोती थी और उसके प्राण तडपते थे, उड़ जाने के लिए उस लोक में जहाँ उसका लाल इस समय भी खेल रहा होगा।...मर कर और पहुँच से बाहर हो कर वह अब और भी प्रिय हो गया था, उसकी छाया उससे कही सुन्दर, कही चोचाल, कहीं लुभावनी थी।...

एक महीना बीत गया। सिलिया फिर मजूरी करने लगी थी। सन्ध्या हो गई थी। पूर्णमासी का चाँद विहँसता-सा निकल आया था। सिलिया ने कटे हुए खेत में से गिरे हुए जौ के बाल चुन कर टोकरी में रख लिए थे और घर जाना चाहती थी कि चाँद पर निगाह पड़ गई और दर्द-भरी स्मृतियों का मानों स्रोत खुल गया। अंचल दूध से भर गया और मुख आँसुओं से। उसने सिर लटका लिया और जैसे रुदन का आनन्द लेने लगी।'[2]

'वरदान' उपन्यास में अपने प्रिय पुत्र कमलाचरण की आकस्मिक मृत्यु के कारण सुशील और हँसमुख प्रेमवती की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। पुत्र की मृत्यु के कुछ ही दिनों

---

१. गोदान, पृष्ठ ३१८-३१९

२. गोदान, पृष्ठ ४४९-४५०

बाद, उसके पति का भी आकस्मिक निधन हो जाता है। प्रेमवती कटुभाषिणी और निर्दय हो जाती है। वह बहू को व्यंग्य और तानों से छेदती है। अपनी जमींदारी के इलाके में जा कर अँधेर मचा देती है—किसी असामी को कटु वचन कहती है, किसी के सामान बलात् छीन लेती है। उसके हृदय में इतना वात्सल्य भी शेष नहीं रह जाता कि वह अपनी दूसरी सन्तानों के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा कर सके—'प्रेमवती यद्यपि बडी सुशील और हँसमुख स्त्री थी, परन्तु इन दुर्घटनाओं ने उसके स्वभाव और व्यवहार में अकस्मात् बडा भारी परिवर्त्तन कर दिया। बात-बात पर विरजन (पुत्रवधू) से चिढ जाती और कटूक्तियों से उसे जलाती। उसे यह भ्रम हो गया था कि ये सब आपत्तियाँ इसी बहू की लाई हुई हैं। असामियों को कटु वचन कहती। कारिन्दा के सिर पर जूती पटक दी। पटवारी को कोसा। राधा अहीर की गाय बलात्कार छीन ली। यहाँ तक कि गाँववाले घबडा गए। उन्होंने बाबू राधाचरण (प्रेमवती के बडे पुत्र) से शिकायत की। राधा चरण ने यह समाचार सुना, तो विश्वास हो गया कि अवश्य इन दुर्घटनाओं ने अम्मा की बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। इस समय किसी प्रकार इनका मन बहलाना चाहिए। सेवती (बहन) को लिखा कि तुम माताजी के पास चली जाओ और उनके संग कुछ दिन रहो। परन्तु प्रेमवती पर उसके आने का कुछ भी प्रभाव न पडा। वह उसके गले मिल कर रोई भी नही। उसके बच्चे की ओर आँख उठा कर भी न देखा। उसके हृदय में अब ममता और प्रेम नाम मात्र को भी न रह गया था। देवी देवता का नाम मुख पर आते ही उसके तेवर बदल जाते थे। वह प्रेमवती अब प्रेमवती ही न थी।"[1]

कुछ दिनों के बाद प्रेमवती जब मरणासन्न होती है, तो मृत्यु के पहले, चेतना के क्षणों में, पुत्री के गले मिल कर रोती है और कहती है, "सित्तो! तुम्हें आज यह सब बातें अचरज प्रतीत होती हैं, हाँ बेटी, अचरज ही है। मैं कैसे रोऊ जब आँखों में आँसू ही न रहे? प्यार कहाँ से लाऊँ, जब कलेजा सूख कर पत्थर हो गया? ये सब दिनों के फेर हैं। आँसू उनके (पति के) साथ गए और प्यार कमला के साथ। आज न जाने ये दो बूँद आँसू कहाँ से निकल आए? बेटी! मेरे अपराध सब क्षमा करना।"[2]

'रंगभूमि' उपन्यास की महत्त्वाकांक्षी मिसेज सेवक कट्टर और अनुदार ईसाई हैं। वह अपनी सुन्दरी और सर्वगुणसम्पन्न पुत्री (सोफिया) का विवाह किसी बडे अँगरेज अफसर से करने और हिन्दुस्तानी ईसाई हो कर भी अँगरेज बनने का स्वप्न देखा करती हैं, जब कि सोफिया का स्वभाव अपनी माता के विपरीत है। उसने संसार के सभी प्रमुख धर्मों का अध्ययन किया है और वह ईसामसीह को ईश्वर का दूत मानने और उनके द्वारा सभी पापों के मिटाये जाने के विषय में माता से बराबर शंका किया करती है। उसे प्रत्येक रविवार को माता के साथ गिरजाघर जाने की पाबन्दी भी नापसन्द है। उसकी माता उसके इन व्यवहारों के कारण उसे हमेशा दुर्वचन कहती रहती हैं। एक बार ऐसे ही दुर्वचनों से क्षुब्ध हो कर सोफिया घर से निकल पडती है और कुँवर भरत सिंह के पुत्र को

१. वरदान, पृष्ठ ११७-११८

२. वरदान, पृष्ठ १२०

एक दुर्घटना से बचाने में स्वयं जल जाती है। कुँवर साहब और उनकी पत्नी (रानी जाह्नवी), सोफिया की चिकित्सा कराते हैं और उसे अपने कुल की रक्षा करने वाली देवी समझते हैं। सोफिया और विनय में प्रेम हो जाता है, किन्तु विवाह में धार्मिक कठिनाइयाँ हैं। उधर मिसेज सेवक सोफिया का विवाह जिलाधीश मिस्टर क्लार्क से करना चाहती हैं। सोफिया के न चाहने पर वह बलपूर्वक भी यह विवाह करना चाहती हैं। सोफिया कूटनीति से काम लेती है—वह मिस्टर क्लार्क को विवाह का प्रस्ताव करने का मौका ही नहीं देती। इस प्रकार वर्षों बीत जाते हैं और मिसेज सेवक पुत्री से रुष्ट हो जाती हैं। बाद में, विनय और सोफी के विवाह के लिए, जब रानी जाह्नवी मिसेज सेवक की अनुमति लेने जाती हैं, तो मिसेज सेवक क्रुद्ध होकर कहती हैं, "खुशी सोफिया को होनी चाहिए, जब वह खुश है, तो मैं अनुमति दूँ, या न दूँ, एक ही बात है। माता हूँ, सन्तान के प्रति मुँह से जब निकलेगी, शुभेच्छा ही निकलेगी, उसकी अनिष्ट कामना नहीं कर सकती, लेकिन क्षमा कीजिएगा, मैं विवाह-संस्कार में सम्मिलित न हो सकूँगी। मैं अपने ऊपर बड़ा जब्र कर रही हूँ कि सोफिया को शाप नहीं देती, नहीं तो ऐसी कुलकलंकिनी लड़की का तो मर जाना ही अच्छा है, जो अपने धर्म से विमुख हो जाए।"[१]

सोफिया का विवाह नहीं हो पाता और पाण्डेपुर के सत्याग्रह में विनय की मृत्यु हो जाती है। विनय के निधन के बाद मिसेज सेवक की झुलसी हुई आशा लता फिर हरी होती है और वे सोफी को स्वयं जा कर साथ लाना चाहती हैं—'जैसे बनेगा, वैसे लाऊँगी, खुशी से न आएगी, जबरदस्ती लाऊँगी, रोऊँगी, पैरों पड़ूँगी और बिना साथ लाए उसका गला न छोड़ूँगी।'[२] और वे फिर मिस्टर क्लार्क की खातिरदारियाँ करने लगती हैं। जब मिसेज सेवक की सोफिया से मुलाकात होती है, तो वे उसे अपने साथ रहने और अपने धर्म में विवाह करने के लिए समझाती हैं। सोफी, सम्भवतः माँ के स्वार्थ से पीड़ित होकर, विवाह करने का वचन देती है और उसी रात गंगा में डूब कर आत्महत्या भी कर लेती है। विवाह से उसका आशय आत्मसमर्पण था। अब परलोक में विनय से उसका विवाह होगा, इस आशय का एक पत्र वह रानी जाह्नवी के नाम छोड़ जाती है। मिसेज सेवक के एक पुत्र था—प्रभुसेवक। वह भी उनके आदर्शों के अनुसार जीवन यापन करने के बदले पहले तो देश प्रेम का परिचय देता है, फिर विश्व बन्धुत्व की भावना से प्रेरित हो कर विदेश में ही रहने लगता है। इस स्थिति में जब सोफिया के जीवन का यह दुःखद अंत होता है, तो मिसेज सेवक विक्षिप्त हो जाती हैं। सोफिया ने जो पत्र रानी जाह्नवी के नाम लिखा था, उसे ले कर वे रोती हुई मिसेज सेवक के घर पहुँचती हैं। पत्र के अन्त में लिखा था, 'मामा और पापा से कह दीजिएगा, सोफी का विवाह हो गया, अब उसकी चिन्ता न करें।' पत्र समाप्त करते ही मिसेज सेवक रानी की ओर उन्मादिनी की भाँति देख कर कर्कश स्वर में कहती हैं, "तुम्हीं विष की गाँठ हो, मेरे जीवन का सर्वनाश करनेवाली, मेरी जड़ों में कुल्हाड़ी मारने वाली, मेरी अभिलाषाओं को पैरों से कुचलनेवाली, मेरा मान-मर्दन करनेवाली काली

१ रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ २१२-२१३

२ रंगभूमि भाग २, पृष्ठ ४३९

नागिन तुम्ही हो। तुम्हीं ने अपनी मधुर वाणी से, अपने छल प्रपच से, अपने कूट मन्त्रों से मेरी सरला सोफी को मोहित कर लिया और अन्त को उसका सर्वनाश कर दिया। यह तुम्हीं लोगों के प्रलोभन और उत्तेजना देने का फल है कि मेरा लडका आज न-जाने कहाँ और किस दशा में है और मेरी लडकी का यह हाल हुआ। तुमने मेरे सारे मन्सूबे खाक में मिला दिए।"[१]

मिसेज सेवक सन्तान-शोक में पागल हो जाती हैं—'मिसेज सेवक की महत्त्वाकांक्षाओं पर तुषार पड गया। उस दिन से फिर उन्हे किसी ने गिरजाघर जाते नहीं देखा, वह फिर कभी गाउन और हैट पहने हुए न दिखाई दीं, फिर योरोपियन क्लब में नहीं गईं और फिर अँगरेजी दावतों में सम्मिलित नहीं हुईं। दूसरे दिन प्रात काल पादरी पिम और मिस्टर क्लार्क मातमपुरसी करने आए। मिसेज सेवक ने दोनों को वह फटकार सुनाई कि अपना सा मुँह ले कर चले गए। साराश यह कि उसी दिन उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई, मस्तिष्क इतने कठोर आघात को सहन न कर सका। वह अभी तक जीवित हैं, पर दशा अत्यन्त करुण है। आदमियों की सूरत से घृणा हो गई है, कभी हँसती हैं, कभी रोती हैं, कभी नाचती हैं, कभी गाती हैं। कोई समीप जाता है, तो दाँतों काटने दौडती हैं।'[२]

कुछ माताएँ तो पुत्र वियोग के कारण प्राण त्याग ही कर देती हैं। 'मन्दिर' कहानी में एक माता के वात्सल्य, निष्ठा और श्रद्धा की कहानी यों है—विधवा चमारिन सुखिया के जीवन का एक मात्र आधार उसका छोटा सा बालक है। वह तीन दिनों से बीमार है, अत. उसने कुछ खाया-पिया नही है। सुखिया भी भूखी प्यासी उसके कष्ट निवारण में सलग्न है। रात में वह स्वप्न देखती है कि ठाकुरजी की पूजा करने से बालक अच्छा हो जाएगा। वह अपने हाथ के (चाँदी के) कडे बेच कर पूजा का सामान करती है और बच्चे को गोद में ले कर मन्दिर में पूजा करने जाती है। किन्तु, पुजारी और अन्य भक्तगण उसे मन्दिर में घुसने भी नही देते और पूजा का थाल फेंकने को तैयार हो जाते हैं। रात में वह देखती है कि उसके पुत्र का बुखार बढ रहा है। फिर उसे पिछली रात का स्वप्न याद आता है। जाड़े की (तीन बजे) सुबह का समय, ठण्डी वायु से उसके पैर जमने-से लगते हैं, फिर भी वह बच्चे को कम्बल में लपेटे किसी प्रकार मन्दिर तक पहुँच जाती है। मन्दिर में उस समय ताला पडा होता है। वह ताले को ईट की दो तीन चोटों से तोड देती है, किन्तु तब तक पुजारी जग जाता है और गाँव के अन्य लोग भी आ जाते हैं। सुखिया पूजा भी नही कर पाती, किन्तु भगवान के भक्तगण समझते हैं, उसने भगवान को भ्रष्ट कर दिया। उसकी कोई नही सुनता और चारों ओर से उस पर लातों और घूँसों की वर्षा होने लगती है। एक हाथ में उसका पुत्र है और दूसरे हाथ से वह उसकी रक्षा करती है। इतने में एक आदमी उसे इतने जोर से धक्का देता है कि बालक हाथ से छूट जाता है। सुखिया सँभल कर बालक को उठाना चाहती है, तो चौंक पडती है। उसका पुत्र मर चुका था। सुखिया रोती नही, मूर्च्छित हो जाती है। उसी अवस्था में उसके प्राण निकल जाते हैं।

१ रगभूमि, भाग २, पृष्ठ ४४४ ४४५

२. रगभूमि, भाग २, पृष्ठ ४४५

'डामुल का कैदी' कहानी में कृष्णचन्द प्रमीला का इकलौता पुत्र और उसके जीवन का आधार है। जब वह गर्भ में था, तभी उसके पिता (सेठ खूबचन्द) अपनी सरलता और सत्यवादिता के कारण चौदह साल के लिए कालेपानी की सजा पा गए थे। प्रमीला बड़ी मुसीबतों से कृष्णचन्द को पालती है और पति की अनुपस्थिति में उसका मुँह देख कर जीवन व्यतीत करती है। कृष्णचन्द जब पन्द्रह साल का होता है, तो सेठजी जेल से छूट कर घर लौटते हैं। इसके कुछ दिनों बाद ही कृष्णचन्द, जो मजदूरों की हड़ताल में उनका नेता था, मिल-मालिक की गाली से मारा जाता है। अर्थी उठाने की तैयारियाँ हो रही हैं कि प्रमीला रोती हुई आती है और पुत्र के शव से लिपट जाती है—'अभी अर्थी न उठने पाई थी कि प्रमीला लाल आँखें किये उन्मत्त-सी दौड़ी आई और उस देह से चिमट गई, जिसे उसने अपने उदर से जन्म दिया और अपने रक्त से पाला था। चारों तरफ हाहाकार मच गया। मजदूर और मालिक ऐसा कोई नहीं था, जिसकी आँखों से आँसुओं की धारा न निकल रही हो।

सेठजी ने समीप जा कर प्रमीला के कन्धे पर हाथ रखा और बोले, "क्या करती हो प्रमीला, जिसकी मृत्यु पर हँसना और ईश्वर का धन्यवाद देना चाहिए, उसकी मृत्यु पर रोती हो?"

प्रमीला उसी तरह शव को हृदय से लगाये पड़ी रही। जिस निधि को पा कर उसने विपत्ति को सम्पत्ति समझा था, पति वियोग के अन्धकारमय जीवन में जिस दीपक से आशा, धैर्य और अवलम्ब पा रही थी, वह दीपक बुझ गया था। जिस विभूति को पा कर ईश्वर की निष्ठा और भक्ति उसके रोम रोम में व्याप्त हो रही थी, वह विभूति उससे छीन ली गई थी।

सहसा उसने पति को अस्थिर नेत्रों से देख कर कहा, "तुम समझते होगे, ईश्वर जो कुछ करता है, हमारे कल्याण के लिए ही करता है। मैं ऐसा नहीं समझती। समझ ही नहीं सकती। कैसे समझूँ? हाय मेरे लाल! मेरे लाडले! मेरे राजा, मेरे सूर्य, मेरे चन्द्र, मेरे जीवन के आधार! मेरे सर्वस्व! तुझे खो कर कैसे चित्त को शान्त रखूँ? जिसे गोद में देख कर मैंने अपने भाग्य को धन्य माना था, उसे आज धरती पर पड़ा देख कर हृदय को कैसे सँभालूँ। नहीं मानता। हाय, नहीं मानता।"

यह कहते हुए उसने जोर से छाती पीट ली।

उसी रात को शोकातुर माता संसार से प्रस्थान कर गई। पक्षी अपने बच्चे की खोज में पिंजरे से निकल गया।'[1]

माता का प्रेम अतुलनीय है, किन्तु वह बच्चे को जिस तरह प्यार करती है, उसी तरह अपराध करने पर उसे कठोर दण्ड भी दे सकती है। आदर्श माता में कोमलता के साथ कठोरता भी रहती है। वह पुत्र की ममता के कारण अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं हो सकती। सभी बच्चे अपनी माता को प्यारे लगते हैं, किन्तु जो माता प्यार में अपने बच्चे

१. मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ २६७

को बिगाड़ देती है, वह सुमाता नहीं कही जा सकती। प्रेमचन्द ने डॉ० मदान के नाम अपने एक पत्र में, अपनी माता के सम्बन्ध में लिखा था—'जब मैं आठ वर्ष का था, तभी मेरी माँ चली गई। उससे पहले की स्मृति बड़ी धुँधली है। केवल इतना ही ध्यान है कि मेरी दुर्बल माँ कभी तो अत्यन्त ममतामयी जान पड़ती थीं और कभी समय पड़ने पर कठोर हो जाती थीं, जैसा कि सभी अच्छी माताएँ होती हैं।'[१]

'वरदान' उपन्यास में सुवामा 'सपूत बेटे' के लिए बीस वर्षों तक अष्टभुजी देवी की पूजा करती है और देवी प्रसन्न हो कर उसे वरदान देती हैं। प्रताप का जन्म होता है। प्रताप के पिता मुंशी शालिग्राम पुराने रईस हैं, भू सम्पत्ति है, आलीशान मकान है और स्वयं वकालत करते हैं। फिर भी ऐसे उदार हैं कि इतनी आय उनके खर्च के लिए पर्याप्त नहीं होती। जाने कितना ऋण ले रखा है। इधर प्रताप का छह वर्ष पूरा होता है और उधर मुंशीजी साधु हो जाते हैं। सुवामा के सर पर महाजनों का ऋण और पुत्र के पालन पोषण, शिक्षा दीक्षा का भार आ जाता है। ऋण इतना अधिक है कि गाँवों के बेचने के अतिरिक्त उसके चुकाने का और कोई उपाय नहीं है। शहर में मुंशीजी की इतनी प्रतिष्ठा थी कि उनके नाम पर बिना लिखा पढ़ी के पचास हजार रुपए का ऋण मिल जाना कठिन नहीं था। बाद में धीरे धीरे गाँव की आमदनी से ऋण चुका दिया जा सकता था। कुल के पुरोहित पण्डित मोटेराम ऐसा प्रस्ताव ले कर सुवामा के सामने उपस्थित भी होते हैं, किन्तु सुवामा उस प्रस्ताव को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर देती है। वह गाँव बेच कर ऋण चुकाएगी, कर्ज ले कर पति के नाम पर कृतज्ञता का भार नहीं रखेगी। वह अनशन करते करते प्राण दे देगी, जल मरेगी, पर किसी का उपकृत नहीं बनेगी। सुवामा को इस प्रकार दृढ़ देख कर मोटेराम दूसरा अस्त्र चलाते हैं, "सुवामा, तुम्हारी बुद्धि कहाँ गई? भला तुम सब प्रकार के दुःख उठा लोगी। पर, क्या तुम्हें इस बालक पर दया नहीं आती?"

सुवामा एक क्षण के लिए पुन प्रेम प्रवाह में बह जाती है, किन्तु कर्त्तव्य से विचलित नहीं होती—'मोटेराम की यह चोट बहुत कड़ी लगी। सुवामा सजलनयना हो गई। उसने पुत्र की ओर करुणा भरी दृष्टि से देखा। इस बच्चे के लिए मैंने कौन कौन सी तपस्या नहीं की? क्या उसके भाग्य में दुःख ही बदा है। • सुवामा कई मिनट तक इसी चिन्ता में बैठी रही। मोटेराम मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे कि अस्त्र सफलीभूत हुआ। इतने में सुवामा ने सिर उठा कर कहा, "जिसके पिता ने लाखों को जिलाया, खिलाया, वह दूसरों का आश्रित नहीं बन सकता। यदि पिता का धर्म उसका सहायक होगा, तो वह स्वयं दस को खिला कर खाएगा। (लड़के को बुलाते हुए) बेटा! तनिक यहाँ आओ। कल से तुम्हारी मिठाई, दूध, घी सब बन्द हो जाएँगे। रोओगे तो नहीं?" यह कह कर उसने बेटे को प्यार से गोद में बैठा लिया और उसके गुलाबी गालों का पसीना पोंछ कर चुम्बन कर लिया।'[२]

१　डा० इन्द्रनाथ मदान प्रेमचन्द एक विवेचना परिशिष्ट २ पत्र २ पृष्ठ १७६

२　वरदान पृष्ठ १० ११

पुत्र-स्नेह में पड कर अपने बच्चों की आदत बिगाडने वाली माताओं का वर्णन भी प्रेमचन्द ने किया है। जो बच्चे या तो प्रथम या अन्तिम सन्तान होते हैं अथवा इकलौते होते हैं, उनके साथ यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। 'वरदान' उपन्यास में प्रेमवती अपनी सब से छोटी सन्तान कमलाचरण को लाड़ प्यार से बिगाड़ देती है। बाल्यावस्था में, पढ़ने लिखने में, कमला का मन नहीं लगता था। यदि उसके मास्टर या पिता उसे डाँटते, तो प्रेमवती इसका विरोध करती। परिणाम यह हुआ कि कमलाचरण आवारा हो गया—'छोटा लडका कमलाचरण अभी तक अविवाहित था। प्रेमवती ने बचपन ही से लाड प्यार करके उसे ऐसा बिगाड दिया था कि उसका मन पढने लिखने में तनिक भी न लगता था। पन्द्रह वर्ष का हो चुका था, पर अभी तक सीधा-सा पत्र भी न लिख सकता था। मियाँजी बैठे। उन्हें इसने एक मास के भीतर निकाल कर साँस ली। तब पाठशाला में नाम लिखाया गया। वहाँ जाते ही उसे ज्वर चढ आता और सिर दुखने लगता था। इसलिए वहाँ से भी वह उठा लिया गया। तब एक मास्टर साहब नियत हुए और तीन महीने रहे। परन्तु, इतने दिनों में कमलाचरण ने कठिनता से तीन पाठ पढे होंगे। निदान मास्टर साहब भी विदा हो गए। तब डिप्टी साहब (पिता) ने स्वयं पढाने का निश्चय किया। परन्तु एक ही सप्ताह में उन्हें कमला प्रसाद का सिर हिलाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। . प्रेमवती ने इस मारधाड पर ऐसा उत्पात मचाया कि अन्त में डिप्टी साहब ने भी झल्ला कर पढाना छोड दिया। कमला कुछ ऐसा रूपवान, सुकुमार और मधुरभाषी था कि माता उसे सब लडकों से अधिक चाहती थी। इस अनुचित लाड प्यार ने उसे पतंगबाजी, कबूतरबाजी और इसी प्रकार के अन्य कुव्यसनों का प्रेमी बना दिया था।...कुछ दिनों से जूए का चस्का भी पड चला था। दर्पण, कंघी और इत्र-तेल में तो मानों उसके प्राण ही बसते थे।'[1]

'सेवासदन' उपन्यास में भामा के एकलौते पुत्र (सदन) की भी यही कहानी है। उसे माता का ही नहीं, पिता का भी बिगाडने वाला प्यार मिलता है। प्रेमचन्द ने लिखा है—'माता पिता का इकलौता लडका बडा भाग्यशाली होता है। उसे मीठे पदार्थ खूब खाने को मिलते हैं, किन्तु कडवी ताडना कभी नहीं मिलती। सदन बाल्यकाल में ढीठ, हठी और लडाका था। वयस्क होने पर वह आलसी, क्रोधी और बडा उद्दण्ड हो गया। माँ-बाप को यह सब मंजूर था। वह चाहे कितना बिगड जाए, पर आँखों के सामने से न टलें। उसके एक दिन का वियोग भी न सह सकते थे। पद्म सिंह (सदन के चाचा, जो शहर में वकालत करते थे) ने कितनी बार अनुरोध किया कि इसे मेरे साथ जाने दीजिए, मैं इसका नाम किसी अँगरेजी मदरसे में लिखा दूँगा, किन्तु माँ बाप ने कभी स्वीकार नहीं किया। सदन ने अपने कस्बे ही के मदरसे में उर्दू और हिन्दी पढी थी। घर में खाने को बहुत है, बन-बन की पत्ती कौन तोड़वाए। बला से न पढ़ेगा, आँखों से देखते तो रहेंगे।'[2]

---

१ वरदान, पृष्ठ २६-२७

२ सेवासदन, पृष्ठ ५८

पुत्र की दुश्चरित्रता से वात्सल्यमयी माता भी ऐसी ग्लानि का अनुभव कर सकती है कि वह पुत्रवती होने के बदले बाँझ ही रहना पसन्द करे।

'रंगभूमि' उपन्यास में घीसू आदि मुहल्ले के लड़के मिल कर सूरदास के घर में (रात में) घुस जाते हैं। सूरदास ने जब से सुभागी को, जो उम्र में इन लड़कों की माता के तुल्य है, अपने घर में उसकी रक्षा के लिए शरण दी है, तब से ये लड़के सुभागी के पीछे पड़े हुए हैं। वे रात में सूरदास की झोपड़ी में घुसते हैं और सुभागी का हाथ पकड़ते हैं। सुभागी 'चोर-चोर' का हल्ला करती है और मुहल्ले वाले आ जाते हैं। घीसू पकड़ा जाता है। उसकी माता (जमुनी) पुत्र की इस करतूत पर सर झुका लेती है और जब पुलिस घीसू और दूसरे लड़कों को पकड़ती है, तो वह रो कर कहती है, "ये लौंडे मुँह में कालिख लगाने वाले हैं। अच्छा होगा, छः छः महीने की सजा काट आएँगे, तब इनकी आँखें खुलेंगी। समझाते-समझाते हार गई कि बेटा, कुराह मत चलो, लेकिन कौन सुनता है। अब जाके चक्की पीसो। इससे तो अच्छा था कि बाँझ ही रहती।"[1]

'गोदान' उपन्यास में धनिया के पुत्र गोबर का एक विधवा अहीरिन से अनुचित सम्बन्ध हो जाता है। जब वह गर्भवती हो जाती है, तो उसे अपने घर की राह दिखा कर गोबर चपत हो जाता है। झुनिया गोबर की माँ (धनिया) के पैर पकड़ कर रोने लगती है कि वही उसे शरण दे, और वह कहाँ जाए। धनिया क्षुब्ध हो कर अपने पति से कहती है, "भगवान ऐसी सन्तान से तो बाँझ ही रखें, तो अच्छा। सबेरा होते-होते सारे गाँव में काँव-काँव मच जाएगी। ऐसा जी होता है, माहुर खा लूँ।"[2]

'धिक्कार' कहानी में देशद्रोही पुत्र को माता स्वयं दीवार में चुनवा देती है। यूनान के दुश्मन बढ़े चले आते हैं और यूनान का बच्चा-बच्चा शत्रुओं से लोहा लेने को तैयार है, फिर भी 'पासोनियस' नामक एक देशद्रोही के कारण उनकी योजनाएँ निष्फल हो जाती हैं। किन्तु, उसका पता नहीं चलता। एक दिन जब कुछ स्त्री पुरुष उसका पता लगाने में समर्थ होते हैं, तो वह देवी के मन्दिर में घुस जाता है। मन्दिर में किसी की हत्या करना पाप है, ऐसा समझ कर देशवासी मन्दिर की छतें और कलश ढा देते हैं, ताकि भूखा प्यासा देशद्रोही दिन की कड़ी धूप और रात की कठिन सर्दी से मर जाए। दूसरे दिन उसकी दुर्दशा देख कर कुछ लोगों को दया आती है और स्वयं वह भी शत्रुओं का भेद बताने की बात कहता है, जिससे बहुतों को उस पर विश्वास हो जाता है और लोग उसे छोड़ने को तैयार हो जाते हैं—यहाँ तक कि कुछ लोग उससे क्षमा भी माँगते हैं। किन्तु, उसी समय पासोनियस की वृद्धा माता (जो मन्दिर की पुजारिन है) देशवासियों को समझाती है कि यदि उन्हें अपने देश को बचाना है, तो वे पासोनियस को जीता न छोड़ें। यह काम मन्दिर का द्वार चुन कर अच्छी तरह किया जा सकता है और वह दीवार चुनने के लिए पहला पत्थर स्वयं रखती है। वृद्धा माता पासोनियस को क्षमा प्रदान करने को उद्यत यूनानियों से ऊँचे स्वर में कहती है, "तुम लोगों को क्या हो गया है! यूनान के

१. रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ ३८८
२. गोदान, पृष्ठ ११४

बेटे आज इतने ज्ञान शून्य हो गए हैं कि झूठे और सच्चे में विवेक नहीं कर सकते। तुम पासोनियस पर विश्वास करते हो? जिस पासोनियस ने सैकड़ों स्त्रियों और बालकों को अनाथ कर दिया, सैकड़ों घरों में कोई दिया जलाने वाला न छोड़ा, हमारे देवताओं का, हमारे पुरुषों का घोर अपमान किया, उसकी दो चार चिकनी-चुपड़ी बातों पर तुम इतने फूल उठे? याद रखो, अबकी पासोनियस बाहर निकला, तो फिर तुम्हारी कुशल नहीं, यूनान पर ईरान का राज्य होगा और यूनानी ललनाएँ ईरानियों की कुदृष्टि का शिकार बनगी। देवी की आज्ञा है कि पासोनियस फिर बाहर न निकलने पाए। अगर तुम्हें अपना देश प्यारा है, अपने पुरुषों का नाम प्यारा है, अपनी माताओं और बहनों की आबरू प्यारी है, तो मन्दिर के द्वार को चुन दो, जिसमें देशद्रोही को फिर बाहर निकलने और तुम लोगों को बहलाने का मौका न मिले। यह देखो, पहला पत्थर मैं अपने हाथों से रखती हूँ।" ...दम के-दम में पत्थरों के ढेर लग गए और मन्दिर का द्वार चुन दिया गया। पासोनियस भीतर दाँत पीसता रह गया।"[1]

ऐसी वीर माताओं की अभ्यर्थना प्रेमचन्द इन शब्दों में करते हैं—'वीर माता, तुम्हें धन्य है। ऐसी ही माताओं से देश का मुख उज्ज्वल होता है, जो देश-हित के सामने मातृस्नेह की धूल बराबर भी परवा नहीं करतीं। उनके पुत्र देश के लिए होते हैं, देश पुत्र के लिए नहीं होता।'[2]

प्रेमचन्द की दृष्टि में आदर्श माता वह है, जिसकी ममता किसी भी दशा में मनुष्यता की उपेक्षा नहीं करती। इस सम्बन्ध में उनके द्वारा चित्रित वीर माताओं का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल है। ये देश के सामने मातृजनित ममता को भी नियन्त्रण में रखती हैं।

ऊपर देशद्रोही पासोनियस की माता के उज्ज्वल चरित्र का वर्णन किया जा चुका है। इस दृष्टि से 'रंगभूमि' उपन्यास की रानी जाह्नवी भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वे वीरों और राजपूतनियों की कथाएँ पढ़ पढ़ कर स्वयं अपने पुत्र को त्यागी वीर बनाना चाहती हैं, और विनय जब से गर्भ में आता है, वे अपने आदर्श की पूर्ति के लिए कठोर संयम और त्याग का जीवन अपनाती हैं। वे अपनी पूर्वकथा सोफ़िया से कहती हैं, 'मैं बीमार पड़ी। डॉ० गांगुली मेरी दवा करने के लिए आए। हृदय का रोग था, जी घबड़ाया करता, मानों किसी ने उच्चाटन मन्त्र मार दिया हो। डाक्टर महोदय ने मुझे महाभारत पढ़ कर सुनाना शुरू किया। उसमें मेरा ऐसा जी लगा कि कभी-कभी आधी रात तक पढ़ा करती।...फिर तो वीरतापूर्ण कथाओं के पढ़ने का मुझे ऐसा चस्का लगा कि राजपूतों की ऐसी कोई कथा नहीं, जो मैंने न पढ़ी हो। उसी समय से मेरे मन में जाति प्रेम का भाव अंकुरित हुआ। एक नई अभिलाषा उत्पन्न हुई—मेरी कोख में भी कोई ऐसा पुत्र जन्म लेता, जो अभिमन्यु, दुर्गादास और प्रताप की भाँति जाति का मस्तक ऊँचा करता। मैंने व्रत लिया कि पुत्र हुआ, तो उसे देश और जाति के हित के लिए समर्पित कर दूँगी।" तीसरे साल रानी के पुत्र होता है और तदनुरूप वे उसकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करती हैं। वे सोफ़िया

१. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ १५१-१५२
२. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ १५२

से कहती हैं, "मैंने बाल्यावस्था ही से उसे कठिनाइयों का अभ्यास कराना शुरू किया। न कभी गद्दों पर सुलाती, न कभी महरियों-दाइयों की गोद में जाने देती, न कभी मेवे खाने देती। दस वर्ष की अवस्था तक केवल धार्मिक कथाओं द्वारा उसकी शिक्षा हुई। इसके बाद मैंने डाक्टर गांगुली के साथ छोड़ दिया। ..विनय पृथ्वी के अधिकांश प्रान्तों का पर्यटन कर चुका है। संस्कृत और भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त योरप की प्रधान भाषाओं का भी उसे अच्छा ज्ञान है।...नित्य कम्बल बिछा कर जमीन पर सोता है। पैदल चलने में कई बार इनाम पा चुका है। जलपान के लिए मुट्ठी-भर चने, भोजन के लिए रोटी और साग, बस इसके सिवा संसार के और सभी भोज्य-पदार्थ उसके लिए वर्जित हैं। बेटी, मैं तुमसे कहाँ तक कहूँ, पूरा त्यागी है।"[१]

रानी जाह्नवी की दृष्टि में देश-हित और जाति-सेवा का इतना महत्त्व है कि उनके वचन और कर्म से यह अनुमान करना कठिन है कि वे वात्सल्यमयी माता भी हैं। वे सोफिया से कहती हैं, "तुमसे सच कहती हूँ, अगर कोई ऐसा अवसर आ पड़े कि जाति-रक्षा के लिए उसे प्राण भी देना पड़े, तो मुझे जरा भी शोक न होगा। शोक तब होगा, जब मैं उसे ऐश्वर्य के सामने सिर झुकाते या कर्त्तव्य के क्षेत्र में पीछे हटते देखूँगी। ईश्वर न करे, मैं वह दिन देखने के लिए जीवित रहूँ। मैं नहीं कह सकती कि उस वक्त मेरे चित्त की क्या दशा होगी। शायद मैं विनय के रक्त की प्यासी हो जाऊँ, शायद इन निर्बल हाथों में इतनी शक्ति आ जाए कि मैं उसका गला घोंट दूँ।"[२]

और जब विनय उदयपुर-राज्य में जन-सेवा के उद्देश्य से जा कर भी कारणवश राज्याधिकारियों का पक्ष ले कर, जनता पर अत्याचार करने लगता है, तो रानी जाह्नवी उसके नाम यह पत्र लिखती हैं—"विनय, आज से कई मास पहले मैं तुम्हारी माता होने पर गर्व करती थी, पर आज तुम्हें पुत्र कहते हुए लज्जा से गड़ी जाती हूँ। तुम क्या थे, क्या हो गए। और अगर यही दशा रही, तो अभी और न जाने क्या हो जाओगे? अगर मैं जानती कि तुम इसी भाँति मेरा सिर नीचा करोगे, तो आज तुम इस संसार में न होते। निर्दयी! इसीलिए तूने मेरी कोख में जन्म लिया था? इसीलिए मैंने तुझे अपना रक्त पिला-पिला कर पाला था!. मैंने ही तुम्हें रचा है। मैंने ही तुम्हें यह देह प्रदान की है। आत्मा कहीं से आई है, देह मेरी है। मैं उसे तुमसे वापस माँगती हूँ। अगर तुममें अब भी कुछ आत्मसम्मान है, तो मेरी अमानत मुझे लौटा दो। तुम्हें जीवित देख कर मुझे दुःख होता है। ..अब केवल दो इच्छाएँ हैं—ईश्वर से तो यह कि तुम-जैसी सन्तान सातवें वैरी को भी न दे, और तुमसे यह कि अपने जीवन की क्रूर लीला को समाप्त करो।"[३]

किन्तु, रानी जाह्नवी की जातीय भावना और देश-प्रेम अपने कर्त्तव्यच्युत पुत्र के प्रति उनके हृदय को कितना भी कठोर बनाए, उनमें अन्तःसलिला की भाँति वात्सल्य-भावना छिपी हुई है। जब उन्हें मालूम होता है कि विनय उनका पत्र पाने के बाद उदास

१. रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ १४६-१४७
२. रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ १४८
३. रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ २११-२१२

हो गया था और अब लापता भी है, तो वे समझ लेती हैं कि उसने आत्महत्या कर ली। विनय के हृदय पर उन्होंने जो आघात किये थे, उन्हें याद कर वे रोती हैं। वे सोफी से रोती हुई कहती हैं, "हाय। (रो कर) सोफी, वह पत्र नहीं था, विष का प्याला था, जिसे मैंने अपने हाथों उसे पिलाया कटार थी, जिसे मैंने अपने हाथों उसकी गर्दन पर फेरा। मैं हत्यारिन हूँ। मुझसे बडी अभागिनी ससार में और कौन होगी? न जाने विनय का क्या हाल हुआ। कुछ पता नहीं। मेरे प्यारे लाल ने कभी सुख न पाया। उसका सारा जीवन तपस्या ही में कटा।"[1] बाद में पाण्डेपुर के सत्याग्रह के सम्भावित हत्याकाण्ड की आशका से वे स्पष्ट रूप से तो नहीं, किन्तु सकेतो द्वारा विनय को नेतृत्व करने से रोकने की चेष्टा तक करती हैं। फिर भी विनय पाण्डेपुर के हत्याकाण्ड में जाते हैं और उनकी मृत्यु होती है। रानी की आँखों से एक बूँद आँसू तक नहीं गिरता। सोफी को रोते देख कर वे उस इन शब्दों में समझाती हैं, "क्यों रोती हो बेटी? विनय के लिए? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाए जाते, उत्सव के राग गाये जाते हैं। मेरे पास हीरे और जवाहिर होते, तो उसकी लाश पर लुटा देती। मुझे उसके मरने का दुःख नहीं है। दुःख होता, अगर वह आज प्राण बचा कर भागता। जिस मृत्यु पर घर वाले रोएँ, वह भी कोई मृत्यु है? वह तो एँड़ियाँ रगड़ना है। वीर मृत्यु वही है, जिस पर बेगाने रोएँ, और घर वाले आनन्द मनाएँ।"[2]

इसके बाद रानी जाह्नवी पुत्र के छोड़े हुए काम को दुगने उत्साह से अपने हाथों में लेती हैं, जो उनके देश प्रेम के साथ पुत्र प्रेम का भी सूचक है।

जो माताएँ मोहवश जाति, राष्ट्र तथा मनुष्यता से पुत्र को अधिक महत्त्व देती हैं, उन्हें प्रेमचन्द निन्द्य सिद्ध करते हैं।

'वरदान' उपन्यास में सुवामा का पुत्र प्रताप 'बालाजी' के नाम से जाति और मनुष्य की सेवा करता है। कहीं अकाल पडे, बाढ़ आए, झगडा फसाद हो, महामारी फैली हो, बालाजी अपनी सेवाएँ जनता को देने का प्रस्तुत रहते हैं। उन्होंने इसीलिए विवाह नहीं किया है और सुवामा अपने पुत्र को वर्षों से देख तक नहीं पाई है। उसकी इच्छा है, बालाजी विवाह करके, गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए सेवा कार्य करें। इतने वर्षों बाद बालाजी आते भी हैं, तो दो दिन भी घर पर नहीं रह पाते। सदिया में नदी का बाँध फटने और सहस्रों मनुष्यों के गृहविहीन होने का समाचार अखबारों में पढ कर वे तुरत वहाँ मदद के लिए जाना चाहते हैं। सुवामा पुत्र को रोकना चाहती है, किन्तु वृजरानी उसे समझाती है—

'सुवामा घबडा कर उठी और द्वार की ओर लपकी, मानों वह बालाजी को रोक लेगी। •• वृजरानी ने कहा, "चची। क्या उन्हें बरबस विदा करोगी? अभी तो वे अपने कमरे में हैं।"

"मैं उन्हें न जाने दूँगी। विदा करना कैसा?"

१. रगभूमि भाग २, पृष्ठ २७६

२ रगभूमि भाग २, पृष्ठ ३८४

बृजरानी, "उनका सदिया जाना आवश्यक है।"

सुवामा, "मैं क्या सदिया को लेकर चाटूँगी? भाड़ में जाए। मैं भी तो कोई हूँ? मेरा भी तो उन पर कोई अधिकार है?"

बृजरानी, "तुम्हें मेरी शपथ, इस समय ऐसी बातें न करना। सहस्रों मनुष्य केवल उनके भरोसे जी रहे हैं। ये न जाएँगे, तो प्रलय हो जाएगा।"

माता की ममता ने मनुष्यत्व और जातित्व को दबा लिया था, परन्तु बृजरानी ने समझा-बुझा कर उसे रोक लिया। सुवामा इस घटना को स्मरण करके सर्वदा पछताया करती थी। उसे आश्चर्य होता था कि मैं आपे से बाहर क्यों हो गई थी।"[1]

'कायाकल्प' उपन्यास में चक्रधर जन-सेवा के पुरस्कार के फलस्वरूप विदेशी सत्ता द्वारा जेल भेज दिया जाता है। मनोरमा एक ताल्लुकेदार की रानी है और चक्रधर के प्रति, उसके गुणों के कारण, स्नेह रखती है। उसे जेल में पड़े हुए चक्रधर की हमेशा याद आती रहती है, अतः वह कौशल से, जेल से चक्रधर की रिहाई कराती है। चक्रधर की माता (निर्मला) अब तक त्यागशील, सेवा व्रती पुत्र की स्मृति में रोती रही थी। मनोरमा उसे इस कमजोरी के लिए समझाती है—

निर्मला, "आपने बड़ी दया की, नहीं तो मैं रोते रोते मर जाती।"

मनोरमा, "रोने की क्या बात थी? माताओं को चाहिए कि अपने पुत्रों को साहसी और वीर बनाएँ। एक तो यहाँ लोग यों ही डरपोक होते हैं, उस पर घर वालों का प्रेम उनकी रही सही हिम्मत भी हर लेता है।"[2]

माता के हृदय में बच्चों के प्रति असीम स्नेह, वात्सल्य और ममता होती है, किन्तु कभी कभी कोई उत्कट प्रतिक्रिया मातृप्रेम पर छाया डाल देती है। ऐसी अवस्था में माता सन्तान को स्नेह नहीं दे पाती। किन्तु, यह विपरीत भाव माता की आन्तरिक और बाह्य स्थितियों के अनुसार कम या ज्यादा देर तक ही रहता है, स्थायी नहीं होता।

'निर्मला' उपन्यास में कल्याणी अपने बच्चों के कारण पति से कलह करती है, जिससे वे (पति) क्रोध में भरे हुए, रात में, बाहर चले जाते हैं और एक गुण्डा उनकी हत्या कर देता है। इस दुर्घटना से कल्याणी के मन में यह प्रतिक्रिया होती है कि वही पति की घातिका है और तब 'जिन बच्चों पर वह प्राण देती थी, अब उनकी सूरत से चिढ़ती। इन्हीं के कारण मुझे अपने स्वामी से रार मोल लेनी पड़ी। यही मेरे शत्रु हैं।"[3]

यदि किसी कारण स्त्री अपने पति से घृणा करती है, तो अपने पुत्र को भी प्यार करना उसके लिए कठिन सिद्ध हो सकता है और तब वह उस पर दया मात्र करती है।

'कर्मभूमि' उपन्यास में सुखदा को अपने पति से इसलिए चिढ़ है कि वह एक मुस्लिम युवती के प्रेम में घर छोड़ कर भाग गया है। पति के प्रति यह क्रोध उसे अपने नन्हें-से पुत्र को प्यार करने में बाधक होता है—'सुखदा को अमर के नाम से भी चिढ़ है।

१. वरदान, पृष्ठ १६९
२. कायाकल्प, पृष्ठ १८३
३ निर्मला, पृष्ठ १७

उसके कमरे में अमर की एक तसवीर थी, उसे उसने तोड़ कर फेंक दिया था। अब उसके पास अमर की याद दिलानेवाली कोई चीज न थी। यहाँ तक कि बालक से भी उसका जी हट गया था। वह अब अधिकतर नैना के पास रहता था। स्नेह के बदले वह अब उस पर दया करती थी।''[1]

'गोदान' उपन्यास की सिलिया मातादीन की उपपत्नी है। वह गर्भवती है और उस अवस्था में एक दिन मातादीन उससे कह देता है, "मेरा तुम्से कोई वास्ता नहीं।" सिलिया पूर्ण गर्भावस्था में भी मजदूरी करती है। उसके पुत्र पैदा होता है, किन्तु वह उसके सम्पूर्ण प्यार को नहीं पाता। सिलिया को उसे देख कर लज्जा आती है। वह भी बच्चे पर दया करती है। जिस रोज मातादीन होरी के हाथ उसे दो रुपए भेजता है, वह खुशी से फूली नहीं समाती। अब वह अनाथ नहीं है, उसका बच्चा भी अनाथ नहीं है। उस दिन 'उसने बच्चे को छाती से लगा कर खूब प्यार किया। अब उसे देख कर लज्जा और ग्लानि नहीं होती। वह अब केवल उसकी दया का पात्र नहीं। वह अब उसके सम्पूर्ण मातृस्नेह और गर्व का अधिकारी है।'[2]

'मिस पद्मा' कहानी में मिस पद्मा, जो वकील है, प्रोफेसर प्रसाद के साथ पत्नी के रूप में रहती है। प्रसाद एक ही रसिक है। जब पद्मा गर्भवती हो जाती है, तो उसे उसमें कोई सुन्दरता नहीं दिखाई पड़ती, वह मनबहलाव के दूसरे सामान कर लेता है। पद्मा ने शिशु के लिए बीस हजार रुपए संचित कर रखे हैं। उन्हें बैंक से निकाल कर, प्रसाद अपनी एक छात्रा के साथ इंगलैण्ड चला जाता है। पद्मा के पुत्र होता है, किन्तु वह बालक को पूर्ण मातृस्नेह नहीं दे पाती। कभी उसे उस पर क्रोध आता है, कभी दया आती है, कभी घृणा होती है। मिस पद्मा के लिए न गर्भावस्था मंगलमय है, न प्रसव वेदना सहानुभूतिपूर्ण, न पुत्र-जन्म ही आनन्दमय—'प्रसाद को जैसे उसकी सूरत से नफरत थी। पूर्ण गर्भ, पीला मुख, चिन्तित, सशंक, उदास।...

प्रसव-वेदना हो रही थी। प्रसाद का पता नहीं। नर्स मौजूद थी, लेडी डाक्टर मौजूद थी; मगर प्रसाद का न रहना पद्मा की प्रसव-वेदना को और भी दारुन बना रहा था।

बालक को गोद में देख कर उसका कलेजा फूल उठा, मगर फिर प्रसाद को सामने न पा कर उसने बालक की ओर से मुँह फेर लिया। मीठे फल में जैसे कीड़े पड़ गए हों।

पाँच दिन सौर-गृह में काटने के बाद जैसे पद्मा जेलखाने से निकली—नंगी तलवार बनी हुई। माता बन कर वह अपने में एक अद्भुत शक्ति का अनुभव कर रही थी।

उसने चपरासी को चेक दे कर बैंक भेजा। प्रसव-सम्बन्धी कई बिल अदा करने थे। चपरासी खाली हाथ लौट आया।

पद्मा ने पूछा, "रुपए?"

"बैंक के बाबू ने कहा—रुपए सब प्रसाद बाबू निकाल ले गए।"

---

१. कर्मभूमि, पृष्ठ १९३

२. गोदान, पृष्ठ २८९

पद्मा को गोली लग गई। बीस हजार रुपए प्राणों की तरह संचित कर रखे थे, इसी शिशु के लिए। हाय! सौर से निकलने पर मालूम हुआ, प्रसाद विद्यालय की एक बालिका को ले कर इंगलैण्ड की सैर करने चले गए। झल्लायी हुई घर में आई, प्रसाद की तसवीर उठा कर जमीन पर पटक दी और उसे पैरों से कुचला। उसका जितना सामान था, उसे जमा करके दियासलाई लगा दी और उसके नाम पर थूक दिया।

एक महीना बीत गया था। पद्मा अपने बँगले के फाटक पर शिशु को गोद में लिए खड़ी थी। उसका क्रोध अब शोकमय निराशा बन चुका था। बालक पर कभी दया आती, कभी प्यार आता, कभी घृणा आती।"[1]

प्रेमचन्द का ध्यान इस कठोर वास्तविकता की ओर भी गया है कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण भी माता का वात्सल्य अवरुद्ध हो जाता है और वह अपनी सन्तान पर झुँझलाती है।

'निर्मला' उपन्यास में किशोरी निर्मला वृद्ध तोताराम के संग ब्याही जाती है। स्पष्ट है कि उसका विवाह बेमेल विवाह है, किन्तु उसके आँसू पोछने के लिए पति की सम्पत्ति है, मकान है, गाँव है, नौकर चाकर हैं। किन्तु, धीरे धीरे सम्पत्ति का क्षय होने लगता है। गाँव चला जाता है, मकान नीलाम हो जाता है और अत्यन्त वृद्ध और बीमार होने के कारण मुंशीजी की वकालत भी नहीं चलती—यहाँ तक कि निर्मला के पाँच सात हजार के आभूषण भी, जिनके भरोसे वह अपने जीवन का ही नहीं, अपनी नन्ही पुत्री के जीवन का भी बेड़ा पार समझती है, चोरी चले जाते हैं। यह आर्थिक दुरवस्था उसे असाधारण रूप से कटु बना देती है। कन्या के भविष्य की चिन्ता भी उसे बराबर बनी रहती है। पैसे के अभाव में ही तो उसका विवाह वृद्ध व्यक्ति से हुआ था—उसकी पुत्री का क्या हाल होगा? ऐसे समय में मुंशी तोताराम अपने खोए हुए पुत्र को ढूँढने चले जाते हैं। निर्मला समझती है, न पुत्र मिलेगा, न वे लौटेंगे। उसके बाह्य और आन्तरिक जीवन की यह दशा उसके सन्तान स्नेह में बाधक होती है—'एक महीना पूरा निकल गया, लेकिन मुंशीजी न लौटे। कोई खत भी न भेजा। निर्मला को अब नित्य यही चिन्ता बनी रहती कि वह लौट कर न आए, तो क्या होगा? उसे इसकी चिन्ता न होती थी कि उन पर क्या बीत रही होगी, वह कहाँ मारे मारे फिरते होंगे, स्वास्थ्य कैसा होगा? उसे केवल अपनी और उससे भी बढ कर बच्ची की चिन्ता थी। गृहस्थी का निर्वाह कैसे होगा? ईश्वर कैसे बेड़ा पार लगावेंगे? बच्ची का क्या हाल होगा? उसने कतर-ब्योंत करके जो रुपए जमा कर रखे थे, उसमें कुछ-न कुछ रोज ही कमी होती जाती थी। निर्मला को उसमें से एक-एक पैसा निकालते इतनी अखर होती थी, मानो कोई उसकी देह से रक्त निकाल रहा हो। झुँझला कर मुंशीजी को कोसती। लड़की किसी चीज के लिए रोती, तो 'अभागिन, कलमुँही' कह कर झल्लाती. जिस बच्ची को वह प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी, उसकी सूरत से भी घृणा हो गई। बात-बात पर घुड़क पड़ती, कभी-कभी मार बैठती।'[2]

१. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ९७ ९८

२. निर्मला, पृष्ठ १८१-१८२

'गोदान' उपन्यास में भुनिया कई कारणो—धनाभाव, गर्भावस्था, आवास की दिक्कतो आदि—से बच्चे पर क्रोध करती है। वह गोबर के साथ शहर चली आती है, किन्तु यहाँ आ कर उसे मालूम होता है कि कहाँ गाँव का उन्मुक्त वातावरण और कहाँ शहर में पिंजरे के समान अँधेरी काल-कोठरी का जीवन। बच्चे को भी इसी कारण तकलीफ होती। वह गाँव में, दिन भर आँगन में या द्वार पर, खेलने का आदी था। यहाँ उसके खेलने के लिए कोई जगह नही है। कहाँ जाए? गर्मी में कही बाहर बैठने लेटने की जगह नहीं। लड़का भुनिया को एक क्षण के लिए नही छोडता और खेलने के लिए भी कुछ न होने के कारण, हर वक्त खाने या दूध पीने के लिए तग किया करता। इस पर वह फिर गर्भवती हो जाती है, तो चाहती है, एकान्त में रहे, उससे कोई बोले तक नहीं। 'बालक से भी उसे चिढ होती थी। कभी-कभी वह उसे मार कर बाहर निकाल देती और अन्दर से किवाड बन्द कर लेती। बालक रोते रोते बेदम हो जाता।'[1]

करुणामयी माता भी पुत्रकी स्वार्थपरता के कारण उससे घृणा करने लग सकती है। 'दो भाई' कहानी में बडा भाई अपने सौतेले छोटे भाई की जायदाद स्वार्थ, वैमनस्य और ईर्ष्या के कारण, रेहन रख कर उसे एक प्रकार से राह का भिखारी बना देता है। माता के लिए सभी बच्चे बराबर होते हैं। एक लडका दूसरे का गला काट रहा है, यह देख कर उनसे घृणा हो जाती है और वह कातर स्वर में कह उठती है, "हे नारायण। क्या ऐसे पुत्रों को मेरी ही कोख में जन्म लेना था।"[2]

मातृत्व को स्त्रीत्व की चरम परिणति मानते हुए भी प्रेमचन्द उसके आत्माभिमान की सर्वत्र रक्षा करते हैं। उनका विचार है कि स्त्रियों में स्वतः इतना बल होना चाहिए कि वे आदरशून्य मातृत्व को स्वाभिमानपूर्वक ठुकरा दें। उन्हे माता का अनादर और उपेक्षा करने वाले कुपुत्र पर ही नहीं, बल्कि ऐसे पुत्र पर स्नेह लुटाने वाली माता पर भी क्रोध आता है। शिवरानी देवी ने 'प्रेमचन्द : घर में' में ऐसे दो प्रसगो का उल्लेख किया है—एक अपने घर की महराजिन का और दूसरा एक बूढी नौकरानी का। महराजिन विधवा थी और उसके पन्द्रह-सोलह साल का एक पुत्र था। बेचारी विधवा पुत्र के लिए ही दिन-रात मरती थी, किन्तु वह रहता रहता इस तरह गायब हो जाता, मानो माता से उसका कोई नाता ही नही। एक बार इसी प्रकार वह भाग गया। महराजिन भूखी प्यासी दिन भर उसे ढूँढती रही। दूसरे दिन भी वह बिना कुछ खाए-पिए ही आई और शिवरानी देवी से रो-रो कर अपनी व्यथा कहने लगी। इसी बीच प्रेमचन्द भी आ गए और बोले, "जब वह इस तरह का नालायक है, तो तुम्ही क्यो मरती हो? जाने दो। जब उस बदमाश को खयाल नहीं होता कि मैं ही विधवा माँ के लिए सब कुछ हूँ, तब तुम्ही क्यों जान देती हो? कमाओ, खाओ, पडी रहो। वह तुमको कभी भी आराम नहीं दे सकता। तुम्हें तकलीफ ही देने के लिए वह पैदा हुआ है।"

---

१. गोदान, पृष्ठ ३१७

२. मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ २२०-२२१

महराजिन बोली, "माँ की तबियत है, नही मानती। कल से चला गया है, रात-दिन बीत गया, मुँह में पानी तक नही गया। कुछ भी खाने की इच्छा नहीं होती।"

आप (प्रेमचन्द) बोले, "यह तुम्हारी बेवकूफी है। क्योंकि वह तो अपनी खुशी से गया है और खुश भी होगा। तुम नाहक मरती हो। .. मैं तो कहता हूँ महराजिन, तुम आराम से रहो। लौट कर आए, तो घर में रहने भी मत दो। वह खुद ठीक हो जाएगा।... जब ऐसे बेटे हों, तो ऐसी माँ बनना चाहिए। बगैर बने काम नही चल सकता। लड़कों की हिम्मत तब और आगे बढ जाती है। माँ अगर कडे दिल की हो जाए, तो वह लड़का भी ठीक हो जाएगा। और इसी तरह रो रो कर मरना है, तो मेरे खयाल में वह ठीक नही होगा।"[१]

दूसरा प्रसग एक बूढी नौकरानी का है। वह प्रेमचन्द के घर में ही रह कर काम करती, खाती पीती और सोती थी। उसके चार जवान बेटे थे, मगर बुढिया को कोई खाना देने तक को तैयार न था। किन्तु, जब महीना पूरा होता, उसका कोई-न-कोई लडका आ कर उसकी तनख्वाह ले जाता। एक दिन प्रेमचन्द उसके एक पुत्र की यह हरकत देख कर पत्नी से बोले, "इस बुढिया के लडके आदमी हैं कि शैतान? मेरी समझ में नहीं आता कि यह बूढी माँ काम करे और उसके जवान-जवान लड़के तनख्वाह लेने पहुँच जाएँ। ...खुद देना चाहिए। ...उस बेचारी को रोटी भी देने वाला कोई नहीं है। ये तो जवान हो गए हैं। जैसे बचपन में चूस-चूस कर उसका दूध पीते थे, अब जवान होने पर उसी का पैसा चूसने को तैयार हैं। अब इनमें और पशुओ में क्या फर्क है? जैसे कुतिया के सामने रोटी फेंक दो, तो उसका बच्चा रोटी छीन कर खा जाएगा। उसे यह खयाल न होगा कि माँ भूखी है। तो फिर भला इनमें और पशु में क्या फर्क रहा? इन बातों को बहुत दिनों में मनुष्य-जाति सीख सकी थी, मगर अब स्वार्थ इस प्रकार बढ़ रहा है कि फिर उसी स्थान पर मनुष्य लौटा जा रहा है।"[२]

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में माताओं की वह दृढता दिखाई है, जिसे परिस्थिति-विशेष में वह आवश्यक और उचित मानते थे। ऐसी माताएँ यदि ममता और लोक लाज के कारण पुत्र से पूर्णतः सम्बन्ध नहीं भी तोड पातीं, तो वे मरते दम तक उसकी खुशामद भी नहीं करतीं।

'गोदान' उपन्यास में जब गोबर परदेश से लौट कर धनिया के मातृस्नेह को रुपए से तौलने लगता है, तो धनिया का हृदय चूर चूर हो जाता है, उसके जीवन का मधुर स्वप्न एक क्षण में भग्न हो जाता है। धनिया की इच्छा है कि गोबर ऊख की बोनी करा ले, लेन देन का हिसाब ठीक कर ले, तब शहर जाए, किन्तु, गोबर नहीं मानता और स्वार्थ से भरी बातें करता है। वह कहता है, "मेरा दो तीन रुपए रोज का घाटा हो रहा है, यह भी समझती हो। यहाँ मैं बहुत-बहुत तो चार आने की मजूरी ही तो करता हूँ।

१. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ १४२-१४३
२. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ १४१

और अबकी मैं भुनिया को भी लेता जाऊँगा। वहाँ मुझे खाने-पीने की बड़ी तकलीफ होती है।"

धनिया ने डरते डरते कहा, "जैसी तुम्हारी इच्छा, लेकिन वहाँ वह कैसे अकेले घर सँभालेगी, कैसे बच्चे की देख भाल करेगी। . ले जाने को मैं नहीं रोकती, लेकिन परदेस में बाल-बच्चों के साथ रहना, न कोई आगे न पीछे, सोचो कितना झंझट है।"

"परदेस में भी संगी-साथी निकल ही आते हैं, अम्मा। और यह तो स्वार्थ का संसार है। जिसके साथ चार पैसे गम खाओ, वही अपना। खाली हाथ तो माँ-बाप भी नहीं पूछते।"

धनिया कटाक्ष समझ गई। उसके सिर से पाँव तक आग लग गई। बोली, "माँ-बाप को भी तुमने उन्हीं पैसों के यारों में समझ लिया ?"

"आँखों देख रहा हूँ।"

"नहीं देख रहे हो ; माँ-बाप का मन इतना निठुर नहीं होता, हाँ लड़के अलबत्ता जहाँ चार पैसे कमाने लगे कि माँ-बाप से आँखें फेर लीं। इसी गाँव में एक-दो नहीं, दस-बीस परतोख दे दूँ। माँ-बाप करज कवाम लेते हैं, किसके लिए ? लड़कों-लड़कियों ही के लिए कि अपने भोग-विलास के लिए।"...

"पालने में तुम्हारा लगा क्या ? जब तक बचा था, दूध पिला दिया। फिर लावारिस की तरह छोड़ दिया। ...और अब तुम भी चाहती हो, और दादा भी चाहते हैं मारा करजा चुकाऊँ, लगान दूँ, लड़कियों का ब्याह करूँ। जैसे मेरी जिन्दगी तुम्हारा देना भरने ही के लिए है। मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं।"[1]

और गोबर लड़-झगड़ कर, पत्नी को ले कर शहर चला जाता है। कुछ दिनों के बाद धनिया की पुत्री (सोना) के विवाह के लिए रुपयों का प्रश्न आता है। होरी चाहता है कि वह दो-तीन दिनों के लिए गोबर के पास जाए। अगर वह सौ रुपए की भी मदद कर देगा, तो विवाह हो जाएगा। किन्तु धनिया को यह स्वीकार नहीं है, वह गोबर की कठोर बातें अब तक न भूली थी—

'एक दिन होरी ने गोबर के पास दो तीन दिन के लिए जाने का प्रस्ताव किया।

मगर, धनिया अभी तक गोबर के वह कठोर शब्द न भूली थी। वह गोबर से एक पैसा भी न लेना चाहती थी, किसी तरह नहीं।

होरी ने झुँझला कर कहा, "लेकिन काम कैसे चलेगा, यह बता ?"

धनिया सिर हिला कर बोली, "मान लो गोबर परदेस न गया होता, तब तुम क्या करते ? वही अब करो।"[2]

'ममता' कहानी में रामरक्षा नए खयालों के आदमी हैं और अपनी माँ से अलग रहते हैं। उनका विचार है, 'विधवा माँ अपने बेटे और बहू के साथ नहीं रह सकती थी। इससे बहू की स्वाधीनता में विघ्न पड़ने से मन दुर्बल और मस्तिष्क शक्तिहीन हो जाता है।

१. गोदान, पृष्ठ २७१-२७२

२. गोदान, पृष्ठ ३३१

बहू को जलाना और कुढाना सास की आदत है।''[1] पुत्र के इस व्यवहार से वृद्धा माता का दिल ऐसा टूटता है कि वह पुत्र से दूर, एक तीर्थस्थान में जा कर रहने लगती हैं। किन्तु, हृदय तो माता का ही ठहरा, पुत्र के समाचार मिलने में कभी देर हो जाती, तो एक पत्र लिख कर कुशल पूछ लेतीं, 'माँ का दिल ऐसा टूटा कि वह दिल्ली छोड़ कर अयोध्या जा रही। तब से वहीं रहती हैं। बाबू साहब कभी कभी मिसेज रामरक्षा से छिपा कर उनसे मिलने अयोध्या जाया करते थे, किन्तु, वह दिल्ली आने का कभी नाम न लेतीं। हाँ, यदि कुशल क्षेम की चिट्ठी पहुँचने में कुछ देर हो जाती, तो विवश हो कर समाचार पूछ लेती थीं।[2] आगे की कहानी यह है कि रामरक्षा ने एक सेठ से कुछ रुपए उधार ले कर शौक मौज में उड़ाए थे। जब सेठ ने रुपए माँगे, तो रामरक्षा हेकड़ी दिखाने लगे। उसने कानून का आश्रय लिया और रामरक्षा के हाथों में हथकड़ियाँ पड़ गईं, किसी ने उनकी जमानत तक नहीं ली। वृद्धा माता ने यह सुना, तो दिल्ली आई। उनके नाम दस हजार रुपए बैंक में जमा थे। वे अपना पास बुक ले कर उस सेठ के पास गई और उसे किसी प्रकार मनाया। वृद्धा से वह सेठ इतना प्रभावित हुआ कि उसके कहने पर वह रामरक्षा के लिए एक दूकान भी खुलवाने पर राजी हो गया। रामरक्षा छूट गए और फिर उन्होंने नाम और धन कमाया, किन्तु वृद्धा माता पुत्र और पुत्र वधू के पास रहने को तैयार नहीं हुई और अयोध्या लौट गई।

'माँ' कहानी में करुणा एक देशभक्त की पत्नी है। जब उसका पुत्र एक साल का था, उसके पति जेल से छूट कर मरणासन्न अवस्था में आए और करुणा से यह प्रतिज्ञा करा कर उन्होंने प्राण त्याग किया कि वह पुत्र को उन्हीं के आदर्शों के अनुसार पालेगी। करुणा गाय भैंस पाल कर, दूध और मक्खन बेच कर, होनहार प्रकाश का पालन पोषण करती है। प्रकाश बाल्यावस्था से ही उच्छृंखल और विलासी है। उसे अपने देशवासियों की सेवा करने की अपेक्षा देश विदेश घूमना और ऊँचे पद प्राप्त करना अधिक पसन्द है। इस सम्बन्ध में वह करुणा से तर्क भी करता है, किन्तु वह उसे हमेशा समझाया करती है। विश्वविद्यालय की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद प्रकाश विदेश जाने के लिए छात्रवृत्ति पाता है। उसकी तीव्र इच्छा है, विदेश से आ कर वह मजिस्ट्रेट बन जाए। दूसरी ओर करुणा की अभिलाषा है कि वह सरकारी नौकरी न करके, गरीब दुखियों की भलाई करे। माँ को खुश करने के लिए प्रकाश उसकी (करुणा की) बात मान जाता है और रजिस्ट्रार को अस्वीकृतिसूचक पत्र लिख देता है। किन्तु, उसी दिन से वह इतना उदास और उत्साहहीन हो जाता है कि एक दिन करुणा आहत गर्व से, स्वयं रजिस्ट्रार के पास जा कर, फिर वृत्ति मंजूर करा आती है। इसके बाद प्रकाश ने क्या तैयारियाँ कीं, उसने कितने रुपए लिए, कब विलायत गया—इन बातों से करुणा को कोई मतलब नहीं रहता। प्रकाश ने जहाज पर से पत्र भेजा, तो उसने फाड़ कर फेंक दिया। फिर ममता उमड़ी, तो उसके टुकड़े जोड़ कर पढ़ने लगी। *वह एक भयंकर स्वप्न देखती है—प्रकाश मजिस्ट्रेट है*

१ मानसरोवर, भाग ५ पृष्ठ २६६

२ मानसरोवर भाग ५, पृष्ठ २६७

और उसका पति हथकडियाँ पहन उसके सामन लाया जाता है। उसकी आँखें खुल जाती हैं और वह पत्र के टुकड़े जला देती है। पत्र के साथ उसकी ममता भी जल जाती है। सुबह लोग देखते हैं—पति का चित्र हृदय से चिपटाए हुए करुणा चिर निद्रा में निमग्न है।'[1]

'बेटोंवाली विधवा' कहानी की फूलमती की भी ममता उसके पुत्रों के स्वार्थ के कारण भस्मीभूत हो जाती है। फूलमती के चार पुत्र हैं और चारों शिक्षित हैं। एक पुत्री है, जो कुमारी है और उसका विवाह पाँच हजार दहेज देने की शर्त पर एक कुलीन, शिक्षित युवक से ठीक करने के बाद ही, उसके पिता का देहान्त हो गया था। पिता की मृत्यु के बाद चारों लड़के स्वार्थान्ध हो जाते हैं। वे कानून जानते और समझते हैं कि कन्या का अधिकार केवल विवाहित होने का है, अतः वे बिना दहेज के ही एक बूढ़े से उसका विवाह ठीक कर देते हैं। वे यह कानून भी जानते हैं कि माता अपने आभूषण, जो दस हजार से कम के नहीं हैं और जो उसका स्त्री धन है, के बल पर पुत्री का विवाह अच्छे वर से कर लेगी। अतः, वे बड़े कौशल से उसके आभूषण पहले ही ले लेते हैं। फूलमती को इस प्रकार निस्सहाय बना कर, बहन के विवाह का निर्णय वे माँ को सुनाते हैं। फूलमती को उस दिन मालूम होता है कि उसके पुत्र कितने स्वार्थी और निर्मम हैं। 'आज जीवन में पहली बार उसका वात्सल्य भग्न मातृत्व अभिशाप बन कर उसे धिक्कारने लगा। जिस मातृत्व को उसने जीवन की विभूति समझा था, जिसके चरणों पर वह सदैव अपनी समस्त अभिलाषाओं और कामनाओं को अर्पित करके अपने को धन्य मानती थी, वही मातृत्व आज उसे उस अग्निकुण्ड सा जान पड़ा, जिसमें उसका जीवन जल कर भस्म हो रहा था।'[2] इसके बाद वह पुत्री के विवाह में कुछ रुचि नहीं दिखाती, यद्यपि उस पुत्री का विवाह अपने अरमान के मुताबिक न होने का बहुत दुःख है। पुत्रों के साथ रहने की भी उसकी इच्छा नहीं होती, किन्तु लोक लाज का भय है—'अब वह घर उसे काँटों की सेज हो रहा था। जहाँ उसकी कुछ कद्र नहीं, कुछ गिनती नहीं, वहाँ अनाथों की भाँति पड़ी रोटियाँ खाए, यह उसकी अभिमानी प्रकृति के लिए असह्य था। पर, उपाय ही क्या था? वह लड़कों से अलग हो कर रहे भी तो नाक किसकी कटेगी? संसार उसे थूके तो क्या और लड़कों को थूके तो क्या, बदनामी तो उसी की है। दुनिया यही तो कहेगी कि चार जवान बेटों के होते बुढ़िया अलग पड़ी हुई मजूरी करके पेट पाल रही है। अब अपना और घर का परदा ढँका रखने में ही कुशल है।'[3]

फूलमती पुत्रों के साथ रहती तो है, किन्तु तटस्थ हो कर। उस उनके दुःख में न तो कष्ट होता है, न सुख में हर्ष। वह घर के सारे काम करती है, किन्तु उसे भूख तक नहीं लगती। वह चाहती है, जल्द-से जल्द भगवान उसे बुला लें—'छोटी सी कोठरी में रहने लगी थी, जैसे कोई भिखारिन हो। बेटों और बहुओं से अब उसे जरा भी स्नेह न था।

१ मानसरोवर भाग १, पृष्ठ ३८-३९
२ मानसरोवर भाग १ पृष्ठ ७२
३ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ ७३

वह अब घर की लौंडी थी। घर के किसी प्राणी, किसी वस्तु, किसी प्रसग से उसे प्रयोजन न था। वह केवल इसीलिए जीती थी कि मौत न आती थी। सुख या दु ख का अब उसे लेशमात्र भी ज्ञान न था। बस, पशुओं की तरह काम करना और खाना, यही उसकी जिन्दगी के दो काम थे। जानवर मारने से काम करता है, पर खाना खाता है मन से। फूलमती बेकहे काम करती थी, पर खाती थी विष के कौर की तरह।'' और, एक दिन फूलमती बडे पुत्र के लिए नदी से पानी लेने जाती है। वहाँ पैर फिसल जाने से उसकी जल-समाधि हो जाती है। पुत्रों द्वारा तिरस्कृत हो कर वह आजन्म उनके सुख दु ख में सम्मिलित नहीं होती। माता के आत्माभिमान की दृष्टि से फूलमती का चरित्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

स्त्रियों के ऐसे आत्माभिमान की वाञ्छनीयता के समर्थक होने के कारण प्रेमचन्द ने निस्सन्तान स्त्रियों का दयनीय रूप चित्रित नहीं किया है।

'सेवासदन' उपन्यास में सुभद्रा के निस्सन्तान होने के कारण उसके पति (पद्म सिंह) को अत्यन्त दु ख होता है और उन्हें अपना जीवन शून्य सा लगता है, किन्तु सुभद्रा सेवा और प्रेम से पति की सन्तान लालसा को दबाने का प्रयत्न करती है और अपनी उदारता तथा विचारशीलता के कारण एक दिन वह अपने पति का आदर भी पाती है। पद्म सिंह को ज्ञात होता है कि 'स्त्री सन्तानहीन हो कर भी पुरुष के लिए शान्ति, आनन्द का एक अविरल स्रोत है।'[२]

'अनुभव' कहानी में देवी के एक भी सन्तान नहीं है, किन्तु इसके लिए उसे दु ख नहीं है। उसका परिचय एक पात्री इन शब्दों में देती है—'मैंने ऐसी सहृदय, उदार, मीठी बातें करनेवाली स्त्री नहीं देखी। चिन्ता या क्रोध को तो जैसे उन्होंने जीत लिया हो। सदैव उनके मुख पर मधुर विनोद खेला करता था। कोई लडका-बाला न था, पर मैंने उन्हे कभी दुखी नहीं देखा।'[३]

प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में दूसरे बच्चों को मातृवत् प्यार करने वाली नारियों की एक परम्परा ही मिलती है।

'वरदान' उपन्यास में सुवामा के केवल एक पुत्र ही है। वह अपने किराएदार की पुत्री (विरजन) को अपनी पुत्री के समान स्नेह देती है और उसकी शिक्षा दीक्षा आदि का उतना ही ध्यान रखती है, जितना अपनी पुत्री का रखती। विरजन पर सुवामा की शिक्षा का प्रभाव पड़ता है। 'सुवामा पर उसका जितना प्रेम और जितनी श्रद्धा थी, उतनी अपनी माता पर भी न रही होगी। उसकी इच्छा विरजन के लिए आज्ञा से कम न थी।'[४] विरजन के विवाह में सुवामा ही सब कुछ करती है। वह जब ससुराल जाती है, सुवामा मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पडती है। विरजन के असमय विधवा हो जाने पर उसे अत्यन्त शोक होता है। विरजन की माता का देहान्त पहले ही हो चुका था और पिता साधु हो

---

१ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ ७६

२ सेवासदन, पृष्ठ २७२

३ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २६२

४ वरदान, पृष्ठ ५५

गए थे। ऐसे समय में विरजन को सान्त्वना देने और मन बहलाने के लिए वह उसे कुछ दिन अपने घर में रखना चाहती है। स्वय विरजन ही कुछ कारणों से आना स्वीकार नही करती—'सुवामा को अपनी मुँह बोली बेटी की विपत्तियों का ऐसा ही शोक हुआ, जितना अपनी बेटी का होता। कई दिन तक रोती रही और कई दिन तक बराबर उसे समझाने के लिए आती रही। जब विरजन अकेली रह गई, तो सुवामा ने चाहा कि वह मेरे यहाँ उठ आए और सुख से रहे। स्वय कई बार बुलाने गई, पर विरजन किसी प्रकार जाने को राजी नहीं हुई।'[१]

'प्रेमाश्रम' उपन्यास की श्रद्धा भी निस्सन्तान है। वह अपने देवर के पुत्र मायाशकर को, जो मातृहीन है, पुत्रवत् प्यार करती है। मायाशकर के नाम बडी जमींदारी है। वह अभी नाबालिग है और उसकी शिक्षा दीक्षा के लिए दो हजार रुपए महीने उसके चाचा प्रेमशकर (श्रद्धा के पति) को मिलते हैं। किन्तु, इस रकम का प्रायः एक तिहाई ही खर्च होता है और तीन वर्ष में पचीस हजार रुपए बच जाते हैं, जिन्हे प्रेमशकर मायाशकर की योरप यात्रा के लिए सुरक्षित रखते हैं। इसी समय मायाशकर के चचेरे बाबा पर महाजन नालिश कर देता है—पन्द्रह बीस हजार का मामला है। मायाशकर की इच्छा है कि उसकी पढाई से बचे हुए रुपए उसके बाबा को दे दिए जाएँ। उसके विचार में उसकी योरप यात्रा इतनी आवश्यक नही है कि उसके लिए घर वालो को सकट से न बचाया जाए। वह प्रेमशंकर से इसके लिए प्रार्थना करता है, किन्तु वे स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर देते हैं। तब मन में अत्यन्त खिन्न हो कर मायाशकर चाची के पास जाता है, वह 'श्रद्धा से ढीठ हो गया था।' श्रद्धा रात में, फिर सुबह पति से तर्क करती है और वे किसी तरह रुपए देना स्वीकार भी कर लेते हैं, किन्तु एक दूसरे महाशय उन्हें फिर भडका देते हैं। मायाशकर उदास हो कर दिन भर अपने कमरे में पडा रहता है, न पढने उठता है, न खाने। तब श्रद्धा उसे खाने के लिए बुलाने आती है और 'माँ' बेटे को मना लेती है। मायाशकर उसे देखते ही रो पडता है। श्रद्धा उसके दिल की बात जानती है और उसके आँसू पोंछती हुई कहती है, "बेटा, चल कर थोडा सा खाना खा लो। सवेरे मैं फिर उनसे कहूँगी। डॉ॰ इर्फान अली ने बात बिगाड दी, नही मैंने तो राजी कर लिया था।"

माया, "चाची, मेरी खाने की बिलकुल इच्छा नहीं है। (रो कर)...मै बाबा की कुछ भी मदद नही कर सकता। ऐसे जीने को धिक्कार है।"

श्रद्धा भी करुणावेश से विवश हो गई। अचल से माया के आँसू पोंछती थी और स्वय रोती थी।

माया ने कहा, "चाची, तुम नाहक हलकान होती हो, मैं अभागा हूँ, मुझे रोने दो।"

श्रद्धा, "तुम चल कर कुछ खा लो। मैं आज ही रात को यह बात छेड़ूँगी।"

---

१. वरदान, पृष्ठ ११८

माया का चित्त बहुत खिन्न था, पर श्रद्धा की बात न टाल सका।'

श्रद्धा उस रात सोती नहीं। वह सोचती रही कि पति को समझाने के लिए वह किस तर्क का आश्रय ले। अन्त में वह ऐसी युक्ति निकालती है कि प्रेमशंकर को मानना पड़ता है। वे कहते हैं, "माया और तुम बिना रुपए दिलाए न मानोगे, जैसी तुम्हारी इच्छा।"[1]

माया के माता नहीं है, पर माता के जीवित न रहने के कारण कभी उसे कोई कष्ट नहीं होता। घोर से घोर विपत्ति में भी उसे अपनी माता की याद नहीं आती।[2] श्रद्धा के रूप में उसे माता तो मिली ही हुई है।

'कायाकल्प' उपन्यास में ऐसी तीन माताओं का उल्लेख है, जो पराए बालक और बालिकाओं को माता का प्यार देती हैं। अहल्या जब तीन साल की थी, तभी यशोदानन्दन ने, जो सेवा समिति के एक सदस्य थे, मेले की भीड़ में उसे पाया था। चार पाँच साल तक तो वह अनाथालय में रहती है, उसके बाद उन्हीं के साथ रहती है। उनकी पत्नी (वागेश्वरी) अहल्या को पुत्री की भाँति पालती हैं। उनका प्यार पा कर अहल्या भी अपने माता पिता को भूल जाती है। हिन्दू मुस्लिम दंगे में यशोदानन्दन मारे जाते हैं, उनके घर में आग लगा दी जाती है और अहल्या का, जो युवती हो गई है और जिसका विवाह चक्रधर से होने वाला है, अपहरण होता है। इस घोर विपत्ति में वागेश्वरी को अहल्या की ही सबसे अधिक चिन्ता है। वह सेवा दल वालों से कहती है, "जलने दो घर, घर ले कर क्या करना है, तुम जा कर मेरी बच्ची की तलाश करो।" अहल्या मिल जाती है और वागेश्वरी शीघ्र ही उसका विवाह कर देती है। जब अहल्या ससुराल जाने को होती है, तो वागेश्वरी की वही दशा होती है जो दशा पुत्री को विदा करते समय किसी माता की होती है—'वागेश्वरी का रोते रोते बुरा हाल था। जब अहल्या आ कर पालकी पर बैठी, तो वह दुखिया पछाड़ खा कर गिर पड़ी। संसार उसकी आँखों में सूना हो गया। पति शोक में भी उसके जीवन का एक आधार रह गया था। अहल्या के जाने से वह सर्वथा निराधार हो गई। जी में आता था, अहल्या को पकड़ लूँ।...वह इस शोक के आवेश में लपक कर द्वार पर आई, पर पालकी का पता नहीं था। तब वह द्वार पर बैठ गई। ऐसा जान पड़ा, मानों चारों ओर शून्य, निस्तब्ध, अन्धकारमय श्मशान है। मानों कहीं कुछ रहा ही नहीं।'[3]

---

१ प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३७४-३७५

२. विपत्ति में, बीमारी में, मृत्यु के समय माता की याद अवश्य आती है। 'घरजमाई' कहानी में ससुराल वालों से कष्ट पा कर हरिधन के सामने उसकी स्वर्गवासिनी माता की सदय मूर्ति आ कर खड़ी हो जाती है और उसे सान्त्वना देती है। हरिधन रोने लगता है (मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ १४१)। 'कर्मभूमि' उपन्यास के डॉ० शान्तिकुमार को बीमारी में माता के स्नेह की याद आती है (पृष्ठ २१८)। ऐसे और भी विवरण दिए जा सकते हैं, देखिए, 'ग़बन', पृष्ठ १६६ तथा १६७, 'निर्मला', पृष्ठ ६३ एवं ६६, 'गोदान', पृष्ठ २५०

३. कायाकल्प, पृष्ठ २०६

इस प्रकार बीस वर्ष और निकल जाते हैं और इस बीच अहल्या के जीवन में कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटती हैं। उसे मालूम होता है कि वह एक राजा की खोई हुई पुत्री है। वह अपने पिता के पास रह कर राज सुख भोगने की लालसा में पति द्वारा त्यागी जाती है। उसका इकलौता पुत्र भी पिता की खोज में घर छोड़ कर चला जाता है। अहल्या पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ता है। इस दुःख में उसे वागेश्वरी की वैसी ही याद आती है, जैसे पुत्री को अपनी माता की याद आए और वह सान्त्वना के लिए वागेश्वरी के पास चली जाती है—'अब उसे वागेश्वरी की याद आई। सुख के दिन वही थे, जो उसके साथ कटे। असली मैका न होने पर भी जीवन का जो सुख वहाँ मिला, वह फिर न नसीब हुआ। अब उसे याद आता था कि मैं वहाँ से दुःख झेलने ही के लिए आई थी। वह स्नेह सुख स्वप्न हो गया। सास मिली वह इस तरह की, ननद मिली वह इस ढंग की, माँ थी ही नहीं, केवल बाप को पाया, मगर उसके बदले में क्या क्या देना पड़ा। जिस दिन मालूम हुआ था कि वह राजा की बेटी है, वह फूली न समायी थी, उसके पाँव जमीन पर न पड़ते थे, पर आह! क्या मालूम था कि उस क्षणिक आनन्द के लिए उसे सारी उम्र रोना पड़ेगा। अब अहल्या का मन वागेश्वरी के पास जाने के लिए अधीर हो उठा।... वही उसके साथ सच्ची सहानुभूति कर सकती है, वही अपने मातृस्नेह से उसका क्लेश हर सकती है।"[1]

अहल्या वागेश्वरी के पास पहुँचती है और उससे अपने उद्धार का उपाय पूछती है। अहल्या को वागेश्वरी माता की भाँति भर्त्सनापूर्ण सीख देती है, "पति प्रेम से वञ्चित हो कर स्त्री के उद्धार का कौन उपाय है, बेटी? पति ही स्त्री का सर्वस्व है। जिसने अपना सर्वस्व खो दिया, उसे सुख कैसे मिलेगा? जिसको ले कर तूने पति का त्याग किया, उसको त्याग कर ही पति को पाएगी। तू इतनी कर्त्तव्यभ्रष्ट कैसे हो गई, यह मेरी समझ में नहीं आया। यहाँ तो तू धन पर इतना जान न देती थी, ईश्वर ने तेरी परीक्षा ली और तू उसमें चूक गई। जब तक धन और राज्य का मोह न छोड़ेगी, तुझे उस त्यागी पुरुष के दर्शन न होंगे।"[2]

'कायाकल्प' उपन्यास के ही ठाकुर हरिसेवक सिंह की उपपत्नी लौंगी उनकी पुत्री (मनोरमा) को अपने प्राणों से अधिक चाहती है। जिस समय मनोरमा की माता का देहान्त हुआ था, उसका भाई (गुरुसेवक) तीन साल का था और वह गोद में थी। लौंगी उस समय घर की दासी थी। उसने दोनों मातृहीन बच्चों और गृहस्थी को ऐसे प्यार और चातुर्य से सँभाला कि ठाकुर साहब उस पर मोहित हो गए और उसे गृहिणी के रिक्त पद पर आसीन कर दिया। वे मनोरमा से लौंगी की उस समय की सेवा और वात्सल्य की कथा इन शब्दों में कहते हैं, "मैं लौंगी के हृदय पर मुग्ध हो गया। तुम्हारी माता भी तुम लोगों का लालन पालन इतना तन्मय हो कर न कर सकती थी। गुरुसेवक की बीमारी की याद तुम्हें क्या आएगी? न जानें इसे कौन सा रोग हो गया था। खून के

१ कायाकल्प, पृष्ठ ३१७

२. कायाकल्प, पृष्ठ ३१८

दस्त आते थे और तिल तिल पर। छ महीने तक उसकी दशा यही रही। • गल कर काँटा हो गया था। रोता तो इस तरह, मानो कराह रहा है। यह लौंगी ही थी, जिसने उसे मौत के मुँह से निकाल लिया। कोई माता अपने बालक की इतनी सेवा नहीं कर सकती। जो उसके त्यागमय सेवा को देखता, दाँतों तले उँगली दबाता था।"[१]

ठाकुर साहब, धमकी में आ कर, मनोरमा का विवाह बूढ़े राजा विशाल सिंह से करना चाहते हैं। लौंगी इसका तीव्र विरोध करती है। उसके विचार हैं, 'राजा साहब के पास दौलत के सिवा और क्या है? दौलत ही तो ससार में सब कुछ नहीं है।'[२] 'ब्याह जोड़ का होता है। ऐसा ब्याह किस काम का कि वर बहू का बाप मालूम हो, बेचारी कन्या के दिन रोते ही बीतें।"[३] जब रानी होने के लोभ से स्वय मनोरमा विवाह करना स्वीकार कर लेती है, तब भी वह कहती है, "लड़के हैं, जो मुँह में आया, बकते हैं, उनके बकने से क्या होता है। माँ बाप का धर्म है कि लड़कों के हित ही की करें। लड़का माहुर माँगे, तो क्या माँ बाप उसे माहुर दे देंगे?"[४] फिर भी होनहार के आगे उसका कुछ वश नहीं चलता। रानी होने के बाद मनोरमा लौंगी के बारे में कहती है, "अगर वह इस घर में आ कर रहती, तो मैं अपने हाथों से उसके पैर धोती और चरणामृत आँखों से लगाती। जब मैं बीमार पड़ी थी, तो वह रात-की रात मेरे सिरहाने बैठी रहती थी। क्या मैं इन बातों को कभी भूल सकती हूँ? माता के ऋण से उऋण होना चाहे सम्भव हो, उसके ऋण से मैं कभी उऋण नहीं हो सकती, चाहे ऐसे ऐसे दस जन्म लूँ।"[५]

स्वय मनोरमा को, जो महीनों से बीमार है और जिसके बचने की आशा नहीं है, बीमारी अहल्या के छोटे से पुत्र को हृदय लगाते ही भाग जाती है। वह अहल्या से कहती है, "अहल्या, मैं अब यह लाल तुम्हे न दूँगी। यह मेरा है। तुमने इतने दिनों तक मेरी सुध न ली, यह उसी की सजा है।"[६] बाद में तो लल्लू मनोरमा से इतना हिल मिल जाता है कि वह उसी को अपनी माँ समझता है। रात दिन उसके पास रहता है और अहल्या को भूल सा जाता है।

'गबन' उपन्यास में बूढ़े खटिक देवीदीन के दो जवान बेटे स्वदेशी आन्दोलन की भेंट हो चुके हैं। गबन करके रमानाथ कलकत्ता भागता है, तो देवीदीन और उसकी पत्नी (जग्गो) उसे अपने पुत्र की भाँति रखते हैं। जग्गो उसके खाने पहनने, उसकी रक्षा करने के बारे में उसी प्रकार चिन्तित रहती है, जैसे कोई माता अपने पुत्र के लिए। उसके पकड़ लिए जाने पर वह माता की ही भाँति भूखी प्यासी रहती है और उसके समाचार जानने को उत्सुक बनी रहती है। ये पति पत्नी छह सौ रुपए तक की घूस का प्रबन्ध करके रमा

१. कायाकल्प, पृष्ठ २७५
२ कायाकल्प, पृष्ठ १३७
३ कायाकल्प पृष्ठ १३८
४ कायाकल्प पृष्ठ १३६
५ कायाकल्प, पृष्ठ २७३
६. कायाकल्प, पृष्ठ २३१

नाथ को दारोगा के हाथ से छुडाना चाहते हैं, किन्तु रमानाथ स्वय ही सरकारी मुखबिर बन जाता है। तीन दिनों तक उसका बयान होता है और तीनों दिन किसी काम में जग्गो का मन नहीं लगता। वह जो देवीदीन की चिलम भरना तो दूर की बात, कभी उसकी कोई सेवा नहीं करती थी, हमेशा उसे नशेबाज, उडाऊ, निकम्मा कहती रहती थी, रमानाथ के बयान आदि के समाचार सुनने के लिए उसकी चिलम भरती है, उसे पखा झलती है। रमानाथ का पता लगाती हुई उसकी पत्नी (जालपा) जग्गो के घर पहुँचती है, तो वह उसे अपनी ही वहू समझती है और शीघ्र ही दोनों में माँ बेटी का सा प्रेम हो जाता है। वह रमानाथ के झूठी शहादत देने पर, जिससे कई घरों के सर्वनाश होने की आशका थी, उसे इस प्रकार निर्दयता से फटकारती है, जैसे कोई वीर माता अपने कायर पुत्र को। रमानाथ उसके लिए सोने की चार चूडियाँ लाया था। जग्गो चूडियों को उठा कर जमीन पर पटक देती है और आँखें निकाल कर कहती है, "जहाँ इतना पाप समा सकता है, वहाँ चार चूडियों की जगह नही है? भगवान की दया से बहुत चूडियाँ पहन चुकी और अब भी सेर दो सेर सोना पडा होगा, लेकिन जो खाया, पहना, अपनी मेहनत की कमाई से, किसी का गला नहीं दबाया, पाप की गठरी सिर पर नहीं लादी, नीयत नही बिगाडी। उस कोख में आग लगे, जिसने तुम जैसे कपूत को जन्म दिया। ...क्यों खडे मुझे जला रहे हो? चले क्यों नही जाते? मैंने तुम से कुछ ले तो नहीं लिया है?"[1]

वह स्वय तो इतने कठोर और तिरस्कारपूर्ण शब्दों में रमा को फटकारती है, किन्तु ऐसे ही तीक्ष्ण शब्दों में, जब जालपा भी, रमानाथ को फटकारती है, तब उसे दया आ जाती है। रमानाथ के चले जाने पर वह जालपा की भर्त्सना करती है, "तुम्हें इतना बेलगाम न होना चाहिए था, वहू। दिल पर चोट लगती है, तो आदमी को कुछ नहीं सूझता।"[2]

'महातीर्थ' कहानी में बुढिया कैलासी के परिवार के सभी सदस्य काल के ग्रास हो जाते हैं। वह अपना मन बहलाने के लिए सुखदा का बच्चा खेलाने की नौकरी कर लेती है। बच्चे (रुद्रमणि) को वह इतना प्यार करती है कि जब सुखदा अकारण उसे इस नौकरी से वंचित कर देती है, तो रुद्र एक हफ्ते के अन्दर 'हुड़क' कर बीमार पड जाता है। वह केवल 'अन्ना-अन्ना' की रट लगाता रहता है। कैलासी को भी रुद्र का वियोग असह्य है। वह मुहल्ले के कुछ लोगों के साथ तीर्थयात्रा के लिए तैयार हो चुकी थी कि रुद्र के पिता उसे बुलाने पहुँच जाते हैं। यद्यपि कैलासी का तीर्थ तो छूट जाता है, किन्तु जिस बच्चे को वह पुत्रवत् प्यार करती थी, उसकी जान बचा कर वह 'महातीर्थ' का पुण्य प्राप्त करती है—उसके आते ही बच्चा अच्छा होने लगता है।

'माता का हृदय' कहानी में माधवी का होनहार और देशभक्त पुत्र बिना किसी अपराध के पुलिस द्वारा, डाका डालने के अपराध में, गिरफ्तार कर लिया गया और उसे आठ वर्ष का कठोर दण्ड मिला। विधवा माधवी का पुत्र उसके प्राणों का अवलम्ब था। पुत्र के साथ किया गया यह अन्याय उसे प्रतिशोध के लिए प्रेरित करता है। वह पुलिस-

१ गबन, पृष्ठ २८३
२ गबन, पृष्ठ २८५

अधीक्षक मिस्टर बागची के घर में लड़का खेलाने की नौकरी स्वीकार कर, उनके कुल का नाश करने का षड्यन्त्र करती है। किन्तु, वहाँ जा कर उसका मातृहृदय बदल जाता है। बागची का इकलौता पुत्र उससे इतना हिल जाता है कि उसे ही अपनी माता समझता है। वह भी उसी की नींद सोती और उसी की नीद जगती है। एक बार बच्चे को भयकर जुकाम हो जाता है। उसके माता पिता तो सो जाते हैं, किन्तु माधवी की आँखों में नीद नहीं। वह खाना पीना तक भूल जाती है। वह देवताओं की मनौतियाँ करती है। बच्चा तीन दिनों के बाद अच्छा होता मालूम पड़ता है और सभी प्रसन्न होते हैं, किन्तु जब माधवी उसे दूध पिलाने के लिए उठाती है, तो वह निर्जीव हो चुका रहता है। दिन भर बच्चे के माता पिता रोते हैं और माधवी सोचती है, यदि अपने प्राण दे कर भी वह उस बालक को जिला सकती, तो अपने को धन्य समझती। उसे जितनी पीड़ा अपने पुत्र की जेल यात्रा से भी न हुई थी, उतनी आज होती है। वह दूसरों को रुलाने आई थी, पर खुद ही रोती हुई उस घर से जा रही थी। यहाँ प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं—'माता का हृदय दया का आगार है। उसे जलाओ, तो उसमें से दया की ही सुगन्ध निकलती है। पीसो, तो दया का ही रस निकलता है। वह देवी है। विपत्ति की क्रूर लीलाएँ भी उस स्वच्छ और निर्मल स्रोत को मलिन नहीं कर सकती।'[1]

'गोदान' उपन्यास की मालती झुनिया के चेचकग्रस्त पुत्र (मगल) की जितनी सेवा करती है, उतनी सेवा झुनिया, बच्चे की माता हो कर भी, नहीं कर पाती। डॉ॰ मेहता पराए बालक के प्रति मालती के इस प्रेम के बारे में जो कुछ सोचते हैं, वह इस श्रेणी में परिगणनीय अन्य नारियों के विषय में भी सत्य है—'मालती केवल रमणी ही नहीं है, माता भी है और ऐसी वैसी माता नहीं, सच्चे अर्थों में देवी और माता और जीवन देने वाली, जो पराए बालक को भी अपना समझ सकती है, जैसे उसने मातापन का सदैव सचय किया हो और आज दोनों हाथों से उसे लुटा रही हो। उसके अग अग से मातापन फूटा पड़ता था, मानों यही उसका यथार्थ रूप हो।'[2]

यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी ममतामयी माता की मृत्यु का, बच्चे के शारीरिक और मानसिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बच्चों के हृदय में प्यार की एक भूख होती है, जिसकी पूर्ति दूध, मिठाई और खिलौने नहीं कर सकते। उनकी यह भूख माँ के प्यार से ही मिटती है। पिता भी माता के स्थान की पूर्ति नहीं कर सकता। पिता के अभाव में बच्चों का शारीरिक और मानसिक विकास उतना कुण्ठित नहीं होता[3] जितना माता के अभाव में।

---

१ मानसरोवर भाग ३, पृष्ठ १०४

२ गोदान, पृष्ठ ४३८ ४३९

३ प्रेमचन्द ने बहुधा ऐसे वर्णन किए है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि पितृहीन बालक भी, मातृ स्नेह के सुलभ होने पर अपना विकास कर पाता है। 'वरदान' उपन्यास की सुवामा के पति उस समय साधु हो कर घर छोड़ देते हैं, जब उसका पुत्र (प्रताप) केवल छह वर्षों का है। सुवामा उसकी शिक्षा दीक्षा, उसके चरित्र-गठन आदि पर ध्यान देती है और प्रताप एक दिन देश का

'घरजमाई' नामक कहानी में प्रेमचन्द लिखते हैं—'बच्चों के लिए बाप एक फालतू-सी चीज—एक विलास की वस्तु—है, जैसे घोड़े के लिए चने या बाबुओं के लिए मोहनभोग। माँ रोटी-दाल। मोहनभोग उम्र भर न मिले, तो किसका नुकसान है; मगर, एक दिन रोटी दाल के दर्शन न हों, तो फिर देखिए, क्या हाल होता है। पिता के दर्शन कभी-कभी शाम-सवेरे हो जाते हैं, वह बच्चे को उछालता है, दुलारता है, कभी गोद में ले कर या उँगली पकड़ा कर सैर कराने ले जाता है और बस, यही उसके कर्तव्य की इति है। वह परदेश चला जाए, बच्चे को परवा नहीं होती; लेकिन, माँ तो बच्चे का सर्वस्व है। बालक एक मिनट के लिए भी उसका वियोग नहीं सह सकता। पिता कोई हो, उसे परवा नहीं, केवल एक उछालने दुलारनेवाला आदमी होना चाहिए, लेकिन माता तो अपनी ही होनी चाहिए, सोलहो आने अपनी। वही रूप, वही रंग, वही प्यार, वही सब कुछ। वह अगर नहीं है तो बालक के जीवन का स्रोत मानों सूख जाता है, फिर वह शिव का नन्दी है, जिस पर फूल या जल चढ़ाना लाजिमी नहीं, अख्तियारी है।"[1]

माता के देहान्त के बाद बच्चे अनाथ हो जाते हैं,[2] उनके जीवन का वह स्नेह-स्रोत ही सूख जाता है, जो छोटे-से पौधे के फूलने फलने के लिए आवश्यक है। उसे दूसरा चाहे कितना भी प्यार करे, पर वह उस पर अपना अधिकार नहीं समझता। माँ में जो एक कठोरता-मिश्रित कोमलता होती है, उसे वह अन्यत्र नहीं पाता। दूसरे मातृहीन बालक के प्रति या तो दया मिश्रित स्नेह का प्रदर्शन करते हैं या शुष्क कठोरता का व्यवहार।

सच्चा शुभचिन्तक और अनाथों का रक्षक बनता है। 'वरदान' की कहानी अनाथ की कहानी है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास के दाननाथ भी, जो एक कॉलेज में प्रोफेसर हैं और डॉक्टरेट की उपाधि के लिए तैयारियाँ कर रहे हैं, पितृहीन हैं। उनकी माता ने ही उन्हें बड़े कष्ट से पाला-पोसा और पढ़ाया लिखाया है। दाननाथ के पिता बहुत मामूली आदमी थे और जीवित भी बहुत कम दिनों रहे थे, किन्तु मातृस्नेह के कारण पिता का अभाव उनके मार्ग में बाधक नहीं बना (पृष्ठ १०१)। 'गोदान' उपन्यास के दार्शनिक प्रोफेसर, मेहता के पिता का भी उनकी बाल्यावस्था में ही देहान्त हो गया था। वे अपनी विधवा माता की गोद में पल कर इतने बड़े विद्वान् बनते हैं (पृष्ठ ८८५)। 'माता का हृदय' कहानी में विधवा होने के बाद माधवी अपने छोटे बच्चे को धनाभाव के कारण बड़ी कठिनाई से पालती-पोसती है। उसका पुत्र बड़ा ही निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी, स्वदेश-प्रेमी, निस्वार्थ और कर्तव्यपरायण युवक के रूप में विकसित होता है (मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ८५-८६)।

१. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ १३९

२. 'गृहदाह' कहानी में सत्यप्रकाश की माता की मृत्यु के बाद उसकी दयनीय दशा का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं—'मातृहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन-से-दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सँभालता रहता है। मातृहीन बालक इस आधार से वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एकमात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंखहीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकान्त से प्रेम हो गया। अकेला बैठा रहता। वृक्षों में उसे कुछ-कुछ सहानुभूति का अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे, माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गए।

'घर-जमाई' कहानी में हरिधन की माता का देहान्त हो जाता है। उसके पिता और उसकी बुआ उसका मुँह जोहा करते हैं, उसे अच्छे-से-अच्छा खाना-कपड़ा देते हैं, पर फिर भी उसे उनमें माँ का प्यार नहीं मालूम होता और वह माँ की याद करके रोता रहता है—'हरिधन की माता का आज दस साल हुए, देहान्त हो गया था। उस वक्त उसका विवाह हो चुका था। वह सोलह साल का कुमार था। पर, माँ के मरते ही उसे मालूम हुआ, मैं कितना निस्सहाय हूँ। जैसे घर पर उसका कोई अधिकार ही न रहा हो। बहनों के विवाह हो चुके थे। भाई कोई दूसरा न था। बेचारा अकेले घर में जाते भी डरता था। माँ के लिए रोता था, पर माँ की परछाहीं से डरता था। जिस कोठरी में उसने देह-त्याग किया था, उधर वह आँखें तक न उठाता। घर में एक बुआ थी, वह हरिधन का बहुत दुलार करती। हरिधन को अब दूध भी ज्यादा मिलता, काम भी कम करना पड़ता। बुआ बार-बार पूछती, "बेटा! कुछ खाओगे!" बाप भी अब उसे ज्यादा प्यार करता, उसके लिए अलग एक गाय मँगवा दी, कभी-कभी उसे कुछ पैसे दे देता कि जैसे चाहे खर्च करे। पर, इन मरहमों से वह घाव न पूरा होता था, जिसने उसकी आत्मा को आहत कर दिया था। यह दुलार और प्यार उसे बार-बार माँ की याद दिलाता। माँ की घुड़कियों में जो मजा था, वह क्या इस दुलार में था? माँ से माँग कर, लड़ कर, ठुनक कर, रूठ कर लेने में जो आनन्द था, वह क्या इस भिक्षा-दान में था? पहले वह स्वस्थ था, माँग-माँग कर खाता, लड़-लड़ कर खाता, अब वह बीमार था, अच्छे-से-अच्छे पदार्थ उसे दिए जाते थे, पर भूख न थी।''

माता के वात्सल्य और दूसरों के स्नेह के भिक्षा-दान का अन्तर 'निर्मला' उपन्यास में भी वर्णित है। अपनी माता की मृत्यु के बाद मुंशी तोताराम के तीनों पुत्र अनाथ-से हो जाते हैं। निर्मला उनकी विमाता बन कर आती है। एक दिन वह पति से बालकों की शिकायत करती है। मुंशीजी लड़कों को डाँटते हैं। छोटा सियाराम झूठ बोलता है, जिससे मुंशीजी उसे मारते भी हैं। निर्मला उसे मार खाते देखती है, तो छुड़ाने दौड़ती है और चुमकार कर चुप कराती है, किन्तु सियाराम और रोने लगता है। उसे निर्मला के प्यार में वात्सल्य नहीं, दया मालूम होती है—'निर्मला बच्चे को रोते देख कर विह्वल हो उठी। उसने उसे छाती से लगा लिया और गोद में लिए हुए अपने कमरे में ला कर उसे चुमकारने लगी, लेकिन बालक और भी सिसक सिसक कर रोने लगा। उसका अबोध हृदय इस प्यार में वह मातृस्नेह न पाता था, जिससे दैव ने उसे वंचित कर दिया था। यह वात्सल्य न

पिता की आँखों में भी वह प्रेम की ज्योति न रहा। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है?'
मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १०४

१ (क) मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ २३६-२३७
(ख) प्रेमचन्द की माता स्वयं उन्हें आठ साल की उम्र में बिलखते छोड़ कर स्वर्ग सिधार गई थीं। अब उनका पहले से अधिक खयाल रखा जाता था, किन्तु माँ का वह प्यार उन्हें न मिलता था। अतः, वे सबसे छिपा कर खूब रोते थे। उन्हीं के शब्दों में—'भैया दूध में शक्कर डाल कर मुझे खूब खिलाते थे, पर माँ का वह प्यार कहाँ! मैं एकान्त में बैठ कर खूब रोता था।'
शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ ३

था, केवल दया थी। यह वह वस्तु थी, जिस पर उसका कोई अधिकार न था, जो केवल भिक्षा के रूप में उसे दी जा रही थी। पिता ने पहले भी दो एक बार मारा था, जब उसकी माँ जीवित थी, लेकिन तब उसकी माँ उसे छाती से लगा कर रोती न थी। वह अप्रसन्न हो कर उससे बोलना छोड देती, यहाँ तक कि वह स्वयं थाडी ही देर के बाद सब कुछ भूल कर फिर माता के पास दौडा जाता था। शरारत के लिए सजा पाना तो उसकी समझ में आता था, लेकिन मार खाने पर चुमकारा जाना उसकी समझ में न आता था।' आगे टिप्पणी करते हुए लेखक कहता है—'मातृप्रेम में कठोरता होती थी, लेकिन मृदुलता से मिली हुई। इस प्रेम में करुणा थी; पर वह कठोरता न थी, जो आत्मीयता का गुप्त सन्देश है।'[1]

मातृहीन बच्चे एक तो यों ही माता के प्यार से वंचित होते हैं, उस पर यदि घर में विमाता आती है, तो उनके दुर्भाग्य का क्या कहना ? विमाता बच्चे के प्यार की भूख को तो क्या समझेगी, साधारणतः उसे जलाने-कुढाने में ही वह आनन्द पाती है। ऐसे बच्चे का समुचित विकास रुक जाता है, पौधा टेढा मेढा, सूखा हो जाता है।

'गृहदाह' कहानी का सत्यप्रकाश ऐसा ही मातृहीन और विमातृपोषित बालक है। जब उसकी माता जीवित थी, उस समय की उसकी प्रतिभा और उसका विकास एक स्वस्थ पौधे के समान था, जिसे स्नेह के जल से सींचा गया हो—'कितना सुशील, होनहार बालक था। गोरा मुखडा, बडी-बडी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले लाल अधर, भरे हुए पाँव। उसे देख कर सहसा मुँह से निकल पडता था—भगवान् इसे जिला दें, प्रतापी मनुष्य होगा। उसकी बल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुख-चन्द्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।'[2]

ऐसा होनहार बालक मातृहीन हो जाता है, तो उसे दुष्ट विमाता मिलती है, जो अकारण उसे डाँटती है, उस पर लाञ्छन लगाती है। पिता भी अकारण ही उसे मारता है। प्यार और अपनापन के अभाव में वह शोख और हठी हो जाता है। वह पढने से जी चुराता है, मैले-कुचैले कपडे पहनता है, आवारे लड़कों के साथ दिन भर गलियों में मारा फिरता है, दुर्बल, कान्तिहीन तथा शरारती हो जाता है और मार खा कर भी फिर वही काम करता है। सत्यप्रकाश की, अपने सौतेले भाई से, जिसे माता का प्यार मिलता है, कोई तुलना ही नहीं—'दोनों लडकों में कितना अन्तर था! एक साफ सुथरा, सुन्दर कपडे पहने शील और विनय का पुतला, सच बोलने वाला। देखने वालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाए हुए, मुँहफट, बात-बात पर गालियाँ बकने वाला। एक हरा भरा पौधा था, प्रेम से प्लावित, स्नेह से सिंचित; दूसरा सूखा हुआ, टेढा, पल्लवहीन नववृक्ष था, जिसकी जडों को मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ।'[3]

---

१. निर्मला, पृष्ठ ४४

२. मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १०३

३. मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १७७

'निर्मला' उपन्यास में मुंशी तोताराम का मॅंझला पुत्र (जियाराम) भी जिद्दी और मुँहफट बन जाता है। वह घर के आभूषण चुराता है, आवारागर्दी करता है और अन्त में आत्महत्या कर लेता है। अन्तिम पुत्र, सियाराम को, विमाता के पास और अधिक कष्ट होता है, क्योंकि तब तक आर्थिक कठिनाइयाँ भी बढ जाती हैं। सियाराम को, स्कूल पहुँचने में भले ही देर हो जाए, पर निर्मला बाजार से सारे सामान उसी से मँगवाती है। ऐसी अवस्था में भला वह क्या पढता ? स्कूल देर से जाता था, तो मास्टर की डाँट पडती थी। अत, दिन भर घूम घाम कर शाम को घर आ जाता। एक बार वह दिन भर भूखा रह कर बाजार का काम करता है। निर्मला ने उस दिन जलावन के अभाव में स्कूल के वक्त तक खाना नहीं बनाया था। वह उसके हाथ में दो-चार पैसे भी नहीं देती कि बाहर ही कुछ खरीद कर खा ले। वह भूख प्यास से और अपनी मृत माता की याद में इतना दुखी होता है कि घर से विरक्त हो कर एक कपटी साधु के साथ भाग जाता है। इस पर प्रेमचन्द अपनी ओर से कहते हैं—'ससार में सभी बालक दूध की कुल्लियाँ नहीं करते, सभी माने के कौर नहीं खाते। कितनों को पेट भर भोजन भी नहीं मिलता, पर घर से विरक्त वही होते हैं, जो मातृस्नेह से वचित हैं।"[1]

'कर्मभूमि' उपन्यास के अमरकान्त की माता का उसके बचपन में देहान्त हो जाता है। मातृस्नेह से वचित अमरकान्त पर उसकी विमाता शासन करना ही जानती है। फलत उसका पुरुषत्व शासित और दलित हो जाता है, उसमें पुरुष के नहीं, नारी के गुण आ जाते हैं। बचपन में ही उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। जब उसका विवाह होता है, तो उसकी पत्नी (सुखदा) भी शासन और विद्रोह की भावनाएँ लेकर आती है, अत वह सुखदा से प्रेम नहीं कर पाता। वह सकीना की ओर आकृष्ट होता है। अमर सलीम से, जो उसे एक जुलाहे की लड़की से प्रेम करने के लिए धिक्कारता है, कहता है, "जिन्दगी की वह उम्र, जब इन्सान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है, बचपन है। उस वक्त पौधे को तरी मिल जाए, तो जिन्दगी भर के लिए जडे मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खूराक न पा कर, उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है। मेरी माता का उसी जमाने में देहान्त हुआ और तब से मेरी रूह को खूराक नहीं मिली। वही भूख मेरी जिन्दगी है। मुझे जहाँ मुहब्बत का एक रेजा भी मिलेगा, मैं बेअख्तियार उसी तरफ जाऊँगा।"[2]

सकीना के प्रति अमर के आकर्षण का विश्लेषण करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है—'बचपन में ही वह माता के स्नेह से वंचित हो गया था। जीवन के पन्द्रह साल उसने शुष्क शासन में काटे। कभी माँ डाँटती, कभी बाप बिगड़ता, केवल नैना (बहन) की कोमलता उसके मग्न हृदय पर फाहा रखती रहती थी। सुखदा भी आई, तो वही शासन और गरिमा ले कर, स्नेह का प्रसाद उसे यहाँ भी न मिला। वह चिरकाल की स्नेह-तृष्णा किसी प्यासे पक्षी की भाँति, जो कई सरोवरों के सूखे तट से निराश लौट

१. निर्मला, पृष्ठ १७१
२. कर्मभूमि, पृष्ठ १३३

आया हो, स्नेह की यह शीतल छाया देख कर विश्राम और तृप्ति के लोभ से उसकी शरण आई।''

अमर सकीना के साथ विवाह नहीं कर सकता क्योंकि इसमें धर्म बाधक है। वह बदनामी के भय से भाग खड़ा होता है और कई वर्षों तक घर से दूर परदेश में रहता है।

मातृहीन बालक दूसरों से थोड़ा स्नेह पा कर भी उनसे चिपट जाता है।

'घरजमाई' कहानी में हरिधन को समुराल में अपनी सास से यह प्यार मिलता है, तो वह अपने हिस्से की जायदाद की बिक्री से प्राप्त, सारा धन सास का ही दे देता है—'इस नए ससार में आ कर हरिधन को एक बार फिर मातृस्नेह का आनन्द मिला। उसकी सास ने ऋषि वरदान की भाँति उसके शून्य जीवन को विभूतियों से परिपूर्ण कर दिया। मरुभूमि में हरियाली उत्पन्न हो गई। बाप के मरते ही वह घर गया और अपने हिस्से की जायदाद को कूड़ा करके रुपयों की थैली लिए हुए फिर आ गया। अब उसका दूना आदर-सत्कार होने लगा। उसने अपनी सारी सम्पत्ति सास के चरणों पर अपण करके अपने जीवन को सार्थक कर दिया।'[२] बाद में सास और समुराल के अन्य लोग उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, यह दूसरी कथा है।

'कर्मभूमि' उपन्यास का अमरकान्त भी अपने प्रति सास का स्नेह देख कर समझता है कि उसकी माता ही स्वर्ग से लौट आई है—'अमरकान्त ने अपने जीवन में माता के स्नेह का सुख न जाना था। जब उसकी माता का अवसान हुआ, तब वह बहुत छोटा था। उस दूर अतीत की कुछ धुँधली-सी और इसलिए अत्यन्त मनोहर और सुखद स्मृतियाँ शेष थीं। उसका वेदनामय बाल रुदन सुन कर जैसे उसकी माता ने रेणुका देवी के रूप में स्वर्ग से आ कर उसे गोद में उठा लिया। बालक अपना रोना धोना भूल गया और उस ममता भरी गोद में मुँह छिपा कर दैवी सुख लूटने लगा। अमरकान्त नहीं-नहीं करता रहता और माता उसे पकड़ कर उसके आगे मेवे और मिठाइयाँ रख देती। उससे इनकार करते न बनता। वह देखता, माता उसके लिए कभी कुछ पका रही है, कभी कुछ और उसे खिला कर कितनी प्रसन्न होती है, तो उसके हृदय में श्रद्धा की एक लहर सी उठने लगती। . . इस मातृस्नेह से उसे तृप्ति ही न होती थी।''

अमरकान्त मातृस्नेह का भूखा था। उसे वह सास से मिल जाता है, तो उसके जीवन में सास के विचारों के अनुरूप परिवर्तन हो जाता है। वह अपने जीवन के सिद्धान्तो का परित्याग कर देता है। यह दूसरी बात है कि यह परिवर्तन श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता—'अमरकान्त के कोष में वह स्नेह आया, तो उसकी वह कृपणता जाती रही। सुखदा (पत्नी) उसके समीप आने लगी। उसकी विलासिता से अब उसे उतना भय न रहा। . रेणुका दसवें-पाँचवें उसे दस-बीस रुपए जरूर दे देतीं। उसके सप्रेम आग्रह के सामने अमरकान्त की एक न चलती। उसके लिए नए नए सूट बने, नए-नए जूते आए,

---

१ कर्मभूमि पृष्ठ ६२

२. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ १३७

३ कर्मभूमि, पृष्ठ २१

मोटर साइकिल आई, सजावट के सामान आए। पाँच ही छ महीने में वह विलासिता का द्रोही, वह सरल जीवन का उपासक, अच्छा खासा रईसजादा बन बैठा, रईसजादों के भावों और विचारों से भरा हुआ, उतना ही निर्द्वन्द्व और स्वार्थी।''[1]

'प्रेरणा' कहानी में मोहन को भी ऐसा ही स्नेह मिलता है, तो उसके जीवन में बहुत बड़ा परिवर्त्तन होता है। उसे अपने फुफेरे भाई (सूर्यप्रकाश) से माँ का सा स्नेह मिलता है। मातृहीन मोहन के प्रति अपने स्नेह के विषय में सूर्यप्रकाश कहता है, "उसकी उम्र आठ नौ साल से ज्यादा न थी। उसकी माँ कई साल पहले मर चुकी थी। इतना दुबला पतला, कमजोर और गरीब लड़का था कि पहले ही दिन से मुझे उस पर दया आने लगी। कभी उसके सिर में दर्द होता, कभी ज्वर हो आता। आए दिन कोई न कोई बीमारी खड़ी रहती थी। इधर साँझ हुई और उसे झपकियाँ आने लगीं। बड़ी मुश्किल से भोजन करने उठता। रात को बहुधा चौंक कर मेरी चारपाई पर आ जाता और मेरे गले से लिपट कर सोता। मुझे उस पर कभी क्रोध न आता। कह नहीं सकता, क्यों, मुझे उससे प्रेम हो गया।'[2] सूर्यप्रकाश ने मोहन को जरा प्रेम दिया, उसके सुख दु ख, हानि-लाभ का खयाल करने लगा, फिर तो वह इस प्रकार उससे चिपट जाता है, जैसे वही उसके जीवन का आधार हो। वह उसे एक क्षण के लिए भी न छोड़ता था। उसी के साथ बैठता, उसी के साथ खाता और उसी के साथ सोता। वह जो कुछ कहता, कष्ट सह कर भी उस कार्य को अवश्य पूरा करता। इसका परिणाम यह हुआ कि वह साल ही भर में बिलकुल दूसरा बालक हो जाता है—स्वस्थ, चरित्रवान और अध्ययनशील। उसके इस प्रकार अपने से चिपट जाने का सूर्यप्रकाश विश्लेषण करता है, "बच्चों में प्यार की जो एक भूख होती है—दूध, मिठाई और खिलौनों से भी ज्यादा मादक—जो माँ की गोद के सामने ससार की निधि की भी परवाह नहीं करती, मोहन की वह भूख सन्तुष्ट न होती थी। पहाड़ों से टकराने वाली सारस की आवाज की तरह वह सदैव उसकी नसों में गूँजा करती थी। जैसे भूमि पर फैली हुई लता कोई सहारा पाते ही उससे चिपट जाती है, वही हाल मोहन का था। वह मुझसे ऐसा चिपट गया था कि पृथक् किया जाता, तो उसकी कोमल बेल के टुकड़े टुकड़े हो जाते।''[3]

और, यही हुआ। सूर्यप्रकाश जब उसे छोड़ कर कश्मीर यात्रा को चला जाता है, तो वह बीमार पड़ जाता है और उसकी मृत्यु भी हो जाती है।

इस प्रकार नारी के मातृ रूप के वर्णन में प्रेमचन्द ने उसके सूक्ष्मतम विस्तार को देने का प्रयत्न किया है। उन्होंने गर्भ धारण की प्रारम्भिक अवस्था से ले कर माँ और सन्तान के सम्बन्धों की अनगिनत झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। जहाँ उन्होंने नारी के सन्तान के मगलमय कल्याण में अनुरक्त हृदय, उसके त्याग, वात्सल्य और सेवा तथा आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा का श्रद्धा भाव से चित्रण किया है, वहाँ माता के आदर और स्वाभिमान

---

१ कर्मभूमि पृष्ठ २५

२ मानसरोवर भाग ४, पृष्ठ १३

३ मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ १५

रक्षा पर भी बल दिया है। उन्हें माता का अनादर और उपेक्षा करनेवाले कुपुत्रों पर ही नहीं, ऐसे पुत्र पर स्नेह लुटानेवाली माताओं पर भी क्रोध आता था। स्त्रियों के ऐसे आत्माभिमान की वाञ्छनीयता के समर्थक होने के कारण, उन्होंने निम्नस्थान स्त्रियों के दयनीय रूपों को चित्रित नहीं किया है।

स्त्रीत्व की चरम परिणति मातृत्व में है अवश्य, और यह भी ठीक है कि स्त्री के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास माता बन कर ही होता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि मातृत्व के ऊँचे पद पर नारी अपनी सन्तान की कृपा से टिकी रहे। सन्तानहीन स्त्री दूसरों के बच्चों को प्यार करके भी मातृत्व का सुख पा सकती है, बल्कि एक कदम और बढ़ा कर, प्रेमचन्द, सच्चे अर्थों में उसी नारी को माता समझते हैं, जो दूसरों के बच्चों को भी मातृ-भाव से देखती है। यदि उसके सत्प्रयत्नों से किसी के बच्चे का उपकार हो जाए, किसी अनाथ को मातृप्रेम मिल जाए, तो यह उसके लिए किसी 'महातीर्थ' से कम नहीं।

•

• ७ :

नारी और प्रेम

प्रत्येक मनुष्य में स्नेह के लिए स्वाभाविक आकांक्षा होती है। बाल्यावस्था में इस आकांक्षा की पूर्ति माता पिता तथा भाई बन्धुओं के बीच होती है। युवावस्था में यही आकांक्षा किसी एक के हो जाने और उसे अपना बना लेने की प्रवृत्ति में परिवर्त्तित हो जाती है। स्त्री और पुरुष के इसी पारस्परिक स्नेह को 'प्रेम' की संज्ञा दी जाती है। प्रेम एक ऐसा व्यापक और मधुर विषय है, जो आदिकाल से कवियों और रचनाकारों का आकर्षण केन्द्र रहा है। सभी देशों में, सभी भाषाओं में, अगणित कवियों और लेखकों ने स्त्री पुरुष के प्रेम का चित्रण किया है।

प्रेमचन्द के अनुसार 'प्रेम' दया, वात्सल्य, सहृदयता, क्षमा, कोमलता, त्याग, सेवा, श्रद्धा आदि सभी उच्च भावनाओं का सम्मिश्रण है। उनकी दृष्टि में सच्चा प्रेम वासना रहित, विशुद्ध एवं आदर्श होता है, इसीलिए वह कर्त्तव्य पर अवलम्बित होता है। जिस प्रेम में कर्त्तव्य के स्थान पर वासना, सचाई की जगह कपट, त्याग और क्षमा के स्थान पर ईर्ष्या और प्रतिशोध होते हैं, वह प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं कहा जा सकता। निस्वार्थ प्रेम ही सच्चा और स्थायी होता है, वह विपत्ति की कसौटी पर कसे जाने और दुःखाग्नि में तपाए जाने पर और निखरता है। वासनामूलक प्रेम यथार्थ की हलकी आँच भी नहीं सह सकता और अपना वास्तविक रूप प्रकट कर देता है।

प्रेम को सभी उदात्त भावों का सम्मिश्रण मानते हुए, प्रेम के उदय के लिए प्रेमचन्द किसी एक उदात्त भाव को भी पर्याप्त मानते हैं, किन्तु उसका पूर्ण विकास अन्य सभी भावों के मिलने से ही वे सम्भव समझते हैं। 'कायाकल्प' उपन्यास में अहल्या प्रेम की व्याख्या करती हुई अपने प्रेमी और भावी पति चक्रधर से कहती है, "प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शान्त, स्थिर, उद्गारहीन समावेश है। उसमें दया और क्षमा, श्रद्धा और वात्सल्य, सहानुभूति और सम्मान, अनुराग और विराग, अनुग्रह और उपकार सभी मिले होते हैं। सम्भव है, आज के दस वर्ष बाद मैं आपकी प्रेम पात्री बन जाऊँ, किन्तु इतनी जल्द सम्भव नहीं। इनमें से कोई एक भाव प्रेम को अंकुरित कर सकता है, उसका विकास अन्य भावों के मिलने ही से होता है।"[1]

इन भावों में सम्मान और भक्ति के भाव प्रेम के निकटतम हैं। आगे अहल्या चक्रधर से कहती है, "आपके हृदय में अभी केवल दया का भाव अंकुरित हुआ है, मेरे हृदय में सम्मान और भक्ति का। हाँ, सम्मान और भक्ति दया की अपेक्षा प्रेम से कहीं निकटतर हैं, बल्कि यों कहिए कि ये ही भाव सरस हो कर प्रेम का बाल रूप धारण कर

१. कायाकल्प, पृष्ठ २०८

लेते हैं।"[1] 'रगभूमि' उपन्यास में सोफिया प्रभुसेवक से कहती है, "प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है और उनमें केवल मात्रा का भेद है। भक्ति में सम्मान का और प्रेम में सेवा भाव का आधिक्य रहता है।"[2]

प्रेमचन्द की नारी पुरुष की ओर साधारणत उसके सद्‌गुणों के कारण आकृष्ट होती है अथवा यों कहे कि अपने अन्दर उमडने घुमडने वाले सद्‌भावों को पुरुष में देख कर अपना प्रेम, अपना हृदय, अपनी सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति उस योग्य पुरुष को सौंप देती है। इस प्रकार पहले वह पुरुष की भक्ति करती है, उसका सम्मान करती है, बाद में यदि परिस्थितियाँ अनुकूल रहती हैं, तो यह भक्ति प्रेम का रूप धारण करती है।

'वरदान' उपन्यास में माधवी का प्रताप के प्रति प्रेम वृजरानी के मुख से उसके सद्‌गुणों की प्रशसा सुनते-सुनते होता है—'विरजन ने प्रतापचन्द्र के प्रशसनीय गुणों का चित्र माधवी के हृदय पर खीचना आरम्भ कर दिया था, जिससे कि उसका रोम रोम प्रताप के प्रेम में पग जाए। वह जब प्रतापचन्द्र का वर्णन करने लगती, तो स्वत उसके शब्द असामान्य रीति से मधुर और सरस हो जाते। शनै शनै माधवी का कोमल हृदय प्रेमरस का आस्वादन करने लगा।"[3]

'रगभूमि' उपन्यास में सोफिया और विनय के प्रेम का प्रारम्भ श्रद्धा से ही होता है। विनय को बचाने के प्रयास में सोफिया स्वय जल गई थी। विनय के माता पिता ने उसकी सेवा-सुश्रूषा की थी। उस समय से सोफिया विनय के घर ही है। यद्यपि दोनों में बातचीत का अवसर कभी नही आया था, किन्तु विनय की माता (रानी जाह्नवी) से सोफी ने विनय के त्याग, सेवा भाव, कर्मठता आदि सद्‌गुणों की चर्चा सुन रखी थी। सोफी का भाई (प्रभुसेवक) कवि है और उसने विनय से मित्रता कर ली है। एक दिन उसकी एक कविता पर दोनों मित्रों में कुछ बहस हो जाती है, तो निर्णय के लिए प्रभुसेवक सोफिया को बुलाने आता है। विनय के साथ सोफी का प्रथम साक्षात्कार विनय के कमरे में ही होता है। वह उसके त्यागमय जीवन को देख कर प्रभावित होती है—

'एक दिन, तीसरे पहर, वह (सोफिया) अपने कमरे में बैठी हुई कुछ पढ रही थी। गरमी इतनी सख्त थी कि बिजली के पखे और खस की टट्टियों के होते हुए भी शरीर से पसीना निकल रहा था। बाहर लू से देह भुलसी जाती थी। सहसा प्रभुसेवक आ कर बोले, "सोफी, जरा चल कर एक झगडे का निर्णय कर दो। मैंने एक कविता लिखी है, विनय सिंह को उसके विषय में कई शकाएँ हैं। मैं कुछ कहता हूँ, वह कुछ कहते हैं, फैसला तुम्हारे ऊपर छोडा गया है। जरा चलो।" ..

'सोफी आँगन में निकली, तो ज्वाला-सी देह में लगी। जल्दी-जल्दी पग उठाते हुए विनय के कमरे में आई, जो राजभवन के दूसरे भाग में था। आज तक वह वहाँ कभी न आई थी। कमरे में कोई सामान न था। केवल एक कम्बल बिछा हुआ था और जमीन

१ कायाकल्प पृष्ठ २०८
२. रगभूमि, भाग १, पृष्ठ ११८
३ वरदान, पृष्ठ १३३

ही पर दस पाँच पुस्तकें रखी हुई थीं। न पंखा, न खस की टट्टी, न परदे, न तसवीरें। पछुआ सीधे कमरे में आती थी। कमरे की दीवारें जलते तवे की भाँति तप रही थीं। वहीं विनय कम्बल पर सिर झुकाए बैठे हुए थे। सोफी को देखते ही वह उठ खड़े हुए और उसके लिए कुर्सी लाने दौड़े। सोफी सकोच और लज्जा से गड़ी जा रही थी। विनय की ऐसी दशा हो रही थी, मानों पानी में भीग रहे हैं। सोफी मन में कहती थी—कैसा आदर्श जीवन है। विनय मन में कहते थे—कितना अनुपम सौन्दर्य है। दोनों अपनी अपनी जगह खड़े रहे।"

यहीं विनय सिंह प्रभुसेवक पर, सोफिया के प्रति अपना प्रेम प्रकट कर देते हैं। प्रभुसेवक सोफिया से कह देता है। सोफिया स्वय आदर्श जीवन की उपासिका है, अत यह समाचार पा कर फूली नहीं समाती—ऐसा देव पुरुष उसे अपने प्रेम के योग्य समझे, यह उसके लिए गर्व की बात है। वह प्रभुसेवक से कहती है, "वह मुझे अपने प्रेम के योग्य समझते हैं, यह मेरे लिए गौरव की बात है। ऐसे साधु प्रकृति, ऐसे त्याग मूर्ति, ऐसे सदुत्साही पुरुष की प्रेम पात्री बनने में कोई लज्जा नहीं। अगर प्रेम प्रसाद पा कर किसी युवती को गर्व होना चाहिए, तो वह युवती मैं हूँ।"[२]

'कायाकल्प' उपन्यास में मनोरमा अपने शिक्षक (चक्रधर) की, उसके सादे जीवन और उच्च विचार, उसके आदर्श, त्याग, सेवाशीलता और न्यायप्रियता के कारण भक्ति करती है। मनोरमा के मन में वाल्मीकीय रामायण में वर्णित वनवास प्रसग के सम्बन्ध में एक शका थी, जिसका समाधान उसके परिवार का कोई व्यक्ति नहीं कर पाता था। चक्रधर, मनोरमा के विचारों के अनुसार, उसका समाधान कर देता है। उस दिन से मनोरमा चक्रधर से स्नेह करने लगती है। मनोरमा की शका है, "रामचन्द्र ने सीता को घर से निकाला, तो वह चली क्यों गई? अगर वह यह अन्याय न स्वीकार करतीं, तो क्या उन पर कोई आपत्ति हो सकती थी? यह तो मैं जानती हूँ कि स्त्री को पुरुष की आज्ञा माननी चाहिए। लेकिन, क्या सभी दशाओं में? जब राजा से साधारण प्रजा न्याय का दावा कर सकती है, तो क्या उसकी स्त्री नहीं कर सकती? जब रामचन्द्र ने सीता की परीक्षा ले ली थी और अन्त करण से उन्हें पवित्र भी समझते थे, तो केवल झूठी निन्दा से बचने के लिए उन्हें घर से निकाल देना कहाँ का न्याय था? .. मैं आपसे पूछती हूँ, आप रामचन्द्र की जगह होते, तो क्या आप भी सीता को घर से निकाल देते?"

चक्रधर, "नहीं, मैं तो शायद न निकालता।"

मनोरमा, "आप निन्दा की जरा भी परवा न करते?"

चक्रधर, "नहीं, मैं झूठी निन्दा की परवा न करता।"

मनोरमा की आँखें खुशी से चमक उठीं, प्रफुल्लित हो कर बोली, "यही बात मेरे भी मन में थी। मैंने दादाजी से, भाईजी से, पण्डितजी से, लौंगी अम्मा से, भाभी से यही

१ रगभूमि भाग १, पृष्ठ ११० १११

२ रगभूमि, भाग १, पृष्ठ १५७

शका की, पर सब लोग यही कहते थे कि रामचन्द्र तो भगवान हैं, उनके विषय में कोई शका हो ही नहीं सकती। आपने आज मेरे मन की बात कही। मै जानती थी कि आप यही जवाब देंगे। इसीलिए मैने आपसे पूछा था। अब मै उनलोगों को खूब आडे हाथों लूंगी।"

उस दिन से मनोरमा का चक्रधर से कुछ स्नेह हो गया।"[1]

अन्यत्र चक्रधर के यह कहने पर कि ऐश्वर्य पा कर मनोरमा उसे भूल जाएगी, मनोरमा कहती है, 'मै आपको भूल जाऊँगी? असम्भव है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि पूर्वजन्म में भी मेरा और आपका किसी-न किसी रूप में साथ था। पहले ही दिन से मुझे आपसे इतनी श्रद्धा हो गई, मानो पुराना परिचय हो। मै जब कभी कोई बात सोचती हूँ, तो आप उसमें अवश्य पहुँच जाते हैं। अगर ऐश्वर्य पा कर आपको भूल जाने की सम्भावना हो, तो मै उसकी ओर आँख उठा कर भी न देखूँगी।"[2]

अपने तिलकोत्सव के दिन राजा विशाल सिंह किसानों को भड़काने के अपराध में, चक्रधर पर बन्दूक के कुन्दे से वार करते हैं और उसे कैद भी करा देते हैं। मनोरमा दीवान की पुत्री है। जब उसे यह मालूम होता है, तो उसे राजा पर क्रोध आता है और वह सीधे राजमहल में जा कर राजा साहब से उनके अन्याय की बात कहती है। उसके उद्गारों में चक्रधर के प्रति उसकी भक्ति छिपी हुई है। वह राजा साहब से कहती है, "*आपने अपने तिलकोत्सव के दिन एक ऐसे प्राणी पर अत्याचार किया, जिस पर मेरी* असीम भक्ति है, जिसे मैं देवता समझती हूँ, जिसका हृदय कमल के जलसिंचित दल की भाँति पवित्र और कोमल है, जिसमें सन्यासियों का-सा त्याग और ऋषियों का सा सत्य है, जिसमें बालकों की-सी सरलता और योद्धाओं की सी वीरता है। जिस समय आपके ये निर्दय हाथ बाबू चक्रधर पर उठे, अगर उस समय मै वहाँ होती, तो कदाचित् कुन्दे का वह वार मेरी ही गर्दन पर पडता।"[3]

पूर्वोक्त उपन्यास की ही अहल्या का चक्रधर से परिचय अद्भुत रूप से होता है और वह उनकी 'भक्त' हो जाती है। अहल्या के पालक पिता चक्रधर को अपना दामाद बनाना चाहते हैं, अत वे अहल्या को दिखलाने के लिए उसे अपने घर (आगरा) ले जाते हैं। स्टेशन पर पहुँचते ही मालूम होता है कि हिन्दू मुस्लिम दगा हो गया है। मुसलमानों के द्वारा एक गाय काटी जाएगी। दोनों व्यक्ति पहले घटनास्थल पर ही पहुँचते हैं और चक्रधर के समझाने बुझाने, यहाँ तक कि गाय के पीछे स्वय कटने के लिए तैयार होने पर, मुसलमान भी उनके साहस के कायल हो जाते हैं और कुरबानी नहीं करते। अहल्या अपनी छत पर से यह दृश्य देखती है और उसे चक्रधर पर श्रद्धा हो जाती है। जब उसे पिता से ज्ञात होता है कि आज चक्रधर उसके घर के मेहमान हैं तो वह उनके लिए फूलों का एक

---

१ कायाकल्प पृष्ठ १० ११

२ कायाकल्प, पृष्ठ ६५

३ कायाकल्प, पृष्ठ १२२ १२३

सुन्दर हार गूँथती है। माला पहनने के बाद चक्रधर कहते हैं, "आपको मेरे कारण बड़ा कष्ट हुआ। मैं तो इस उपहार के योग्य न था।"

अहल्या, 'यह उपहार नहीं, भक्त की भेंट है।"

चक्रधर, "मेरा परम सौभाग्य है कि बैठे-बैठाए इस पद को पहुँच गया।"

अहल्या, "आपने आज इस शहर के हिन्दू मात्र की लाज रख ली।"[१]

रात में जब माता वागेश्वरी अहल्या से चक्रधर के विषय में सत्य बात कहती है और उससे विवाह की अनुमति चाहती है, तो कृतज्ञता के आवेश में वह कुछ बोल नहीं पाती—'अहल्या ने डबडबायी हुई आँखों से वागेश्वरी को देखा, पर मुँह से कुछ न बोली। कृतज्ञता शब्दों में आ कर शिष्टाचार का रूप धारण कर लेती है। उसका मौलिक रूप वही है, जो आँखों से बाहर निकलते हुए काँपता और लजाता है।'[२]

'कर्मभूमि' उपन्यास में मुस्लिम युवती सकीना भी अमर की साधु प्रकृति और दयालुता के कारण उस पर मुग्ध होती है। एक दिन जब अमर उसे गीले कपड़े पहने देख कर, उलटे पाँव लौट जाता है और उसके लिए चार साड़ियाँ ले आता है, तो वह अपनी श्रद्धा उस पर प्रकट कर ही देती है, "बाबूजी, आप नाहक साड़ियाँ लाए। अम्मा देखेंगी, तो जल उठेंगी। फिर शायद आपका यहाँ आना मुश्किल हो जाए। आपकी शराफत और हमदर्दी की जितनी तारीफ अम्मा करती थीं, उससे कहीं ज्यादा पाया। आप यहाँ ज्यादा आया भी न करें, नहीं ख्वामख्वाह लोगों को शुबहा होगा। मेरी वजह से आपके ऊपर कोई शुबहा करे, यह मैं नहीं चाहती।"[३] और जब अमर उससे प्रेम की भिक्षा माँगता है, तो 'सकीना जैसे घबड़ा गई। जहाँ उसने एक चुटकी आटे का सवाल किया था, वहाँ दाता ने ज्योनार का एक भरा थाल ले कर उसके सामने रख दिया। उसके छोटे से पात्र में इतनी जगह कहाँ है? उसकी समझ में नहीं आता कि उस विभूति को कैसे समेटे। अंचल और दामन सब कुछ भर जाने पर भी तो वह उसे समेट न सकेगी। आँखें सजल हो गईं, हृदय उछलने लगा। सिर झुका कर सकोच से बोली, "बाबूजी, खुदा जानता है, मेरे दिल में तुम्हारी कितनी इज्जत और कितनी मुहब्बत है। मैं तो तुम्हारी एक निगाह पर कुरबान हो जाती। तुमने तो भिखारिन को जैसे तीनों लोक का राज्य दे दिया, लेकिन भिखारिन राज ले कर क्या करेगी? उसे तो टुकड़ा चाहिए। मुझे तुमने इस लायक समझा, यही मेरे लिए बहुत है।"[४]

अमर जब अपने प्रेम का विश्वास दिलाने के लिए छुरी निकाल कर रक्त की बूँदों का प्रमाण देना चाहता है, तो उस समय भी सकीना अपनी श्रद्धा और भक्तिपूर्ण बातें करती हुई उसे रोकती है, "सबूत की जरूरत उन्हें होती है, जिन्हें यकीन न हो, जो कुछ बदले में चाहते हों। मैं तो सिर्फ तुम्हारी पूजा करना चाहती हूँ। देवता मुँह से कुछ नहीं

---

१ कायाकल्प, पृष्ठ ३६

२ कायाकल्प, पृष्ठ ३७

३. कर्मभूमि पृष्ठ ६०

४. कर्मभूमि, पृष्ठ ६६-१००

बोलता, तो क्या पुजारी के दिल में उसकी भक्ति कुछ कम होती है? मुहब्बत खुद अपना इनाम है। नहीं जानती, जिन्दगी किस तरफ जाएगी लेकिन जो कुछ भी हो, जिस्म चाहे किसी की हो जाए, यह दिल हमेशा तुम्हारा रहेगा।"[१]

पूर्वोक्त उपन्यास की ही नैना पहले डॉ॰ शान्तिकुमार की भक्ति करती है। ठाकुरद्वारे में एक बार भगवान की कथा होती है और भक्तगण सुनने आते हैं। नैना भी सुखदा के साथ कथा सुनने जाती है। कुछ चमार और पासी भी एकदम पीछे, मन्दिर के दरवाजे पर, जूतों के पास बैठ कर कथा सुनते हैं। एक दिन भक्तगण उन्हें वहाँ देख कर उन पर टूट पड़ते हैं, जूतों से पीटते हैं। डॉ॰ शान्तिकुमार भी, जो युनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं, वहीं हैं। उन्हें यह अन्याय प्रतीत होता है। वे जो घी में चरबी मिला कर बेचते हैं, डेनी मारते हैं, रिश्वतें खाते हैं, धोखा देते हैं, शास्त्र का पैरों से ठुकराते हैं, सीधे सादे, मेहनत की कमाई खाने वाले, भंगी और चमारों को धर्मद्रोही कह कर उन पर हाथ उठाएँ। यह उनकी न्याय वृत्ति को उत्तेजित करने के लिए पर्याप्त था। वे अन्त्यजों का पक्ष लेते हैं और अपने साथियों के साथ वहाँ से चले जाते हैं। डा॰ शान्तिकुमार के इस कार्य से नैना उनकी भक्ति करने लगती है—'नैना को भी धर्म के पाखण्ड से चिढ़ थी। अमरकान्त (भाई) उससे इस विषय पर अक्सर बातें किया करता था। अछूतों पर यह अत्याचार देख कर उसका खून भी खौल उठा था। . इसलिए जब शान्तिकुमार ने तिलकधारियों का आड़े हाथों लिया, तो उसकी आत्मा जैसे मुग्ध हो कर उनके चरणों पर लोटने लगी। अमरकान्त से उनका बखान कितनी ही बार सुन चुकी थी। इस समय उनके प्रति उसके मन में ऐसी श्रद्धा उठी कि जा कर उनसे कहे—तुम धर्म के सच्चे देवता हो, तुम्हें नमस्कार करती हूँ। अपने आसपास के आदमियों को क्रोधित देख देख कर उसे भय हो रहा था कि कहीं यह लोग उन पर टूट न पड़ें। उसके जी में आता था, जा कर डाक्टर के पास खड़ी हो जाए और उनकी रक्षा करे। जब वह बहुत से आदमियों के साथ चले गए, तो उसका चित्त शान्त हो गया।'[२]

दूसरे दिन डाक्टर साहब अन्त्यजों की एक सभा करते हैं, घरवालों से छिप कर नैना भी सभा स्थल पर पहुँचती है। सभा में एकत्रित व्यक्तियों को ले कर डॉ॰ शान्तिकुमार मन्दिर प्रवेश करना चाहते हैं। फलतः पण्डों की मार से वे घायल हो जाते हैं। उन्हें अस्पताल में भरती कर दिया जाता है। नैना उस रात सोती नहीं, सुबह होते ही पिता से बहाना करके, डॉ॰ शान्तिकुमार को देखने वह अस्पताल चली जाती है। डॉ॰ शान्तिकुमार अस्पताल में महीनों रहते हैं और वह उन्हें नित्य प्रति देखने जाती है। डाक्टर साहब भी उससे प्रेम करने लगते हैं—'नैना जो एक क्षण के लिए उनका हाल पूछने आ जाती थी, इसमें उन्हें न जाने क्यों एक प्रकार की स्फूर्ति का अनुभव होता था। वह जब तक रहती थी, उनकी व्यथा जाने कहाँ छिप जाती थी। उसके जाते ही फिर वही कराहना, वही बेचैनी।

---

१. कर्मभूमि, पृष्ठ १०१

२. कर्मभूमि, पृष्ठ २०२

उनकी समझ में कदाचित् यह नैना का सरल अनुराग ही था, जिसने उन्हे मौत के मुँह से निकाल लिया।''[1]

'गोदान' उपन्यास की मालती, जो इगलैण्ड से डाक्टरी पढ़ आई है, मेहता की ओर आकृष्ट होती है, तो इसलिए कि वे उसे अपने परिचितों में सर्वाधिक विशिष्ट व्यक्तित्वसम्पन्न जान पड़ते हैं। वे चरित्रवान्, सहृदय, निष्कपट और विचारशील विद्वान हैं। उनके ये गुण मालती को उनके प्रति उसी प्रकार भक्तिपूर्ण बना देते हैं, जिस प्रकार एक 'शिष्य' अपने आदर्श 'गुरु' के प्रति बन जाता है। शिकार वाले दिन जब मालती उनके साथ शिकार खेलने जाती है, तो उनके साथ सम्भाषण में उसे बिलकुल नया आनन्द आता है। मेहता, जब तक कोई शिकार न मिल जाए, मालती के हाव भाव, मुस्कान या मधुर बातों पर ध्यान तक नहीं देते। मालती का जीवन अब तक रसिकों के बीच में ही बीता था, जिन्हे वह अपने चातुर्य से हमेशा मूर्ख बनाया करती थी। मेहता का यह चारित्रिक बल उसे मुग्ध कर देता है—'आज के सम्भाषण में उसे एक *ऐसा आनन्द आ रहा था, जो उसके लिए बिलकुल नया था।* उसने कितने ही विद्वानों और नेताओं को एक मुस्कान में, एक चितवन में, एक रसीले वाक्य में उल्लू बना कर छोड़ दिया था। ऐसी बालू की दीवार पर वह जीवन का आधार नहीं रख सकती थी। *आज उसे वह कठोर, ठोस, पत्थर सी भूमि मिल गई थी,* जो फावड़ों से चिनगारियाँ निकाल रही थी और उसकी कठोरता उसे उत्तरोत्तर मोहे लेती थी।'[2]

बाद में मेहता के प्रति मालती के प्रेम का, विश्लेषण करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं—'मेहता को जब से उसने पहली बार देखा था, तभी से उसका मन उनकी ओर झुका था। उसे वह अपने परिचितों में सबसे समर्थ जान पड़े। उसके परिष्कृत जीवन में बुद्धि की प्रखरता और विचारों की दृढता ही सबसे ऊँची वस्तु थी। धन और ऐश्वर्य को तो वह केवल खिलौना समझती थी, जिसे खेल कर लडके तोड फोड डालते हैं। रूप में भी अब उसके लिए विशेष आकर्षण न था, यद्यपि कुरूपता के लिए घृणा थी। उसको तो अब बुद्धि शक्ति ही अपनी ओर झुका सकती थी, जिसके आश्रय में उसमें आत्मविश्वास जगे, अपने विकास की प्रेरणा मिले, अपने में शक्ति का सचार हो, अपने जीवन की सार्थकता का ज्ञान हो। मेहता के बुद्धि बल और तेजस्विता ने उसके ऊपर अपनी मुहर लगा दी।''[3]

प्रेमचन्द ने अन्य भावों से भी स्त्री में प्रेम की उत्पत्ति दिखाई है। पुरुष की उपकार और सेवा की भावनाएँ स्त्री के मन में उसके प्रति प्रेम उत्पन्न करती हैं। 'वरदान' उपन्यास की वृजरानी प्रताप से प्रेम करती है, किन्तु उसका विवाह कमलाचरण से होता है। अतः, प्रताप की स्मृति के कारण वह पति को अपना प्रेम सम्पूर्णतः नहीं दे पाती। एक बार जब प्रताप उसके द्वार तक आ कर उससे मिले बिना लौट जाता है, तो वह इस चिन्ता में बीमार पड़ जाती है कि प्रताप उससे मिला क्यों नहीं। उसकी अवस्था मरणासन्न

१. कर्मभूमि, पृष्ठ २१८
२. गोदान, पृष्ठ १०३
३ गोदान, पृष्ठ ४०६-४१०

हो जाती है और जब प्रताप तार द्वारा समाचार पा कर उससे मिलने आता है, तभी वह अच्छी होती है। स्वस्थ होने पर वह इस तथ्य से परिचित होती है कि बीमारी में कमलाचरण ने उसकी कितनी सेवा की थी और विरजन का उसके प्रति सच्चा प्रेम उत्पन्न होता है—'जब तक वह (वृजरानी) स्वयं अपने कष्ट में मग्न थी, कमलाचरण की व्याकुलता और कष्टों का अनुभव न कर सकती थी। निस्सन्देह वह उसकी खातिरदारी में कोई अंश शेष न रखती थी, परन्तु यह व्यवहार पालन के विचार से होती थी न कि सच्चे प्रेम से। परन्तु जब उसके हृदय से वह व्यथा मिट गई, तो उसे कमला का परिश्रम और उद्योग स्मरण हुआ और यह चिन्ता हुई कि इस अपार उपकार का क्या प्रतिउत्तर दूँ? मेरा धर्म था कि सेवा सत्कार से उन्हें सुख देती, पर सुख देना कैसा, उलटे उनके प्राण ही की गाहक हुई हूँ। वे तो ऐसे सच्चे दिल से मेरा प्रेम करें और मैं अपना कर्त्तव्य भी न पालन कर सकूँ। ईश्वर को क्या मुँह दिखाऊँगी?' यहाँ प्रेमचन्द अपनी ओर से कहते हैं—'सच्चे प्रेम का कमल बहुधा कृपा के प्रभाव से खिल जाया करता है। जहाँ रूप, यौवन, सम्पत्ति और प्रभुता तथा स्वाभाविक सौजन्य प्रेम का बीज बोने में अकृतकार्य रहते हैं, वहाँ प्रायः उपकार का जादू चल जाता है। कोई हृदय ऐसा वज्र और कठोर नहीं हो सकता, जो सत्य सेवा से द्रवीभूत न हो जाए।'[१]

विश्वास से भी प्रेम उत्पन्न होता है। किसी स्त्री के प्रति यदि पुरुष विश्वास रखे, तो वह स्त्री का प्रेम पा सकता है। पत्रिकाएँ भी इसका अनुकूल जवाब देती हैं। 'विश्वास' कहानी की विलासिनी मिस जोशी 'बम्बई के सभ्य-समाज की राधिका' है। प्रान्त के गवर्नर मिस्टर जौहरी से उसका प्रेम लोकप्रसिद्ध है। एक सभा में भाषण करते हुए समाज-सेवक आप्टे को गिरफ्तार कर लिया जाता है। मिस्टर जौहरी उसे राजद्रोह के अपराध में कठोर दण्ड देना चाहता है, किन्तु इसमें सरकार की बदनामी होगी, ऐसा सोच कर मिस जोशी मिस्टर आप्टे का भेद ले कर उसे षड्यन्त्रकारियों का नेता सिद्ध करना चाहती है। मिस्टर जौहरी की आज्ञा से आप्टे छोड़ दिया जाता है और मिस जोशी उसके पास अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए जाती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि आप्टे ने अपने भाषण में मिस जोशी के दूषित चरित्र पर भी आक्षेप किया था। मिस जोशी उससे कहती है, "मेरे प्रति तुम्हारी धारणा निर्मूल है, अतः मेरा कलंक मिटा दो।" आप्टे इसे स्वीकार कर लेता है कि वह समाचारपत्रों में खेद प्रकट करके मिस जोशी से क्षमा माँग लेगा। मिस जोशी पर मिस्टर आप्टे के इस विश्वास का अत्यन्त प्रभाव पड़ता है और वह आप्टे से प्रेम करने लगती है—'मिस जोशी को अब तक अधिकांश स्वार्थी आदमियों ही से साबका पड़ा था, जिनके चिकने-चुपड़े शब्दों में मतलब छिपा होता था। आप्टे के सरल विश्वास पर उसका चित्त आनन्द से गद्गद् हो गया। शायद वह गंगा में खड़ी हो कर अपने अन्य मित्रों से यह बात कहती, तो उसके फैशनेबुल मिलने वालों में से किसी को उस पर विश्वास न आता। सब मुँह के सामने तो हाँ हाँ करते, पर बाहर निकलते ही उसका मजाक उड़ाना शुरू करते। उन कपटी मित्रों के सम्मुख यह आदमी था, जिसके

१ वरदान, पृष्ठ ८२

एक एक शब्द में सचाई झलक रही थी, जिसके शब्द उसके अन्तस्तल से निकलते हुए मालूम होते थे।''

'गबन' उपन्यास का रमानाथ एक डाके के झूठे मुकदमे में सरकारी मुखबिर है और 'जोहरा' नाम की वेश्या उसके मनबहलाव के लिए नियुक्त की गई है। रमानाथ अपनी पत्नी (जालपा) की इच्छा के विरुद्ध सरकारी मुखबिर बना हुआ था। जालपा पति को उसके हाल पर छोड़ कर स्वयं उस मुकदमे से सबसे ज्यादा पीड़ित व्यक्ति के परिवार की सेवा करती है—उसके बर्तन साफ करती है, उसके लिए गंगाजल लाती है। एक दिन रमानाथ मोटर पर सैर करते हुए जालपा को गंगाजल लाते हुए देख लेता है और मलिनवसना, दुखिनी जालपा की वह मूर्ति उसकी आँखों के सामने से नहीं हटती। उसे उदास देख कर जोहरा उसकी कुशल पूछती है, तो वह उसे अपनी सारी कठिनाइयाँ कह सुनाता है और उससे मदद माँगता है। जोहरा वेश्या है और उसके पास सभी मनोरञ्जन के लिए आते थे, आज तक किसी व्यक्ति ने उससे अपने हृदय की व्यथा नहीं कही थी। वह अपने प्रति रमानाथ का यह विश्वास और प्रेम देख कर पुलकित हो जाती है—'जोहरा वेश्या थी, उसको अच्छे बुरे सभी तरह के आदमियों से साबका पड़ चुका था। उसकी आँखों में आदमियों की परख थी। उसको इस परदेशी युवक (रमानाथ) और अन्य व्यक्तियों में एक बड़ा फर्क दिखाई देता था। पहले वह यहाँ भी पैसे की गुलाम बन कर आई थी, लेकिन दो चार दिन के बाद ही उसका मन रमा की ओर आकर्षित होने लगा। प्रौढ़ा स्त्रियाँ अनुराग की अवहेलना नहीं कर सकतीं। रमा में और सब दोष हों, पर अनुराग था। इस जीवन में जोहरा को यह पहला आदमी ऐसा मिला था, जिसने उसके सामने अपना हृदय खोल कर रख दिया, जिसमें उसमें कोई परदा नहीं रखा।'[2] रमानाथ का प्रेम पा कर जोहरा वेश्या वृत्ति छोड़ देती है।

प्रेम 'प्रेम' से भी उत्पन्न होता है। जो किसी को सच्चे हृदय से चाहता है, उससे उसका प्रेम पात्र विमुख नहीं रह सकता। 'आभूषण' कहानी में प्रेमचन्द एक प्रसंग में कहते हैं—'जो अपने को चाहे, उससे हम विमुख नहीं हो सकते। प्रेम की शक्ति अपार है।''[3] प्रेम का अर्थ है, सेवा, त्याग और आत्मसमर्पण। 'गोदान' उपन्यास की मालती मेहता से कहती है, "अगर कोई स्त्री आपके पास बार-बार किसी न किसी बहाने से आवे, आपको अपना देवता समझे, हर एक बात में आप से सलाह ले, आपके चरणों के नीचे आँखें बिछाए, आपका इशारा पाते ही आग में कूदने को तैयार हो, तो मैं दावे से कह सकती हूँ, आप उसकी उपेक्षा न करेंगे, अगर आप उसे ठुकरा सकते हैं तो आप मनुष्य नहीं हैं।... मैं तो कहती हूँ, उपेक्षा तो दूर रही, ठुकराने की तो बात ही क्या, आप उस नारी के चरण धो धोकर पिएँगे और बहुत दिन गुजरने के पहले ही वह आपकी हृदयेश्वरी होगी।"[4]

१ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ १२
२ गबन, पृष्ठ २६६ ३००
३ मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १४५
४ गोदान, पृष्ठ २१६

'वरदान' उपन्यास की वृजरानी, जो प्रताप से प्रेम करती है, विवाह के बाद अपने प्रति कमलाचरण (पति) के प्रेम के कारण ही उससे प्रेम करने लगती है—'सम्भव न था कि वृजरानी के मुख से कोई वाक्य निकले और कमलाचरण उसको पूरा न करे। अब उसकी तत्परता और योग्यता उन्हीं प्रयत्नों में व्यय होती थी। ...वह सदा रुख देखा करता। और इस आशा पर कि यह काम उसकी प्रसन्नता का कारण होगा, सब कुछ करने पर कटिबद्ध हो जाता। वृजरानी को फूलों से हार्दिक प्रेम था। .कमलाचरण के लिए इतना इशारा बहुत था। तन-मन से वाटिका को सुसज्जित करने पर उतारू हो गया। दो चतुर माली नौकर रख लिए। विविध प्रकार के सुन्दर-सुन्दर पुष्प और पौधे लगाए जाने लगे। ..केवल इसीलिए कि, विरजन प्रसन्न होगी। ऐसे स्नेह भक्त का जादू किस पर न चल जाएगा?'[1]

सच्चा प्रेम प्रेमी या प्रेमिका को सत्य, कर्त्तव्य, आत्मसमर्पण, सहृदयता, क्षमाशीलता, सेवा, त्याग आदि दिव्य गुणों की ओर अग्रसर करता है। प्रेम में मिथ्या, छल, द्वेष और हिंसा के लिए स्थान नहीं होता। दूसरे शब्दों में शुद्ध प्रेम में देवत्व होता है। जो प्रेम पशुत्व की ओर प्रेरित करता है, वह प्रेम का निकृष्टतम स्वरूप है।

सच्चा प्रेम कर्त्तव्य के लिए प्रेरित करता है, उसमें वासना नहीं होती। प्रेमचन्द की दृष्टि में वासनात्मक प्रेम—शारीरिक सुख भोग के लिए प्रेम—हेय है। उनके विचारों के अनुसार इन्द्रिय-सुख-भोग के इच्छुक प्रेमियों को चाहिए कि वे विवाह कर लें; क्योंकि भोग वैवाहिक जीवन में ही सम्भव है, समाज द्वारा स्वीकृत है। अर्थात् प्रेमचन्द किसी भी दृष्टि से उसी प्रेम को विशुद्ध मानते हैं, जिसे सामाजिक मान्यता भी मिल जाए। इसीलिए व प्रेम में कर्त्तव्य पर अत्यन्त बल देते हैं।

भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'प्रेमपथ'[2] नामक उपन्यास की भूमिका प्रेमचन्द ने लिखी है। इस उपन्यास में विधवा तारा अपने बहनोई (रमेश) से प्रेम करती है और उससे एकान्त में रात रात भर वार्तालाप करती है, वह उसका चुम्बन और आलिंगन करती है और फिर उसे विशुद्ध प्रेम समझती है। अपनी भूमिका में प्रेमचन्द तारा की इस प्रवृत्ति का घोर विरोध करते हैं और कामना करते हैं कि समाज में ऐसी 'अबोध' युवतियाँ जितनी कम हों, उतना ही अच्छा है। भूमिका का एक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'समाज का आधार मनुष्यकृत बन्धनों ही पर है। उन बन्धनों को हटा दीजिए और समाज का अस्तित्व मिट जाता है। विवाह भी तो एक कृत्रिम बन्धन ही है। बेटा बाप की जायदाद का वारिस होता है, यह भी तो एक कृत्रिम बन्धन ही है। इनमें कुछ बन्धन तो ऐसे हैं, जिनकी पहले चाहे कितनी जरूरत रही, अब बिलकुल नहीं रही। उनका टूट जाना ही अच्छा है। लेकिन कुछ बन्धन ऐसे हैं, जो समाज के स्तम्भ हैं, उनका टूट जाना कदापि वाञ्छनीय नहीं।

---

१. वरदान, पृष्ठ ८३

२. यह उपन्यास सन् १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ था।

'स्त्री और पुरुष में प्रेम हो जाना स्वाभाविक क्रिया है, लेकिन जिस प्रेम का अन्त विवाह नहीं हो, केवल वासना हो, वह कलुषित है, उसकी निन्दा होती है और होनी चाहिए, अन्यथा विवाह की मर्यादा भंग हो जाएगी। तारा और रमेश का प्रेम कलुषित है, लेकिन आश्चर्य है कि वह (तारा) इतने दिनों तक उसे निर्मल और निष्कलंक समझती रही। अगर विधवा साली का अपने जवान बहनोई के साथ एकान्त में रात रात भर बातें करना, चुम्बन और आलिंगन करने से भी न हिचकना, पवित्र प्रेम है, तो फिर संसार में अपवित्र प्रेम कहीं है ही नहीं। पवित्र प्रेम यह रूप नहीं धारण करता, यह तो वासना ही का रूप है। तारा अपने को बहुत दिनों तक धोखा देने के बाद अन्त में रमेश की कुचेष्टा देख कर एक दिन उसका तिरस्कार करती है और रमेश लज्जित हो कर उसके पैरों पर गिर पड़ता है। उसे ज्ञात होता है कि तारा उसके साथ सदैव निष्कपट और पवित्र व्यवहार करती रही। लेकिन, रमेश उसके मनोभावों को न समझ सका। इस भाँति कर्त्तव्य की, वासना पर विजय होती है। ठीक उस वक्त जब पाठक को मालूम होता है कि अब तारा का पतन हुआ चाहता है, एकाएक उसका विवेक जाग्रत हो जाता है और वह रमेश को फटकार बताती है।

मगर हम फिर भी यही कहेंगे कि यदि तारा ने समाज के बन्धनों की अवहेलना न की होती, तो शायद उसे यह तिरस्कार सुनाने की नौबत न आती। अगर वह इतने दिनों तक कलुषित वासना का परिचय न पा सकी—एक बार उसका प्रमाण मिलने पर भी नहीं समझी, तो हम यही कहेंगे कि वह जरूरत से ज्यादा अबोध है और ऐसी अबोध बालिकाएँ समाज में जितनी कम हों, उतना ही अच्छा।'[१]

प्रेमचन्द के कथा साहित्य में तारा-जैसी 'अबोध' बालिका एक भी नहीं मिलती। उन्होंने अपने वर्णनों में, अपने चरित्रों में, विशेषतः नारी चरित्रों में यह दृढ़ता दिखाई है कि विवाह के पूर्व वे भावात्मक प्रेम ही करती हैं, शारीरिक सम्बन्धों से कोसों दूर रहती हैं। दूसरे शब्दों में, वे प्रेम में अपने को भूल नहीं जातीं, सदैव मर्यादा का ध्यान रखती हैं।

'मर्यादा की वेदी' कहानी में झालावाड़ की राजकुमारी, और मन्दार राज्य के राजकुमार में प्रेम है और उनका विवाह भी होनेवाला है। किन्तु, विवाह के दिन चित्तौड़ के राणा (भोजराज) अपने चुने हुए सवारों के साथ आते हैं और सुन्दरी प्रभा को बलपूर्वक ले जाना चाहते हैं। प्रभा देखती है कि उसके पीछे उसकी मातृभूमि में खून की नदी बह जाएगी, अतः वह राणा के साथ चली जाती है। इस प्रकार संसार की दृष्टि में वह राणा की रानी बन जाती है, किन्तु मन्दार-कुमार के प्रति प्रेम और राणा के प्रति क्रोध के कारण वह राणा को स्वीकार नहीं करती। राणा उसे पाने के लिए विनय और प्रेम का सहारा लेते हैं, किन्तु वह नंगी तलवार बनी रहती है। वह मन्दार कुमार के पास भी नहीं जाना चाहती, क्योंकि संसार की दृष्टि में वह राणा की पत्नी है। उसका कहना है, अब वह पति का घर छोड़ कर कहीं जाने का अधिकार नहीं रखती। वह अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ है—'मैं रावसाहब की कन्या हूँ, पर संसार की दृष्टि में राणा की रानी हो चुकी।

१ भगवती प्रसाद वाजपेयी, 'प्रेमपथ', भूमिका, पृष्ठ ३-४

अब यदि मैं इस कैद से छूट भी जाऊँ, तो मेरे लिए कहाँ ठिकाना है? मैं कैसे मुँह दिखाऊँगी? इससे केवल मेरे वंश का ही नहीं, वरन् समस्त राजपूत जाति का नाम डूब जाएगा। मन्दार-कुमार मेरे सच्चे प्रेमी हैं। मगर, क्या वे मुझे अंगीकार करेंगे? और यदि वे निन्दा की परवाह न करके मुझे ग्रहण भी कर लें, तो उनका मस्तक सदा के लिए नीचा हो जाएगा और कभी-न-कभी उनका मन मेरी तरफ से फिर जाएगा। वे मुझे अपने कुल का कलंक समझने लगेंगे। या यहाँ से किसी तरह भाग जाऊँ? लेकिन, भाग कर जाऊँ कहाँ? बाप के घर? वहाँ अब मेरी पैठ नहीं। मन्दार कुमार के पास? इसमें उनका अपमान है और भय भी। तो क्या भिखारिणी बन जाऊँ? इसमें भी जगहँसाई होगी और न जानें प्रबल भावी किस मार्ग पर ले जाए। एक अबला स्त्री के लिए सुन्दरता प्राणघातक यन्त्र से कम नहीं। नहीं, मैं इस कैद में मर जाऊँगी। राणा के अन्याय सहूँगी, जलूँगी, मरूँगी, पर इसी घर में। विवाह जिससे होना था, हो चुका। हृदय में उसकी उपासना करूँगी, पर कण्ठ के बाहर उसका नाम न निकालूँगी।''[1] और इस आग में जलने की अपेक्षा, मृत्यु का आलिंगन करना श्रेयस्कर समझ कर, कटार से वह आत्महत्या करना चाहती है, किन्तु कटार हाथ से छूट कर गिर पडती है। प्रभा क्रुद्ध हो कर सोचती है—'मैं राजपूतनी हो कर मरने से डरती हूँ। मान मर्यादा खो कर बेहया लोग ही जिया करते हैं। वह कौन-सी आकांक्षा है, जिसने मेरी आत्मा को इतना निर्बल बना दिया है? क्या राणा की मीठी-मीठी बातें? राणा मेरे शत्रु हैं। हाय! निर्दयी ने मेरा जीवन नष्ट कर दिया और मुझे यों खिलाता है। क्या इसीलिए जीऊँ कि उसके कपट भावों का खिलौना बनूँ?

'फिर वह कौन सी अभिलाषा है? क्या राजकुमार का प्रेम? उनकी तो अब कल्पना ही मेरे लिए घोर पाप है। मैं अब उस देवता के योग्य नहीं हूँ। प्रियतम! बहुत दिन हुए, मैंने तुमको हृदय से निकाल दिया। तुम भी मुझे दिल से निकाल डालो। मृत्यु के सिवा अब कहीं मेरा ठिकाना नहीं है। शंकर मेरी निर्बल आत्मा को शक्ति प्रदान करो। मुझे कर्त्तव्य पालन का बल दो।'[2]

प्रभा अपने शोकातुर हृदय में कटार चुभाना ही चाहती है कि किसी के कदमों की आहट पा कर चौंक कर सहमी हुई दृष्टि से देखती है। मन्दार का राजकुमार धीरे धीरे पाँव दबाता हुआ कमरे में घुसता है। राजकुमार छिप कर उसे ले चलने के लिए आया था, किन्तु उससे प्रेम करने पर भी, अपने कर्त्तव्य का ध्यान में रख कर, प्रभा उसके साथ जाना स्वीकार नहीं करती। वह राजकुमार से कहती है, "जिस तरह यहाँ मैं अपना जीवन काट रही हूँ, वह मैं ही जानती हूँ, किन्तु लोक निन्दा भी तो कोई चीज है। संसार की दृष्टि में चित्तौड की रानी हो चुकी। अब राणा जिस भाँति रखें, उसी भाँति रहूँगी। मैं अन्त समय तक उनसे घृणा करूँगी, जलूँगी, कुढ़ूँगी। जब जलन न सही जाएगी, तो विष खा लूँगी या छाती में कटार मार कर मर जाऊँगी, लेकिन इसी भवन में। इस घर के बाहर

१ मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १०४
२. मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १११

कदापि पैर न रखूँगी। लोक लाज ने मुझे राणा की आज्ञाकारिणी बना दिया है। पतिव्रता की बेडी जबरदस्ती मेरे पैरों में डाल दी गई है। अब इसकी रक्षा करना मेरा धर्म है। इसके विपरीत और कुछ करना क्षत्राणियों के नाम को कलंकित करना है।"[१]

'धोखा' कहानी की प्रभा बघौली के राव देवीचन्द की इकलौती पुत्री है। रावसाहब उसका विवाह नौगढ के नवयुवक और सुशील राजा हरिश्चन्द्र से निश्चित करते हैं। राजा साहब कालेज में पढते हैं और नए विचारों के भक्त हैं। वे अपनी भावी पत्नी (प्रभा) से विवाह के पूर्व एक बार साक्षात्कार करने का अवसर माँगते हैं, किन्तु राव साहब इस प्रथा को दूषित समझते हैं, अत अस्वीकार कर देते हैं। युवक राजा को मालूम है कि प्रभा को गाने का शौक है। वे स्वय गायन विद्या के आचार्य हैं, अत वे योगी का वेश बना कर सूरदास का भजन 'कर गए थोड़े दिन की प्रीति' गाते हुए प्रभा के महल के पास से गुजरते हैं। प्रभा योगी को बुला कर, अपनी सहेली के साथ, भजन सुनती है और अपना हृदय उसके चरणों पर न्योछावर कर देती है। उस दिन से प्रति क्षण प्रभा को योगी की वही मोहिनी मूर्त्ति दिखाई पडती है और उसके कानों में सदा उसका वही मधुर राग गूँजा करता है, वह उसी के ध्यान में लीन रहती है। ज्यों ज्यों विवाह के दिन निकट आते जाते हैं, त्यों त्यों वह विरह वेदना से और इस विचार से कि वह अपने भावी पति के प्रति अन्याय कर रही है, अधिकाधिक व्याकुल होती है। वह हिन्दू कन्या है, इसलिए कुमारी नहीं रह सकती। वह आत्महत्या भी नही कर सकती, क्योंकि पिता को कष्ट होगा। परिणाम यह होता है कि वह स्वय कुढती और जलती है, किन्तु अपने धर्म से, अपने कर्त्तव्य से, अपनी मर्यादा से तनिक भी नही हटती। वह सोचती है—'यह मेरी क्या दशा है? मुझे यह क्या हो गया है? मैं हिन्दू कन्या हूँ, माता पिता जिसे सौंप दें, उसकी दासी बन कर रहना मेरा धर्म है। मुझे तन मन से उसकी सेवा करनी चाहिए। किसी अन्य पुरुष का ध्यान तक मन में लाना मेरे लिए पाप है। आह! यह कलुषित हृदय ले कर मैं किस मुँह से पति के पास जाऊँगी? प्यारे, तुम मेरे हृदय मन्दिर से निकल जाओ। यह स्थान तुम्हारे योग्य नहीं। मेरा वश होता, तो तुम्हें हृदय की सेज पर सुलाती, परन्तु मैं धर्म की रस्सियों में बँधी हूँ।

'इस तरह एक महीना बीत गया। ब्याह के दिन निकट आते जाते थे और प्रभा का कमल सा मुख कुम्हलाया जाता था। कभी-कभी विरह वेदना एव विचार विप्लव से व्याकुल हो कर उसका चित्त चाहता कि सती-कुण्ड की गोद में शान्ति लूँ। किन्तु राव साहब इस शोक में जान ही दे देंगे, यह विचार कर वह रुक जाती। सोचती, मैं उनकी जीवन सर्वस्व हूँ, मुझ अभागिनी को उन्होंने किस लाड प्यार से पाला है, मैं ही उनके जीवन का आधार और अन्तकाल की आशा हूँ। नही, यों प्राण दे कर उनकी आशाओं की हत्या न करूँगी। मेरे हृदय पर चाहे जो बीते, उन्हें न कुढाऊँगी। प्रभा का एक योगी गवैये के पीछे उन्मत्त हो जाना कुछ शोभा नही देता। योगी का गान तानसेन के गानों से

---

१ मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ ११२-११३

भी अधिक मनोहर क्यों न हो, पर एक राजकुमारी का उसके हाथों बिक जाना हृदय की दुर्बलता प्रकट करता है।''[1]

प्रभा का राजा से विवाह हो जाता है। विवाह के बाद वह पति के प्रति अपने कर्त्तव्य और प्रेम का सदैव ध्यान रखती है, किन्तु एकान्त होते ही योगी की वही मनोहारिणी मूर्त्ति देखती और वही मधुर हृदयग्राही राग सुनती है। तात्पर्य यह कि प्रभा योगी को कभी भूल नहीं पाती, किन्तु इसके कारण वह समाज, पिता या पति को कभी शिकायत करने का अवसर नहीं देती। जिस दिन उसे पति के द्वारा मालूम होता है कि वही वह योगी है, वह उससे कहती है, 'योगी बन कर तुमने जो कुछ पा लिया, वह राजा रह कर कदापि न पा सकते। अब तुम मेरे पति हो और प्रियतम भी हो, पर तुमने मुझे बड़ा धोखा दिया और मेरी आत्मा को कलंकित किया। इसका उत्तरदाता कौन होगा ?'[2]

'वरदान' उपन्यास में विरजन और प्रताप में बाल्यावस्था से प्रेम है, किन्तु विरजन का विवाह कमलाचरण से होता है। ससुराल में आ कर विरजन पति की सेवा करती है और प्रताप को भूल जाने की चेष्टा करती है—'जब तक विरजन ससुराल न आई थी, तब तक उसकी दृष्टि में एक हिन्दू पतिव्रता के कर्त्तव्य और आदर्श का कोई नियम स्थिर न हुआ था। ...परन्तु जब वह ससुराल में आई और अपने प्राणनाथ पति को प्रतिक्षण आँखों के सामने देखने लगी, तो शनैः शनैः चित्तवृत्तियों में परिवर्त्तन होने लगा। ज्ञात हुआ कि मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्त्तव्य है, मेरा क्या धर्म है और क्या उसके निर्वाह की रीति है ? अगली बातें स्वप्नवत् जान पड़ने लगी।''[3] बृजरानी प्रताप से अब भी प्रेम करती है। वह एक बार केवल इस आशंका से मरणासन्न हो जाती है कि प्रताप उसे भूल गए, तथापि उसका प्रेम विशुद्ध है। इस प्रकार विवाह के बाद बृजरानी प्रताप के प्रति श्रद्धा रखती है और पति को कर्त्तव्य-तत्पर प्रेम देती है। इसमें उसके पति का प्रेम सहायक होता है और दोनों प्रेम के सूत्र में बँध जाते हैं—'कमला और बृजरानी में दिन दिन प्रीति बढ़ने लगी। एक प्रेम का दास था, दूसरी कर्त्तव्य की दासी। सम्भव न था कि विरजन के मुख से कोई वाक्य निकले और कमलाचरण उसको पूरा न करे। ...ऐसे स्नेहभक्त का जादू किस पर न चल जाएगा ? ...दोनों यही चाहते थे कि प्रेम क्षेत्र में मैं आगे निकल जाऊँ। पर, दोनों के प्रेम में अन्तर था। कमलाचरण प्रेमोन्माद में अपने को भूल गया। पर, इसके विरुद्ध विरजन का प्रेम कर्त्तव्य की नींव पर स्थित था। हाँ, यह आनन्दमय कर्त्तव्य था।'[4]

'प्रतिज्ञा' उपन्यास की प्रेमा और 'वरदान' उपन्यास की विरजन के चरित्र में बहुत कुछ साम्य है। प्रेमा अमृतराय की वाग्दत्ता है और दोनों एक दूसरे से प्रेम भी करते हैं। इसी बीच अमृतराय (जो विधुर हैं) समाज-सुधार की धुन में विधवा विवाह की प्रतिज्ञा कर लेते हैं। प्रेमा को अमृतराय की प्रतिज्ञा मालूम होती है, तो रोते रोते उसकी आँखें

१. मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १९६

२. मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ २०१

३. वरदान, पृष्ठ ७३-७४

४. वरदान, पृष्ठ ८३-८६

सूज जाती हैं और वह आजन्म अविवाहिता ही रहना चाहती है, क्योंकि उसने मन में अमृतराय को अपना पति स्वीकार कर लिया था। उसकी माता जब उसके लिए दूसरा वर ढूँढ़ना चाहती है, तो वह यह सोच कर काँप उठती है कि वह विवाह होगा या विवाह का स्वांग। फिर भी उसका प्रम उसके कर्त्तव्य में बाधक नहीं होता। वह देखती है कि समाज में कोई कन्या कुमारी नहीं रहती, इसमें उसकी और उसके परिवार की जगहँसाई है—'प्रेमा ने इस (विवाह के) विषय में उदासीनता प्रकट की। अब उसके लिए सभी पुरुष समान थे, वह किसी के साथ जीवन का निर्वाह कर सकती थी। उसकी चलती, तो वह अविवाहित ही रहना पसन्द करती, पर जवान लड़की बैठी रहे, यह कुल के लिए घोर अपमान की बात थी। इस विषय में किसी प्रकार का दुराग्रह करके वह माता पिता का दिल न दुखाना चाहती थी। जिस दिन अमृतराय ने वह भीषण प्रतिज्ञा की, उसी दिन प्रेमा ने समझ लिया कि अब जीवन में मेरे लिए सुख लोप हो गया, पर अविवाहिता रह कर अपनी हँसी कराने की अपेक्षा किसी की हो कर रहना कहीं सुलभ था।'[१]

प्रेमा का विवाह दाननाथ के साथ निश्चित हो रहा है। दाननाथ अमृतराय के मित्र हैं, अत उन्हें प्रेमा की प्रेम कथा मालूम है। दाननाथ को शका होती है कि प्रेमा उनसे प्रम कर पाएगी या नहीं। दाननाथ की शकाओं का समाधान अमृतराय जिन शब्दों में करते हैं, प्रेमा उन्हें भविष्य में अक्षरश पूर्ण करने में सफल होती है। अमृतराय दाननाथ से कहते हैं "ऐसी शका करना ही प्रेमा के प्रति घोर अन्याय है। वह कुल प्रथा पर मर मिटने वाली, सच्ची आर्य रमणी है। उसके प्रम का अर्थ ही है 'पति प्रेम'। प्रेम का दूसरा कोई रूप वह जानती ही नहीं, और न शायद जानेगी। मुझसे उसे इसीलिए प्रेम था कि वह मुझे अपना भावी पति समझती थी। बस, उसका प्रेम उसके कर्त्तव्य के अधीन है।"[२] प्रेमा का विवाह दाननाथ से होता है और वह पति के प्रति कर्त्तव्यपालन में अमृतराय को भूल सी जाती है—'आदर्श हिन्दू-बालिका की भाँति प्रेमा पति के घर आ कर पति की हो गई थी। अब अमृतराय उसके लिए केवल एक स्वप्न की भाँति थे, जो उसने कभी देखा था।'[३] और, दाननाथ को यदि प्रेमा के पूर्व प्रेम की कहानी न मालूम होती, तो वे अपने को ससार में सबसे सुखी प्राणी समझते—'यह सब कुछ था पर दाननाथ को अब भी यही शका बनी हुई थी कि प्रेमा को अमृतराय से प्रेम है। प्रेमा चाहे दाननाथ के लिए प्राण तक निकाल कर रख दे, पर इस शका को उनके हृदय से न निकाल सकती थी। यदि प्रेमा की प्रेम-कथा उन्हें पहले से मालूम न होती, तो शायद वह अपने को ससार में सबसे सुखी आदमी समझते।'[४]

'रगभूमि' उपन्यास में सोफिया और विनय में प्रेम है एव दोनों इस तथ्य से परिचित हैं कि वे एक दूसरे के नहीं हो सकते, उनके विवाह में धार्मिक और सामाजिक

---

१ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १०

२ प्रतिज्ञा पृष्ठ ६८

३ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १००

४ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १०२

बाधाएँ हैं, किन्तु इस विश्वास पर कि वे विशुद्ध, वासना रहित प्रेम करते हैं, प्रेम मार्ग पर निःशंक बढ़ते जाते हैं। विनय प्रभुसेवक से कहता है, "मैं भली भाँति जानता हूँ कि मैं आकाश के तारे तोड़ने जा रहा हूँ—वह फल खाने जा रहा हूँ, जो मेरे लिए वर्जित है। खूब जानता हूँ प्रभु, कि मैं अपने जीवन को नैराश्य की वेदी पर बलिदान कर रहा हूँ, अपनी पूज्य माता के हृदय पर कुठाराघात कर रहा हूँ, अपनी मर्यादा की नौका को कलंक के सागर में डुबा रहा हूँ, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का विसर्जन कर रहा हूँ, पर मेरा अन्तःकरण इसके लिए मेरा तिरस्कार नहीं करता। मैं तुमसे सत्य कह रहा हूँ, मेरे प्रेम में वासना का लेश भी नहीं है। मेरे जीवन को सार्थक बनाने के लिए यह अनुराग ही काफी है।"[1] प्रभुसेवक, जो सोफिया का भाई है, सोफिया से उसके प्रति विनय के प्रेम की बात कहता है। सोफिया तो पहले से ही विनय के त्याग, साहस और आदर्श जीवन पर मुग्ध थी। उसे प्रसन्नता होती है कि ऐसे आदर्श पुरुष ने उसे अपनी प्रेम पात्री बनाने के योग्य समझा। प्रभुसेवक पूछता है, "धर्म विरोध होते हुए भी?" सोफिया कहती है, "यह विचार उनलोगों के लिए होते हैं, जिनके प्रेम वासनाओं से युक्त होते हैं। प्रेम और वासना में उतना ही अन्तर है, जितना कंचन और काँच में। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं है। ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिए हैं, जिसका अन्त विवाह है, उस प्रेम के लिए नहीं, जिसका अन्त बलिदान है।"[2]

किन्तु, विनय और सोफिया को शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है कि वासना रहित प्रेम करना आसान नहीं है—"उस दिन के बाद एक सप्ताह हो गया, पर विनय सिंह ने राजपूताने को प्रस्थान न किया। वह किसी-न किसी हीले से दिन टालते जाते थे। कोई तैयारी न करनी थी, फिर भी तैयारियाँ पूरी न होती थीं। अब विनय और सोफिया, दोनों ही को विदित होने लगा कि प्रेम का, जब वह स्त्री और पुरुष में हो, वासना से निर्लिप्त रखना उतना आसान नहीं, जितना उन्होंने समझा था। सोफी एक किताब बगल में दबा कर प्रातःकाल बाग में जा बैठती। शाम को भी कहीं और सैर करने न जा कर वहीं आ जाती। विनय भी उससे कुछ दूर पर लिखते-पढ़ते, कुत्ते से खेलते या किसी मित्र से बातें करते अवश्य दिखाई देते। • दोनों ही व्रतधारी, दोनों ही आदर्शवादी थे, किन्तु एक का धर्मग्रन्थों की ओर ताकने का जी न चाहता था, दूसरा समिति को अपने निर्धारित विषय पर व्याख्यान देने का अवसर भी न पाता था। दोनों ही के लिए प्रेम रत्न प्रेम-मद सिद्ध हो रहा था।"[3]

आगे सोफी को पुनः ऐसा अनुभव होता है—"आह! मैंने बड़ा धोखा खाया। पहले मैंने समझा था, उनसे केवल आध्यात्मिक प्रेम करूँगी। अब विदित हो रहा है कि

---

१ रंगभूमि, भाग १ पृष्ठ ११६
२ रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ ११८
३ रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ ११९

आध्यात्मिक प्रेम या भक्ति केवल धर्म जगत् ही की वस्तु है। स्त्री और पुरुष में पवित्र प्रेम होना असम्भव है। प्रेम पहले उँगली पकड़ कर तुरत ही पहुँचा पकड़ता है।'[१]

किन्तु, वासना सोफिया को उसके प्रेम से विचलित नहीं करती। बाद में जब सोफिया और विनय एक छोटी सी पहाड़ी बस्ती में जाते हैं और साथ साथ रहते हैं, वहाँ उनके पवित्र प्रेम का वासनात्मक प्रेम में परिवर्त्तित हो चलना स्वाभाविक ही है। विनय सिंह तो सदैव लालसायुक्त नेत्रों से सोफी को देखते हैं, किन्तु सोफिया अपनी मर्यादा और स्थिति समझती है। एक दिन विनय सोफिया को किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए बहुत तंग करते हैं। सोफिया उन्हें जो उत्तर देती है, वह उसके प्रेम को, उसकी कर्त्तव्य निष्ठा और मर्यादाप्रियता के कारण, आदर्श प्रमाणित करता है—

विनय सोफिया से कहता है, "आज मै समर के लिए कमर कस कर आया हूँ। आज तुमसे वचन लिए बिना तुम्हारा दामन न छोड़ूँगा। क्या अब भी मेरी परीक्षा कर रही हो?"

सोफिया प्रेम-गम्भीर भाव से कहती है, "मैंने तो अपने को तुम्हारे चरणों पर डाल दिया, अब और मुझ से क्या चाहते हो?"

विनय, "अगर मै देवता होता, तो तुम्हारी प्रेमोपासना से सन्तुष्ट हो जाता, लेकिन मैं भी तो इच्छाओं का दास, क्षुद्र मनुष्य हूँ। मैंने जो कुछ पाया है, उससे सन्तुष्ट नही हूँ। मै और चाहता हूँ, सब चाहता हूँ। क्या अब भी तुम मेरा आशय नही समझीं? मैं पक्षी को अपने मुँड़ेरे पर बैठे देख कर सन्तुष्ट नही, उसे अपने पिंजड़े में जाते देखना चाहता हूँ। क्या और भी स्पष्ट रूप से कहूँ? मै सर्वभोगी हूँ, केवल सुगन्ध से मेरी तृप्ति नहीं होती।"

सोफिया, "विनय, मुझे अभी विवश न करो, मैं तुम्हारी हूँ। मै इस वक्त यह बात *जितने शुद्ध भाव और निष्कपट हृदय से कह रही हूँ, उससे अधिक किसी मन्दिर में,* कलीसा में या हवन कुण्ड के सामने नही कह सकती। लेकिन क्षमा करना, मै कभी कोई ऐसा कर्म न करूँगी, जिससे तुम्हारा अपमान, तुम्हारी अप्रतिष्ठा, तुम्हारी निन्दा हो। मेरा यह सयम अपने लिए नहीं, तुम्हारे लिए है। आत्मिक मिलाप के लिए कोई बाधा नही होती, पर सामाजिक सस्कारो के लिए अपने सम्बन्धियों और समाज के नियमों की स्वीकृति अनिवार्य है, *अन्यथा वे लज्जास्पद हो जाते हैं।"* ..

विनय, "सोफी, इसका आशय इसके सिवा और क्या है कि मेरा जीवन सुख-स्वप्न देखने में ही कट जाए।"

सोफिया, "नहीं विनय, मैं इतनी हताश नहीं हूँ। मुझे अब भी आशा है कि कभी न कभी रानीजी से तुम्हारा और अपना अपराध क्षमा करा लूँगी और तब उनके आशीर्वादों *के साथ हम दाम्पत्य क्षेत्र में प्रवेश करेंगे। .. मै तुमसे सविनय अनुरोध करती हूँ कि* अब इस प्रसग को फिर मत उठाना, अन्यथा मुझे कोई दूसरा रक्षा-स्थान खोजना पड़ेगा।"[२]

---

१ रगभूमि, भाग १, पृष्ठ २५१

२ रगभूमि, भाग २, पृष्ठ ३५७-३५९

'कायाकल्प' उपन्यास की मनोरमा समाज-सेवी चक्रधर से प्रेम करती है, किन्तु बूढ़े राजा विशाल सिंह से इसलिए विवाह करती है कि वह चक्रधर के सेवा-कार्य में, रानी होने पर, रुपए से सहायता कर सकेगी। चक्रधर और राजा साहब दोनों के प्रति कर्त्तव्य पूरा करने में, उसके जीवन का बलिदान हो जाता है। किन्तु, कहीं भी प्रेम और कर्त्तव्य में संघर्ष नहीं है। वह सर्वदा चक्रधर की हित-कामना में मग्न रहती है। उन्हें कौशल से जेल से छुड़ाती है और जिस दिन वे जेल से छूट कर आते हैं, वह पहली बार शृंगार करती है। राजा साहब उसके प्रसाधित रूप को देख कर उसे आँखों से पी जाना चाहते हैं। मनोरमा चक्रधर से कुछ नहीं छिपाती। चक्रधर उसके आत्मसमर्पण से विचलित हो जाते हैं और अपनी भावी पत्नी (अहल्या) की शरण लेते हैं और उससे शीघ्र ही विवाह करके लौटते हैं। फिर भी मनोरमा उन पर अपना प्रेम प्रकट करती है और चक्रधर एक बहाना करके, किसी दूर के शहर में, अहल्या को ले जा कर, बस जाते हैं। मनोरमा चक्रधर के दर्शनों से भी वंचित हो कर बीमार पड़ जाती है और पाँच वर्षों में धीरे धीरे मरणासन्न हो जाती है। तार मिलते ही चक्रधर परिवार के साथ मनोरमा को देखने आते हैं। चक्रधर के अब तक एक पुत्र भी हो गया था। मनोरमा चक्रधर को देख कर, विशेषतः उनके पुत्र को गोद में ले कर, इतनी प्रसन्न हो जाती है कि उसकी बीमारी भाग जाती है। वह फिर बच्चे को नहीं छोड़ती, बच्चा उसे ही अपनी माँ समझने लगता है। इसी प्रकार उपन्यास में मनोरमा और चक्रधर के प्रेम के अन्य कई प्रसंग भी आए हैं। किन्तु, इनका प्रेम किसी प्रकार कलुषित नहीं कहा जा सकता। उनका प्रेम इस बात से और भी अधिक आदर्श प्रेम हो जाता है कि मनोरमा का दाम्पत्य प्रेम भी अपूर्व है। पहले तो राजा साहब मनोरमा को, उसके गुणों के कारण, बहुत चाहते हैं, किन्तु एक भ्रम में पड़ कर वे उसका इतना निरादर करते हैं कि मनोरमा जैसी सदय और सेवाशील पत्नी ही उस अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकती थी। उस अवस्था में भी वह राजा साहब के लिए प्राण तक देने को तैयार है। राजा साहब की मृत्यु के बाद मनोरमा पशु पक्षियों से अपना मन बहलाती है। चक्रधर भी पत्नी पुत्र रहित हो कर, एक अनजान पथिक के रूप में, मनोरमा के माली के द्वारा उसे एक पहाड़ी मैना भेंट करते हैं। पहाड़ी मैना यही बोला करती है, 'नोरा, तुम मुझे भूल गई! मैं तुम्हारा वही पुराना सेवक हूँ।' मनोरमा अस्त-व्यस्त-सी आ कर माली से उस पथिक की हुलिया पूछती है और उसे पहचान कर उसकी प्रतीक्षा में आँखें बिछाए देती है।

'कर्मभूमि' उपन्यास में नैना और डॉ० शान्तिकुमार एक दूसरे से प्रेम करते हैं, किन्तु यह प्रेम इतना पवित्र और संयत है कि दोनों में से कोई प्रणय निवेदन नहीं करता। नैना का विवाह जब उसके पिता सम्पत्तिशाली, किन्तु हठी और दुश्चरित्र मनीराम से करते हैं, तो वह इसका विरोध नहीं करती। विवाह के पूर्व वह डॉ० शान्तिकुमार की भक्ति करती है और विवाह के बाद भी उसका यही भाव बना रहता है। नैना को 'वरदान' उपन्यास की वृजरानी और 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की प्रेमा की भाँति पति का प्रेम नहीं मिलता। सुहागरात के दिन ही उसे पति के आचार विचार से घृणा हो जाती है और वह दाम्पत्य सुख से वंचित हो जाती है। फिर भी वह अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ बनी रहती है।

वह पति या ससुराल की निन्दा नही सुन सकती। डॉ० शान्तिकुमार की ओर भी वह उन्मुख नही होती। विवाह के बाद एक दिन अपने मायके में डॉ० शान्तिकुमार से उसका सामना हो जाता है। डाक्टर साहब के मुख से प्रेम की बातें निकल भी जाती हैं, किन्तु वह उनके प्रति केवल सहानुभूतिशील बनी रहती है, इससे अधिक कुछ नहीं। म्युनिसिपैलिटी में गरीबों के मकान के लिए जमीन देने का प्रस्ताव पारित नहीं होता। नैना की भावज (सुखदा) इस आन्दोलन की नेत्री है, अत डॉ० शान्तिकुमार उसे यह समाचार सुनाने आते हैं। मूसलाधार वर्षा हो रही है, किन्तु सुखदा हडताल कराने चली जाती है, क्योंकि उसकी दृष्टि में अब हडताल के सिवा और कोई उपाय नहीं है। घर में दोनों (डाक्टर साहब और नैना) अकेले बच जाते हैं। दोनो कुछ देर तक चुप रहते हैं। एक मिनट बाद डॉ० शान्तिकुमार नैना से पूछते हैं, "कहाँ चली गई ? बहुत जल्द गर्म हो जाती हैं।"

नैना ने इधर-उधर देख कर कहार से पूछा, तो मालूम हुआ, सुखदा बाहर चली गई। उसने आ कर डा० शान्तिकुमार से कहा।

शान्तिकुमार ने विस्मित हो कर कहा, "इस पानी में कहाँ गई होंगी। मैं डरता हूँ, कहीं हडताल वडताल न कराने लगें। तुम तो वहाँ जा कर मुझे भूल गई नैना, एक पत्र भी न लिखा।"

एकाएक उन्हे ऐसा जान पडा कि उनके मुँह से एक अनुचित बात निकल गई। उन्हे नैना से यह प्रश्न नही करना चाहिए था। इसका वह जाने मन में क्या आशय समझे। उन्हें मालूम हुआ, जैसे कोई उनका गला दबाए हुए है। वह वहाँ से भाग जाने के लिए रास्ता खोजने लगे। वह अब यहाँ एक क्षण भी नहीं बैठ सकते। उनके दिल में हलचल होने लगा, कहो नैना अप्रसन्न हो कर कुछ कह न बैठे। ऐसी मूर्खता उन्होंने कैसे कर डाली। *अब तो उनकी इज्जत ईश्वर के हाथ है।*

'नैना का मुख लाल हो गया। वह कुछ जवाब न दे कर लल्लू (भतीजा) को पुकारती हुई कमरे से निकल गई। शान्तिकुमार मूर्त्तिवत् बैठे रहे। अन्त को वह उठ कर सिर झुकाए इस तरह चले, मानों जूते पड गए हों। नैना का वह आरक्त मुखमण्डल एक दीपक की भाँति उनके अन्त पट को जैसे जलाए डालता था।

नैना ने सहृदयता से कहा, "कहाँ चले डाक्टर साहब, पानी तो निकल जाने दीजिए।"

'*शान्तिकुमार ने कुछ बोलना चाहा, पर शब्दो की जगह कण्ठ में जैसे नमक का* डला पडा हुआ था। वह जल्दी से बाहर चले गए, इस तरह लड़खडाते हुए, मानों अब गिरे, अब गिरे। आँखों में आँसुओं का सागर उमडा हुआ था।"[१]

'कर्मभूमि' उपन्यास में ही मुस्लिम युवती सकीना अमर से प्रेम करती है, किन्तु उसके प्रेम में संयम और कर्त्तव्यपरायणता है, वासना की छाया भी नहीं है। एक दिन

१ कर्मभूमि, पृष्ठ ३५४ ३५५

अमर सकीना के विवाह की बात सुनता है और पागलों की सी अवस्था में उसके घर जा कर उससे प्रेम निवेदन करता है। किन्तु सकीना संयम से काम लेती है और अमर से कहती है, "बाबूजी, खुदा जानता है, मेरे दिल में तुम्हारी कितनी इज्जत और कितनी मुहब्बत है। मैं तो तुम्हारी एक निगाह पर कुरबान हो जाती। मेरे कारण आपकी रुसवाई हो, उसके पहले मैं जान दे दूँगी। मैं आपकी जिन्दगी में दाग न लगाऊँगी। इस मुहब्बत को गरज से पाक रखना चाहती हूँ। सिर्फ यह यकीन कि मैं तुम्हारी हूँ, मेरे लिए काफी है।" आगे के वार्तालाप में सकीना के प्रेम का आदर्श और भी ऊँचा हो जाता है—

अमर, "लेकिन तुम्हारी शादी तो होने जा रही है।"

"इनकार कर दूँगी।"

"बुढ़िया मान जाएगी?"

"मैं कह दूँगी—अगर तुमने मेरी शादी का नाम भी लिया, तो मैं जहर खा लूँगी।"

"क्यों न इसी वक्त हम और तुम कहीं चले जाएँ?"

"नहीं, यह जाहिरी मुहब्बत है। असली मुहब्बत वह है, जिसकी जुदाई में भी विसाल है, जहाँ जुदाई है ही नहीं, जो अपने प्यारे से एक हजार कोस पर हो कर भी अपने को उसके गले से मिला हुआ देखती है।"[१]

'कर्मभूमि' उपन्यास की ही मुन्नी, जो मुकदमे के बाद घर नहीं लौटती और चमारों की बस्ती में पहुँच जाती है, अमर जब वहाँ पथिक के रूप में आता है, उससे प्रेम करने लगती है। उसका प्रेम भी पवित्र है। वह उससे कहती है, "मैं तो कभी कभी सोचती हूँ, तुम यहाँ न आते, तो अच्छा होता। तुम न थे, तब मैं बड़े आनन्द से थी। घर का धन्धा करती थी, रूखा सूखा खाती थी और सो रहती थी। तुमने मेरा वह सुख छीन लिया। जानती हूँ, तुम मुझसे भागे भागे फिरते हो, मुझसे गला छुड़ाते हो। यह भी जानती हूँ, तुम्हें पा नहीं सकती। मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? पर, छोड़ूँगी नहीं। मैं तुमसे और कुछ नहीं माँगती। बस इतना ही चाहती हूँ कि तुम मुझे अपनी समझो। मुझे मालूम हो कि मैं भी स्त्री हूँ, मेरे सिर पर भी कोई है, मेरी जिन्दगानी भी किसी के काम आ सकती है।"

मुन्नी के इस आत्मसमर्पण से विचलित हो कर अमर कहता है, "आओ, हम तुम कहीं चले चलें मुन्नी। वहाँ मैं कहूँगा यह मेरी ..."

मुन्नी ने उसके मुँह पर हाथ रख दिया और बोली, "बस, और कुछ न कहना। मर्द सब एक से होते हैं। मैं क्या कहती थी, तुम क्या समझ गए। मैं तुमसे सगाई नहीं करूँगी, तुम्हारी रखेली भी नहीं बनूँगी। तुम मुझे अपनी चेरी समझते रहो, यही मेरे लिए बहुत है।"[२]

---

१ कर्मभूमि पृष्ठ १००-१०१

२ कर्मभूमि, पृष्ठ ११७-११८

प्रेम पतित और पथभ्रष्ट स्त्रियों को भी कर्त्तव्य, त्याग और सेवा के लिए प्रेरित करता है। 'ऐक्ट्रेस' कहानी की पैंतीस वर्षीया नायिका 'तारा' एक अभिनेत्री है। जब वह शकुन्तला का अभिनय कर रही होती है, कुँवर निर्मलकान्त, (जो एक युवक हैं) उस पर मुग्ध हो जाते हैं। तारा ने अपने जीवन में ऐसा प्रेम नहीं पाया था। वह भी कुँवर साहब से प्रेम करने लगती है—'एक महीना गुजर गया, कुँवर साहब दिन में कई कई बार आते। उन्हें एक क्षण का वियोग भी असह्य था। सारे शहर में मशहूर था कि ताराबाई ने कुँवर साहब को फाँस लिया और दोनों हाथों से सम्पति लूट रही है। पर, तारा के लिए कुँवर साहब का प्रेम ही एक ऐसी सम्पत्ति थी, जिसके सामने दुनिया भर की दौलत हेय थी। उन्हें अपने सामने देख कर उसे किसी वस्तु की इच्छा न होती थी।'[1] तारा के हृदय की आकांक्षा है कि वह आजन्म अपने प्रेमी की चेरी बनी रहे। इसके पहले उसका अन्य रईस प्रेमियों के साथ जो व्यवहार होता था, उसमें इस बात को प्रधानता थी कि उन्हें वह जल्द से-जल्द लूट कर अलग हो जाती थी। वे रईस भी उसे अपने मनोरञ्जन का साधन मात्र समझते थे। किन्तु, कुँवर साहब से वह विपरीत चाहती है। वह चाहती है कि वे उससे विवाह कर लें—'मगर एक महीने तक इस प्रेम के बाजार में घूमने पर भी तारा को वह वस्तु न मिली, जिसके लिए उसकी आत्मा लोलुप हो रही थी। वह कुँवर साहब से प्रेम की, अपार और अद्भुत प्रेम की, सच्चे और निष्कपट प्रेम की बातें रोज सुनती थी पर उसमें विवाह का शब्द न आने पाता था, मानों प्यासे को बाजार में पानी छोड़ कर और सब कुछ मिलता हो। किसी शौकीन रईस के साथ वह इससे कुछ दिन पहले शायद एक दो महीने रह जाती और उस नोच खसोट कर अपनी राह लेती। किन्तु प्रेम का बदला प्रेम है, कुँवर साहब के साथ वह यह निर्लज्ज जीवन न व्यतीत कर सकती थी।'[2]

और, वह दिन भी आता है जब कुँवर साहब तारा के सामने विवाह का प्रस्ताव रखते हैं। तारा हर्षोन्माद की दशा में रोती हुई उनके पैरों पर गिर पड़ती है। आठवें दिन 'सिविल मैरेज' की बात ठहरती है। किन्तु ज्यों-ज्यों विवाह के दिन पास आते जाते हैं, तारा सोच विचार में पड़ती जाती है। कुँवर साहब से विवाह करने में उसे विश्वासघात का अनुभव होता है। कुँवर साहब युवक हैं। क्या वह उस-जैसी गत यौवना के साथ वैवाहिक जीवन सुखपूर्वक व्यतीत कर सकेंगे? अभी तक वह उनके सामने सदैव प्रसाधित हो कर, काल के चिह्नों को मिटा कर निकलती है, किन्तु विवाह के बाद क्या होगा? क्या कुँवर साहब के प्रेम का वह यही बदला देगी—'तारा के सुन्दर मुख पर हर्ष की रेखा भी नहीं नजर आती। वह क्षुब्ध और उदास है। उसके मन में चार दिनों से निरन्तर यही प्रश्न उठ रहा है—क्या कुँवर साहब के साथ वह विश्वासघात करे? जिस प्रेम के देवता ने उसके लिए अपनी कुल मर्यादा को तिलाञ्जलि दे दी, अपने बन्धु जनों से नाता तोड़ा, जिसका हृदय हिमकण के समान निष्कलंक है, पर्वत के समान विशाल, उसी से वह कपट करे। नहीं, वह इतनी नीचता नहीं कर सकती। क्या वह

१ मानसरोवर भाग १ पृष्ठ २३७
२ मानसरोवर भाग १ पृष्ठ २४७-२४८

कँवर साहब का जीवन सुखी बना सकती है ? हाँ, अवश्य। इस विषय में उसे लेशमात्र भी सन्देह न था। भक्ति के लिए एसी कौन-सी वस्तु है, जो असाध्य हो। पर, क्या वह प्रकृति को धोखा दे सकती है ? ढलते हुए सूर्य में मध्याह्न का सा प्रकाश हो सकता है ? असम्भव। वह स्फूर्ति, वह चपलता, वह विनोद, वह सरल छवि, वह तल्लीनता, वह त्याग, वह आत्मविश्वास वह कहाँ से लाएगी, जिसके सम्मिश्रण को यौवन कहते हैं ? नहीं, वह कितना ही चाहे, पर कुँवर साहब के जीवन का सुखी नहीं बना सकती। बूढा बैल कभी जवान बछडे के साथ नहीं चल सकता।

आह। उसने यह नौबत क्यों आने दी ? उसने क्यों कृत्रिम साधना से, बनावटी सिंगार से कुँवर को धोखे में डाला ? अब इतना सब कुछ हो जाने पर वह किस मुँह से कहेगी कि मैं रगी हुई गुड़िया हूँ, जवानी मुझसे कबकी विदा हो चुकी, अब केवल उसका पद चिह्न रह गया है।'' यहाँ प्रेमचन्द अपनी ओर से कहते हैं—'प्रेम सत्य है और सत्य और मिथ्या, दोनों एक साथ नहीं रह सकते।' तारा सत्य की रक्षा के लिए कुँवर साहब से विवाह करने की इच्छा का त्याग देती है। वह अपने स्वार्थ के लिए अपने प्रियतम का बुरा नहीं कर सकती। वह वहाँ से भाग जाना चाहती है। प्रेमचन्द इसे 'प्रेम का बताया हुआ कर्तव्य मार्ग' कहते हैं—'उसने सोचा—कहाँ भाग कर जाऊँ ? रेल से भागती हूँ, तो भागने न पाऊँगी। सबेरे ही कुँवर साहब के आदमी छूटेंगे और चारो तरफ मेरी तलाश होने लगेगी। वह ऐसे रास्ते से जाएगी, जिधर किसी का खयाल भी न जाए।

'तारा का हृदय इस समय गर्व से छलका पड़ता था। वह दुखी न थी, निराश न थी। वह फिर कुँवर साहब से मिलेगी, किन्तु वह निस्स्वार्थ सयोग होगा। वह प्रेम के बताए हुए कर्त्तव्य-मार्ग पर चल रही है, फिर दु ख क्या हो और निराशा क्या हो ?'[२]

भागने के पहले वह कुँवर साहब के नाम एक पत्र लिख जाती है, ताकि वे उसे वहाँ न पा कर कोई अनर्थ न कर बैठें। पत्र का आशय है कि वह उनका प्रेम पा कर तृप्त हो गई है और जब तक जिएगी, उस प्रेम में मग्न रहेगी। किन्तु, वह अपने को उनकी दासी बनने के योग्य नहीं पाती। वह फिर उनके दर्शनों के लिए आएगी, पर उसी दशा में, जब वे विवाह कर लेंगे। यही उसके लौटने की शर्त है।

अब प्रेम में अन्तर्निहित सचाई, आत्मसमर्पण, सहृदयता, त्याग, कोमलता, क्षमा शीलता, विश्वास आदि उन उदात्त भावनाओं का विवेचन किया जाएगा, जो प्रेमचन्द की कथा-कृतियों में बहुश वर्णित हैं। ये सभी भावनाएं 'सेवा' के अन्तर्गत आती हैं। यही कारण है कि प्रेमचन्द का कोई पात्र प्रेम करता है, तो सेवा की ओर अग्रसर होता है। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ 'सेवा' होती है, 'लेने' से अधिक 'देने' की भावना होती है। 'दो सखियाँ' कहानी की चन्दा सेवा का महत्त्व समझती है। वह पद्मा को, जो अपने पति की सेवा नहीं करती और अपना सारा समय अपने ही बनाव सिंगार में व्यतीत करती है, समझाती

---

१ मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ २८०
२ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २८२

है, "प्रेम का एक ही मूल मन्त्र है, और वह है सेवा। यह मत समझो कि जो पुरुष तुम्हारे ऊपर भ्रमर की भाँति मॅडराया करता है, वह तुमसे प्रेम करता है। उसकी यह रूपासक्ति बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। प्रेम का अंकुर रूप में है, पर उसको पल्लवित और पुष्पित करना सेवा ही का काम है।"[1]

'आगा पीछा' कहानी में श्रद्धा (जो एक सुधरी हुई वेश्या की पुत्री है) भगतराम से प्रेम करती है। भगतराम के माता पिता, जाति से चमार होने पर भी, अपने पुत्र का विवाह एक वेश्या की कन्या से नहीं करना चाहते। जब भगतराम दुखी हो कर श्रद्धा को यह समाचार सुनाता है, तो श्रद्धा उसके माता पिता का हृदय परिवर्त्तन करने के लिए उनकी सेवा करना चाहती है, क्योंकि वह भगतराम के लिए सब कुछ करने को तैयार है। श्रद्धा भगतराम को सान्त्वना देती हुई कहती है, "प्यारे, मुझसे उनका घृणा करना उचित है। पढ़े लिखे आदमियों में ही ऐसे कितने निकलेंगे। इसमें उनका कोई दोष नहीं। मैं सबेरे उनके दर्शन करने जाऊँगी, शायद मुझे देख कर उनका दिल पिघल जाए। मैं हर तरह से उनकी सेवा करूँगी, उनकी धोतियाँ धोऊँगी, उनके पैर दाबा करूँगी, मैं वह सब करूँगी, जो उनकी मनचाही बहू करती। इसमें लज्जा की कौन सी बात? उनके तलवे सहलाऊँगी—भजन गा कर सुनाऊँगी—मुझे बहुत से दिहाती गीत आते हैं। अम्माजी के सिर के सफेद बाल चुनूँगी। मैं दया नहीं चाहती, मैं तो प्रेम की चेरी हूँ। तुम्हारे लिए सब कुछ करूँगी—सब कुछ।"[2] श्रद्धा की सेवा और अनवरत परिश्रम से भगतराम के माता पिता उसे पुत्र वधू बनाने को तैयार हो जाते हैं।

'हार की जीत' कहानी की लज्जावती में अपने प्रेमी के लिए सेवा और त्याग की पराकाष्ठा दिखलाई गई है। लज्जावती और शारदाचरण में प्रेम है और दोनों का विवाह भी होने वाला है। इसी बीच शारदाचरण 'सुशीला' नाम की एक सुन्दरी पर मुग्ध हो जाता है और कई दिनों के विचार के बाद लज्जावती के पिता को पत्र लिखता है—'मैं थोड़े दिनों से किसी गुप्त रोग में ग्रस्त हो गया हूँ। सम्भव है, तपेदिक का आरम्भ हो, इसलिए मैं इस मई में विवाह करना उचित नहीं समझता।' शारदाचरण लज्जावती से इस भाँति पराङ्मुख होना चाहता था कि लज्जावती की निगाह में उसकी इज्जत कम न हो। लज्जावती को जब यह बात मालूम होती है, वह शारदाचरण के लिए सब कुछ सहने को तैयार हो जाती है। उसकी इच्छा है कि अब शारदाचरण और उसके विवाह में एक क्षण का भी विलम्ब न हो। लज्जावती लिखती है—'सावित्री ने क्या सब कुछ जानते हुए भी सत्यवान से विवाह नहीं किया था? फिर मैं क्यों डरूँ? अपने कर्त्तव्य मार्ग से क्यों डिगूँ? मैं उनके लिए व्रत रखूँगी, तीर्थ करूँगी, तपस्या करूँगी। .. हम और वह इसी महीने में एक दूसरे के हो जाएँगे, हमारी आत्माएँ सदा के लिए संयुक्त हो जाएँगी, फिर कोई विपत्ति, कोई दुर्घटना मुझे उनसे जुदा न कर सकेगी।'[3]

---

१ मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २६०
२ मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ १२४-१२५
३ मानसरोवर भाग ८, पृष्ठ ११८

एक दिन की देर भी लज्जावती के लिए असह्य हो जाती है और वह सामाजिक रस्मों के बिना पूरा हुए ही शारदाचरण की सेवा करने पहुँच जाती है। वह देखती है कि शारदाचरण का मुख पीला पड़ा है, शरीर काँटा हो गया है। आहार आधा भी नहीं रह गया है, वे हरदम चिन्ता में मग्न रहते हैं, कहीं आते-जाते नहीं। वह यह भी देखती है कि क्षय रोग के लक्षण नहीं हैं, कोई और रोग हो सकता है, किन्तु वह स्वप्न में भी वास्तविक रोग—प्रेम के रोग—की कल्पना नहीं करती। समझती है, सांसारिक झंझटों से उनकी परेशानी बढ़ गई है—'मुझे तो विश्वास होता जाता है कि इन्हें कोई दूसरी ही शिकायत है। जरा अवकाश मिले, तो इसका पता लगाऊँ। कोई चिन्ता तो नहीं है। रियासत पर कर्ज का बोझ तो नहीं है? थोड़ा-बहुत कर्ज तो अवश्य ही होगा। यह तो रईसों की शान है। अगर कर्ज ही इसका मूल कारण है, तो अवश्य ही कोई भारी रकम होगी।'[1]

वह दिन भी आता है, जब लज्जावती को शारदाचरण और सुशीला के पारस्परिक प्रेम की बात मालूम होती है। लज्जा को न तो शारदाचरण पर क्रोध है, न सुशीला से ईर्ष्या, बल्कि उसे शारदाचरण के सदाचरण पर अब भी विश्वास है—'हा हतभाग्य! मैं अपने को कितना खुशनसीब समझती थी। अब संसार में मुझसे ज्यादा बदनसीब और कोई न होगा। वह अमूल्य रत्न, जो मुझे चिरकाल की तपस्या और उपासना से न मिला, इस मृगनयनी सुन्दरी को अनायास मिला जाता है। शारदा ने अभी उसे हाल में ही देखा है। कदाचित् अभी तक उनसे परस्पर बातचीत करने की नौबत नहीं आई। लेकिन, उसमें कितने अनुरक्त हो रहे हैं। उसके प्रेम में कैसे उन्मत्त हो गए हैं। ...अगर मुझे किसी तरह विश्वास हो जाए कि सुशीला उन्हें मुझसे ज्यादा प्रसन्न रख सकेगी, उनके जीवन को अधिक सार्थक बना देगी, तो मुझे उसके लिए जगह खाली करने में जरा भी आपत्ति न होगी। वह इतनी गर्ववती, इतनी निठुर है कि मुझे भय है, कहीं शारदा को पछताना न पड़े।

'लेकिन यह मेरी स्वार्थ-कल्पना है। सुशीला गर्ववती सही, निठुर सही, विलासिनी सही, शारदा ने अपना प्रेम उस पर अर्पण कर दिया है। वह बुद्धिमान हैं, चतुर हैं, दूरदर्शी हैं। अपना हानि-लाभ सोच सकते हैं।.. मुझे सब करके, अपने मन को समझा कर यहाँ से निराश, हताश, भग्नहृदय, विदा हो जाना चाहिए। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि उन्हें प्रसन्न रखे। मुझे जरा भी ईर्ष्या, जरा भी दम्भ नहीं है। मैं तो उनकी इच्छाओं की चेरी हूँ। अगर, उन्हें मुझको विष दे देने से खुशी होती, तो मैं शौक से विष का प्याला पी लेती। ..मैं जानती हूँ, अगर आप बाबूजी उनसे विवाह के लिए जोर दें, तो वह तैयार हो जाएँगे, बस मुरौवत के पुतले हैं। केवल मेरा मन रखने के लिए अपनी जान पर खेल जावेंगे।'[2] लज्जावती शारदाचरण के असमंजस और चिन्ता का मूल कारण समझ कर यहाँ तक त्याग करने के लिए तैयार हो जाती है कि उनसे निठुरता करती है, उन्हें यह सोचने को विवश करना चाहती है कि इस बीमारी के कारण वह अब विवाह नहीं करना चाहती। वह ऐसा इसलिए करना चाहती है कि वह नहीं चाहती कि उसके साथ-साथ उन्हें भी कष्ट हो।

१ मानसरोवर, भाग ८, पृष्ठ १७०
२ मानसरोवर, भाग ८, पृष्ठ १७०-१७१

वह सारी व्यथा खुद झेलना चाहती है। वह लिखती है—'अभी तक उन्होंने (शारदा चरण ने) दीवान साहब से सुशीला के विषय में कोई बातचीत भी नही की है। शायद मेरा रुख देख रहे हैं। इसी असमंजस ने उन्हें इस दशा को पहुँचा दिया है। ..वह नर-रत्न हैं। लेकिन, मैं उनके पैरों की बेड़ी नही बनना चाहती। जो कुछ बीते, अपने ही ऊपर बीते। उन्हें क्यों समेटूं? डूबना ही है तो आप क्यों न डूबूं, उन्हें अपने साथ क्यों डुबाऊँ?

'यह भी जानती हूँ कि यदि इस शोक ने घुला घुला कर मेरी जान ले ली, तो वह अपने को कभी क्षमा न करेंगे। उनका समस्त जीवन क्षोभ और ग्लानि की भेंट हो जाएगा, उन्हें कभी शान्ति न मिलेगी। कितनी विकट समस्या है। मुझे मरने की भी स्वाधीनता नही। मुझे उनको प्रसन्न रखने के लिए अपने को प्रसन्न रखना होगा। उनसे निठुरता करनी पड़ेगी। त्रिया चरित्र खेलना पड़ेगा। दिखाना पड़ेगा कि इस बीमारी के कारण अब विवाह की बातचीत अनर्गल है। वचन को तोड़ने का अपराध अपने सिर लेना पड़ेगा। इसके सिवाय उद्धार की और कोई व्यवस्था नहीं।'[1]

उसके इस अगाध, उदार और क्षमाशील प्रेम पर मुग्ध हो कर शारदाचरण उसे अपना लेते हैं। उनके शब्दों में लज्जावती का प्रेम इस प्रकार वर्णित है—'कौन ऐसा हृदय शून्य प्राणी है, जो निष्काम सेवा के वशीभूत न हो जाए। उसका प्रेम कितना गहरा, कितना पवित्र, कितना अगाध है। इस अवस्था में कोई दूसरी स्त्री ईर्ष्या से बावली हो जाती, मुझसे नहीं तो सुशीला से तो अवश्य ही जलन लगती, आप कुढ़ती, उसे व्यंग्यों से छेदती और मुझे धूर्त, कपटी, पाषाण, न जानें क्या क्या कहती। पर लज्जा ने जितने विशुद्ध प्रेम भाव से सुशीला का स्वागत किया, वह मुझे कभी न भूलेगा—मालिन्य, सकीर्णता, कटुता का लेश तक न था। .. वह एक तपस्विनी थी, जिसने प्रेम पर अपना जीवन अर्पण कर दिया हो .।'[2]

'त्यागी का प्रेम' कहानी के लाला गोपीनाथ राष्ट्र सेवा, परमार्थ तथा उच्च आदर्शों के कारण विवाह नही करते। उनका नाम अनेक सस्थाओं से जुड़ा हुआ है। वे एक कन्या पाठशाला भी खोलते हैं, जिसमें शिक्षा की विभिन्न आधुनिक पद्धतियों का प्रयोग करते हैं। पाठशाला चल निकलती है। एक सुशिक्षिता गुजराती महिला, (आनन्दी बाई) जो विधवा है, पाठशाला की प्रधानअध्यापिका है। वे एक अच्छी लेखिका भी हैं। शनै शनै दोनों (गोपीनाथ और आनन्दी बाई) में प्रेम हो जाता है, किन्तु जिस दिन यह रहस्य गोपीनाथ पर खुलता है, वे आनन्दी बाई से मिलना छोड़ देते हैं। आखिर आनन्दी बीमार पड़ जाती है, तो कुशल पूछने जाते हैं। गोपीनाथ के लिए प्रेम से अधिक नाम प्यारा था, अत: आनन्दी प्रेम के लिए आत्मोत्सर्ग करने का विश्वास दिलाती है—

'आनन्दी ने गोपीनाथ का हाथ धीरे से अपने हाथ में ले कर कहा, "अब तो कभी इतनी कठोरता न कीजिएगा?"

गोपीनाथ (सचित हो कर), "अन्त क्या है?"

---

१ मानसरोवर, भाग ८, पृष्ठ १७१-१७२

२. मानसरोवर, भाग ८, पृष्ठ १७३

आनन्दी, "कुछ भी कहो।"

गोपी, "कुछ भी हो?"

आनन्दी, "हाँ, कुछ भी हो।"

गोपी, "अपमान, निन्दा, उपहास, आत्मवेदना।"

आनन्दी, "कुछ भी हो, मैं सब कुछ सह सकती हूँ और आपको भी मेरे हेतु सब कुछ सहना पड़ेगा।"

गोपी, "आनन्दी, मैं अपने को प्रेम पर बलिदान कर सकता हूँ, लेकिन अपने नाम को नहीं। इस नाम को अकलंकित रख कर मैं समाज की बहुत कुछ सेवा कर सकता हूँ।"

आनन्दी, "न कीजिए। आपने सब कुछ त्याग कर यह कीर्ति लाभ की है, मैं आपके यश को नहीं मिटाना चाहती। (गोपीनाथ का हाथ हृदयस्थल पर रख कर) इसको चाहती हूँ। इससे अधिक त्याग की आकांक्षा नहीं रखती।"

गोपी, "दोनों बातें एक साथ सम्भव हैं?"

आनन्दी, "सम्भव हैं। मेरे लिए सम्भव हैं। मैं प्रेम पर अपनी आत्मा को भी न्योछावर कर सकती हूँ।"[1]

दो साल बाद आनन्दी गर्भवती होती है। गोपीनाथ का विचार था कि वह पहले महीने में ही *मथुरा चली जाए, किन्तु इतने रुपए न तो गोपीनाथ* के पास थे, न आनन्दी के पास ही कि दस-बारह महीने वहाँ रह सकती। तीसरे-चौथे महीने, जब आनन्दी जाने को सोचती है, तो बीमार पड़ जाती है। इस दशा में उसके लिए यात्रा सम्भव नहीं है। गोपीनाथ डरते हैं, कहीं यहाँ और एक दो महीने रहने से बात खुल न जाए। आनन्दी की दशा सँभलने की जगह दिनोंदिन गिरती ही जाती है। भेद खुलने के भय से गोपीनाथ उसे किसी डाक्टर या वैद्य को भी नहीं दिखाते। वे चुपचाप दवाएँ लाते हैं, आनन्दी उनका सेवन करती है और दिन-दिन दुर्बल होती जाती है। वह पाठशाला से छुट्टी ले लेती है। इस बीमारी में अकेली मथुरा जाने की उसकी हिम्मत नहीं होती—*अनजान नगर में इस अवस्था में अकेली कैसे रहेगी? इसी सोच-विचार में* जब दो महीने और निकल जाते हैं, तब अन्त में विवश हो कर वह निश्चय करती है—'अब चाहे कुछ सिर पर बीते, यहाँ से चल ही दूँ। अगर सफर में मर भी जाऊँगी, तो क्या चिन्ता है? उनकी बदनामी तो न होगी, उनके यश को कलंक तो न लगेगा? मेरे पीछे ताने तो न सुनने पड़ेंगे? सफर की तैयारियाँ करने लगी। रात को जाने का मुहूर्त था कि सहसा *सन्ध्याकाल ही से प्रसव-पीड़ा होने लगी और ग्यारह बजते बजते एक नन्हा-सा दुर्बल* सतवाँसा बालक प्रसव हुआ।'[2] इस प्रकार आनन्दी ने यह भेद अन्त तक छिपाए रखा, अपनी दारुण प्रसव-पीड़ा का हाल किसी से न कहा, दाई को भी सूचना न दी; मगर बच्चे के रोने की आवाज से पाठशाला की दाई सामने आ कर खड़ी हो जाती है।

१. मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ ३७-३८

२. मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ ४०

उसके धैर्य, त्याग और आत्मसमर्पण का यहीं अन्त नहीं होता। लाला गोपीनाथ उसी दिन से उसके घर आना जाना छोड़ देते हैं। दो हफ्ते बाद वह पाठशाला से भी निकाल दी जाती है। तब वह एक तंग गली में मकान ले कर, पुस्तकों के अनुवाद कर, किसी प्रकार बच्चे के साथ जीवन यापन करती है। किन्तु लोकनिन्दा, रोग, शोक, निर्धनता सभी का सामना करते हुए भी उसे गोपीनाथ से कोई शिकायत नहीं है—'अब वह दुखिया एक तंग मकान में रहती थी, कोई पूछनेवाला न था। बच्चा कमजोर, खुद बीमार, कोई *आगे, न पीछे, न कोई दुःख का संगी, न साथी।* शिशु को गोद में लिए दिन के दिन बे दाना पानी पड़ी रहती थी। एक बुढ़िया महरी मिल गई थी, जो बर्तन धो कर चली जाती थी। कभी कभी शिशु को छाती से लगाए रात की रात रह जाती। पर धन्य है, उसके धैर्य और सन्तोष को। लाला गोपीनाथ से न मुँह में शिकायत थी, न दिल में। सोचती, इन परिस्थितियों में उन्हें मुझसे पराङ्मुख ही रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। उनके बदनाम होने से नगर की कितनी बड़ी हानि होती। सभी उन पर सन्देह करते हैं, पर किसी को यह साहस तो नहीं हो सकता कि उनके विपक्ष में कोई *प्रमाण दे सके।*''[1]

इस घटना के बाद लाला गोपीनाथ बदनामी से बचने के लिए नित्य बारह बजे रात्रि में आनन्दी के घर आते हैं और वह उनका स्वागत करती है। गोपीनाथ नाम पर मरते हैं, आनन्दी प्रेम पर।

'वरदान' उपन्यास की माधवी प्रताप से, जिसे उसने केवल एक बार देखा था और जो अब लापता है, उसके प्रशंसनीय गुणों के कारण, प्रेम करती है। कुछ दिनों के बाद वह स्वप्न में देखती है कि प्रताप संन्यासी हो गए। उस दिन से वह भी संन्यासिनी का सा जीवन अपनाती है। इस प्रकार प्रेम के स्वप्न देखने में दस वर्ष निकल जाते हैं। प्रताप, *जो 'बालाजी' के नाम से प्रसिद्ध हैं, उस नगर में आते हैं और जब उन्हें माधवी के अपूर्व त्याग की बात ज्ञात होती है, वह विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करने को तैयार हो* जाते हैं। किन्तु, माधवी ही नहीं चाहती कि उसके भौतिक सुख के लिए बालाजी का जीवनादर्श अवरुद्ध हो जाए—

'बालाजी के नेत्र सजल हो गए और मुख पर जातीयता के मद का उन्माद सा छा गया। भारत माता! आज इस पतित अवस्था में भी तुम्हारे अंक में ऐसी ऐसी देवियाँ खेल रही हैं, जो एक भावना पर अपने यौवन और जीवन की आशाएँ समर्पण कर सकती हैं। ··जिस प्रेम ने एक स्त्री का जीवन जला जला कर भस्म कर दिया हो, उसके लिए *एक मनुष्य के धैर्य को जला डालना कोई बात नहीं।* प्रेम के सामने धैर्य कोई वस्तु नहीं है। वे बोले, *"माधवी! तुम जैसी देवियाँ भारत का गौरव हैं। मैं बड़ा भाग्यवान हूँ कि* तुम्हारे प्रेम-जैसी अनमोल वस्तु इस प्रकार हाथ आ रही है। यदि तुमने मेरे लिए योगिनी बनना स्वीकार किया है, तो मैं भी तुम्हारे लिए इस सन्यास और वैराग्य को त्याग सकता

---

१ मानसरोवर, भाग ६ पृष्ठ ४२

हूँ। जिसके लिए तुमने अपने को मिटा दिया है, वह तुम्हारे लिए बडा से-बडा बलिदान करने से भी नही हिचकिचाएगा।"

माधवी इसके लिए पहले से ही प्रस्तुत थी, तुरत बोली, "स्वामीजी। मै परम अबला और बुद्धिहीन स्त्री हूँ। परन्तु, मै आपको विश्वास दिलाती हूँ कि निज विलास का ध्यान आज तक एक पल के लिए भी मेरे मन में नही आया। यदि आपने यह विचार किया कि मेरे प्रेम का उद्देश्य केवल यह है कि आपके चरणों में सासारिक बन्धनो की बेडियाँ डाल दूँ, तो (हाथ जोड कर) आपने इसका तत्त्व नही समझा। मेरे प्रेम का उद्देश्य वही था, जो आज मुझे प्राप्त हो गया। आज का दिन मेरे जीवन का सबसे शुभ दिन है। आज मै अपने प्राणनाथ के सम्मुख खड़ी हूँ और अपने कानों से उनकी अमृतमयी वाणी सुन रही हूँ।"[1]

बालाजी पूर्ववत् जाति सेवा करते हैं और माधवी मतवाली योगिनी के वेश में देश देश भ्रमण करती हुई उनकी सुकीर्ति गाती है।

'गोदान' उपन्यास में मेहता के प्रति मालती का प्रेम भी वर्णनातीत है। मेहता के प्रति अपने प्रेम के कारण मालती उन्हे इसलिए विवाह में आबद्ध नही करना चाहती कि मेहता की समाज सेवा, त्याग और महानता के लिए वह (विवाह) बाधक सिद्ध होगा। इस दृष्टि से मालती का त्याग और आत्मसमर्पण अनुपम हैं। वह मेहता से, जो उससे विवाह का प्रस्ताव करते हैं, कहती है, "तुम्हारे जैसे विचारवान् प्रतिभाशाली मनुष्य की आत्मा को मै इस कारागार में बन्द नहीं करना चाहती। अब तक तुम्हारा जीवन यज्ञ था, जिसमें स्वार्थ के लिए बहुत थोडा समय था। मैं उसको नीचे की ओर न ले जाऊँगी। ससार को तुम जैसे साधकों की जरूरत है, जो अपनेपन को इतना फैला दें कि सारा ससार अपना हो जाए।"[2]

विशुद्ध और आदर्श प्रेम के उपर्युक्त चित्रणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेमचन्द की मान्यता है कि जहाँ वास्तविक प्रेम होगा, वहाँ किसी भी दशा में सेवा, त्याग, आत्मसमर्पण, क्षमा, उदारता आदि दिव्य भावों का ही वास होगा, न कि प्रतिक्रिया, प्रति हिंसा, प्रतिशोध अथवा ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध और घृणा-जैसी अधम वृत्तियों का। 'दो सखियाँ' कहानी की पद्मा कहती है, "वह प्रेम प्रेम नही है, जो प्रत्याघात की शरण ले। प्रेम का आदि भी सहृदयता है और अन्त भी सहृदयता।"[3] 'विश्वास' कहानी में मिस जोशी कहती है, "प्रेम प्रतिकार नहीं करता, प्रेम से दुराग्रह नहीं होता।"[4] 'गबन' उपन्यास का रमानाथ कहता है, "जहाँ एक बार प्रेम ने वास किया हो, वहाँ उदासीनता और विराग चाहे पैदा हो जाए, हिंसा का भाव नहीं पैदा हो सकता।"[5] 'गोदान' उपन्यास की

१ वरदान, पृष्ठ १५८-१५६

२. गोदान, पृष्ठ ४४४

३. मानसरोवर, भाग, ४ पृष्ठ २३७

४ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ २१

५ गबन, पृष्ठ २६६

मालती मेहता से कहती है, "मैं प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती हूँ। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है। सन्देह का वहाँ जरा भी स्थान नहीं है और हिंसा तो सन्देह का ही परिणाम है। वह सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बन कर नहीं, उपासक बन कर ही वरदान पा सकते हो।"[1]

प्रेमचन्द की यह भी मान्यता है कि प्रेम के उच्च आदर्शों का पालन नारियाँ ही कर सकती हैं, पुरुष नहीं, क्योंकि पुरुष बहुधा प्रेम को वासना से पृथक नहीं रख पाते। 'दो सखियाँ' कहानी का भुवन कहता है, "प्रेम के ऊँचे आदर्श का पालन रमणियाँ ही कर सकती हैं। पुरुष कभी प्रेम के लिए आत्मसमर्पण नहीं कर सकता—वह प्रेम को स्वार्थ और वासना से पृथक नहीं कर सकता।"[2] प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों के अनेक पात्र इस तथ्य को उदाहृत करते हैं।[3]

'हार की जीत' कहानी की लज्जावती के आत्मोत्सर्ग का वर्णन किया जा चुका है। वह अपने प्रेमी (शारदाचरण) और उसकी प्रेयसी के सुख के लिए प्रसन्नतापूर्वक स्वयं हट जाना चाहती है। उसे शारदाचरण पर कभी सन्देह नहीं होता, उस पर वह कभी अविश्वास नहीं करती। उसे विश्वास है कि यदि उसके पिता जोर दें, तो शारदाचरण अब भी उससे विवाह कर लेंगे और उसके लिए अपनी प्रेयसी (सुशीला) को भूलने की चेष्टा करेंगे। लज्जावती सुशीला को इस प्रकार अपने साथ रखती है, जैसे वह उसकी छोटी बहन हो।

---

१ गोदान पृष्ठ ४०८-४०९

२ मानसरोवर भाग ४, पृष्ठ २३७

३ हमारा उद्देश्य नारी-चित्रण ही है। अत, यहाँ कुछ ही ऐसे पुरुष-पात्रों के उदाहरण पर्याप्त होंगे जो प्रेम के उच्च आदर्श का पालन नहीं करते, या जो प्रेम को स्वार्थ और वासना से पृथक नहीं रख पाते। 'मर्यादा की वेदी' कहानी में मन्दार कुमार अपनी विवाहिता प्रेयसी (प्रभा) को बलपूर्वक उड़ा ले जाने के लिए उसके महल म पहुँच जाता है, 'हार की जीत' कहानी म शारदाचरण का लज्जावती के प्रति प्रेम सुशीला के सौन्दर्य की एक झलक में ही लुप्त हो जाता है, 'कायर' कहानी का ब्राह्मण केशव पहले तो अपनी सहपाठिनी वैश्य-कन्या प्रेमा से जोर दे कर कहता है कि वह समाज के बन्धनों को तोड़ कर भी उससे विवाह करे, किन्तु जब वह अपने माता पिता को राजी कर लेती है, तो वह सिर्फ इसलिए अस्वीकार कर देता है कि उसके पिता ने उसे, यह विवाह करने पर, स्वार्जित सम्पत्ति में से एक कौड़ी भी न देने की धमकी दी है, 'रंगभूमि' उपन्यास में विनय का सोफिया के प्रति प्रेम कई स्थलों पर वासनात्मक हो जाता है, 'कर्मभूमि' उपन्यास में अमरकान्त का सकीना और मुन्नी से प्रेम निवेदन वासनात्मक ही है, 'गोदान' उपन्यास के आदर्शवादी मेहता भी प्रेम को खूँखार शेर कहते हैं, जो अपने शिकार पर किसी की नजर भी नहीं पड़ने दे सकता। इसके विपरीत कर्त्तव्य पर उत्सर्ग होने वाली और प्रेम में क्षमाशील नारियों का प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में बार-बार वर्णन हुआ है। किन्तु पुरुषों में भी अपवाद हैं। उदाहरणत, 'सती' कहानी का रत्न सिंह, 'धर्मसंकट' कहानी का रूपचन्द, 'प्रतिज्ञा' उपन्यास का अमृतराय, 'कायाकल्प' उपन्यास का चक्रधर आदि।

'ऐक्ट्रस' कहानी की तारा अपने प्रेमी को इस आशय का पत्र लिख कर छोड़ जाती है कि वे विवाह कर लेंगे, तभी वह आ कर उनके दर्शन करेगी, क्योंकि वह अपने को उनके योग्य नहीं पाती।

'दो सखियाँ' कहानी में कुसुम और पद्मा दोनों ही विनोद से प्रेम करती हैं। पद्मा तो कुसुम और विनोद का एक दूसरे को देख कर मुसकुराना भी सहन नहीं कर पाती, किन्तु कुसुम का प्रेम आदर्श प्रेम की श्रेणी में आता है। वह समझती है कि वह सुन्दर नहीं है और विनोद का झुकाव पद्मा की ओर ही है। उसे इसका दुःख नहीं होता। उसके प्रेम में वासना नहीं है। पद्मा और विनोद के विवाह में सबसे अधिक प्रसन्न कुसुम ही रहती है। 'उसका हृदय निष्कपट है, उसमें न ईर्ष्या है, न तृष्णा, सेवा ही उसके जीवन का मूल तत्त्व है।'' कुसुम पद्मा के आभूषणों के चुनाव और सजाव, वस्त्रों के रंग और काट छाँट की पूरी जिम्मेवारी ले कर जब विवाह के दिन उसे दुलहन बनाती है, तो वह अपना रूप देख कर चकित हो जाती है।

कुछ महीनों में ही विनोद पद्मा की विलासी और गर्वशील प्रकृति के कारण तथा उसे पर पुरुष में अनुरक्त देख कर, दुखी हो कर, घर छोड़ देता है। घर छोड़ कर वह कुसुम के पास जाता है, पर वहाँ भी उसकी तबीयत नहीं लगती, तो वह बम्बई चला जाता है और वहाँ से विलायत जाने का निर्णय करता है। कुसुम बहुत चाहती है कि वह विनोद को पद्मा के पास वापस भेज दे, पर विनोद तैयार नहीं होता। कुसुम उससे बम्बई का पता पूछ लेती है। विनोद वहाँ का पता बता तो देता है, किन्तु पता गुप्त रखने की ताकीद भी कर देता है। कुसुम पद्मा को वह पता बताती हुई लिखती है कि वह उस पते से विनोद को तार दे दे, शायद वे रुक जाएँ।

बम्बई पहुँचने पर विनोद कुसुम को एक पत्र लिखता है, जिसके अन्त में ये पंक्तियाँ हैं, 'मैं इस जीवन से तंग आ गया हूँ, अब मेरे लिए मौत के सिवा और कोई उपाय नहीं है।' कुसुम उसी वक्त बम्बई के लिए रवाना हो जाती है और विष पान के कारण मरणासन्न विनोद के प्राणों की, हर सम्भव उपाय से रक्षा करती है। इसके बाद वह विनोद को ले कर पद्मा के पास आती है और दोनों की गलतफहमियाँ दूर करती है। अन्त में वह पद्मा को समझाती है, "अब तुम्हारी वस्तु तुम्हें सौंपती हूँ। मुझे आशा है, इस दुर्घटना ने तुम्हें इतना सचेत कर दिया होगा कि फिर ऐसी नौबत न आएगी। आत्मसमर्पण करना सीखो। भूल जाओ कि तुम सुन्दरी हो, आनन्दमय जीवन का यही मूल-मन्त्र है। मैं डींग नहीं मारती, लेकिन चाहूँ तो आज विनोद को तुमसे छीन सकती हूँ। लेकिन, रूप में मैं तुम्हारे तलुओं के बराबर नहीं।"[२]

'कायाकल्प' उपन्यास में मनोरमा और चक्रधर एक दूसरे से प्रेम करते हैं, किन्तु चक्रधर इतने लज्जाशील हैं कि वे अपना प्रेम प्रकट नहीं कर पाते। चक्रधर के विवाह की

१ मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २२६

२. मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २७७

बातचीत दूसरी जगह चलते देख और चक्रधर द्वारा कन्या (अहल्या), को पसन्द कर आने की बात उन्हीं के मुख से सुन कर, मनोरमा बूढ़े राजा से विवाह कर लेती है। जिस दिन चक्रधर वधू के रूप में अहल्या को ले आते हैं, रानी मनोरमा क्षुधित नेत्रों से अहल्या को देखती हुई कहती है, "तुमसे मिलने की बहुत दिनों से इच्छा थी। मैंने अपने मन में तुम्हारी जो कल्पना की थी, तुम ठीक वैसी ही निकली। तुम ऐसी न होती, तो बाबूजी तुम पर रीझते ही क्यों? अहल्या, तुम बड़ी भाग्यवान् हो। तुम्हारी-जैसी भाग्यशाली स्त्रियाँ बहुत कम होंगी। तुम्हारा पति मनुष्यों में रत्न है, सर्वथा निर्दोष एवं सर्वथा निष्कलंक।" किन्तु, मनोरमा को उससे ईर्ष्या नहीं है। वह उससे आगे कहती है, "मैं संसार में अकेली थी। तुम्हें पा कर दुकेली हो जाऊँगी। ..आज से तुम मेरी सहेली हो। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि हम और तुम चिरकाल तक स्नेह के बन्धन में बँधे रहें।"[1]

'कर्मभूमि' उपन्यास की सकीना अमर से प्रेम करती है, किन्तु उसकी पत्नी (सुखदा) से उसे ईर्ष्या नहीं। इसके विपरीत वह सुखदा से उसी स्नेह से मिलती है, जिस स्नेह से वह अपनी बहन से मिलती है और उसकी हार्दिक इच्छा है कि सुखदा और अमर फिर मिल जाएँ। सकीना सुखदा से कहती है, "मैं आपसे सच्चे दिल से कहती हूँ बहन, मेरे लिए इससे बड़ी खुशी की बात नहीं हो सकती कि आप और वह फिर मिल जाएँ, आपस का मनमुटाव दूर हो जाए। मैं उस हालत में और भी खुश रहूँगी। मैं उनके साथ न गई, इसका यही सबब था।" वह सुखदा को सलाह देती है, "अब तो उनका पता मालूम हो गया है, आप एक बार उनके पास चली जाएँ। *वह खिदमत के गुलाम हैं और खिदमत से ही आप उन्हें* अपना सकती हैं।"[2] सुखदा उसकी सलाह नहीं मानती, यह दूसरी बात है।

'वरदान' उपन्यास की वृजरानी प्रताप से प्रेम करती है, किन्तु उसका विवाह कमलाचरण से होता है। विवाह के बाद विरजन अपने दाम्पत्य जीवन के कर्त्तव्य पूरे करती है और कमलाचरण का प्रेम पा कर सुखी जीवन व्यतीत करती है। परन्तु, प्रताप को भी सुखी देखने के लिए वह उसके लिए माधवी को चुनती है। यह वृजरानी के उदार, कर्त्तव्यपूर्ण, सेवाशील प्रेम की पराकाष्ठा है—'*यदि प्रताप को वृजरानी से हार्दिक सम्बन्ध था, तो वृजरानी भी प्रताप के प्रेम में पगी हुई थी।* जब कमलाचरण से उसके विवाह की बात पक्की हुई, तो वह प्रतापचन्द्र से कम दुखी न हुई। हाँ, लज्जावश उसके हृदय के भाव कभी प्रकट न होते थे। विवाह हो जाने के पश्चात् उसे नित्य यह चिन्ता रहती थी कि प्रताप के पीड़ित हृदय को कैसे तसल्ली दूँ? मेरा जीवन तो इस भाँति आनन्द से बीतता है। बेचारे प्रताप के ऊपर न जाने कैसी बीतती होगी। माधवी उन दिनों ग्यारहवें वर्ष में थी। उसके रंग रूप की सुन्दरता, स्वभाव और गुण देख देख कर आश्चर्य होता था। विरजन को अचानक यह ध्यान आया कि क्या मेरी माधवी इस योग्य नहीं कि प्रताप उसे अपने कण्ठ का हार बनाएँ? उस दिन से वह माधवी के सुधार और प्यार में और भी अधिक प्रवृत्त हो गई। वह सोच सोच कर मन ही मन फूली न

१. कायाकल्प, पृष्ठ २१३
२. कर्मभूमि, पृष्ठ १६६

समाती कि जब माधवी सोलह-सत्रह वर्ष की हो जाएगी, तब मैं प्रताप के पास जाऊँगी और उससे हाथ जोड कर कहूँगी कि माधवी मेरी बहिन है। उसे आज से तुम अपनी चेरी समझो। क्या प्रताप मेरी बात टाल देंगे? नही, वे ऐसा नहीं कर सकते।"

'गोदान' उपन्यास में डॉ मेहता और मालती में प्रेम के उदात्त और हीन स्वरूपों पर बहस होती है। मालती नारी है और वह निस्स्वार्थ प्रेम को महत्त्व देती है—

मेहता मालती से, "अच्छा, मान लो, मैं तुमसे विवाह करके कल तुमसे बेवफाई करूँ, तो तुम मुझे क्या सजा दोगी?" .

"मैं उसका कारण खोजूँगी और उसे दूर करूँगी।"

"मान लो, मेरी आदत न छूटे?"

"फिर मै नहीं कह सकती, क्या करूँगी। शायद विष खा कर सो रहूँ।"

"लेकिन यदि तुम मुझसे यही प्रश्न करो, तो मैं उसका दूसरा जवाब दूँगा।"

मालती ने सशक हो कर पूछा, "बतलाओ।"

मेहता ने दृढता के साथ कहा, "मै पहले तुम्हारा प्राणान्त कर दूँगा, फिर अपना।"...

".. तुम तो ऐसे हिंसावादी नही जान पडते।"

"नही मालती, इस विषय में पूरा पशु हूँ और उस पर लज्जित होने का कोई कारण नहीं देखता। आध्यात्मिक प्रेम और त्यागमय प्रेम और नि स्वार्थ प्रेम जिसमें आदमी अपने को मिटा कर केवल प्रेमिका के लिए जीता है, उसके आनन्द से आनन्दित होता है और उसके चरणों पर अपनी आत्मा समर्पण कर देता है, मेरे लिए निरर्थक शब्द हैं। मैंने पुस्तकों में ऐसी प्रेम कथाएँ पढी हैं, जहाँ प्रेमी ने प्रेमिका के नए प्रेमियों के लिए अपनी जान दे दी है, मगर उस भावना को मैं श्रद्धा कह सकता हूँ, सेवा कह सकता हूँ, प्रेम कभी नहीं। प्रेम सीधी-सादी गऊ नहीं, खूँख्वार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नहीं पडने देता।"

मालती ने उनकी आँखों में आँखें डाल कर कहा, "अगर प्रेम खूँख्वार शेर है, तो मैं उससे दूर ही रहूँगी। मैंने तो उसको गाय समझ रखा था। मै प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती हूँ। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है। सन्देह का वहाँ जरा भी स्थान नही और हिंसा तो सन्देह का ही परिणाम है। वह सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बन कर नहीं, उपासक बन कर ही वरदान पा सकते हो।"

'वह उठ कर खड़ी हो गई और तेजी से नदी की तरफ चली, मानों उसने अपना खोया हुआ मार्ग पा लिया हो। .. और मेहता से उसे जो श्रद्धा थी, उसे एक धक्का सा लगा, मानो कोई शिष्य अपने गुरु को कोई नीच कर्म करते देख ले। उसने देखा, मेहता की बुद्धि प्रखरता प्रेमतत्व की पशुता की ओर खींचे लिए जाती है और उसके देवत्व की ओर से आँखें बन्द किए लेती है और यह देख कर उसका दिल बैठ गया।

मेहता ने कुछ लज्जित हो कर कहा, "आओ, कुछ देर और बैठें।"

---

१. वरदान, पृष्ठ १३२

मालती बोली, "नहीं, अब लौटना चाहिए। देर हो रही है।"[1]

इस प्रकार प्रेम आत्मोन्नति में सहायक होता है, यह आत्मा का परिष्कार करता है और जीवन को सुधारता है। 'दो सखियाँ' कहानी में विनोद लिखता है—'अनुराग ही आत्मोन्नति का मुख्य साधन है।'[2]

'हार की जीत' कहानी में लज्जावती के प्रेमी के प्रति आत्मसमर्पण और निस्स्वार्थ सेवा से प्रभावित हो कर इस प्रेमी की दूसरी प्रेमिका (सुशीला) उसे पत्र लिखती है—'मेरा आपसे यही अनुरोध है कि लज्जा को हाथ से न जाने दीजिए। वह नारी रत्न है। *मैं जानती हूँ कि मेरा रंग-रूप उससे कुछ अच्छा है और कदाचित् आप उसी प्रलोभन में* पड़ गए, लेकिन मुझमें वह त्याग, वह सेवा भाव, वह आत्मोत्सर्ग नहीं है। मैं आपको *प्रसन्न रख सकती हूँ, पर आपके जीवन को उन्नत नहीं कर सकती, उसे पवित्र और यशस्वी* नहीं बना सकती। लज्जा देवी है, वह आपको देवता बना देगी।'[3]

नारी को जब सच्चा प्रेम मिलता है, तो सहज ही उसका आत्मसुधार होता है। वे नारियाँ भी, जिनका अस्तित्व समाज में तितलियों की भाँति है और जो अपने रंग रूप के आकर्षण से जहाँ तहाँ प्रेम मधु पान करती रहती हैं अथवा वे स्त्रियाँ भी, जो प्रेम की हाट सजाती हैं, जिन्हें सच्चे प्रेम की सुगन्ध भी नहीं मिल पाती, यदि कभी विशुद्ध प्रेम के सम्पर्क में आती हैं, तो उनकी भी आत्मा उसके प्रकाश से निर्मल हो जाती है। फिर तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि ये वे ही नारियाँ हैं, जो चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए प्रेम का व्यवसाय किया करती थीं। 'विश्वास' कहानी की मिस जोशी, 'एक्ट्रेस' कहानी की तारा, 'गबन' उपन्यास की जोहरा तथा 'गोदान' उपन्यास की मालती ऐसी ही नारियाँ हैं। वे प्रेम का बदला प्रेम से, विश्वास का बदला विश्वास से देती हैं। प्रेम और विश्वास पा कर उनके जीवन में एक नया मोड़ आ जाता है। उनका जीवन विलासिता और छल-कपट के बदले तप और व्रत, सेवा और कर्त्तव्य, त्याग और क्षमा से पूर्ण हो जाता है। *उनके जीवन का मिथ्या अंश मिट जाता है। वे इसलिए तितलियाँ थीं, वारांगनाएँ थीं* कि प्रेम के इस दिव्य रूप से वे अनभिज्ञ थीं। इस सम्बन्ध में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—'प्रेमचन्द के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। *वह मानसिक गन्दगी को* दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नई ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है। यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहाँ सेवा और त्याग नहीं, वहाँ प्रेम भी नहीं, वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रेमचन्द का पात्र जब प्रेम करने लगता है, तो सेवा की ओर अग्रसर होता है और अपना सर्वस्व परित्याग कर देता है।'[4]

१ गोदान पृष्ठ ४०७ ४१०
२ मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २५३
३ मानसरोवर, भाग ८, पृष्ठ १७८
४ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृष्ठ ४३७

: ८ :

नारी और वैधव्य

प्रेमचन्द युग में पुरुष के अत्याचारों से नारी यों ही पीडित थी, किन्तु विधवा तो पुरुष और स्त्री दोनों की दृष्टि में पतित थी। उसे घर के सारे कार्य करने पड़ते थे, सबकी सेवा और खुशामद करनी पड़ती थी, फिर भी वह आदर और सहानुभूति का नहीं, घृणा का पात्र समझी जाती थी। वह शुभ-कार्यो से बहिष्कृत, पतिघातिनी, पापिनी और जाने क्या-क्या समझी जाती थी। यही नहीं, ये बातें उसके मुँह पर कह कर उसका अपमान भी किया जाता था। विधवा की उम्र जितनी कम होती थी, उस पर अत्याचार भी उतना ही ज्यादा होता था। वह बाल विधवा हो, या निस्सन्तान युवती, या निराश्रित और अनाथ, किसी भी स्थिति में, समाज की दृष्टि में, उसका पुनर्विवाह वांछित न था। उसके भाग्य में जीवन-भर दुःख भोगना ही लिखा था। उस पर से समाज और परिवार का अपमान, अवहेलना तथा पुरुषों द्वारा दिए जानेवाले प्रलोभन। यदि वे ऐसे किसी प्रलोभन में फँस जाती थी, तो उनके लिए सिवा आत्महत्या, वेश्या-वृत्ति अथवा धर्म परिवर्तन के और कोई रास्ता नहीं रह जाता था। अपने परिवार और समाज में उनके लिए कोई स्थान नहीं रहता था।

अरक्षित और सम्पन्न विधवाओं के हितैषी बनने वाले बहुतेरे व्यक्ति निकल आते थे, किन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य तो ऐसी स्त्री का सर्वस्वापहरण ही रहता था। निस्सन्तान विधवाओं को तो पति की सम्पत्ति में थोडा हिस्सा भी नहीं मिलता था। उन्हें केवल भरण-पोषण का हक था।

इस प्रकार विधवाओं की समस्या के दो पहलू थे—(१) नैतिक और (२) आर्थिक। विधवा-विवाह इन दोनों का सर्वोत्तम समाधान था। अतः, समाज सुधारकों ने उस युग में इस बात पर बहुत जोर दिया। 'हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम' सन् १८५६ ई० में ही पारित हो गया था। ये विवाह पर्याप्त मात्रा में सम्पन्न भी हुए, किन्तु इसे सामाजिक मान्यता न मिल सकी। अतः, विधवाओं की दशा सुधारने के लिए विधवाश्रमो की स्थापना पर भी बल दिया गया। बगाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महाराष्ट्र में महादेव गोविन्द रानाडे और प्रो० कर्वे तथा पजाब और उत्तर प्रदेश में आर्यसमाज द्वारा आयोजित विधवा-विवाह और विधवाश्रम उपयुक्त कथन की पुष्टि करते हैं। इन प्रयत्नों का सविस्तर वर्णन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है।

प्रेमचन्द ने विधवा-समस्या के किसी भी पहलू और अग को नहीं छोड़ा है। पति की मृत्यु के बाद 'वरदान' उपन्यास की वृजरानी अपने को सर्वथा अनाथ समझती है, यद्यपि उसके घर में उसके ससुर, जेठ और जेठानी सभी मौजूद हैं। हिन्दू-स्त्री का पति से पृथक कोई अस्तित्व नहीं होता, इसलिए पति की मृत्यु के बाद वह अपने को अत्यन्त निरीह समझती

है। वृजरानी की 'दु ख दशा' का वर्णन प्रेमचन्द इन शब्दो में करते हैं—'सौभाग्यवती स्त्री के लिए उसका पति ससार की सबसे प्यारी वस्तु होती है। वह उसी के लिए जीती है और उसी के लिए मरती है। उसका हँसना बोलना उसी को प्रसन्न करने के लिए और उसका बनाव श्रृगार उसी को लुभाने के लिए होता है। उसका सोहाग उसका जीवन है और सोहाग का उठ जाना उसके जीवन का अन्त है। कमलाचरण की अकाल मृत्यु वृजरानी के लिए मृत्यु से कम न थी। उसके जीवन की आशाएँ और उमगें सब मिट्टी में मिल गई।'[1]

विधवा वृजरानी का अपना कष्ट कुछ कम नहीं है, उस पर उसकी सास (प्रेमवती) व्यग्य बाणों से उसके हृदय को बेधती रहती है। वृजरानी के विधवा होने के थोडे दिनों के बाद उसके ससुर को भी उनके एक दुश्मन ने मार डाला था। प्रेमवती इसके लिए भी अपनी बहू को ही दोषी ठहराती है। वह बात बात पर विरजन से चिढ जाती और कटूक्तियों से उसे जलाती। उसे यह भ्रम हो गया था कि ये सब आपत्तियाँ इसी बहू की लाई हुई हैं। यही अभागिनी जब से घर में आई, घर का सत्यानाश हो गया। इसका पौरा बहुत निकृष्ट है। कई बार उसने खोल कर विरजन से कह भी दिया, "तुम्हारे चिकने रूप ने मुझे ठग लिया। मैं क्या जानती थी कि तुम्हारे चरण ऐसे अशुभ हैं।" विरजन ये बातें सुनती और कलेजा थाम कर रह जाती। जब दिन ही बुरे आ गए, तो भली बातें क्यों कर सुनने में आएँ। यह आठों पहर का ताप उसे दु ख के आँसू भी न बहाने देते।'[2]

'धिक्कार' कहानी की मानी की दशा तो और भी बुरी है। वह निराधार विधवा है और अपने चाचा के घर विपत्ति के दिन काट रही है। उससे तीन आदमियों का काम लिया जाता है, फिर भी घर का कोई प्राणी उससे खुश नहीं रहता—'वह घर का सारा काम करती, इशारों पर नाचती, सबको खुश रखने की कोशिश करती, पर न जानें क्यों चचा और चची दोनों उससे जलते रहते। उसके आते ही महरी अलग कर दी गई। नहलाने धुलाने के लिए एक लौंडा था, उसे भी जवाब दे दिया गया। पर, मानी से इतना उबार होने पर भी चचा और चची न जानें क्या, उससे मुँह फुलाए रहते। कभी चचा घुड़कियाँ जमाते, कभी चची कोसतीं, यहाँ तक कि उसकी चचेरी बहन ललिता भी बात बात पर उसे गालियाँ देती।'[3]

शुभ कार्यों से बहिष्कृत विधवा की प्रतिक्रिया का वर्णन भी प्रेमचन्द ने किया है। उपर्युक्त कहानी में ललिता के विवाह की शुभ तिथि आती है। सभी स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हैं। विधवा मानी के शरीर पर कोई आभूषण नहीं है, न उसे अच्छे कपडे ही मिले हैं, फिर भी वह प्रसन्न है। नव वधू (ललिता) का श्रृगार किया जा रहा है। कल की बालिका को वधू वेश में देखने की इच्छा का मानी सवरण नहीं कर

१ वरदान, पृष्ठ ११५
२ वरदान, पृष्ठ ११७
३ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २०३

पाती और मुसकुराती हुई उस कमरे में प्रवेश करती है, जिसमें ललिता का शृंगार किया जा रहा है। सहसा उसे चाची की कठोर आवाज सुनाई पड़ती है, "तुझे यहाँ किसने बुलाया था, निकल जा यहाँ से।"

मानी ने बड़े-बड़े कष्ट सहे थे, किन्तु चाची की आज की यह झिड़की सुन कर उसे बड़ी ग्लानि होती है। उसका मन उसे धिक्कारता है—'तेरे छिछोरेपन का यही पुरस्कार है, यहाँ सुहागिनों के बीच में तेरे आने की क्या जरूरत थी?' वह इसी दुःख में एकान्त में जा कर खूब रोती है और आत्महत्या करना चाहती है।

सम्भ्रान्त और सुशिक्षित परिवारों में भी विधवा की दशा नौकर-चाकर से अच्छी न थी। 'निर्मला' उपन्यास की रुक्मिणी विधवा होने के बाद भाई के घर का आश्रय लेती है। मुंशी तोताराम विधवा बहन का पालन पोषण किस दृष्टि से करते हैं, यह उनके कथन से ज्ञात होता है। वे निर्मला से कहते हैं, "मैंने तो सोचा था कि विधवा हैं, अनाथ हैं, पाव भर आटा खाएँगी, पड़ी रहेंगी। जब और नौकर चाकर खा रहे हैं, तो यह तो अपनी बहन ही हैं। लड़कों की देख भाल के लिए एक औरत की जरूरत भी थी, रख लिया; लेकिन इसके यह माने नहीं है कि वह तुम्हारे ऊपर शासन करें।"[१]

उन युवती, निस्सन्तान विधवाओं की, जिनके निकट का कोई सम्बन्धी नहीं रहता था, और भी दुर्दशा थी। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की नायिका (पूर्णा) एक ऐसी ही विधवा है। विधवा पूर्णा अनाथ, निस्सन्तान, सुन्दर युवती है। उसकी ससुराल अथवा मायके में ऐसा कोई सम्बन्धी नहीं, जो उसका भरण-पोषण करे। यदि वह कपड़े सी कर और चक्की पीस कर अपना खर्च किसी भाँति निकाल भी ले, तो उसे लोगों के सन्देह और मिथ्या लांछन से बचाने वाला कोई नहीं था तथा शोहदों और बदमाशों के कारण अकेली रहना भी दुस्साध्य था। उसके उदार पड़ोसी लाला बदरी प्रसाद, जो पूर्णा की सहेली के पिता भी हैं, दया करके उसे अपने घर में स्थान देना चाहते हैं और सुविधा होने पर उसके नाम से बैंक में चार हजार रुपए जमा करने के पक्ष में भी हैं, जिससे उनके मरने के बाद पूर्णा को कोई कष्ट न हो, उसी के सूद से उसकी परवरिश होती रहे; किन्तु बाद की परिस्थितियों से स्पष्ट है कि यह विधवा की समस्या का कोई मौलिक समाधान नहीं है।

लाला बदरी प्रसाद का लोभी पुत्र पिता के इस कार्य का स्पष्ट विरोध करने का साहस नहीं रखता, अतः वह पूर्णा से जा कर मिलता है। यहाँ प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं—'उसे इसकी जरा भी चिन्ता न थी कि इस अबला का क्या भविष्य होगा। उसका निर्वाह कैसे होगा, उसकी रक्षा कौन करेगा, उसका उसे लेशमात्र भी ध्यान न था। वह केवल इस समय उसे यहाँ से टाल कर अपने रुपए बचा लेना चाहता था।'[२] फिर भी पूर्णा की सरल, निष्कलंक, दीन मूर्ति देख कर कमला प्रसाद को अपनी नीचता पर लज्जा आती है। दूसरे ही क्षण उसका ध्यान उसकी सुन्दरता पर भी जाता है और सहानुभूति तथा चाटुकारितापूर्ण बातें करके वह उसे अपने घर ले आना चाहता है। पूर्णा भी अधिक

१. निर्मला, पृष्ठ ४१

२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ३७

आपत्ति नहीं कर पाती, क्योंकि 'आश्रय विहीन अबला के लिए इस समय तिनके का सहारा ही बहुत था, तो वह नौका की कैसे अवहेलना करती।"[1]

पुरुष की वासना को विधवा की निराश्रयता किस प्रकार प्ररित करती है, यह पूर्णा की स्थिति से ज्ञात होता है। प्रमचन्द कहते हैं—'कमला प्रसाद लम्पट न था। *सबकी यही धारणा थी कि उसमें चाहे और कितने ही दुर्गुण हों, पर यह ऐब न था।* किसी स्त्री पर ताक झाँक करते उसे किसी ने न देखा था। फिर पूर्णा के रूप ने उसे कैसे गाहित कर लिया, यह रहस्य कौन समझ सकता है। कदाचित् पूर्णा की सरलता, दीनता *और आश्रय हीनता ने उसकी कुप्रवृत्ति को जगा दिया। उसकी कृपणता और कायरता* ही उसके सदाचार का आधार थी। विलासिता महँगी वस्तु है। जेब के रुपए खर्च करके भी किसी आफत में फँस जाने की जहाँ प्रतिक्षण सम्भावना हो, ऐसे काम में कमला प्रसाद जैसा चतुर आदमी न पड़ सकता था। पूर्णा के विषय में उसे कोई भय न था। वह इतनी सरल थी कि उस काबू में लाने के लिए किसी बड़ी साधना की जरूरत न थी। और फिर यहाँ तो किसी का भय नहीं, न फँसने का भय, न पिट जाने की शका। अपने घर ला कर उसने शकाओं को निरस्त्र कर दिया था।'[2]

ऐसी नीच प्रवृत्ति के व्यक्ति बातें बनाने में बड़े कुशल होते हैं। सरल तथा धार्मिक *प्रवृत्ति की विधवाओं का प्रेम, ईश्वर और धर्म के नाम पर अपनी ओर आकृष्ट करना* और इनके कारगर न होने पर प्राण दे देने तक की धमकी देना—इन व्यक्तियों के यही कुछ लटके होते हैं। कमला प्रसाद पूर्णा से एकाधिक बार कहता है, "जिस दिन से *तुम्हारी मधुर छवि देखी है, उसी दिन से तुम्हारी उपासना कर रहा हूँ। पाषाण प्रतिमाओं* की उपासना पत्र पुष्प से होती है, किन्तु तुम्हारी उपासना मैं आँसुओं से करता हूँ। मैं झूठ नहीं कहता पूर्णा। अगर इस समय तुम्हारा सकेत पा जाऊँ, तो अपने प्राणों को भी *तुम्हारे चरणों पर अर्पण कर दूँ। अवश्य ही पूर्व जन्म में तुमसे मेरा कोई घनिष्ठ* सम्बन्ध रहा होगा . अगर तुम्हारी आँखें मेरी ओर से यों ही फिरी रहीं, तो देख लेना, कमला प्रसाद की लाश या तो इसी कमरे में तड़पती हुई पाओगी, या गगा तट पर, मेरा यह निश्चय है। ..प्रेम ईश्वरीय प्रेरणा है—ईश्वरीय सन्देश है। प्रेम के ससार में आदमी की बनाई सामाजिक व्यवस्थाओं का कोई मूल्य नहीं। विवाह समाज के सगठन की केवल आयोजना है। . क्या ईश्वर ने तुम्हें इसीलिए बनाया है कि दो तीन साल प्रेम का सुख भोगने के बाद आजीवन वैधव्य की कठोर यातना सहती रहो? कभी नहीं, ईश्वर इतना अन्यायी, इतना क्रूर नहीं हो सकता। ईश्वर तुम्हें दु ख के इस अपार सागर में डूबने नहीं देना चाहते। वह तुम्हें उबारना चाहते हैं, तुम्हें जीवन के आनन्द में मग्न कर देना चाहते हैं। यदि उनकी प्रेरणा न होती, तो मुझ-जैसे दुर्बल मनुष्य के हृदय में प्रेम का उदय क्यों होता, जिसने किसी स्त्री की ओर कभी आँख उठा कर नहीं देखा,

---

१. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ४१

२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ७३-७४

वह आज तुमसे प्रेम की भिक्षा क्या माँगता होता ? मुझे तो यह दैव की स्पष्ट प्रेरणा मालूम हो रही है।"

इस प्रकार के प्रलोभनों से अत्यन्त दृढ़ चरित्र वाली विधवाएँ ही बच कर रह सकती थीं। पूर्णा सामान्य नारी है। सुमित्रा ने उसके स्वभाव का अच्छा विश्लेषण किया है, "तुम्हारा हृदय निष्कपट है। अगर तुम्हें कोई न छेड़ता, तो तुम जीवन पर्यन्त अपने व्रत पर स्थिर रहती। लेकिन, पानी में रह कर हलकोरों से बचे रहना तुम्हारी शक्ति के बाहर था। वे लंगर की नाव लहरों में स्थिर नहीं रह सकती। पड़े हुए धन को उठा लेने में किसे संकोच होता है ?"[2] पूर्णा समझती है कि कमला प्रसाद का प्रेम मिथ्या है और वह बार-बार उसका विरोध करती है, किन्तु कमला प्रसाद के प्राण-त्याग की बार बार की धमकी से उसका कोमल और निष्कपट हृदय विचलित हो जाता है। वह खूब समझती है कि बाबू साहब ईश्वर को क्यों हमेशा बीच में घसीट लाते हैं और उनके प्रेम की क्या सीमा है। वह कमला प्रसाद से कहती है, "बाबूजी, यह सब खाली बात ही-बात है। इसी मुहल्ले में दो एक ऐसी घटनाएँ देख चुकी हूँ। आपको न जाने क्यों मेरे इस रूप पर मोह हो गया है। अपने दुर्भाग्य के सिवा इसे और क्या कहूँ ? जब तक आपकी इच्छा होगी, अपना मन बहलाइएगा, फिर बात भी न पूछिएगा, यह सब समझ रही हूँ। ईश्वर का आप बार-बार बीच में घसीट लाते हैं, इसका मतलब समझ रही हूँ। ईश्वर किसी को कुमार्ग की ओर नहीं ले जाते। इसे चाहे प्रेम कहिए, चाहे वैराग्य कहिए, लेकिन है कुमार्ग ही। मैं इस धोखे में नहीं आने की, आज जो कुछ हो गया, हो गया, अब भूल कर भी मेरी ओर आँख न उठाइएगा, नहीं तो मैं यहाँ न रहूँगी। यदि कुछ न हो सकेगा, तो डूब मरूँगी।"[3]

फिर भी वह कमला प्रसाद के 'मायाजाल' में उलझती जाती है, क्योंकि 'धन में चाहे आदमी का जी भर जाए, प्रेम से तृप्ति नहीं होती। ऐसे कान बहुत कम हैं, जो प्रेम के शब्द सुन कर फूल न उठें।'[4] कमला प्रसाद एक और कौशल रचता है। वह पूर्णा के संस्कारों का, पाप और पुण्य में उसकी आस्था को, उसकी पति भक्ति और संयम को भी तर्क से काट देता है, 'आखिर विवाहिता ही क्या पुरुष को जंजीर में बाँध रखती है ? वहाँ भी तो पुरुष वचन ही का पालन करता है ? जो वचन का पालन नहीं करना चाहता, क्या विवाह उसे किसी तरह मजबूर कर सकता है ? सुमित्रा मेरी विवाहिता हो कर ही क्या ज्यादा सुखी हो सकती है ? यह तो मन मिले की बात है। जब विवाह के अवसर पर बिना जाने बूझे कही जाने वाली बात का इतना महत्त्व है, तो क्या प्रेम से भरे हुए हृदय से निकलने वाली बात का कोई महत्त्व ही नहीं ?"[5] इसी प्रकार वह पूर्णा से अन्यत्र कहता है, "साधारण कामों में जब हमसे कोई भूल हो जाती है, तो हम उसे तुरन्त सुधारते हैं। तब

१ प्रतिज्ञा पृष्ठ ९१ ९४
२ प्रतिज्ञा, पृष्ठ २७१
३ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ९८-९९
४ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १७२
५ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १६६

जीवन को हम क्यों एक भूल के पीछे नष्ट कर दें? अगर आज किसी दैवी बाधा से यह मकान गिर पड़े, तो हम कल ही इसे बनाना शुरू कर देंगे, मगर जब किसी अबला के जीवन पर दैवी आघात हो जाता है, तो उससे आशा की जाती है कि वह सदैव उसके नाम का रोती रहे। यह कितना बड़ा अन्याय है। पुरुषों ने यह विधान केवल अपनी काम वासना को तृप्त करने के लिए किया है। स्त्रियों के लिए पतिव्रता धर्म की पख लगा दी। पुन संस्कार होता, तो इतनी अनाथ स्त्रियाँ उसके पंजे में कैसे फँसतीं? बस, यही सारा रहस्य है। न्याय तो हम समझते, जब पुरुषों को भी यही निषेध होता।"[1]

कमला प्रसाद क इन तर्कों से पूर्णा का हृदय विचलित हो जाता है। फलतः उसके मन में पति भक्ति, सयम और व्रत के विरुद्ध तरह-तरह के विचार उठने लगते हैं—'क्या वह मर जाती, तो उसके पति पुनर्विवाह न करते? अभी उनकी अवस्था ही क्या थी? *पच्चीस वर्ष की अवस्था में क्या वह विधुर-जीवन का पालन करते? कदापि नहीं। अब* उसे याद ही न आता था कि पण्डित वसन्त कुमार ने उसके साथ कभी इतना अनुरक्त प्रेम किया था। स्वर्ग और नरक सब ढकोसला है। अब इससे दु:खदायी नरक क्या होगा? जब नरक ही में रहना है, तो नरक ही सही। कम से कम जीवन के कुछ दिन ता आनन्द से कटेंगे, जीवन का कुछ सुख तो मिलेगा। जिससे प्रेम हो, वही अपना सब कुछ है। विवाह और संस्कार सब दिखावा है। चार अक्षर संस्कृत पढ देने से क्या होता है? मतलब तो यही है न कि किसी प्रकार स्त्री का पालन पोषण हो। उँह, इस चिन्ता में क्यों कोई मरे? विवाह क्या स्त्री को पुरुष से बाँध देता है? वह भी मन मिले ही का सौदा है। स्त्री और पुरुष का मन न मिला, तो विवाह क्या मिला देगा? विवाह होने पर भी तो पुरुष की जब इच्छा होती है, स्त्री को छोड देता है। बिना विवाह के भी तो स्त्री पुरुष *आजीवन प्रेम से रहते हैं।*'[2]

यहाँ यह कहना असगत न होगा कि पूर्णा के उपरोक्त तर्कों पर कमला प्रसाद के विचारों का स्पष्ट प्रभाव है और इसमें सन्देह नहीं कि वे पूर्णा के लिए खतरनाक हैं।

'प्रेमाश्रम' उपन्यास की गायत्री के रूप में प्रेमचन्द ने *इन निस्सन्तान युवती* विधवाओं की स्थिति का भी चित्रण किया है, जो सम्पत्ति की स्वामिनी होती थीं। गायत्री की छोटी बहन का पति (ज्ञानशकर) गायत्री के धन और प्रेम, दोनों को अपनाना चाहता है। *पूर्णा की भाँति गायत्री भी एक सती-साध्वी स्त्री है और यदि* उसे कोई छेड़ता नहीं, तो वह आजन्म अपने व्रत का पालन करती, किन्तु ज्ञानशकर चतुर शिकारी की भाँति उसके भेद्य स्थल पर ही अपना बाण चलाता है। गायत्री निस्सन्तान है, अतः उसके जीवन *की अभिलाषाएँ अपने तक ही सीमित हैं। वह गर्वशील, खुशामदपसन्द,* आदर और मानप्रिय तथा धार्मिक प्रवृत्ति की स्त्री है। ज्ञानशकर उसकी इन्हीं भावनाओं और अभिलाषाओं को तृप्त कर उसके हृदय में स्थान पाने का प्रयत्न करता है। पहले वह एक पत्रिका में, गायत्री की जीवनी के रूप में, एक प्रशसात्मक लेख लिखता है। यद्यपि उसने

१ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ११७-११८

२ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १६९-१७०

यह लेख अपने ससुर की प्रेरणा से लिखा था, किन्तु उसने उस लेख को गायत्री के हृदय को जीतने का साधन माना था। वह लेख को इतना पसन्द करती है कि ज्ञानशंकर को अपने इलाके का मैनेजर नियुक्त कर देती है। इसी लेख के आधार पर गायत्री को रानी की पदवी मिलती है और पदवी-प्रदान के जलसे को सफल बनाने का सारा श्रेय भी ज्ञानशंकर को ही प्राप्त होता है। गायत्री के एकाकी जीवन में रानी की पदवी का मिलना एक महत्त्वाकांक्षा का पूर्ण होना है। वह छोटे-बड़े सबको इनाम देती है, ज्ञानशंकर को बँगला बनवाने का खर्च मिलता है। उस दिन से गायत्री का प्रेम पाने के लिए वह उसकी सम्मान भावना को उत्तेजित करने लगता है। वह इलाके का सुप्रबन्ध करता है, जिससे जायदाद की आमदनी बढ़ जाती है। वह उसी रुपए से धर्मशाला और मन्दिर बनवाना प्रारम्भ करता है, जिससे प्रजा में रानी गायत्री की सुकीर्ति फैल जाती है। उसकी धार्मिक प्रवृत्ति के लिए ज्ञानशंकर धर्म और ज्ञान का पाखण्ड रचता है। वह नित्य शाम को भागवत-कथा सुनता है। मुहल्ले के कुछ श्रद्धालु आ जुटते हैं। कीर्त्तन करते-करते लोग रोने लगते हैं। ज्ञानशंकर की आँखों से सबसे अधिक अश्रु वर्षा होती है। वह बड़े-बड़े केश रख लेता है, पैरों में खड़ाऊँ और गेरू में रँगा हुआ लम्बा-ढीला कुरता पहनने लगता है। बातें इस प्रकार करता है, मानो उसे दिव्य-ज्ञान प्राप्त हो गया है। गायत्री अत्यधिक प्रभावित होती है। वह भी कथा सुनती है। कृष्ण की मूर्त्ति को स्नान कराती है, भोग लगाती है और कीर्त्तन करती है। फिर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। उसका हृदय एक तृष्णा, एक विरहमय कल्पना से सदैव जला करता है। वह कृष्ण-लीला के दर्शन और श्रवण से सन्तुष्ट नहीं है, वह स्वयं रास रचाना चाहती है। यद्यपि वह ज्ञानशंकर को अपना कृष्ण स्वीकार करने का साहस नहीं कर पाती, फिर भी उसका रूप उनसे बहुत-कुछ मिलता-जुलता-सा लगता है।

इस प्रकार गायत्री ज्ञानशंकर के जाल में फँसती जाती है और एक समय ऐसा आता है, जब ज्ञानशंकर का विरह उसके लिए असह्य हो जाता है। वह उसके लिए नए-नए जालों की रचना करता जाता है और गायत्री भी पूर्णा की भाँति पतन की खाई की ओर बढ़ती जाती है। यद्यपि इन दोनों युवती विधवाओं के सतीत्व की रक्षा हो जाती है—इनका मानसिक पातिव्रत्य तो कब का नष्ट हो चुका था—किन्तु, क्या ऐसी परिस्थितियों में सभी हिन्दू-विधवाएँ इस प्रकार के नर-पिशाचों से अपनी रक्षा कर सकती होंगी? और, पथभ्रष्ट स्त्रियों के लिए हिन्दू समाज में केवल दो उपाय हैं—आत्महत्या या वेश्या-वृत्ति। पूर्णा कमला प्रसाद से कहती है, "अब जाने दो बाबूजी, क्यों मेरा जीवन भ्रष्ट करना चाहते हो। तुम मर्द हो, तुम्हारे लिए सब कुछ माफ है। मैं औरत हूँ, मैं कहाँ जाऊँगी? दूर तक सोचो। अगर घर में जरा भी सुनगुन हो गई, तो जानते हो, मेरी क्या दुर्गति होगी? डूब मरने के सिवा मेरे लिए कोई और उपाय रह जाएगा? इसको सोचिए, आप मेरे पीछे निर्वासित होना पसन्द करेंगे? और फिर बदनाम हो कर—कलंकित हो कर जिए, तो क्या जिए।"[1]

---

१. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ६८

विधवा को क्या करना चाहिए और क्या नहीं, समाज के हाथों में इसकी लम्बी सूची होती है। 'कर्मभूमि' उपन्यास की रेणुका देवी का परिचय देते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं—'रेणुका देवी रूप और अवस्था से नही, विचार और व्यवहार से वृद्धा थी। दान और व्रत में उनकी आस्था न थी, लेकिन लोकमत की अवहेलना न कर सकती थी। विधवा का जीवन तप का जीवन है। लोकमत इसके विपरीत कुछ नही देख सकता। रेणुका को विवश हो कर धर्म का स्वाँग भरना पड़ता था।'[१] विधवा पर समाज को कलंक लगाते भी देर नहीं लगती। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में विधवा की करुणावस्था पर लेखक टिप्पणी करता है, 'विधवा पर दोषारोपण करना कितना आसान है। जनता को उसके विषय में नीची से-नीची धारणा करते देर नहीं लगती, मानों कुवासना ही वैधव्य की स्वाभाविक वृत्ति है, मानों विधवा हो जाना मन की सारी दुर्वासनाओं, सारी दुर्बलताओं का उमड आना है।'[२]

विधवाओं के यदि युवती पुत्रियाँ हैं और उनकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं है, तो इससे समाज में अनेक कुप्रथाओं और समस्याओं का जन्म होता है। दहेज के अभाव में विधवा अपनी पुत्रियों का विवाह सुपात्र से नहीं कर पाती और अनमेल विवाह के कारण दाम्पत्य-कलह, वेश्या-वृत्ति आदि कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। 'निर्मला' उपन्यास की कल्याणी जब विधवा होती है, उसके दो लडकियाँ हैं—बड़ी लडकी (निर्मला) विवाह-योग्य है और छोटी लडकी (कृष्णा) भी दस वर्ष की है। प्रेमचन्द लिखते हैं, 'दरिद्र विधवा के लिए इससे बडी और क्या विपत्ति हो सकती है कि जवान बेटी सिर पर सवार हो! लडके नगे पाँव पढ़ने जा सकते हैं, चौका बर्तन भी अपने हाथ से किया जा सकता है, रूखा सूखा खा कर निर्वाह किया जा सकता है, झोंपडे में दिन काटे जा सकते हैं, लेकिन युवती कन्या घर में नहीं बिठाई जा सकती।'[३]

निर्मला का विवाह बूढ़े तोताराम से होता है। युवती स्त्री वृद्ध पति से सन्तुष्ट नहीं हो सकती, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। ऐसी अवस्था में या तो वह अपने भाग्य को दोष दे कर अपनी स्थिति से सन्तोष कर लेती है, यद्यपि उसकी आन्तरिक जलन बनी रहती है[४], अथवा वह पथभ्रष्ट भी हो जा सकती है। उदाहरणार्थ, निर्मला अपनी बहन

१ कर्मभूमि पृष्ठ २१

२ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ८२-८३

३ निर्मला पृष्ठ ३३

४ (क) निर्मला के व्यवहार को देख कर तोताराम सोचते हैं—'जब युवक वृद्धा के साथ प्रसन्न नहीं रह सकता, तो युवती क्यों किसी वृद्ध के साथ प्रसन्न रहने लगी। स्त्री स्वभाव से लज्जाशीला होती है। कुलटाओं की बात तो दूसरी है, पर साधारणत स्त्री पुरुष से कहीं ज्यादा संयम शीला होती है। जोड का पति पा कर वह चाहे पर-पुरुष से हँसी दिल्लगी कर ले, पर उसका मन शुद्ध रहता है। बेजोड़ विवाह हो जाने से वह चाहे किसी की ओर आँखें उठा कर न देखे, पर उसका चित्त दुखी रहता है। वह पक्की दीवार है, उसमें सबरी का असर नहीं होता, यह कच्ची दीवार है और उसी वक्त तक खड़ी रहती है, जब तक उस पर सबरी न चलाई जाए।' निर्मला, पृष्ठ १००

(कृष्णा) से अपने सौतेले पुत्र मंसाराम के प्रति अपने आकर्षण की बात इन शब्दों में स्वीकार करती है, 'कृष्णा, मैं तुमसे सच कहती हूँ, जब वह मेरे पास आ कर बैठ जाता था, तो मैं अपने को भूल जाती थी। जी चाहता था, वह हरदम सामने बैठा रहे और मैं देखा करूँ। मेरे मन में पाप का लेश भी न था। अगर एक क्षण के लिए भी मैंने उसकी ओर किसी और भाव से देखा हो, तो मेरी आँखें फूट जाएँ, पर न जाने क्यों उसे अपने पास देख कर मेरा हृदय फूला न समाता था, इसीलिए मैंने पढ़ने का स्वाँग रचा, नहीं तो वह घर में आता ही न था। यह मैं जानती हूँ कि अगर उसके मन में पाप होता, तो मैं उसके लिए सब कुछ कर सकती थी।''[1]

प्रेमचन्द युग में पति की सम्पत्ति में विधवा का थोड़ा हिस्सा भी नहीं होता था, इसलिए सम्मिलित परिवार में उसकी दुर्दशा होती थी। जिस घर की वह स्वामिनी होती थी, पति के मरणोपरान्त उसी घर में उसकी कोई कद्र नहीं होती थी। यदि उसके अविवाहिता पुत्री हुई, तो उसके विवाह का भार ही परिवार पर रहता था। इस दृष्टि से भी प्रेमचन्द ने विधवाओं की दयनीयता का अध्ययन किया था और उन्होंने ऐसी अभागिनी विधवाओं का चित्रण बड़ी करुणा और बड़े रोष के साथ किया है। वे उन पतियों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, जो अपनी मृत्यु से पूर्व कुछ जायदाद अपनी पत्नियों के नाम लिख जाते थे।[2]

'गबन' उपन्यास की रतन के पुत्र नहीं है, अतः उसके पति के कमाए हुए लाखों की सम्पत्ति पर एक क्षण में दूसरों का हक हो जाता है और वह राह की भिखारिन हो जाती है।[3] पति के भतीजे (मणिभूषण) से उसकी बातचीत इस प्रकार होती है—

(ख) गबन उपन्यास की रतन भी एक बूढ़े वकील से ब्याही जाती है। उसके व्यवहार में भी यही बात है। गबन पृष्ठ २०१ २०२

१ निर्मला, पृष्ठ १२१

२ (क) शिवरानी देवी के बहनोई ने दूसरी शादी की। यद्यपि पहली बीबी से उनके कई बच्चे थे, किन्तु उन्होंने मरते समय सारी सम्पत्ति–जो कोई तीन लाख की थी–दूसरी बीबी के नाम कर दी। प्रेमचन्द ने इसे बहुत पसन्द किया था। इसी कारण शिवरानी देवी से उनका विवाद भी हो गया। प्रेमचन्द के कुछ तर्क ये थे– वह वकील हैं, समझदार हैं, सम्पत्ति भी है। फिर जिसे जीवन-काल में सबसे ज्यादा प्यार करते थे उसे मरने के बाद किसके सहारे छोड़े? कोई भी शरीफ आदमी यही करता। उन्होंने जो कुछ किया अच्छा किया। मैं उनकी तारीफ करता हूँ। हर पुरुष को ऐसा ही करना चाहिए। उनके मरने से उनकी बीबी ही विधवा होगी न कि बच्चे। वे तो मरने के बाद खुश होंगे। अगर मरा वह होता, तो उनकी सारी सम्पत्ति उनके छोटे बच्चे और उसकी बीबी को ही देता।"

—शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ ८८ ८९

(ख) प्रेमचन्द ने अपनी अन्तिम बीमारी में स्वयं भी स्त्री के नाम कुछ वसीयत करना चाहा था, किन्तु शिवरानी देवी ने ऐसा नहीं करने दिया।

शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ २५५

३. 'वही रतन जिसने रुपयों की कभी कोई हकीकत न समझी, इस एक ही महीने में रोटियों को भी मुहताज हो गई थी।' गबन, पृष्ठ २६९

'मणिभूषण ने धीरे धीरे उसकी सारी सम्पत्ति अपहरण कर ली। ऐसे ऐसे षड्यन्त्र रचे कि सरला रतन को उसके कपट व्यवहार का आभास तक न हुआ। फन्दा जब खूब कस गया, तो उसने एक दिन आ कर कहा, "आज बँगला खाली करना होगा। मैंने इसे बेच दिया है।"

रतन ने जरा तेज हो कर कहा, "मैंने तो तुमसे कहा था कि मैं अभी बँगला न बेचूँगी। •• मैं अभी यहाँ रहना चाहती हूँ।"

"मैं आपको यहाँ न रहने दूँगा।"

"मैं तुम्हारी लौंडी नहीं हूँ।"

"आपकी रक्षा का भार मेरे ऊपर है। अपने कुल की मर्यादा रक्षा के लिए मैं आपको अपने साथ ले जाऊँगा।"

रतन ने ओठ चबा कर कहा, "मैं अपनी मर्यादा की रक्षा आप कर सकती हूँ। तुम्हारी मदद की जरूरत नहीं। मेरी मर्जी के बगैर तुम यहाँ की कोई चीज नहीं बेच सकते।"

मणिभूषण ने वज्र सा मारा, "आपका इस घर पर और चाचाजी की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं। वह मेरी सम्पत्ति है। आप मुझसे केवल गुजारे का सवाल कर सकती हैं।"

रतन ने विस्मित हो कर कहा, "तुम कुछ भग तो नहीं खा गए हो?"

मणिभूषण ने कठोर स्वर में कहा, "मैं इतनी भंग नहीं खाता कि बेसिर पैर की बातें करने लगूँ। आप तो पढ़ी लिखी हैं, एक बड़े वकील की धर्मपत्नी थीं। कानून की बहुत सी बातें जानती होंगी। सम्मिलित परिवार में विधवा का अपने पुरुष की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। चाचाजी और मेरे पिताजी में कभी अलगौझा नहीं हुआ। चाचाजी यहाँ थे, हमलोग इन्दौर में थे, पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि हममें अलगौझा था। अगर चाचा अपनी सम्पत्ति आपको देना चाहते, तो कोई वसीयत अवश्य लिख जाते आज आपको बँगला खाली करना होगा। मोटर और अन्य वस्तुएँ भी नीलाम कर दी जाएँगी। आपकी इच्छा हो, मेरे साथ चलें या यहाँ रहें। यहाँ रहने के लिए आपको दस ग्यारह रुपए का मकान काफी होगा। गुजारे के लिए पचास रुपए का प्रबन्ध मैंने कर दिया है।"[1]

रतन हतबुद्धि हो जाती है—'मगर ऐसा कानून बनाया किसने? क्या स्त्री इतनी नीच, इतनी तुच्छ, इतनी नगण्य है? क्यों? दिन भर रतन चिन्ता में डूबी मौन बैठी रही। इतने दिनों वह अपने को इस घर की स्वामिनी समझती रही। कितनी बड़ी भूल थी! पति के जीवन में जो लोग उसका मुँह ताकते थे, वे आज उसके भाग्य के विधाता हो गए।'[2] रतन चाहती, तो अदालत में यह आसानी से सिद्ध कर सकती थी कि वकील साहब और उनके भाई में बँटवारा हो चुका था, पर वह मानिनी थी और किसी की दया नहीं चाहती थी। उसने निश्चय किया कि जो कुछ उसका नहीं है, उसे न लेगी। वह मजूरी करके अपना निर्वाह करेगी, नहीं तो डूब मरेगी। वह जिन शब्दों में मणिभूषण को जवाब देती है,

१ ग़बन, पृष्ठ २७० २७१

२ ग़बन, पृष्ठ २७१

वे एक पीड़ित विधवा के साथ-साथ लेखक के हृदय का भी उद्घाटन करते हैं, "मैंने कह दिया, इस घर की चीज से मेरा नाता नही है। मैं किराए की लौंडी थी। लौंडी का घर से क्या सम्बन्ध? न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था। अगर ईश्वर कही है और उसके यहाँ कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसी के सामने उस पापी से पूछूँगी, क्या तेरे घर में माँ-बहनें न थी? तुझे उनका अपमान करते लज्जा न आई? अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती— बहनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना, तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चेन की नींद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरफा नहीं छोड़ा, तो तुम अकेली रहो, चाहे परिवार में, एक ही बात है। तुम अपमान और मजूरी से नही बच सकती। अगर तुम्हारे पुरुष ने कुछ छोड़ा है, तो अकेली रह कर तुम उसे भोग सकती हो। परिवार में रह कर तुम्हें उससे हाथ धोना पड़ेगा।"[१]

'बेटोंवाली विधवा' कहानी में भी प्रेमचन्द ने फूलमती का ऐसा ही चित्रण किया है। बल्कि यहाँ अपने ही पुत्रों द्वारा कष्ट मिलने के कारण विधवा की दयनीयता और बढ गई है। फूलमती जब सधवा थी, लेखक ने उसके अधिकार और मान का वर्णन इन शब्दों में किया है —'चारों लड़के एक-से-एक सुशील, चारों बहुएँ एक-से-एक बढ कर आज्ञाकारिणी। जब वह रात को लेटती, तो चारों बारी-बारी से उसके पाँव दबाती। वह स्नान करके उठती, तो उसकी साड़ी छाँटती। सारा घर उसके इशारे पर चलता था।'[२]

परन्तु, पति की मृत्यु होते ही फूलमती के अधिकारों की कायापलट हो गई। लड़कों ने पिता की तेरही में भी माता से कुछ न पूछा। फूलमती ने जो कुछ सामान लिखवाया था, लड़कों ने सब में कटौती की। जैसे अब उसकी वह हस्ती ही न हो, जो दस-बारह दिन पहले थी। इस कहानी में विधवा की कुमारी बेटी के अधिकारों का भी वर्णन है। उसे केवल विवाहित होने भर का अधिकार था। फूलमती की पुत्री (कुमुद) का विवाह उसके पिता ने ही एक कुलीन और विद्वान कुल में, पाँच हजार दहेज में, ठीक किया था। विवाह के अन्य खर्च भी थे ही। पिता की मृत्यु के बाद चारो लड़के इतना त्याग करने को तैयार न थे, हालांकि उनके पिता ने काफी सम्पत्ति छोड़ी थी—'एक पक्का मकान, दो बगीचे, कई हजार के गहने और बीस हजार नकद।' लड़के बहन के विवाह में एक हजार से अधिक खर्च नहीं करना चाहते। बिना दहेज के एक बुड्ढा विवाह करने को तैयार हो जाता है। इस डर से कि कहीं माता अपने दस हजार के गहने—जो उसके स्त्री-धन थे—कुमुद को न दे दें, अथवा उसी के बल पर कहीं पहली जगह ही उसका विवाह न कर दें, वे बड़े कौशल से गहने भी माता से पहले ही ले लेते हैं।

जब कुमुद के विवाह की बात छिड़ती है और माता तथा पुत्रों में विवाद बढ़ता है, तो फूलमती को अपने पुत्रों के मुख से यह सुनना पड़ता है, "कानून यही है कि बाप

१. गबन, पृष्ठ २७३-२७४
२. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ ५७

के मरने के बाद जायदाद बेटा की हो जाती है। माँ का हक केवल रोटी कपड़े का है।"[1] फूलमती की आत्मा इस वज्राघात पर चीत्कार कर उठी कि वह अपने ही बनाए हुए घर में दूसरों के टुकडो पर पडी हुई है। उसके मुख से जलती हुई चिनगारियो की भाँति ये शब्द निकल पडे "मैने घर बनवाया, मैंने सम्पत्ति जोडी, मैंने तुम्हें जन्म दिया, पाला और आज मै इस घर में गैर हूँ? मनु का यही कानून है और तुम उसी कानून पर चलना चाहते हो? अच्छी बात है। अपना घर द्वार लो। मुझे तुम्हारी आश्रिता बन कर रहना स्वीकार नहीं। इससे कहीं अच्छा है कि मर जाऊँ। वाह रे अँधेर। मैंने पेड़ लगाया और मैं ही उसकी छाँह में खडी नही हो सकती अगर यही कानून है, तो इसमें आग लग जाए।"[2] यहाँ टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं, 'चारा युवकों पर माता के इस क्रोध और आतक का कोई असर न हुआ। कानून का फौलादी कवच उनकी रक्षा कर रहा था। इन काँटों का उन पर क्या असर हो सकता था'[3] वही फूलमती जो अब तक घर की स्वामिनी थी, लौंडी हो गई। उसके पति उसे कभी सबेरे उठने न देते थे। शीत उसके लिए बहुत हानिकर था। अब वह सुबह उठ कर घर के कामों में लग जाती थी। उसकी दयनीय दशा का वर्णन प्रेमचन्द ने इन शब्दों में किया है—'आज से फूलमती का यही नियम हो गया कि जी तोड कर घर का काम करना और अन्तरग नीति स अलग रहना। उसके मुख पर जा एक आत्मगौरव झलकता रहता था, उसकी जगह अब गहरी वेदना छाई हुई नजर आती थी। जहाँ बिजली जलती थी, वहाँ अब तेल का दिया टिमटिमा रहा था, जिसे बुझा देने के लिए हवा का एक हल्का सा झोंका काफी था।'[4]

इस प्रकार प्रेमचन्द ने विधवा समस्या के सभी पहलुओ पर प्रकाश डाला है—(१) बाल विधवा (२) अनाथ और निस्सन्तान युवती विधवा (३) साम्पत्तिक अधिकारों से वचित विधवा तथा (४) तिरस्कृत, लांछित और अपमानित जीवन व्यतीत करनेवाली विधवा। उन्होंने चार प्रकार के समाधान भी सुझाए हैं—(१) विधवा विवाह (२) वनिताश्रमों की स्थापना (३) पति की सम्पत्ति में विधवा का हिस्सा तथा (४) आदर सम्मानयुक्त, उत्तरदायित्वपूर्ण, व्यक्तित्वसम्पन्न विधवा जीवन।

प्रेमचन्द युग में बाल विधवाओं तथा निस्सन्तान युवती विधवाओं का पुनर्विवाह होने लगा था।[5] पुराने विचार के लोगों द्वारा विधवाओं के पुनर्विवाह का बहुत विरोध किया गया था, किन्तु सुधारकों ने इसमें प्राणपण से योग दिया। प्रेमचन्द ने भी इस समस्या को सुधार और मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा। वे नवीन युग के नवीन धर्म को समझते थे। जब पुरानी परिस्थितियाँ न रहीं, प्राचीन विचार न रहे, तो पुरानी लोक रीतियों को ढाते चलना उनकी दृष्टि में ठीक न था। फिर मनुष्यमात्र का जीवन किसी

१. मानसरोवर भाग १, पृष्ठ ७२
२ मानसरोवर भाग १, पृष्ठ ७०
३ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ ७२
४. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ ७४
५ प्रेमचन्द ने स्वय अपना दूसरा विवाह एक बार विधवा से किया था।

आधार पर ही सुचारु रूप से चलता है। नारी के लिए तो पति, पुत्र, भाई आदि में से किसी एक का रहना आवश्यक ही है, जिसके लिए वह जिए और मरे। बाल विधवाओं और कुछ सीमा तक निस्सन्तान विधवाओं से भी, यह आधार छिन जाता है और वे बेपतवार की नाव की भाँति जिधर की हवा होती है, उधर ही वह जाती हैं। प्रेमचन्द ने 'नैराश्य-लीला' नामक कहानी में एक ऐसी ही बाल विधवा की कथा लिखी है।[१] प० अयोध्यानाथ की पुत्री कैलाशकुमारी अपने माता पिता की इकलौती सन्तान है। उसका विवाह बारह वर्ष की अवस्था में होता है और गौना होने के पहले ही वह विधवा हो जाती है। अब उसे यह भी नहीं मालूम था कि विवाह का आशय क्या है, उसका सोहाग लुट जाता है। वह विवाह का अर्थ पालन-पोषण समझती थी और इसकी उसे चिन्ता न थी, उसके पिता के पास पर्याप्त धन था। माता पिता रोते और सहेलियाँ उसके पास खेलने न आतीं, अत वह बैठे-बैठे किस्से-कहानियाँ पढ़ा करती। माता पिता ने पुत्री की इस एकान्तप्रियता का कुछ और ही अर्थ समझा। उनलोगों ने उसके लिए आमोद-प्रमोद के सामान किए, जिससे उसका मन बहलता रहे। अब कभी तमाशा, थियेटर, सिनेमा, कभी गंगा स्नान और किश्ती पर बैठ कर जल विहार, कभी पार्क-सैर और गाना बजाना, ये ही उसके जीवन के अंग हो गए। दो वर्षों में वह इन सैर-तमाशों की इतनी अभ्यस्त हो गई कि यदि एक दिन भी थियेटर न जाती, तो उसे बेचैनी-सी होने लगती। उसके स्वभाव में भी परिवर्त्तन आ गया और वह घमण्डी तथा उच्छृंखल हो गई। इसकी चर्चा पड़ोसियों में होने लगी और एक दिन कई महिलाओं ने उसकी माता की भर्त्सना की। पिता ने अब उसका ध्यान धर्म-चर्चा और पूजा पाठ की ओर आकृष्ट किया। कुछ दिनों में ही उसकी धार्मिक प्रवृत्ति की भी अति हो गई। तीन ही वर्षों में उसने सन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया। माता पिता फिर घबड़ाए, मुहल्लेवालों ने पुन व्यंग्य किए। लोगों ने अयोध्यानाथ को समझाया—उसे अध्यापिका बना दो, लड़की आँखों के सामने तो रहेगी। अब पिता ने उसे सेवा धर्म का पाठ पढ़ाया—वास्तविक सन्यास यही है, सन्यास स्वार्थ है और सेवा धर्म परमार्थ। मुहल्ले की कुछ लड़कियाँ जुट गईं और कैलाशकुमारी अध्यापिका बन गई। उसकी पाठशाला चल निकली। अब उसमें सेवा वृत्ति तीव्र होने लगी, वह लड़कियों के जीवन में घुल मिल गई। पाठशाला ने परिवार का रूप धारण कर लिया। एक साल बाद की बात है, कैलाशकुमारी की एक प्रिय शिष्या के चेचक निकल आई। वह पाँच दिनों तक उसकी सेवा करती रही, खाने-सोने की भी सुधि न रही। अब बदनामी का भय था—वह दूसरों के घर जाती है और कई-कई दिनों पड़ी रहती है। अत, अयोध्यानाथ ने पुत्री के सम्मुख पाठशाला बन्द करने का प्रस्ताव रखा। किन्तु, इस बार कैलाशकुमारी को क्रोध आ गया। इधर कुछ दिनों से उसे अपनी दयनीयता का यथार्थ ज्ञान होने लगा था। बोली, "तो कुछ मालूम भी तो हो कि ससार मुझसे क्या चाहता है। मुझमें जीव है, चेतना है, जड़ क्यों कर बन जाऊँ? मुझसे यह नहीं हो सकता कि अपने को अभागिनी, दुखिया समझूँ और एक टुकड़ा रोटी खा

१ यह कहानी सर्वप्रथम 'चाँद' के विधवा विशेषांक (सन् १९२३ ई०) में छपी थी।

कर पड़ी रहूँ। ऐसा क्यों करूँ? समार मुझे जो चाहे समझे, मैं अपने को अभागिनी नहीं समझती। मैं अपने आत्मसम्मान की रक्षा आप कर सकती हूँ। मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग पग पर मुझ पर शका की जाए, नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिए घूमता रहे कि किसी खेत में न जा पड़ूँ। यह दशा मेरे लिए असह्य है।"[१]

पाठशाला तो दूसरे दिन से बन्द हो गई, किन्तु कैलाशकुमारी के हृदय में पुरुष और पुरुषनिर्मित समाज के प्रति विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया हुई। अब वह श्रृंगार करती, रेशमी साड़ियाँ पहनती। उसने व्रत उपवास छोड़ दिए, यहाँ तक कि तीज व्रत भी नहीं रखा। पुरुष स्त्री के लिए कोई व्रत तो नहीं रखता, फिर स्त्री क्यों रखे? प० अयोध्यानाथ समझ गए, यह और कुछ नहीं, नैराश्य की क्रूर क्रीडा है। पत्नी ने पूछा, "कोई उपाय है?"

अयोध्यानाथ ने कहा, "बस, एक ही उपाय है, पर उसे जबान पर नहीं ला सकता।"[२]

स्पष्ट है, प्रेमचन्द ने यहाँ बाल विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया है। सत्य तो यह है कि वे बाल विधवाओं को विधवा मानते ही न थे। जिसकी सूरत भी उन बच्चियों ने नहीं देखी, उसकी उनसे उपासना करवाना सर्वथा अनुचित है। 'धिक्कार' कहानी में उनका एक विचारशील पात्र कहता है, "मैं विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं हूँ। मेरा खयाल है कि पतिव्रत का यह अलौकिक आदर्श ससार का अमूल्य रत्न है और हमें बहुत सोच-समझ कर उस पर आघात करना चाहिए, लेकिन मानी (एक बाल विधवा) के विषय में वह बात ही नहीं उठती। प्रेम और भक्ति नाम से नहीं, व्यक्ति से होती है। जिस पुरुष की उसने सूरत भी नहीं देखी, उससे उसे प्रेम नहीं हो सकता। केवल रस्म की बात है। इस आडम्बर की, इस दिखावे की, हमें परवाह न करनी चाहिए।"[३]

स्त्री और पुरुष की समानता के आधार पर भी प्रेमचन्द ने विधवा विवाह का समर्थन किया है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास का कमला प्रसाद कहता है, "साधारण कामों में जब हमसे कोई भूल हो जाती है, तो हम उसे तुरत सुधारते हैं। तब जीवन को हम क्यों एक भूल के पीछे नष्ट कर दें? अगर आज किसी दैवी बाधा से यह मकान गिर पड़े, तो हम कल ही इसे बनाना शुरू कर देंगे, मगर जब किसी अबला के जीवन पर दैवी आघात

१. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ६४

२ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ६६

३ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २०८। ठीक यही विचार गांधीजी ने भी व्यक्त किए हैं, 'मेरा विश्वास है कि जो लड़की १०-१५ साल की अवस्था में अपनी सम्मति दिए बिना ही ब्याही जाए और जो कभी अपने पति के साथ न रही हो और एकाएक विधवा घोषित कर दी जाए, वह विधवा नहीं। यह उस शब्द का, भाषा का अपमान और अपवित्र करना है। हिन्दुत्व में विधवा के साथ पवित्रता की सुगन्ध होती है। मैं स्व० रमाबाई रानाडे जैसी विधवाओं की उपासना करता हूँ जो जानती हैं कि विधवा होना क्या है। परन्तु, नौ वर्ष की बच्ची को क्या मालूम कि पति क्या होता है।'

मो० क० गांधी, महिलाओं से, पृष्ठ १७९

हो जाता है, तो उससे आशा की जाती है कि वह सदैव उसके नाम को रोती रहे। यह कितना बड़ा अन्याय है। पुरुषों ने यह विधान केवल अपनी काम-वासना को तृप्त करने के लिए किया है। बस, इसका और कोई अर्थ नहीं। जिसने यह व्यवस्था की, वह चाहे देवता हो या ऋषि अथवा महात्मा, मैं उसे मानव समाज का सबसे बड़ा शत्रु समझता हूँ। स्त्रियों के लिए पतिव्रता धर्म की पख लगा दी। पुन संस्कार होता, तो इतनी अनाथ स्त्रियाँ उसके पंजे में कैसे फँसती? बस, यही सारा रहस्य है। न्याय तो हम तब समझते, जब पुरुषों को भी यही निषेध होता।"[1]

'प्रतिज्ञा' उपन्यास की पूर्णा के चरित्र द्वारा भी लेखक ने विधवा समस्या का वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत किया है। पूर्णा जब बलात्कार के लिए उद्यत कमला प्रसाद को घायल करके वनिताश्रम पहुँच जाती है, तो बहुतेरे लोग उससे विवाह करने को तैयार हैं, किन्तु, पूर्णा ऐसी चुप है कि उससे कुछ कहते नहीं बनता। वानिताश्रम के संस्थापक अमृतराय कहते हैं, 'उसकी विवाह करने की इच्छा हो, तो एक से एक धनी मानी वर मिल सकते हैं। दो-चार आदमी तो मुझसे से कह चुके हैं। मगर पूर्णा से कहते हुए डरता हूँ कि कहीं बुरा न मान जाए। प्रेमा (पूर्णा की सहेली) उसे ठीक कर लेगी।"[2] इसका अर्थ है कि विधवाएँ यदि चाहें तो उनका पुनर्विवाह कर दिया जाए, वर्ना उनकी रक्षा और निर्वाह का सुप्रबन्ध किया जाए, यह नहीं कि उनकी निराश्रयता और परवशता का लम्पट और दुश्चरित्र व्यक्ति लाभ उठाएँ।

प्रेमचन्द बाल विधवाओं और एक सीमा तक युवती विधवाओं के भी पुनर्विवाह के पक्ष में थे। अन्य अनेक सुधारक और नेता भी इसके पक्ष में थे, किन्तु विरोधियों की भी कमी न थी। प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में इन विषमताओं का वर्णन भी किया है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास का प्रारम्भ ही इसको लेकर होता है। आर्य मन्दिर में पण्डित अमरनाथ का समाज-सुधार पर व्याख्यान हो रहा है। श्रोतागण मन्त्र मुग्ध-से बैठे सुन रहे हैं। अमरनाथ के यह कहने पर कि जिन महाशयों को पत्नी वियोग हो चुका है, वे कृपया हाथ उठाएँ, चारों ओर हाथ ही हाथ नजर आते हैं। इसके बाद वे कहते हैं, "आप लोगों में कितने महाशय ऐसे हैं, जो वैधव्य के भँवर में पड़ी हुई अबलाओं के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन करने का साहस रखते हैं? कृपया वे हाथ उठाए रहें।"[3] उनके इतना कहते ही सभी हाथ नीचे आ जाते हैं, केवल एक हाथ ऊपर उठा रहता है। यह बाबू अमृतराय का हाथ था। युवक-समाज की इस 'कर्त्तव्यशून्यता', 'साहस हीनता' और 'पाषाण-हृदयता' का कारण क्या था? समाज का भय। अमृतराय जब अपने मित्र दाननाथ से पूछते हैं, "तुम क्यों नहीं हाथ उठाते", तो दाननाथ कहते हैं, "मुझमें नक्कू बनने का साहस नहीं है।"

१ प्रतिज्ञा पृष्ठ १६७-१६८
२ प्रतिज्ञा, पृष्ठ २२०
३ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १
प्रेमचन्द के समय में विधवा विवाह का प्रचार बढ़ाने के लिए सुधारक प्रायः यह दलील देते थे कि विधुर और बड़े विवाह करने वाले व्यक्ति विधवा से ही विवाह करें।
—सम्पादकीय, चाँद, विधवा विशेषांक (सन् १९२३ ई०)

इस प्रकार प्रेमचन्द के समय में विधवा के प्रश्न का समाधान व्यापक रूप से नहीं हुआ, इसके व्यक्तिगत प्रयत्न ही हुए। अमृतराय इसी के प्रतिनिधि हैं। गाँधीजी ने भी समाज की इसी मनोवृत्ति के कारण कहा था, 'यह (विधवाओं का पुनर्विवाह) किसी संस्था का काम नहीं, बल्कि व्यक्तिगत सुधारकों तथा इन विधवाओं के सम्बन्धियों द्वारा किया जाने वाला कार्य है।"[1] सुधारक भी, जैसा कि प्रथम अध्याय में सविस्तर लिखा जा चुका है, इसी कारण इस प्रश्न को पृष्ठभूमि में छोड़ कर, वनिताश्रमों की स्थापना की ओर झुके, क्योंकि समाज को इस पर कोई आपत्ति न थी।

विधवाओं और उनसे विवाह करने वालों, दोनों को समाज का अपमान सहना पड़ता था। उनसे उनके परिवार के लोग सम्बन्ध तोड़ लेते थे। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में अमृतराय का विवाह प्रेमा के साथ निश्चित हो गया है। इसी बीच वे यह प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि विधवा से विवाह करेंगे। प्रेमा के पिता (लाला बदरी प्रसाद) जब यह सुनते हैं, तो अपने अन्धविश्वासों और पोंगापन्थी विचारों को इन शब्दों में प्रकट करते हैं, "आखिर *हिन्दू और मुसलमान में विचारों ही का तो अन्तर है। मनुष्य में विचार ही सब कुछ है।* वह विधवा विवाह के समर्थक हैं, समझते हैं, इसमें देश का उद्धार होगा। मैं समझता हूँ, इससे हमारा समाज नष्ट हो जाएगा, हम इससे कहीं अधोगति को पहुँच जाएँगे, हिन्दुत्व का रहा सहा चिह्न भी मिट जाएगा। इस प्रतिज्ञा ने उन्हें हमारे समाज से बाहर कर दिया। अब हमारा उनसे कोई सम्पर्क नहीं रहा।"[2] प्रेमा का भाई (कमला प्रसाद) यह सम्वाद सुन कर अमृतराय का मखौल उड़ाता है, "लाला अब किसी विधवा से शादी करेंगे, अच्छी बात है, मैं जरूर बारात में जाऊँगा, चाहे और कोई जाए या न जाए। जरा देखूँ, नए ढंग का विवाह कैसा होता है। वहाँ भी सब व्याख्यानबाजी करेंगे।"[3]

'नागपूजा' कहानी में तिलोत्तमा के पति को साँप ने उसी समय काट लिया, जब वह विवाह के बाद उसे विदा कराने के लिए डोली में बैठ रहा था। उसने अपने पति की सूरत भी न देखी। तिलोत्तमा के पिता (जगदीशचन्द्र) से पुत्री का वैधव्य नहीं देखा गया। उन्होंने उसके पुनर्विवाह का निश्चय कर लिया, किन्तु इसमें सामाजिक बाधाएँ थीं। इन पंक्तियों में विधवा का विवाह रचानेवाले और उस विधवा की, जिसका विवाह *किया जा रहा हो, आन्तरिक दशा का सच्चा वर्णन है—*'हँसनेवालों ने तालियाँ बजाई, पर जगदीश बाबू ने हृदय से काम लिया। तिलोत्तमा पर सारा घर जान देता था। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई बात न होने पाती, यहाँ तक कि वह घर की मालकिन बना दी गई थी। सभी ध्यान रखते कि उसका रंज ताजा न होने पाए। लेकिन, उसके चेहरे पर उदासी छाई रहती थी, जिसे देख कर लोगों को दुःख होता था। पहले तो माँ भी *इस सामाजिक अत्याचार पर सहमत न हुई, लेकिन बिरादरीवालों का विरोध ज्यों ज्यों* बढ़ता गया, उसका विरोध ढीला पड़ता गया। सिद्धान्तरूप से तो प्रायः किसी को

१ मो० क० गांधी, महिलाओं से, पृष्ठ १६५

२ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १५

३ प्रतिज्ञा, पृष्ठ २०

आपत्ति न थी, किन्तु उसे व्यवहार में लाने का साहस किसी में न था। कई महीनों के लगातार प्रयास के बाद एक कुलीन सिद्धान्तवादी, सुशिक्षित वर मिला। उसके घर वाले भी राजी हो गए। तिलोत्तमा को समाज में अपना नाम बिकते देख कर दुःख होता था। वह मन में कुटती थी कि पिताजी नाहक मेरे लिए समाज में नक्कू बन रहे हैं। अगर मेरे भाग्य में सुहाग लिखा होता, तो यह वज्र ही क्यों गिरता? उसे कभी-कभी ऐसी शका होती थी कि मै फिर विधवा हो जाऊँगी।"[1]

'धिक्कार' कहानी में विधवा मानी का पुनर्विवाह उसका चचेरा भाई अपने मित्र से कर देता है, किन्तु मानी के चाचा उसे 'कुलटा', 'हरजाई,' 'पापिष्ठा', 'अभागिनी' आदि न जानें क्या-क्या कहते हैं और मानी इसीलिए आत्महत्या कर लेती है कि जीवन में अभी न जानें कितने अनादर और अपमान उसे और उसके पति का सहने पडे।

इस युग में विधवा विवाह वैदिक रीति से होते थे। प्रेमचन्द ने इस प्रकार के विवाह का वर्णन 'नागपूजा' कहानी में किया है। तिलोत्तमा के विवाह का वर्णन है—'यह केवल तिलोत्तमा का पुनर्संस्कार न था, बल्कि समाज-सुधार का एक क्रियात्मक उदाहरण था। समाज-सुधारकों के दल दूर से विवाह में सम्मिलित होने के लिए आने लगे, विवाह वैदिक रीति से हुआ। मेहमानों ने खूब व्याख्यान दिए। पत्रों ने खूब आलोचनाएँ की। बाबू जगदीशचन्द्र के नैतिक साहस की सराहना होने लगी।'[2]

प्रेमचन्द ने विधवा समस्या का अन्य समाधान वनिताश्रमों की स्थापना द्वारा बताया है। वे विधवाएँ, जो सर्वथा रक्षाहीन और अनाथ हैं, जिनके पास आय का कोई साधन नही है, जो निस्सन्तान हैं, युवती हैं, सुन्दरी हैं—उन्हें पथभ्रष्ट करने के लिए नर-पिशाच घेर लेते हैं। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की पूर्णा ऐसी विधवाओं का और कमला प्रसाद ऐसे नर पिशाचों का प्रतिनिधित्व करता है। निर्वाह और रक्षा के दो विकट प्रश्न इन विधवाओं के सम्मुख विकराल रूप धारण किए खड़े रहते हैं। विधवाश्रम इन दोनों समस्याओं का हल प्रस्तुत करते हैं। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में प्रेमा वनिताश्रम के लिए चन्दे का अपील करती हुई कहती है, "यह सभा आज इसलिए की गई है कि आपसे इस नगर में एक ऐसा स्थान बनाने के लिए सहायता माँगी जाए, जहाँ हमारी अनाथ, आश्रयहीन बहनें अपनी मान मर्यादा की रक्षा करते हुए शान्ति से रह सकें। कौन ऐसा मुहल्ला है, जहाँ ऐसी दस पाँच बहनें नहीं हैं। उनके ऊपर जो बीतती है, वह क्या आप अपनी आँखों से नहीं देखते हैं? कम-से-कम अनुमान तो कर ही सकते हैं। वे जिधर आँखें उठाती हैं, उधर ही उन्हें पिशाच खड़े दिखाई देते हैं, जो उनकी दीनावस्था को अपनी कुवासनाओं को पूरा करने का साधन बना लेते हैं। हमारी लाखों बहनें इस भाँति केवल जीवन-निर्वाह के लिए पतित हो जाती हैं। क्या आपको उन पर दया नहीं आती? मैं विश्वास से कह

१ मानसरोवर, भाग ७ पृष्ठ २८२
२. मानसरोवर, भाग ७ पृष्ठ २८३

सकती हूँ कि अगर उन बहनों को रूखी रोटियाँ और मोटे कपड़ों का भी सहारा हो, तो वे अन्त समय तक अपने सतीत्व की रक्षा करती रहें।"[1]

अनाथ विधवाओं के पालन और रक्षा के लिए उच्च कोटि के रक्षागृहों अथवा विधवाश्रमों की स्थापना प्रेमचन्द युग की विशेषता है। उस समय इस तरह के आश्रम धड़ल्ले से खुल रहे थे। ये आश्रम विधवाओं को व्यावहारिक और व्यावसायिक प्रशिक्षण देते थे। आश्रमों की विधवाओं द्वारा बनाई हुई वस्तुओं, उनके द्वारा उपजाई हुई फल तरकारियों से आश्रम का बहुत कुछ खर्च निकल जाता था। ये आश्रम व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा चन्दे के बल पर खोले जाते थे। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास के अमृतराय द्वारा खोला गया आश्रम ठीक इसी प्रकार का है। इसमें ८० स्त्रियाँ और २० बालक हैं। आश्रम की जमीन २० एकड़ की है। उसमें विधवाओं को इन चीजों को बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता है, जो बिकती भी हैं—सूत, ऊन, रेशम, सलमा सितारे, मूँज आदि की सुन्दर बेल-बूटेदार चीजें, सिले हुए कपड़े, मिट्टी और लकड़ी के खिलौने, मोजे, बनियाइन, चित्र मिठाइयाँ, मुरब्बे, अचार आदि। वे फल-फूल और तरकारी भी उपजाती हैं। स्त्रियाँ ही शिक्षिकाएँ हैं, कोई पुरुष आश्रम के अन्दर नहीं जाता। आश्रम की रोजाना बिक्री सौ रुपए के लगभग है। सारे कार्य सुदक्ष स्त्रियों द्वारा सचालित होते हैं। कहीं शिथिलता, निरुत्साह या कलह का नाम नहीं है।[2]

प्रेमचन्द युग में जो विधवाश्रम खुले थे, उनमें से कुछ स्वार्थी सचालकों की आर्थिक नीति के कारण बदनाम थे। कहीं कहीं इस नाम पर वेश्यालय भी खोले जाते थे या विधवाश्रम ही अर्द्ध वेश्यालय होते थे। इसीलिए सुधारकों ने उच्च कोटि के सुसचालित आश्रमों पर जार दिया। कभी-कभी अच्छे सुधारकों द्वारा खोले गए विधवाश्रमों को भी उनके ईर्ष्यालु मित्र बुरा बताते थे। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में लेखक ने ऐसे ही द्वेषी व्यक्तियों का उद्घाटन किया। कमला प्रसाद अपने पिता से कहता है, "आपने कुछ सुना? बाबू अमृतराय एक वनिताश्रम खोलने जा रहे हैं। कमाने का यह नया ढग निकाला है।"

बदरी प्रसाद ने जरा माथा सिकोड़ कर पूछा, "कमाने का ढग कैसा, मैं नहीं समझा।"

कमला, "वही जो और लीडर करते हैं। वनिताश्रम में विधवाओं का पालन-पोषण किया जाएगा। उन्हें शिक्षा भी दी जाएगी। चन्दे की रकमें आएँगी और यार लोग मजे करेंगे। कौन जानता है कहाँ से कितने रुपए आए। महीने भर में एक झूठा सच्चा हिसाब छपवा दिया। सुना है, कई रईसों ने बड़े बड़े चन्दे देने का वचन दिया है। पाँच लाख का तखमीना है। इसमें कम से कम पचास हजार तो यारों के ही हैं। वकालत में इतने रुपए कहाँ इतने जल्द मिले जाते थे।"

बदरी, "पचास ही हजार बनाए तो क्या बनाए, मैं तो समझता हूँ, एक लाख से कम पर हाथ न मारेंगे।"

१ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १३१

२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ २२१-२२४

कमला, "इन लोगों को सूझती खूब है। ऐसी बातें हमलोगों को नहीं सूझतीं।"

वदरी, "जा कर कुछ दिनों उनकी शागिर्दी करो, इसके बिना और कोई उपाय नहीं है।"

कमला, "तो क्या मैं कुछ झूठ कहता हूँ ?"

वदरी, "जरा भी नहीं। तुम कभी झूठ बोले ही नहीं, भला आज क्यों झूठ बोलने लगे। सत्य के अवतार तुम्हीं तो हो।"[1]

इसी प्रकार दाननाथ भी कुछ ईर्ष्या से और कुछ अपनी पत्नी (प्रेमा) को छेड़ने के लिए अमृतराय और उनके वनिताश्रम की इस प्रकार निन्दा करता है, "दस बीस जवान विधवाओं को इधर उधर से एकत्र करके रास लीला सजाएँगे। चहारदीवारी के भीतर कौन देखता है, क्या हो रहा है।"[2]

पहले दिखलाया जा चुका है कि घर की सम्पत्ति में विधवाओं का हिस्सा न होने के कारण उन्हें अपने ही परिवार में निकृष्ट जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इसलिए प्रेमचन्द आर्थिक दृष्टि से स्त्रियों की समानता के पक्षपाती थे। 'हिन्दू स्त्री साम्पत्तिक अधिकार' का प्रस्ताव, जिसमें पति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति में विधवा भी एक दायाद होती और जो सन् १६२७ ई० में पारित हुआ, प्रेमचन्द के जीवन-काल में ही आ चुका था। प्रेमचन्द ने इसके प्रस्तावक को 'जागरण' में एक लेख द्वारा इन शब्दों में बधाई दी थी, "मैं आपको दिल से बधाई देता हूँ। स्त्रियाँ आपकी हमेशा कृतज्ञ रहेंगी, क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों मिल कर जिस सम्पत्ति को जोड़ते हैं, पति के मर जाने के बाद उन्हीं की गोद के बच्चे उनसे मुँह छिपाते हैं। यह प्रस्ताव जिस दिन पास होगा, करोड़ों महिलाएँ आपको हृदय से आशीर्वाद देंगी और आपकी सदैव कृतज्ञ रहेंगी। उन्हीं के साथ मैं भी आपका कृतज्ञ हूँ। क्या हिन्दू लॉ में स्त्रियाँ बेकार चीज समझी गई हैं कि जो कूड़ा-करकट की तरह उन्हें निकाल कर बाहर किया जाता है ? भगवान् जाने, यह कानून क्यों और किनके लिए बना था। मुझे तो आशा है, कोई भी विचारवान व्यक्ति इस प्रस्ताव पर असहमति न प्रकट करेगा।"[3]

शिवरानी देवी ने यह लेख पढ़ा और प्रेमचन्द से बातें करने लगी। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने अपनी 'बेटोंवाली विधवा' कहानी का उल्लेख किया। उनकी दृष्टि में कानून का भय बहुत बड़ा होता है, धर्म पर छोड़ी हुई बात का कोई मूल्य नहीं होता—

"मैं बोली, "मनु ने तो लिखा है।"

आपने कहा, "लिखने से क्या ? आज का कानून आज के लिए लागू है। गवर्नमेंट तो नहीं चाहती।"

मैं बोली, "तब कानून बनाने से भी कोई न मानेगा।"

---

१. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ६६-६७

२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ १०६

३. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ १६२

आप बोले, "तुम गलत कह रही हो। कानून का डण्डा बड़ा मजबूत होता है। उसके सामने सभी सिर झुका देते हैं। तब मानने न मानने का सवाल नहीं रह जाता। अगर आज कानून पास हो गया, तो बड़ा उपकार होगा। जो चीज धर्म पर छोड़ी जाती है, वह मुर्दा है। उसका होना न होना दोनों बराबर हो जाते हैं।"

मैं बोली, "दुनिया में क्या हर बेटे नालायक होते हैं? तुम्हारे पिताजी क्या छोड़ कर गए थे और अपनी माँ भी नहीं, सौतेली थीं, फिर भी वह किस तरह शासन करती थीं, क्या आप भूल गए?"

आप बोले, "मुझे छोड़ दो। तुम अपने ही बच्चों को देख लो। यद्यपि तुम्हारा शासन उन्हीं लोगों की भलाई के लिए होता है, फिर भी वे तुम्हारी बातों पर ध्यान नहीं देते। अगर माताओं को उन्हीं का सहारा रहा तो बुरी बात है न? तुमको याद होगा, मैंने एक कहानी 'बेटोंवाली विधवा' नाम की लिखी थी। वह कल्पित नहीं थी। सच्ची घटना के आधार पर थी।"[1]

विधवा के प्रश्न के उपरोक्त समाधाना के अतिरिक्त एक और दृष्टि से प्रेमचन्द ने इस समस्या को देखा था। आत्माभिमान प्रत्येक जीव का धर्म होता है, किन्तु भारतीय नारियों में इसकी अत्यन्त कमी है। इससे उनमें आत्मनिर्भरता और स्वतन्त्रता की भावना आती ही नहीं। उनका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। व सोहाग को सबसे बड़ी विभूति समझती हैं, चाहे उनके पति उनकी बात भी न पूछें। ऐसी अवस्था में विधवा का स्त्री समाज में निरादर होता है और वह शुभ कार्यों, विशेषत विवाह में अशुभ समझी जाती हैं। प्रेमचन्द ने हिन्दू स्त्री की इस कमजोरी को समझा था[2] और उनकी कुछ नारियाँ सर्वथा स्वतन्त्र

१　शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ १६२-१६३

२　'आप बोले, 'स्त्रियों में एक बात यह भी तो है कि शौहर जीता रहे माने या न माने, पर वह स्त्री भाग्यवती समझी जाती है। कहते हैं कि वह बड़ी सुखी है। जिसका पति न हो, वह अभागिन समझी जाती है। उस बेचारी को अभागिन कहेंगे।"

मैं बोली, 'आपकी इस बात का खण्डन तो मैं ही कर देती हूँ। जिसका पति मर गया, वह तो सचमुच अभागिन है।"

आप बोले, मैं इसको नहीं मानता। मान लो कोई आदमी अपनी स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से शादी कर लेता है और पहली को बात तक नहीं पूछता। दिल में यह मनाता हो कि मर जाए, तो अच्छा है। तुम्हीं बताओ, उसके जीवन में क्या है? उसको तुम सुख समझती हो? तुम समझो, मैं तो नहीं समझूँगा। मैं उसे ही सुखी समझूँगा, जिसका पति मर गया है। कम-से-कम उसमें जो प्रेम था, अपनापा था, वह तो उसके साथ है। उसके लिए अब क्या रहा? उस सधवा के हाथ तो कुछ नहीं लगा। जलना और नफ़रत, बस। उस विधवा को तड़पन है, जलन है, मगर विधवा के दिल के अन्दर जो अपनापा और प्रेम के अकुर जमा हो गए हैं, वही उसकी स्थायी सम्पत्ति है। उसके मरने पर ही वह दूर हो सकेगा। जो उसके दिल के अन्दर स्मृति है, वही इसके जीवन की स्थायी और अमूल्य वस्तु है। जिसके जीवन में ये चीजें मिल जाएँ, उसे और किस चीज की जरूरत? अब उसका अन्दाजा लगाओ, जिसे घर में जीवित पति जला रहा है।'

शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ २४६ २४७

आचरण करने में गर्व का अनुभव करती हैं। 'निर्मला' उपन्यास में सुधा के पति डॉ० सिन्हा उसकी सहेली (निर्मला) को एकान्त में पा कर उससे कुछ हँसी करते हैं। सुधा को जब यह मालूम होता है, तो वह क्रोध में जो कुछ मुँह में आता है, पति को सुनाती है। डॉ० सिन्हा इस ग्लानि में विष खा लेते हैं, किन्तु सुधा को अपने विधवा होने का दुःख नहीं है, न वह निर्मला को इसके लिए दोषी समझती है। इसके विपरीत उसे निर्मला से पूरी सहानुभूति है। विधवा हो जाने पर वह निर्मला से कहती है, "मैंने तुमसे कभी कहा नहीं बहिन, लेकिन मैंने उन्हें कई बार तुम्हारी ओर झाँकते देखा। उस वक्त मैंने भी यही समझा कि शायद मुझे धोखा हो रहा हो। अब मालूम हुआ कि उस ताक झाँक का क्या मतलब था। अगर मैंने दुनिया ज्यादा देखी होती, तो तुम्हें अपने घर न आने देती। कम से कम तुम पर उनकी निगाह कभी न पड़ने देती, लेकिन यह क्या जानती थी कि पुरुषों के मुँह में कुछ और होता है? ईश्वर को जो मंजूर था, वह हुआ। ऐसे सौभाग्य से मैं वैधव्य को बुरा नहीं समझती। दरिद्र प्राणी उस धनी से कहीं सुखी है, जिसे उसका धन साँप बन कर काटने दौड़े। उपवास कर लेना आसान है, विषैला भोजन करना उससे कहीं मुश्किल।"[1]

'प्रतिज्ञा' उपन्यास की पूर्णा विधवा है और सुमित्रा सधवा। किन्तु, सुमित्रा अपने को पूर्णा से अभागिनी समझती है, क्योंकि उसे पति का प्रेम नहीं मिला है। वह पूर्णा से कहती है, "हम दोनों दुखिया हैं। तुम्हारे हृदय में सुखद स्मृतियाँ हैं, मेरे में वह भी नहीं। मैंने सुख देखा ही नहीं और न देखने की आशा ही रखती हूँ।"[2]

प्रेमचन्द विधवाओं में आत्मसम्मान देखना चाहते थे। उनका निरीह होना और दो रोटी पा कर घर के एक कोने में पड़े रहना, उनकी दृष्टि में, विधवाओं का आदर्श नहीं होना चाहिए। समाज को उनके पीछे हाथ धो कर नहीं पड़ जाना चाहिए, उन्हें अपने कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, उन्हें स्वयं अपने कार्यों का उत्तरदायी होना चाहिए। 'नैराश्य-लीला' कहानी का वर्णन पहले आ चुका है। समाज कैलाशकुमारी को किसी भाँति प्रतिष्ठा का जीवन व्यतीत करने नहीं देना चाहता और अन्त में उसे झुँझला कर कहना पड़ता है, "तो कुछ मालूम भी तो हो कि संसार मुझसे क्या चाहता है। मुझमें जीव है, चेतना है, जड़ क्यों कर बन जाऊँ? मुझसे यह नहीं हो सकता कि अपने को अभागिनी, दुखिया समझूँ और एक टुकड़ा रोटी खा कर पड़ी रहूँ। ऐसा क्यों करूँ? संसार मुझे जो चाहे समझे, मैं अपने को अभागिनी नहीं समझती। मैं अपने आत्मसम्मान की रक्षा आप कर सकती हूँ। मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग पग पर मुझ पर शंका की जाए, नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिए घूमता रहे कि किसी खेत में न जा पड़ूँ। यह दशा मेरे लिए असह्य है।"[3]

इस प्रकार प्रेमचन्द ने विधवा समस्या को स्त्री पुरुष की समानता की समस्या से जोड़ दिया है और उसके मूल तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। जब तक स्त्रियों को भी मनुष्य

---

१. निर्मला, पृष्ठ १८९ १९०

२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ४७

३. मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ६४

नहीं समझा जाएगा, जब तक स्त्रियों पर सभी प्रकार के अत्याचार होते रहेंगे, जब तक उन्हें घर में कैदी और दासी का जीवन व्यतीत करने को विवश किया जाएगा, तब तक विधवा समस्या के समाधान में विधवा का पुनर्विवाह और विधवाश्रमों का स्थापन, केवल पैबन्द का काम (Patch Work) करेंगे, व इस समस्या का कोई मौलिक समाधान नहीं कर सकेंगे। समाशत, इस विषय पर प्रेमचन्द का यही मन्तव्य कहा जा सकता है।

०

: ६ :

पतिता और सामाजिक मानदण्ड

किसी भी समाज के लिए यह लज्जा की बात है कि वह अपने एक महत्त्वपूर्ण अंग, नारी-जाति, को घृणित पेशा करने के लिए विवश करे। वस्तुत, किसी कारण एक बार पतित, पथभ्रष्ट हो जाने वाली नारी के साथ समाज का व्यवहार, नारी के प्रति उसके दृष्टिकोण का परिचायक है। इस दृष्टि से हिन्दू समाज असहानुभूतिपूर्ण और निर्मम रहा है। पुरुष नैतिक दृष्टि से कितना ही पतित क्यों न हो, किन्तु वह समाज और परिवार का सदस्य बना रहता है, इसके विपरीत नारी के अज्ञान में, विवशता के कारण, और पुरुष के माध्यम से होनेवाले तथाकथित पतन पर, उसे पुरुष प्रधान समाज बहिष्कृत कर देता है और उसके अपने परिवार के सदस्य भी उसे कुल-कलंकिनी आदि मान कर उसका मुँह तक देखना नहीं चाहते। हाल हाल तक और एक हद तक आज भी, ऐसी नारी के लिए, इस स्थिति में केवल दो रास्ते खुले रहते हैं—या तो वह अपने जीवन का अपने हाथों अन्त कर ले या जीवन की रक्षा के लिए शरीर का व्यापार करे। प्राणिमात्र को जीवन का मोह होता है; नारी अपवाद नहीं है। गृहिणी और माता के पद की अधिकारिणी नारी को, परिस्थितिनिरपेक्ष नैतिक मानदण्ड के सहारे 'पतिता' घोषित कर, जिस प्रकार पुरुषों की वासना तृप्ति के लिए बाध्य किया जाता है, वह समाज की अमानुषिक क्रूरता का प्रमाण है। प्रेमचन्द ने अपने पात्रों से बहुधा इस अवांछनीय मनोवृत्ति की आवेशपूर्ण आलोचना कराई है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की प्रेमा भाषण करती हुई कहती है, "स्त्री हारे दरजे ही दुराचारिणी होती है। अपने सतीत्व से अधिक उसे संसार की और किसी वस्तु पर गर्व नहीं होता, न वह किसी चीज को इतना मूल्यवान समझती है।"[१] 'वेश्या' कहानी में वेश्या माधुरी कहती है, "नारी अपना बस रहते हुए कभी पैसों के लिए अपने को समर्पित नहीं करती। यदि वह ऐसा कर रही है, तो समझ लो कि उसके लिए और कोई आश्रय, और कोई आधार नहीं है।"[२]

प्रश्न है, तब वे कौन से कारण हैं, जो नारियों को इस व्यवसाय के लिए विवश करते हैं? नारियाँ क्यों पतित जीवन व्यतीत करती हैं? प्रेमचन्द ने नारियों के पतन के इन कारणों का उल्लेख किया है—सामाजिक कुरीतियाँ, विधवा की बुरी सामाजिक स्थिति, अपने ही घर में नारी को उचित सम्मान न मिलना, बुरी आर्थिक स्थिति के साथ भोग विलास की लालसा, नैतिक और धार्मिक शिक्षा का अभाव, धन का लोभ, रूप का अभिमान, पति के द्वारा उपेक्षा, अपना अज्ञान, घर से निस्सहाय स्त्री का निकाल दिया जाना, कुटनियों और स्त्रियों का अनैतिक व्यवसाय करने वालों का मायाजाल तथा एक

१. प्रतिज्ञा, पृष्ठ १३१
२ मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ ५३

बार किसी कारण से गलत रास्ते पर कदम रखने वाली नारी को समाज में फिर स्थान न मिलना इत्यादि।[1] हाल में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा किए गए व्यापक सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि ५५.४ प्रतिशत स्त्रियाँ आर्थिक कठिनाइयों के कारण, २७.७ प्रतिशत पारिवारिक कारणों से तथा १६.६ प्रतिशत धार्मिक तथा सामाजिक कुप्रथाओं के कारण अनैतिक जीवन बिताने को बाध्य हुईं।[2] समाज कल्याण का काम करने वाली कुछ स्त्रियों ने भोगेच्छा को भी इसका कारण बताया है, किन्तु वह गौण है।[3] पंजाब में किए गए सर्वेक्षण में ८० प्रतिशत स्त्रियों को आर्थिक कारणों से, १५ प्रतिशत को सामाजिक कुरीतियों और पारिवारिक झंझटों तथा शेष ५ प्रतिशत को अन्य कारणों से पतिता जीवन के लिए बाध्य पाया गया है। उत्तर प्रदेश के सर्वेक्षण में भी समाज शास्त्रियों ने आर्थिक कारणों को वेश्या-वृत्ति का मुख्य कारण माना है।[4] चीन में भी, जहाँ हाल में ही वेश्या वृत्ति का पूर्णत उन्मूलन किया गया है, धार्मिक अनाचार, सामाजिक अत्याचार और पारिवारिक अन्याय से नस्त हो कर नारी सतीत्व बेच कर अपना निर्वाह करने को बाध्य थी। वह भी भारतीय नारी के समान पद दलित, लाछित, अपमानित, पराधीन, निष्क्रिय और निरर्थक जीवन से क्षुब्ध हो कर एव उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में तथा अन्य किसी सुखी जीवन प्रणाली के अभाव में अनैतिक जीवन व्यतीत करने को प्रेरित होती थी।[5]

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' उपन्यास की सुमन के रूप में एक ऐसी हिन्दू नारी का चित्रण किया है, जो बहुलाश में तो समाज के कारण, किन्तु कुछ हद तक अपनी मनोवृत्ति के फलस्वरूप भी, पतन का मार्ग अपनाती है। वह वैवाहिक कुरीतियों, अनाचारपूर्ण सामाजिक नियमों, अन्यायपूर्ण धार्मिक व्यवस्था और बुरी आर्थिक स्थिति तथा भोग लालसा का शिकार होती है।

सुमन सुन्दर है, सुशील है, गुणवती है, सुख में पली है, किन्तु दूषित दहेज प्रथा के कारण वह एक अयोग्य पुरुष से ब्याही जाती है। उसका पति (गजाधर) दुहाजू, कुरूप और निर्धन है। 'गगाजली (सुमन की माता) दामाद को देख कर बहुत रोई। उसे ऐसा

---

१ चन्द्रशेखर पाठक द्वारा लिखित 'वारागना रहस्य' नामक उपन्यास में, जिसका रचना-काल प्राय वही है जो सेवासदन' उपन्यास का है, नारियों के पतन के जो कारण दिए गए है, वे प्रेमचन्द द्वारा निर्दिष्ट कारणों से तुलनीय है—'*स्त्रियों के लिए कठोर शासन (पति द्वारा) खराब है। उनके खराब हो जाने का एक कारण यह कठोर शासन भी रहता है।* दूसरे पति का अनादर, तीसरे इन कुटनी बुड्ढियों का सग, चौथे वृद्ध विवाह, पाँचवें वेश्यागामी पति, परन्तु इन बुड्ढियों का सग ही उन्हें गृहत्यागिनी बनाने का एक प्रधान सहायक होता है।'

चन्द्रशेखर पाठक, वारागना-रहस्य तीसरा भाग, पृष्ठ १७

२ परिपूर्णानन्द, स्त्रियों का अनैतिक व्यापार, नया समाज, नवम्बर १९५७, पृष्ठ ४१७

३ परिपूर्णानन्द, स्त्रियों का अनैतिक व्यापार, नया समाज, नवम्बर, १९५७ पृष्ठ ४१७

४ परिपूर्णानन्द, स्त्रियों का अनैतिक व्यापार, नया समाज, नवम्बर, १९५७, पृष्ठ ४१८

५ सत्यदेव विद्यालकार, चीन में वेश्या-वृत्ति का अन्त, नया समाज, नवम्बर १९५७, पृष्ठ ४३२

दुःख हुआ, मानो किसी ने सुमन को कुएँ में डाल दिया।"[1] सुमन जब पति द्वारा घर से निकाली जा कर भोली वेश्या के पास पहुँचती है, तो वह भी सुमन के दाम्पत्य जीवन की इसी असमानता की ओर लक्ष्य कर कहती है, "मैं जानती थी कि कभी-न-कभी तुमसे खटकेगी जरूर। एक गाड़ी में कहीं अरबी घोड़ी और लद्दू टट्टू जुत सकते हैं? तुम्हें तो किसी बड़े घर की रानी बनना चाहिए था। मगर पाले पड़ी एक खूसट के, जो तुम्हारा पैर धोने लायक भी नहीं।"[2]

सुमन के पतन का दूसरा कारण स्वयं उसकी भोग विलास की लालसा है। अपने पिता (दारोगा कृष्णचन्द्र) के घर में उसकी बाल्यावस्था बहुत लाड़ प्यार और सुख में बीती है। उसे अच्छा खाने, अच्छा पहनने की आदत है। 'उसने गृहिणी बनने की नहीं, इन्द्रियों के आनन्द भोग की शिक्षा पाई थी। अपने द्वार पर खोमचे वालों की आवाज सुन कर उससे रहा न जाता'[3] उसका पति (गजाधर) साधारण आर्थिक स्थिति का व्यक्ति है। वह एक कारखाने में पन्द्रह रुपए का बाबू है। इतने रुपयों में सुमन की भोग-लालसा तृप्त नहीं होती।[4] वह पति से छिपा कर कुछ खाने पीने की चीजें खरीद लेती है और महीने के अन्त में गृहस्थी के खर्च के लिए भी पैसे नहीं बचते। वह पड़ोसी स्त्रियों को गहने-कपड़े बनवाते देखती है, तो सोचती है, 'यह सब नए-नए गहने बनवाती हैं; नए-नए कपड़े लेती हैं और यहाँ रोटियों के लाले हैं। क्या संसार में मैं ही सबसे अभागिनी हूँ।'[5]

वेश्या जीवन अपनाने के बाद सुमन को अपनी भूल मालूम होती है और वह बार-बार अपनी भोग लालसा को ही अपनी कुप्रवृत्ति के लिए दोषी ठहराती है। वह सोचती है, 'हाय। मुझ जैसी डाइन संसार में न होगी, मैंने विलास-तृष्णा की धुन में अपने कुल का सर्वनाश कर दिया। अगर विलास की इच्छा और निर्दय अपमान ने उसकी लज्जा शक्ति को शिथिल न कर दिया होता, तो वह घर से बाहर कदापि पाँव न निकालती।'[6] वह स्वामी गजानन्द (पहले उसके पति) से कहती है, "मेरी विलास-तृष्णा ने मुझे कहीं का न रखा।"[7] अपनी सगी बहन (शान्ता) के घर से निकाले जाने पर वह सोचती है,

---

१. सेवासदन, पृष्ठ १७
२. सेवासदन, पृष्ठ ५३
३. सेवासदन, पृष्ठ १८-१९
४. आधुनिक समाजशास्त्रियों ने भी इसे वेश्या-वृत्ति का एक कारण माना है। 'गरीबी के साथ-साथ विलासपूर्ण जीवन की लालसा स्त्रियों के अन्दर नैतिक मूल्यों को कम कर देती है।'
डे० दत्त, ट्राफिक इन विमेन, इण्डियन नेशन, २३ मार्च, १९५८
५. सेवासदन, पृष्ठ २०
६. (क) सेवासदन, पृष्ठ २५२-२५३
(ख) पश्चाताप और ग्लानि की अवस्था में मनुष्य दूसरों का दोष देखता ही नहीं, स्वयं को ही दोषी ठहराता है। वस्तुतः सुमन स्वयं कुछ भी कहे, वह भोग-विलास की लालसा के कारण असन्तुष्ट भले ही रहती हो, किन्तु इससे वह वेश्या नहीं बनती।
७. सेवासदन, पृष्ठ २५१

'विलास-लालसा ने मेरी यह दुर्गति की। मैं कैसी अन्धी हो गई थी, केवल इन्द्रियों के सुख भोग के लिए अपनी आत्मा का सर्वनाश कर बैठी।"[1]

सुमन के पतन का कारण उसका सौन्दर्याभिमान और चचलता भी है।[2] वह अपने रूप और यौवन की प्रशंसा सुनने के लिए व्याकुल रहती है—'उस मुहल्ले में रसिक युवकों तथा शोहदों की भी कमी न थी। स्कूल से जाते हुए युवक सुमन के द्वार की ओर टकटकी लगाए हुए चले जाते। शोहदे उधर से निकलते, तो राधा और कान्हा के गीत गाने लगते। सुमन कोई काम करती हो, पर उन्हें चिक की आड से एक झलक दिखा देती। उसके चचल हृदय को इस ताक झाँक में असीम आनन्द प्राप्त होता था। किसी कुवासना से नही, केवल अपने यौवन की छटा दिखाने के लिए, केवल दूसरों के हृदय पर विजय पाने के लिए वह यह खेल खेलती थी।'[3]

पण्डित पद्म सिंह (वकील) के यहाँ जब भोली बाई का गाना हो रहा है, मजलिस पर भोली बाई का प्रभाव देख कर सुमन सोचती है, 'इस स्त्री में कौन-सा जादू है? सौन्दर्य? हाँ, हाँ वह रूपवती है, इसमें सन्देह नही। मगर, मैं भी तो बुरी नहीं। वह साँवली है, मैं गोरी हूँ। वह मोटी है, मैं दुबली हूँ। पण्डितजी के कमरे में एक बडा शीशा था। सुमन उस शीशे के सामने जा कर खडी हो गई और उसमें उसने अपना नख से शिख तक देखा। भोली बाई के अपने हृदयाकित चित्र से अपने एक एक अग की तुलना की। तब उसने आ कर सुभद्रा से कहा, "बहूजी, एक बात पूछूँ, बुरा न मानना। यह इन्द्र की परी क्या मुझसे बहुत सुन्दर है?"

सुभद्रा ने उसकी ओर कुतूहल से देखा और मुस्कुराकर पूछा, "यह क्यों पूछती हो?"

सुमन ने सिर झुका कर कहा, "कुछ नही, यों ही। बतलाओ।"

सुभद्रा ने कहा, "इसका सुख का शरीर है, इसलिए कोमल है, लेकिन रग रूप में वह तुम्हारे बराबर नही।"[4]

पथभ्रष्ट होने के बाद सुमन अपने सौन्दर्य को अपने पतन का मूल कारण समझती है, 'इसी सुन्दरता ने मेरी मिट्टी खराब की। मेरे सौन्दर्य के अभिमान ने मुझे यह दिन दिखाया।'[5]

सुमन की उपरोक्त स्वीकारोक्ति भी एक विचारणीय पक्ष है, किन्तु उसके पतन के लिए मूलत सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्था ही उत्तरदायी है। पुरुष प्रधान समाज में नारी पुरुष के लिए होती है। उसे पुरुष पर— पिता, पति और पुत्र पर—किसी-न किसी

१ सेवासदन पृष्ठ ३३८

२ सुमन सोचती है हे प्रभो! तुम सुन्दरता दे कर मन को चचल क्यों बना देते हो? मैंने सुन्दर स्त्रियों को प्राय चचल ही पाया।' सेवासदन, पृष्ठ ३३८

३ सेवासदन पृष्ठ २१

४ सेवासदन पृष्ठ ३६

५ सेवासदन, पृष्ठ ३३८

रूप में आश्रित रहना पड़ता है। हमारा समाज उसे स्वतन्त्र रूप से अपनी आजीविका उपार्जित करने की सुविधा नहीं देता। वह घर में भी, जिसके लिए उसका जीवन पूर्ण रूप से समर्पित रहता है, उचित आदर सम्मान नहीं पाती। सुमन के पतन का एक महत्त्वपूर्ण कारण है—सम्मान और प्रेम का न मिलना। उसका नीरस पति उस पर कठोरतापूर्वक शासन करता है, उसे सन्देह की दृष्टि से देखता है, उस पर लाञ्छन लगाता है और व्यंग्य करता है। यह ठीक है कि सुमन सुन्दर, चञ्चल और अभिमानिनी है तथा वस्त्राभूषणों के लिए लालायित रहती है, किन्तु वह दुश्चरित्र नहीं है, वह वेश्याओं से घृणा करती है—'सुमन के घर के सामने 'भोली' नाम की एक वेश्या का मकान था। भोली नित नए सिंगार करके अपने कोठे के छज्जे पर बैठती। पहर रात तक उसके कमरे से मधुर गान की ध्वनि आया करती। कभी-कभी वह फिटन पर हवा खाने जाया करती। सुमन उसे घृणा की दृष्टि से देखती थी।'

सुमन ने सुन रखा था कि वेश्याएँ अत्यन्त दुश्चरित्र और कुलटा होती हैं। वह अपने कौशल से नवयुवकों को अपने मायाजाल में फँसा लिया करती हैं। कोई भलामानुष उनसे बातचीत नहीं करता, केवल शोहदे रात को छिप कर उनके यहाँ जाया करते हैं। भोली ने कई बार उसे चिक की आड़ में खड़ी देख कर इशारे से बुलाया था, पर सुमन उससे बोलने में अपना अपमान समझती। वह अपने को उससे बहुत श्रेष्ठ समझती थी। 'मैं दरिद्र सही, दीन सही, पर अपनी मर्यादा पर दृढ़ हूँ, किसी भलेमानुष के घर में मेरी रोक तो नहीं, कोई मुझे नीच तो नहीं समझता। वह कितना ही भोग-विलास करे, पर उसका कहीं आदर तो नहीं होता। बस, अपने कोठे पर बैठी अपनी निर्लज्जता और अधर्म का फल भोगा करे।"

उपरोक्त तथ्यों को सुमन का हृदय स्वाभाविक रूप से ग्रहण किए हुए था। किन्तु, परिस्थितियाँ शीघ्र ही उसे यह अनुभव करने के लिए बाध्य करती हैं कि समाज में वेश्याओं का भी आदर होता है, बल्कि स्थूल दृष्टि से देखने पर कुलीन स्त्रियों से भी उनका अधिक आदर होता है। वह देखती है कि 'शोहदे' ही नहीं, बल्कि 'भलेमानुष' भी भोली के यहाँ आते हैं और वह भी रात में छिप कर नहीं, दिन में। जिस दिन भोली बाई के घर 'मौलूद' होता है और सुमन एक-से-एक प्रतिष्ठित व्यक्तियों को वहाँ आते देखती है, वेश्याओं के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल जाता है और वह भोली से मैत्री स्थापित कर लेती है। पति द्वारा रोके जाने पर वह तर्क करती है, "क्यों भोली के घर जाने में कोई हानि है? उसके घर तो बड़े-बड़े लोग आते हैं, मेरी क्या गिनती है।" गजाधर उसे समझाता है और सुमन मान जाती है। गजाधर कहता है, "बड़े-बड़े भले ही आवें, लेकिन तुम्हारा वहाँ जाना बड़ी लज्जा की बात है। मैं अपनी स्त्री को वेश्या से मेलजोल करते नहीं देख सकता। तुम क्या जानती हो कि जो बड़े-बड़े लोग उसके घर आते हैं, वह कौन लोग हैं? केवल धन से कोई बड़ा थोड़े ही हो जाता है? धर्म का महत्त्व कहीं धन से बढ़ कर है। तुम उस मौलूद के दिन जमाव देख कर धोखे में आ गई होगी, पर यह समझ

१. सेवासदन, पृष्ठ ३३

लो कि उनमें से एक भी सज्जन पुरुष नहीं था।...यह लोग धन के घमण्ड में धर्म की परवाह नहीं करते। उनके आने स भोली पवित्र नहीं हो गई है।"[1]

अपने पति के समझाने के बावजूद सुमन देखती है कि धार्मिक स्थानों में भी तो वेश्याओं का उतना ही आदर सम्मान होता है, जितना शोहदों और धनी मानी व्यक्तियों के द्वारा। रामनवमी के दिन वह देखती है कि मन्दिर-जैसे पवित्र स्थान में वेश्या का गाना हो रहा है और वहाँ उसकी जैसी कुलीन और धर्मप्राण महिलाएँ धक्के खाती हैं। वह सोचती है, 'भोली के सामने केवल धन ही सिर नहीं झुकाता, धर्म भी उसका कृपाकांक्षी है।'[2] गजाधर जिन शब्दों में सुमन को उपदेश देता है, वे समाज की धर्म व्यवस्था पर भी प्रकाश डालते हैं, "तो तुमने उनलोगों के बडे-बडे तिलक छापे देख कर ही उन्हें धर्मात्मा समझ लिया? आजकल धर्म तो धूर्त्तों का अड्डा बना हुआ है। इस निर्मल सागर में एक से एक मगरमच्छ पडे हुए हैं। भोले भाले भक्तों का निगल जाना उनका काम है। लम्बी-लम्बी जटाएँ, लम्बे-लम्बे तिलक छापे और लम्बी लम्बी दाढ़ियाँ देख कर लोग धोखे में आ जाते हैं, पर वह सब के सब महा पाखण्डी, धर्म के उज्ज्वल नाम को कलंकित करने वाले, धर्म के नाम पर टका कमाने वाले, भोग विलास करने वाले, पापी हैं। भोली का आदर सम्मान उनके यहाँ न होगा, तो किसके यहाँ होगा?"

सुमन ने सरल भाव से पूछा, 'फुसला रहे हो या सच कह रहे हो?"

गजाधर ने उसकी ओर करुण दृष्टि से देख कर कहा, "नहीं सुमन, वास्तव में यही बात है। हमारे देश में सज्जन मनुष्य बहुत कम हैं, पर अभी देश उनसे खाली नहीं है। यह दयावान होते हैं, सदाचारी होते हैं, सदा परोपकार में रत रहते हैं। भोली यदि अप्सरा बन कर आवे, तो वह उसकी ओर आँख उठा कर न देखेंगे।"[3]

गजाधर के उपदेश को सुमन का अनुभव मिथ्या प्रमाणित करता है और वह पतन के मार्ग की ओर बढ़ती जाती है। एक दिन वह अपनी सहेलियों के साथ एक सार्वजनिक उद्यान में जाती है। वहाँ वेश्याओं को तो आदरपूर्वक स्थान दिया जाता है, किन्तु वह (सुमन) बेंच पर बैठने की अधिकारिणी भी नहीं मानी जाती और जब वह बलपूर्वक उस पर बैठना चाहती है, तो उद्यान का नौकर उसे हाथ पकड कर उठाना चाहता है। बात बढ़ जाती है और उधर से जाते हुए पण्डित पद्म सिंह (जो वहाँ के एक प्रतिष्ठित वकील हैं) सुमन की रक्षा करते हैं। वकील साहब की पत्नी (सुभद्रा) से सुमन की मित्रता स्थापित होती है। सुमन वकील साहब को भद्र, निष्ठावान और देवतुल्य समझती है। किन्तु, होली के अवसर पर मित्रों के आग्रह से वे भोली बाई का मुजरा कराते हैं। सुमन देखती है, वहाँ एक से एक विद्वान, सच्चरित्र, प्रतिष्ठित मनुष्य हैं और वेश्या की एक एक भाव भंगिमा पर वे मुग्ध हो रहे हैं। सुमन के मन में जो द्वन्द्व छिड़ा हुआ था, आज उसे उसका उत्तर मिल जाता है। वेश्या होने के बाद वह वकील साहब से कहती है,

१ सेवासदन, पृष्ठ २६

२. सेवासदन, पृष्ठ २७

३. सेवासदन, पृष्ठ २९ ३०

"आप चाहे समझते हों कि आदर और सम्मान की भूख बड़े आदमियों ही को होती है, किन्तु दीन-दशा वाले प्राणियों को इसकी भूख और भी अधिक होती है; क्योंकि उनके पास इसके प्राप्त करने का कोई साधन नहीं होता। वे इसके लिए चोरी, छल-कपट सब कुछ कर बैठते हैं। आदर में वह सन्तोष है, जो धन और भोग-विलास में भी नहीं है। मेरे मन में नित्य यही चिन्ता रहती थी कि यह आदर कैसे मिले। इसका उत्तर मुझे कितनी ही बार मिला, लेकिन आपके होली वाले जलसे के दिन जो उत्तर मिला, उसने भ्रम दूर कर दिया, मुझे आदर और सम्मान का मार्ग दिखा दिया। यदि मैं उस जलसे में न आती, तो आज मैं अपने झोपड़े में सन्तुष्ट होती। आपको मैं बहुत सच्चरित्र पुरुष समझती थी, इसलिए आपकी रसिकता का मुझ पर और भी प्रभाव पड़ा। भोली बाई आपके सामने गर्व से बैठी हुई थी, आप उसके सामने आदर और भक्ति की मूर्ति बने बैठे हुए थे। आपके मित्र-वृन्द उसके इशारों पर कठपुतली की भाँति नाचते थे। एक सरल-हृदया आदर की अभिलाषिणी स्त्री पर इस दृश्य का जो फल हो सकता था, वही मुझ पर भी हुआ।"[1]

पति की दरिद्रता, कृपणता, प्रेम हीनता, कठोरता और शुष्कता के कारण सुमन को घर में भी अपेक्षित आदर नहीं मिलता। जब वह अपनी सहेली (सुभद्रा) के घर अपने मानसिक कष्टों को भुलाने के लिए जाती है, तो गजाधर उस पर सन्देह करता है और एक दिन व्यंग्य एवं लाञ्छन से उसके हृदय पर भी आघात करता है। होली के दिन सुमन सुभद्रा के यहाँ भोली बाई का गाना सुन कर आधी रात को घर लौटती है। सुमन के इस आचरण से क्षुब्ध हो कर गजाधर उससे इतनी रात तक घर से बाहर रहने का कारण पूछता है, जो उचित ही है, किन्तु वह उस पर अविश्वास करता है, लाञ्छन लगाता है, व्यंग्य भी करता है और सुमन क्रोधित हो जाती है—

गजाधर, "मुझे तू जब तक न बता देगी कि तू सारी रात कहाँ रही, तब तक मैं तुझे घर में पैठने न दूँगा। न बतावेगी, तो समझ ले कि आज से तू मेरी कोई नहीं, तेरा जहाँ जी चाहे जा, जो मन आवे कर।"

सुमन ने कातर भाव से कहा, "वकील साहब के घर को छोड़ कर मैं और कहीं नहीं गई। तुम्हें विश्वास न हो, तो आप जा कर पूछ लो। वहीं चाहे जितनी देर लगी हो। गाना हो रहा था, सुभद्रा देवी ने आने नहीं दिया।"

गजाधर ने लाञ्छनायुक्त शब्दों में कहा, "अच्छा, तो अब वकील साहब से मन मिला है, यह कहो, भला मजूर की परवाह क्यों होने लगी?"

इस लाञ्छना ने सुमन के हृदय पर कुठाराघात का काम किया। झूठा इलजाम कभी नहीं सहा जाता। वह सरोष बोली, "कैसी बातें मुँह से निकालते हो, हक-नाहक एक भलेमानस को बदनाम करते हो। मुझे आज देर हो गई है, मुझे जो चाहो कहो, मारो, पीटो, वकील साहब को क्यों बीच में घसीटते हो? वह बेचारे तो जब तक मैं घर में रहती हूँ, अन्दर कदम नहीं रखते।"

---

१. सेवासदन, पृष्ठ ११४

गजाधर उसे किसी प्रकार क्षमा करने को तैयार नहीं होता। बात बढ़ते देख कर सुमन रोने लगती है और वकील साहब के यहाँ कभी न जाने की प्रतिज्ञा करती है, फिर भी गजाधर के मन का सन्देह नहीं मिटता। वह सोचता है, सुमन इस समय केवल उसका क्रोध शान्त करने के लिए यह नम्रता दिखा रही है। वह कटुतापूर्ण स्वर में कहता है, "नहीं, जाओगी क्यों नहीं? वहाँ ऊँची अटारी सैर को मिलेगी, पक्वान खाने को मिलेंगे, फूलों की सेज पर सोओगी, नित्य राग रंग की धूम रहेगी।" यहाँ प्रेमचन्द अपनी ओर से कहते हैं, 'व्यंग्य और क्रोध में आग और तेल का सम्बन्ध है। व्यंग्य हृदय को इस प्रकार विदीर्ण कर देता है, जैसे छेनी बर्फ के टुकड़े को।' सुमन क्रोध से विह्वल हो कर बोली, "अच्छा तो जबान सम्भालो, बहुत हो चुका। घण्टे भर से मुँह में जो अनाप शनाप आता है, बकते जाते हो। मैं तरह देती जाती हूँ, उसी का फल है। मुझे कोई कुलटा समझ लिया है?"

गजाधर, "मैं तो ऐसा ही समझता हूँ।"

सुमन, "तुम मुझे मिथ्या पाप लगाते हो, ईश्वर तुमसे समझेंगे।"[1]

सुमन को न तो बाहर और न घर में ही वह सम्मान मिलता है, जिसकी वह अधिकारिणी है। वेश्या जीवन का परित्याग करने के बाद, पति से मुलाकात होने पर, सुमन उसे उसके द्वारा हुए शुष्क व्यवहारों की याद दिलाती हुई यह कहना चाहती है कि उसी के कारण वह यह अभिनय करने को बाध्य हुई, "अब क्या छिपाऊँ, तुम्हारे दारिद्र्य और इससे अधिक तुम्हारे प्रेम विहीन व्यवहार ने मुझमें असन्तोष का अंकुर जमा दिया और चारों ओर पाप जीवन की मान मर्यादा, सुख विलास देख कर इस अंकुर ने बढ़ते बढ़ते भटकैये के सदृश सारे हृदय को छा लिया। उस समय एक फफोले को फोड़ने के लिए जरा सी ठेस भी बहुत थी। तुम्हारी नम्रता, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी सहानुभूति, तुम्हारी उदारता उस फफोले पर फाहे का काम देती, पर तुमने उसे मसल दिया, मैं पीड़ा से व्याकुल, सज्ञाहीन हो गई।"[2] अब गजाधर अपनी भूल स्वीकार करता है। वह सुमन से कहता है, "तुम आदर के योग्य थी, मैंने तुम्हारा निरादर किया। यह हमारी दुरवस्था का, हमारे दुखों का मूल कारण है। ईश्वर वह दिन कब लावेगा कि हमारी जाति में स्त्रियों का आदर होगा। स्त्री मैले कुचैले, फटे पुराने वस्त्र पहन कर, आभूषण विहीन हो कर, आधे पेट सूखी रोटी खा कर, झोपड़ी में रह कर, मेहनत मजदूरी कर, सब कष्टों को सहते हुए भी आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकती है। केवल घर में उसका आदर होना चाहिए, उससे प्रेम होना चाहिए। आदर या प्रेम विहीन महिला महलों में भी सुख से नहीं रह सकती, पर मैं अज्ञान-अविद्या के अन्धकार में पड़ा हुआ था।"[3]

सुमन के पथभ्रष्ट होने का अन्तिम, किन्तु किसी प्रकार महत्त्वहीन नहीं, कारण है, उसका घर से निकाला जाना। वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था में, अर्थात् पुरुष प्रधान समाज

१ सेवासदन, पृष्ठ ४४-४५

२. सेवासदन, पृष्ठ २५५

३. सेवासदन, पृष्ठ २४२-२४३

में, स्त्री अबला होती है और उसे एक रक्षक की आवश्यकता होती है; क्योंकि उसके अभाव में पुरुष ही उसके भक्षक बन बैठते हैं। विशेषकर हमारे देश में, स्त्री पुरुष पर अवलम्बित रहती है, अतः वह स्वतन्त्र रूप से अपनी आजीविका भी उपार्जित नहीं कर पाती। फलतः सुमन के सामने भी ये दिक्कतें आती हैं। गजाधर उसे लांछित ही नहीं करता, बल्कि उसी आधी रात में उसे घर से निकाल भी देता है। आफत की मारी सुमन, वकील साहब के घर जाती है। सुभद्रा के सिवा और उसका अपना है ही कौन ? सोचती है, वहीं खाना पका दिया करेगी, सेवा टहल कर देगी और पड़ी रहेगी। गजाधर का सन्देह पक्का हो जाता है और वह वकील साहब की बदनामी करता है। सुमन वहाँ से भी निकाल दी जाती है। बाद में जब वह अपनी अधोगति पर सोचती थी, 'तब उसका व्यथित हृदय पद्म सिंह पर दाँत पीस कर रह जाता था। यदि उस निर्दय मनुष्य ने अपनी बदनामी के भय से मेरी अवहेलना न की होती, तो मुझे इस पाप कुण्ड में कूदने का साहस न होता। अगर वह मुझे चार दिन भी पड़ रहने देते, तो कदाचित् मैं अपने घर लौट जाती अथवा वह (पति) ही मुझे मना ले जाते, फिर उसी प्रकार लड़ झगड़ कर जीवन के दिन कटने लगते।'[1]

पद्म सिंह के घर से निकाले जाने पर भी सुमन के विचार हैं, 'मुझे कहीं रहने का स्थान चाहिए। खाने भर को किसी-न किसी तरह कमा लूँगी। कपड़े भी सिऊँगी, तो खाने भर को मिल जाएगा', किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि समाज के दुष्ट व्यक्ति उसे तंग करते हैं और वह वेश्या-वृत्ति अपनाने को विवश होती है। वह सुधारक विट्ठल दास से कहती है, "उस दशा में भी मैं कुमार्ग से भागती रही। मैंने चाहा कि कपड़े सी कर अपना निर्वाह करूँ, पर दुष्टों ने मुझे ऐसा तंग किया कि अन्त में मुझे इस कुएँ में कूदना पड़ा।"[2]

इस प्रकार सुमन के पथभ्रष्ट होने का कारण मुख्यतः नारी पर सामाजिक और धार्मिक अत्याचार हैं, यद्यपि भोग विलास की उसकी लालसा भी एक गौण कारण है। प्रेमचन्द ने अपने अन्य उपन्यासों एवं कुछ कहानियों में भी वेश्या-वृत्ति के इन मुख्य कारणों तथा स्त्री व्यवसायियों, दलालों और कुटनियों का भी वर्णन किया है। आगे के पृष्ठों में उनका अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा।

'नरक का मार्ग' कहानी की नायिका एक धनी वृद्ध से ब्याही जाती है, जो उसके रूप, यौवन और शृंगार को सन्देह की दृष्टि से देखता है, उसका आदर-सम्मान

---

१. (क) सेवासदन, पृष्ठ १०८

(ख) वकील साहब सोचते हैं, 'यदि मैंने उसे घर से निकाल न दिया होता, तो इस भाँति उसका पतन न होता। मेरे यहाँ से निकल कर उसे और कोई ठिकाना न रहा और क्रोध और कुछ नैराश्य की अवस्था में यह भीषण अभिनय करने पर बाध्य हुई।' सेवासदन, पृष्ठ ८४

२. (क) सेवासदन, पृष्ठ ८६

(ख) श्रीनाथ सिंह लिखित उपन्यास 'एकाकिनी' (सन् १९२६ ई०) में श्यामसुन्दर के इस प्रश्न का कि, "स्त्रियाँ वेश्या क्यों हो जाती हैं ?", श्यामा जवाब देती है, "सुनो, स्त्रियाँ स्वावलम्बी नहीं हैं। तुम उन्हें असहाय अवस्था में घर से निकाल दोगे, तो तुम्हारे दस भाई उनकी इज्जत लेने पर उतारू हो जाएँगे।"

श्रीनाथ सिंह, एकाकिनी, पृष्ठ १५९

करना तो दूर की बात है। नायिका सोचती है, 'मालूम नहीं, इन्हें मुझ पर इतना सन्देह क्यों होता है। जब से नसीब इस घर में लाया है, इन्हें बराबर सन्देहमूलक कटाक्ष करते देखती हूँ। क्या कारण है? जरा बाल गुँथवा कर बैठी और यह ओठ चबाने लगे। कहीं *जाती नहीं, कहीं आती नहीं, किसी से बोलती नहीं, फिर भी इतना सन्देह! यह अपमान* असह्य है। क्या मुझे अपनी आबरू प्यारी नहीं?'' नायिका की आत्मा प्रेम के लिए तड़पती है। उसके वृद्ध पति की मृत्यु शीघ्र ही हो जाती है, किन्तु उसे दुःख नहीं होता। वह चूड़ियाँ नहीं तोड़ती, माँग में सिन्दूर तो पहले भी नहीं डालती थी। इससे घर में उस पर मनमानी आलोचना होती है और वह उन्हें चिढ़ाने के लिए और भी बनती सँवरती है। उसे लगता है, जैसे वह कैद से छूट गई। एक दिन वह प्रेम-जैसी दिव्य वस्तु की खोज में, रात में, घर से निकल खड़ी होती है। राह में उसे एक बुढ़िया मिल जाती है, जो उसे प्रेम का आश्वासन दे कर अपने घर ले जाती है। यह वृद्धा कुटनी थी। वेश्या जीवन अपनाने के पहले अपने को सन्तोष देती हुई कहानी की यह नायिका कहती है, "आह! वह बुढ़िया जिसे मैं आकाश की देवी समझती थी, नरक की डाइन निकली। मेरा सर्वनाश हो गया। मैं अमृत खोजती थी, विष मिला, निर्मल स्वच्छ प्रेम की प्यासी थी, गन्दे, विषाक्त नाले में गिर पड़ी। वह दुर्लभ वस्तु न मिलनी थी, न मिली। लेकिन मेरे अधःपतन का अपराध मेरे सिर नहीं, मेरे माता पिता और उस बूढ़े पर है, जो मेरा स्वामी बनना चाहता था। मैं फिर कहती हूँ, अब भी अपनी बालिकाओं के लिए मत देखो धन, मत देखो जायदाद, मत देखो कुलीनता, केवल वर देखो। स्त्री सब कुछ सह सकती है, दारुण दुःख, बड़े-से बड़ा सकट, अगर नहीं सह सकती तो अपने यौवन काल की उमगों का कुचला जाना। रही मैं, मेरे लिए अब इस जीवन में कोई आशा नहीं। इस अधम दशा को भी उस दशा से न बदलूँगी, जिससे निकल कर आई हूँ।"[२]

वैवाहिक बुराइयाँ भी, जिनके कुफल मुख्यतः स्त्री को ही भोगने पड़ते हैं, स्त्रियों पर *सामाजिक अत्याचार की ही परिचायिका हैं।* वैवाहिक बुराइयों को स्त्रियों के पतन का कारण मानते हुए प्रेमचन्द ने शिवरानी देवी से कहा था, "बहु विवाह, वृद्ध विवाह पुरुष ही करते हैं, तब आखिर इतनी स्त्रियाँ कहाँ जाएँगी? और समाज ने सारी जिम्मेवारी स्त्रियों के ही सर पटक दी है। मैं कहता हूँ कि अगर हमारा समाज अब भी नहीं *समझता और स्त्रियों के साथ इन्साफ का बर्ताव नहीं करता, तो बहुत मुमकिन है, वह* दिन जल्द ही आनेवाला है, जब हिन्दुओं के घर की लड़कियाँ, अत्याचार से घबड़ा कर, इच्छानुसार शादी कर लिया करेंगी।"[३]

चीन की, जहाँ आज वेश्या वृत्ति का अन्त हो चुका है, स्त्रियाँ भी इसके पूर्व *वैवाहिक कुप्रथाओं का शिकार थीं। उनका विवाह भी पोथी-पत्रा, मुहूर्त और जन्म-पत्री के आधार पर होता था, वर कन्या के गुणों के आधार पर नहीं।* ब्याह कराने वाले पुरोहित

१ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ २५

२ मानसरोवर भाग ३ पृष्ठ ३०

३ *शिवरानी देवी प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ ६७*

अपने लाभ को दृष्टि में रख कर विवाह सम्बन्ध कराते फिरते थे, जिससे दुखी दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने वाली स्त्रियाँ सुखी जीवन के लोभ में घर से निकल पड़ती थीं अथवा शहरों में काम ढूँढने चली जाती थी। किन्तु, वहाँ स्त्री का व्यवसाय करने वालों के हाथ में पड़ कर वे वेश्या वृत्ति के लिए विवश की जाती थीं।[1]

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'गोदान' में नारियों की इस अधोगति के लिए दो मुख्य कारण माने हैं—आर्थिक कष्ट और सम्मान का अभाव, यहाँ तक कि भोग की प्रवृत्ति को भी उन्होंने तनिक भिन्न दृष्टि से देखा है। डॉ० महता और मिर्जा साहब में इसी बात पर बहस होती है। मिर्जा साहब की धारणा है कि "रूप के बाजार में वही स्त्रियाँ आती हैं, जिन्हें या तो अपने घर में किसी कारण से सम्मानपूर्ण आश्रय नहीं मिलता या जो आर्थिक कष्टों से मजबूर हो जाती हैं।" पर, महता इसका विरोध करते हैं। उनका विचार है, "मुख्यतः मन के संस्कार और भोग लालसा ही औरतों का इस ओर खींचती है।" वे कहते हैं, "रोजी के लिए और बहुत से जरिए हैं। ऐश की भूख रोटियों से नहीं जाती। उसके लिए दुनिया के अच्छे अच्छे पदार्थ चाहिए।" मिर्जा साहब जोर दे कर कहते हैं, "और मैं कहता हूँ कि यह महज रोजी का सवाल है। हाँ, यह सवाल सभी आदमियों के लिए एक-सा नहीं है। मजदूर के लिए वह महज आटे दाल और एक फूस की झोपड़ी का सवाल है। एक वकील के लिए वह एक कार और बँगले और खिदमतगारों का सवाल है। आदमी महज रोटी नहीं चाहता, और भी बहुत सी चीजें चाहता है। अगर औरतों के सामने भी वह प्रश्न तरह तरह की सूरतों में आता है, तो उनका क्या कसूर है?"[2]

'दो कब्रें' कहानी में भी आर्थिक कठिनाइयों का वेश्या-वृत्ति का मूल कारण बताया गया है। वेश्याओं से घृणा करने वाले प्रो० रामेन्द्र से कुँवर रनवीर सिंह कहते हैं, "आप लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि हरेक बुराई मजबूरी से होती है। चोर इसलिए चोरी नहीं करता कि चोरी में उसे विशेष आनन्द आता है, बल्कि केवल इसलिए कि जरूरत उसे मजबूर करती है। हाँ, वह जरूरत वास्तविक है या काल्पनिक, इसमें मतभेद हो सकता है। स्त्री के मैके जाते समय कोई गहना बनवाना एक आदमी के लिए जरूरी हो सकता है, दूसरे के लिए बिलकुल गैरजरूरी। क्षुधा से व्यथित हो कर एक आदमी अपना ईमान खो सकता है, दूसरा मर जाएगा, पर किसी के सामने हाथ न फैलाएगा। पर, प्रकृति का यह नियम आप जैसे विद्वानों को न भूलना चाहिए कि जीवन लालसा प्राणिमात्र में व्यापक है। जिन्दा रहने के लिए आदमी सब कुछ कर सकता है। जिन्दा रहना जितना ही कठिन होगा, बुराइयाँ भी उसी मात्रा में बढ़ेंगी, जितना ही आसान होगा, उतनी ही बुराइयाँ कम होंगी। हमारा यह पहला सिद्धान्त होना चाहिए कि जिन्दा रहना हरेक के लिए सुलभ हो।"[3]

---

१ सत्यदेव विद्यालंकार चीन में वेश्या-वृत्ति का अन्त नया समाज, नवम्बर १९५७, पृष्ठ ४२१

२ गोदान, पृष्ठ ४२६

३ (क) मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ ४६

(ख) आज के विचारक और समाज-कल्याण का काम करनेवाली स्त्रियां भी आर्थिक कारणों

आर्थिक कारणों के अतिरिक्त स्त्रियों को घर में आदर और प्रेम न मिलना, उनका घर से निकाला जाना तथा कुटनियों, दलालों और शोहदों के मायाजाल को भी प्रेमचन्द ने वेश्या वृत्ति के लिए उत्तरदायी ठहराया है।

'लांछन' कहानी में इन तीनों कारणों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। 'मुन्नू' नाम का मेहतर रजा मियाँ का दोस्त है। वह श्यामकिशोर बाबू के घर में झाड़ू देता है और स्नान घर की सफाई करता है। मुन्नू और रजा मिल कर बाबू साहब की सुन्दरी पत्नी (देवी) को घर से निकलने को विवश कर देते हैं और आफत की मारी निष्कपट देवी उन्हीं से सहायता माँगने जा कर उनके चंगुल में फँस जाती है।

मुन्नू मेहतर एक ओर देवी के सौन्दर्य और गुणों की धूर्ततापूर्वक प्रशंसा करके उसके हृदय में अपना स्थान बनाता है, दूसरी ओर श्यामकिशोर को चरित्रहीन कह कर तथा देवी से बड़ी बड़ी देर तक बातें करके देवी और उसके पति के बीच में सन्देह के बीज बोता है—

मुन्नू, "सरकार का मिजाज बड़ा अच्छा है। हुजूर इतना खयाल करती हैं। दूसरे घरों में तो मालकिनें बात भी नहीं पूछतीं। सरकार को अल्लाह ने जैसी सकल सूरत दी है, वैसा ही दिल भी दिया है। अल्लाह जानता है, हुजूर को देख कर भूख प्यास जाती रहती है। बड़े बड़े घर की औरतें देखी हैं, मुदा हुजूर के तलुवों की बराबरी भी नहीं कर सकतीं।"

देवी, "चल झूठे। मैं ऐसी कौन बड़ी खूबसूरत हूँ।"

मुन्नू, "दालमण्डी में सरकार के कोई रहते हैं क्या ?"

देवी, "नहीं, यहाँ तो कोई नातेदार नहीं है।"

मुन्नू, "तो कोई दोस्त होंगे। सरकार को अक्सर एक कोठे पर से उतरते देखता हूँ।"

देवी, "दालमण्डी तो रण्डियों का मुहल्ला है ?"

मुन्नू, "हाँ सरकार, रण्डियाँ बहुत हैं वहाँ, लेकिन सरकार तो सीधे सादे आदमी मालूम होते हैं। वहाँ रात का देर से तो नहीं आते ? ..मौका मिले, तो इशारे से समझा दीजिएगा सरकार, कि रात को उधर न जाया करें। आदमी का दिल कितना ही साफ हो, लेकिन देखने वाले तो शक करने लगते हैं।"[1]

मुन्नू का दोस्त (रजा मियाँ) खिड़की की ओर देखते हुए उस राह से गुजरता है। श्यामकिशोर देवी को समझाते हैं, वह खिड़की पर खड़ी न हुआ करे, शोहदे उसे देखते हैं। देवी पर अपने समझाने का कोई प्रभाव न देख कर वे चिन्ता में पड़ जाते हैं,

को वेश्या-वृत्ति का प्रधान कारण मानती है (जस्टिस नकी इमाम, थार्फ सर्सेस एगेन्स्ट विमेन, इण्डियन नेशन, २० मार्च, १९५८, जे० दत्त, ट्राफिक इन विमेन, इण्डियन नेशन, २३ मार्च, १९५८, शोभना भट्टाचार्य, रिक्लेमिंग डेसपाइज्ड ह्यूमैनिटी, इण्डियन नेशन, ५ अक्टूबर, १९५८)।

१ मानसरोवर, भाग ५, पृष्ठ ११६-११७

कैसे बदमाशों से अपने घर की इज्जत बचाएँ—'वह यह जानते थे कि देवी पतिव्रता है, पर यह भी जानते थे कि अपनी छवि दिखाने का सुन्दरियों को मरज होता है। देवी जरूर बन ठन कर खिड़की पर खड़ी होती है और मुहल्ले के शोहदे उसको देख देख कर मन में न जानें क्या क्या कल्पना करते होंगे। इस व्यापार को बन्द कराना उन्हें अपने काबू के बाहर मालूम होता था। शोहदे वशीकरण की कला में निपुण होते हैं। ईश्वर न करे, इन बदमाशों की निगाह किसी भले घर की बहू बेटी पर पड़े। इनसे कैसे पिण्ड छुड़ाऊँ।'[1]

एक दिन की बात है, श्यामकिशोर देवी को साथ ले कर थिएटर जाते हैं, रजा मियाँ और मुन्नू भी एक ताँगे पर बैठ कर उनके पीछे पीछे जाते हैं। श्यामकिशोर थिएटर न जा कर अपना ताँगा चक्करदार रास्ते से घर लौटा लाते हैं, फिर भी बड़ी दूर तक दोनों शोहदों का ताँगा उनके पीछे पीछे आता है। स्पष्ट है, इसमें शोहदों का उद्देश्य था, पति पत्नी के बीच मनोमालिन्य बढ़ाना। श्यामकिशोर बाबू घर पहुँचते ही पत्नी पर झुँझलाते हैं, "और मुन्नू से बात करो, और खिड़की पर खड़ी हो हो कर रजा को छवि दिखाओ। तुम न जाने क्या करने पर तुली हुई हो?"

इस पर देवी को भी क्रोध आता है। वह कहती है, 'ऐसी बातें मुँह से निकालते तुम्हें शर्म नहीं आती? मैं किसी मर्द को तुम्हारे पैरों की धूल के बराबर भी नहीं समझती, उस अभागे मेहतर की क्या हकीकत है? तुम मुझे इतनी नीच समझते हो?"[2]

श्यामकिशोर, यह समझते हुए भी कि देवी शोहदों की चालबाजी का शिकार हो रही है, धैर्य और सहृदयता से काम नहीं लेते। वे शीघ्र ही अपमान और व्यंग्य करने, लाञ्छन लगाने तथा मार पीट करने पर उतर आते हैं। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री के, भूल से भी विपरीत आचरण करने पर, पुरुष की यही प्रतिक्रिया होती है। श्यामकिशोर ने मुन्नू मेहतर से पिण्ड छुड़ाने के लिए उसे काम से तो निकाल ही दिया, उन्होंने घर भी दूसरे मुहल्ले में ले लिया। देवी का अकेले घर में मन नहीं लगता। अतः, एक दिन जब मुन्नू आता है, तो पुराने घर के समाचार जानने के लिए वह उसे अन्दर बुला लेती है। मुन्नू श्यामकिशोर बाबू के दफ्तर से आने के पहले आता था, ताकि उसे आते हुए वे देख लें। घर में आते ही श्यामकिशोर बाबू पत्नी पर क्रोध करते हैं, उसे अपशब्द कहते हैं।

श्यामकिशोर, "वह शैतान मुन्नू इस मुहल्ले में भी आने लगा? मैंने आज उसे देखा। क्या यहाँ भी आया था? और तुमने अन्दर आने दिया? मैंने मना न किया था कि उसे कभी अन्दर कदम न रखने देना। तुमने आज भी न कहा होगा, यहाँ मत आया कर।"

देवी, "मुझे तो इसका खयाल न रहा। और अब वह यहाँ क्या करने आएगा?"

श्यामकिशोर, "जो करने आज आया था, वही करने फिर आएगा। तुम मेरे मुँह में कालिख लगाने पर तुली हुई हो।"

---

१ मानसरोवर, भाग ५, पृष्ठ १२३

२ मानसरोवर, भाग ५, पृष्ठ १२२-१२३

देवी ने क्रोध से ऐंठ कर कहा, 'मुझसे तुम ऐसी ऊटपटाँग बातें मत किया करो, समझ गए? तुम्हें ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म भी नहीं आती? ...तुमने मुझे कोई वेश्या समझ लिया है?"

श्यामकिशोर, "अगर मैंने मुन्नू को कभी अपने द्वार पर देखा, तो तुम्हारी कुशल नहीं, इतना समझाए देता हूँ।" यह कहते हुए श्यामकिशोर नीचे चले जाते हैं और देवी फूट-फूट कर रोने लगती है। 'उसका हृदय इस अपमान, लाञ्छन और अविश्वास के आघात से पीड़ित हो उठा। उसको सबसे बड़ी चोट जिस बात से लगी, वह यह थी कि मेरे पति मुझे इतनी नीच, इतनी निर्लज्ज समझते हैं। जो काम वेश्या भी न करेगी, उसका मुझ पर सन्देह कर रहे हैं।'[1]

मुन्नू मेहतर और रजा मियाँ तो चाहते ही हैं कि पति पत्नी में झगड़ा बढ़ता जाए। मुन्नू एक बार रजा की ओर से देवी की पुत्री (शारदा) के लिए खिलौने लाता है। माता के मना करने पर भी शारदा खिलौने ले लेती है। भय के कारण, देवी पति से यह बात छिपाती है, किन्तु शारदा से यह भेद खुल जाता है। इस पर श्यामकिशोर पत्नी को अपशब्द ही नहीं कहते, बल्कि उसे मारते पीटते हैं और जान से मार डालने की धमकी भी देते हैं। उनके अन्दर यह भ्रम बद्धमूल हो जाता है कि शोहदों ने शारदा के लिए खिलौने दिए हैं, तो देवी के लिए भी कुछ न कुछ उपहार अवश्य दिए होंगे। देवी इनकार करती है, तो वे कहते हैं, "यह तो हो ही नहीं सकता कि लड़की के लिए खिलौने आएँ और तुम्हारे लिए कोई सौगात न आए। तुम भरी गंगा में कसम खाओ, तो भी मुझे विश्वास न आएगा।"

देवी, "तो घर में देख क्यों नहीं लेते?"

श्यामकिशोर ने घूँसा तान कर कहा, "कह दिया, मुझे फुरसत नहीं है। सीधे से सारी चीजें ला कर रख दो, नहीं तो इसी दम गला दबा कर मार डालूँगा।"

देवी, "मारना हो, तो मार डालो, जो चीजें आई ही नहीं, उन्हें मैं दिखा कहाँ से दूँ?"

श्यामकिशोर ने क्रोध से उन्मत्त हो कर देवी को इतने जोर से धक्का दिया कि वह चारों खाने चित्त जमीन पर गिर पड़ी। तब उसके गले पर हाथ रख कर बोले, "दबा दूँ गला। न दिखलाएगी तू उन चीजों को? ..खून पी जाऊँगा। तूने समझा क्या है? फिर तो उस मेहतर से बातें न करेगी? अगर अब कभी मुन्नू या उस शोहदे को द्वार पर देखा, तो गला काट लूँगा।"[2] देवी के हृदय पर इस अपमान, अविश्वास, लाञ्छन और मार पीट का घातक प्रभाव पड़ता है।

शारदा के मोटर से दब कर मर जाने से मुन्नू को फिर आने का अवसर मिलता है। इस बार वह रजा के साथ मातमपुर्सी करने पहुँच जाता है और दोनों द्वार पर किसी न किसी बहाने तब तक बने रहते हैं, जब तक श्यामकिशोर दफ्तर से आते नहीं दिखाई

१ मानसरोवर, भाग ५, पृष्ठ १२७-१२८
२ मानसरोवर, भाग ५, पृष्ठ १३०-१३१

पड़ते। आज श्यामकिशोर देवी के साथ पहले से भी बुरी तरह पेश आते हैं। मार पीट करके उसी क्रोध में वे घर से बाहर चले जाते हैं और देर रात तक नहीं लौटते। इधर देवी उस घर में एक क्षण भी नहीं रहना चाहती जहाँ उसका सम्मान नहीं, बल्कि हर वक्त जान का खतरा हो। उसके मनोभावों और विचारों का वर्णन प्रेमचन्द ने इन शब्दों में किया है—'रोते रोते देवी की आँखें सूज आई। क्रोध में मधुर स्मृतियों का लोप हो जाता है। देवी को ऐसा ज्ञात होता था कि श्यामकिशोर को उसके साथ कभी प्रेम ही न था। .. कुछ नहीं, अब इनका दिल मुझसे फिर गया है, नहीं तो क्या इस जरा सी बात पर यों मुझ पर टूट पड़ते। कोई-न कोई लाछन लगा कर मुझसे गला छुड़ाना चाहते हैं। . ज्यों ज्यों रात गुजरती जाती थी, देवी के प्राण सूखे जाते थे। उसे यह धड़का समाया हुआ था कि कहीं वह आ कर फिर न मार पीट शुरू कर दे। कितने क्रोध में भरे हुए यहाँ से गए। वाह री तकदीर। अब मैं इतनी नीच हो गई कि मेहतरों से, जूतेवालो से आशनाई करने लगी। इस भले आदमी को ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म भी नहीं आती। न-जानें इनके मन में ऐसी बातें कैसे आती हैं। कुछ नहीं, यह स्वभाव के नीच, दिल के मैले, स्वार्थी आदमी हैं। नीचों के साथ नीच ही बनना चाहिए। मेरी भूल थी कि इतने दिनों से इनकी घुड़कियाँ सहती रही। जहाँ इज्जत नहीं, मर्यादा नहीं, प्रेम नहीं, विश्वास नहीं, वहाँ रहना बेहयाई है। कुछ मैं इनके हाथ बिक तो गई ही नहीं कि यह जो चाहे करें, मारें या काटें, पड़ी सहा करूँ। देवी को अब ऐसी शका होने लगी कि कहीं श्यामकिशोर आते ही आते सचमुच उसका गला न दबा दें या छुरी न भोक दें।'' और देवी ने 'धीरे से द्वार खोला और बाहर निकल आई। उसे जरा भी क्षोभ, जरा भी दु ख न था। बस, केवल एक इच्छा थी कि यहाँ से बच कर भाग जाऊँ। मैके जाने का अब उसका इरादा न था। उसे भय होता था कि मैके में श्यामकिशोर से वह अपनी जान न बचा सकेगी।'[2] देवी मुन्नू को ही जानती है और उस पर ही विश्वास करती है। अत, इस सकट में वह उसी का आश्रय लेती है। वह मुन्नू से एक ऐसा घर दिलाने को कहती है, जहाँ उसके पति को उसका पता न चले। मुन्नू उसे एक घर में रख आता है। इस प्रकार मुन्नू और रत्ना की योजना पूरी हो जाती है, देवी उनके चगुल में फँस जाती है।

मेले ठेले, ग्रहण, गगा स्नान आदि में दलालों और कुटनियों की बन आती है। वे भूली भटकी हुई स्त्रियों को धोखा दे कर उन्हें वेश्या वृत्ति के लिए विवश करते हैं। यदि कोई स्त्री उनके चगुल से बच कर अपने घर पहुँच जाती है, तो उसके घर के लोग उसे स्वीकार नहीं करते, उसे घर से निकाल देते हैं।

'निर्वासन' कहानी में मर्यादा अपने पति (परशुराम) के साथ गगा स्नान करने जाती है और वहाँ धक्के में पड़ कर, पति से उसका साथ छूट जाता है। सेवा समिति का एक युवक मर्यादा को सेवा समिति कार्यालय में ले जाता है, जहाँ खोई हुई अन्य स्त्रियाँ

१ मानसरोवर, भाग ५, पृष्ठ १३८

२ मानसरोवर, भाग ५, पृष्ठ १४०

भी हैं। दूसरे दिन शाम को सभी स्टेशन आते हैं। वहाँ एक व्यक्ति परशुराम की हुलिया और पता बता कर कहता है कि वे अपनी पत्नी को ढूँढ रहे हैं, धर्मशाला में ठहरे हुए हैं। मर्यादा को स्वयंसेवक तथा अन्य स्त्रियाँ उसके साथ जाने को कहती हैं। उसे भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता, किन्तु असल में वह पुरुष दलाल था। वह मर्यादा को एक तंग गली में ले जाता है और एक मकान के अन्दर बैठा कर कहता है, वह वहीं बैठी रहे, उसके पति वहीं आएंगे। मर्यादा समझ जाती है, उसे छला गया है। वह रोने लगती है। वह आदमी धर्मशाला का महतर था, जिसस परशुराम ने मर्यादा के खो जाने की चर्चा की थी। एक वृद्धिया आ कर मर्यादा को भाँति भाँति के प्रलोभन देती है, भय भी दिखाती है। मर्यादा कौशल से वहाँ से निकल भागती है। घर पहुँचते पहुँचते उसे एक हफ्ता हो जाता है। परशुराम उसे 'घर में रखने और पत्नी कहने' को तैयार नहीं होता। वह उसका भरण पोषण करने के लिए तैयार है, किन्तु शर्त्त यह है कि वह दूसरी जगह रहे, अपने बच्चे का भी स्पर्श नहीं करे। वह कहता है, "जिस स्त्री पर दूसरी निगाहें पड़ चुकीं, जो एक सप्ताह न जाने कहाँ और किस दशा में रही, उसे अंगीकार करना मेरे लिए असम्भव है।"[1] इतना अपमान सहते हुए मर्यादा वहाँ नहीं रहना चाहती। वह यह कहती हुई चली जाती है, "समझ लूँगी कि मैं विधवा भी हूँ और बाँझ भी। चलो मन! अब इस घर में तुम्हारा निवाह नहीं है। चलो, जहाँ भाग्य ले जाए।" प्रेमचन्द ने कहानी तो यहीं समाप्त कर दी है, किन्तु वास्तविक जीवन में मर्यादा का क्या होगा, यह अनुमान करना कठिन नहीं है।

प्रेमचन्द ने एक बार शिवरानी देवी से कहा था, "हिन्दू धर्म सबसे ज्यादा स्त्रियों ही को चौपट कर रहा है। जरा सी गलती स्त्रियों से हुई, उन्हें हिन्दू समाज ने बहिष्कृत किया। सबसे ज्यादा हिन्दू स्त्रियाँ चकलेखाने में हैं। सबसे ज्यादा हिन्दू स्त्रियाँ मुसलमान होती हैं। ये आठ करोड़ मुसलमान बाहर के नहीं हैं, घर के ही हैं। थोड़ी थोड़ी गलतियों में अपनी बेटी-बहनों को निकाल देते हैं। फिर वह कहीं न कहीं तो जरूर जाएँगी। हिन्दुओं की कोशिश तो यह होती है कि उन स्त्रियों को दुनिया ही से विदा कर दिया जाए। सरकार के भय से जरा चुप रहते हैं। मान लो एक गर्भवती औरत को कोई निकाल दे, तो वह कहाँ जाएगी?"[2]

---

१ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ५२

२ (क) शिवरानी देवी प्रेमचन्द घर में पृष्ठ ११४

(ख) वैदिक युग में पतिता भी यदि अपनी गलती स्वीकार कर पश्चातापपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी, तो वह धार्मिक कार्यों में भाग ले सकती थी। उसी स्त्री को छोड़ा जाता था जो अपने को सुधारने की चेष्टा नहीं करती थी। भारत में ९वीं शताब्दी तक ऐसे ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं कि दुश्मनों और लम्पटों के हाथ में पड़ी हुई स्त्रियाँ कौशल से भाग निकलती थीं और समाज द्वारा स्वीकृत कर ली जाती थीं। अवसर मिलने पर वे बदला लेने का प्रयत्न भी करती थीं। इस समय तक भारत में परिस्थितिनिरपेक्ष सतीत्व की भावना बद्धमूल नहीं हुई थी विधवा विवाह के बारे में भी कट्टरता नहीं आई थी, सती प्रथा का प्रचलन भी नहीं हुआ था। धीरे धीरे ये कुप्रथाएं प्रचलित हो गईं और १३वीं शताब्दी के बाद एक भी ऐसा उदाहरण

वेश्याओं की समस्या केवल वेश्याओं की ही नहीं है, उन पुरुषों की भी है, जो अपनी वासना-तृप्ति के लिए उनके पास जाते हैं। वेश्याएँ इसीलिए तो रूप की हाट सजाती हैं कि पुरुषों को उनकी आवश्यकता रहती है। यह बहुत कुछ माँग और पूर्ति की समस्या भी है। 'सेवासदन' उपन्यास के पद्म सिंह विट्ठलदास से कहते हैं, "आप यह मानते हैं कि बाजार में वही वस्तु दिखाई देती है, जिसके ग्राहक होते हैं और ग्राहकों के न्यूनाधिक होने पर वस्तु का न्यूनाधिक होना निर्भर है। यदि कोई माँस न खाए, तो बकरे की गर्दन पर छुरी क्यों चले? जो लोग वेश्याओं को बुलाते हैं, उन्हें धन देकर उनके लिए सुख विलास की सामग्री जुटाते हैं और उन्हें ठाठ बाट से जीवन व्यतीत करने योग्य बनाते हैं, वे उस अधिकार से कम पाप के भागी नहीं हैं, जो बकरे की गर्दन पर छुरी चलाता है।"[1] गाँधीजी भी वेश्याओं की समस्या को माँग और पूर्ति की समस्या मानते थे।[2] इस प्रकार कुछ के पास धन सम्पत्ति रहना और कुछ के पास इसका अभाव, यही वेश्या-वृत्ति के पनपने का मूल कारण है। किसानों और गरीबों में साधारणतः यह बुरी आदत नहीं पाई जाती, जब कि रईसों में उन्हें अपवाद समझा जाता था, जो वेश्यागामी नहीं होते थे। गाँधीजी लिखते हैं—'भारत की आबादी का जो ⅞ भाग गाँवों में रहता और खेती पर निर्भर करता है, उस पर इस बुराई का असर कोई नहीं है।'[3] प्रेमचन्द ने भी सर्वत्र ऐसा ही चित्रण किया है और अमीरों को प्रायः विलासी दिखलाया है। 'जीवन का शाप' कहानी की गुलशन कहती है, "मैं बहुत दिन पाया के इलाके में रही हूँ। चारों तरफ किसान और मजदूर[4] रहते थे। बेचारे दिन भर पसीना बहाते थे, शाम को घर जाते थे। ऐयाशी और बदमाशी का कहीं नाम न था और यहाँ शहर में देखती हूँ कि सभी बड़े घरों में यही रोना है। सब के सब हथकण्डों से पैसे कमाते हैं और अस्वाभाविक जीवन बिताते हैं।"[5] 'सेवासदन'

नहीं मिलता जब कोई राजकुमारी जो बलपूर्वक मुस्लिम-हरम में रख ली गई हो जिसने इस प्रकार भागने या बदला लेने की कोशिश की हो जैसा कि पहले क्षत्राणियाँ किया करती थीं। इसके विपरीत गुजरात के राजा सोम की रानी (कमला देवी) जब अलाउद्दीन खिलजी द्वारा कैद की गई और बलपूर्वक विवाहित कर ली गई तो उसने अपनी पुत्री को भी बुलवा लिया ताकि उसका विवाह शाहजादे से हो सके।

ए. एस. अल्तेकर : द पोजीशन आव वुमन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृष्ठ ३६७-३७४

१ सेवासदन, पृष्ठ ११६

२ मो. क. गांधी : अखिल भारतीय नैतिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य संस्था के छठें अधिवेशन, अहमदाबाद में, सभापति-पद से। स्टेट्समैन, ३१ जनवरी १६२–

३ मो. क. गांधी : महिलाओं से, पृष्ठ १६८

४ शहरों के मिल मजदूरों में जो दिन भर मिल के एकरस दम घुटनेवाले वातावरण में काम करते हैं अँधेरी कोठरियों में और परिवार से दूर रहते हैं, गरीब होने पर भी नशा करके, जुआ खेल कर और वेश्यागमन करके दुःख भूलने की प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

'रंगभूमि' उपन्यास में मिस्टर सेवक द्वारा सिगरेट का कारखाना खोल जाने पर मजदूरों की भ्रष्टता का प्रेमचन्द ने सविस्तर चित्रण किया है। वे मुहल्ले की बहू-बेटियों पर भी कुदृष्टि डालते हैं।

रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ २८२-२८५

५ मानसरोवर भाग २, पृष्ठ २३३

उपन्यास में कुँवर अनिरुद्ध सिंह कहते हैं, "जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है।"[१]

इस प्रकार वेश्या वृत्ति के लिए असन्तुलित आर्थिक व्यवस्था भी उत्तरदायी है। 'वेश्या' कहानी में सिगार सिंह वेश्यागामी है। उसका मित्र (दयाकृष्ण) उसकी पत्नी (लीला) से पूछता है, "यह लत इन्हें कैसे पड़ गई? ये बातें तो इनमें न थीं।"

लीला ने व्यथित स्वर में कहा, "रुपए की बलिहारी है और क्या? इसीलिए तो बूढ़े मर-मर के कमाते हैं और मरने के बाद लड़कों के लिए छोड़ जाते हैं। अपने मन में समझते होंगे, हम लड़का के लिए बैठने का ठिकाना किए जाते हैं। मैं कहती हूँ, तुम उनके *सर्वनाश का सामान किए जाते हो, उनके लिए जहर बोए जाते हो।* पापा ने लाखों रुपए की सम्पत्ति न छोड़ी होती, तो आज यह महाशय किसी काम में लगे होते, कुछ घर की चिन्ता होती, कुछ जिम्मेदारी होती, नहीं तो बैंक से रुपए निकाले और उड़ाए।"[२] 'गोदान' उपन्यास में विद्वान और अनुभवी मेहता कहते हैं, "जब तक दुनिया में दौलत वाले रहेंगे, वेश्याएँ भी रहेंगी।"[३]

वेश्या वृत्ति के लिए पुरुष की वासना भी उत्तरदायी है। पुरुष के हाथों में कानून बनाने का अधिकार रहा है, अतः उसने स्त्री को कठोर से-कठोर बन्धनों में बाँधा है और अपने को उन बन्धनों से मुक्त रखा है। स्त्री के लिए विधवा विवाह निषिद्ध रहा है, चाहे वह बाल्यावस्था में ही क्यों न विधवा हो जाए, किन्तु पुरुष एक पत्नी के रहते हुए भी चाहे जितनी शादियाँ कर सकता था। स्त्री के कदम अगर एक बार भी गलत रास्ते पर पड़ जाते हैं, तो बावजूद इसके कि पुरुष ऐसे हर मामले में अधिक दोषी होता है, स्त्री घर और समाज से इस प्रकार बहिष्कृत कर दी जाती है कि वह सदा के लिए नारकीय जीवन बिताने के लिए बाध्य होती है। दूसरी ओर पुरुष को, चाहे वह महापतित ही क्यों न हो, उसके *नैतिक अपराधों के लिए सहज ही क्षमा मिल जाती है—बिना किसी दण्ड और प्रायश्चित्त* के।[४] 'वेश्या' कहानी की माधुरी (जो वेश्या है) कहती है, "नारी अपना वश रहते हुए कभी पैसों के लिए अपने को समर्पित नहीं करती। यदि वह ऐसा कर रही है, तो समझ लो कि उसके लिए और कोई आश्रय, और कोई आधार नहीं है और पुरुष इतना निर्लज्ज है कि उसकी दुरवस्था से अपनी वासना तृप्त करता है और इसके साथ ही इतना निर्दय कि उसके माथे पर पतिता का कलंक लगा कर उसे उसी दुरवस्था में मरते देखना चाहता है।"[५]

---

१ सेवासदन, पृष्ठ १६६

२ मानसरोवर भाग २, पृष्ठ ४१

३ गोदान, पृष्ठ ४२६

४ (क) सम्पादकीय, स्टेट्समैन, ७ सितम्बर १९५७

(ख) जे० दत्त ट्राफिक इन विमेन, इण्डियन नेशन, २३ मार्च, १९५८

५ मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ ५३

इसी कहानी में दो पात्र इस प्रकार बातचीत करते हैं :—

"यह पेशा चला कैसे ?"

"स्त्रियों की दुर्बलता से।"

"नहीं, मैं समझता हूँ, बिस्मिल्लाह पुरुषों ने की होगी।"[1]

'प्रतिज्ञा' उपन्यास में कमला प्रसाद विधवा विवाह निषेध को पुरुषों का स्वार्थ कहता है, "पुरुषों ने यह विधान, केवल अपनी काम-वासना को तृप्त करने के लिए किया है। बस, इसका और कोई अर्थ नहीं।.. स्त्रियों के लिए पतिव्रता धर्म की पख लगा दी। पुन. सस्कार होता, तो इतनी अनाथ स्त्रियाँ उसके पंजे मे कैसे फँसतीं। बस, यही सारा रहस्य है। न्याय तो हम समझते, जब पुरुषों को भी यही निषेध होता।"[2]

प्रेमचन्द स्पष्टत: यहाँ नैतिकता के दोहरे मानदण्ड (Double Standard of Morality) का विरोध करते हैं, जिसकी आवाज सर्वप्रथम इंगलैण्ड में सन् १८७० ई० में, श्रीमती जोजेफाइन बटलर ने, वेश्या-वृत्ति का एक मूल कारण समझ कर, उठाई थी।[3] प्रेमचन्द शिवरानी देवी से कहते हैं, "स्त्रियों पर सबसे ज्यादा ज्यादती हिन्दू ही करते हैं। जरा सी भूल हो गई, उसको घर से निकाल बाहर किया। . और औरत से जो गलती हो जाती है, उसकी *गुनहगार अकेली औरत ही नहीं, पुरुष भी है।* बल्कि मैं तो कहता हूँ कि पुरुष औरत से दूना गुनहगार नहीं, तो ड्योढ़ा तो जरूर ही है। मैं कहता हूँ कि फिर स्त्री को ही क्यों बाहर निकाला जाता है, पुरुष को क्यों नहीं निकाला जाता ? उसका क्यों नहीं बहिष्कार किया जाता ? उसमें सोलहो आना स्त्री को ही क्यों गुनहगार ठहराया जाता है ? और पुरुष तो शुरू से ही स्त्रियों के *साथ ज्यादती करता आ रहा है।* अपनी मर्जी के माफिक कायदा कानून भी तो पुरुष ने अपने लिए बना रखे हैं। बहु-विवाह, वृद्ध विवाह पुरुष ही करते हैं। तब आखिर इतनी स्त्रियाँ कहाँ जाएँगी ? और समाज ने सारी जिम्मेदारी स्त्रियों के ही सर पटक दी है, ऐसा *मालूम* होता है कि *सारे बन्धन* स्त्रियों के लिए ही हैं। उससे पुरुषों को कोई वहम नहीं है। सारे कायदे कानून अपने से उलटे ही स्त्रियों के लिए बनाए हैं। अपने आपको उनके शिकंजों से बचा कर ही रखा।"[4]

---

१ मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ ५५

२ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १६७-१६८

३ इंगलैण्ड में श्रीमती बटलर ने सन् १८७० ई० मे सामाजिक और नैतिक स्वास्थ्य सस्था की स्थापना की। सन् १८७५ ई० में महान् भारतीय सुधारक श्री केशवचन्द्र सेन उनसे मिले और इस सस्था की भारतीय शाखा वहीं, इंगलैण्ड में ही, खोली। इस संस्था का उद्देश्य यह था कि प्रचलित नैतिकता के दोहरे मानदण्ड के स्थान पर स्त्री और पुरुष दोनों के लिए नैतिकता का एक ही मानदण्ड (Single Standard of Morality) रखने का आन्दोलन चलाया जाए। इन सुधारकों ने इसी बुराई को वेश्या-समस्या का मूलभूत कारण समझा।

श्रीमती के० एन० बेगम, सोशल एण्ड मारल हाइजिन वर्क इन बिहार, इण्डियन नेशन, ३० मार्च, १९५८

४ शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ ८७

गाँधीजी ने भी वेश्याओं द्वारा शरीर विक्रय के लिए पुरुषों को ही जिम्मेवार ठहराया था, 'यह बड़े दु ख और अपमान की बात है कि मनुष्य की वासना की तृप्ति के लिए स्त्रियों को अपनी इज्जत बेचनी पड़े। पुरुष ने जो नियामक है, स्त्रियों का जो अपमान किया है, उसके लिए उसको कठिन दण्ड भोगना पड़ेगा। मैं यह नहीं सुनना चाहता कि अपने सतीत्व की बिक्री में उसी प्रकार एक वेश्या जिम्मेदार है, जिस प्रकार कि घुड़दौड़ में जाने वाला एक लखपति एक पेशेवर जेब काटने वाला द्वारा अपनी जेब के काटे जाने का जिम्मेदार है। कौन बुरा है, जो जेब काटता है, वह बदमाश लड़का या गुण्डा जो अपने शिकार को मिला कर उसकी सारी सम्पत्ति हड़प लेता है ? क्या पुरुष पहले अपनी बारीक आदतों से स्त्री की उत्तम भावनाएं नष्ट करके फिर उसके विरुद्ध पाप करने में भागी नहीं बनता ?''[1]

इस दृष्टि से 'सेवासदन' उपन्यास की सुमन भाग्यशालिनी है कि उसे वेश्या जीवन से निकलने को प्रेरित किया जाता है। उसकी मनोवृत्ति से ज्ञात होता है कि इस जीवन को अपनाने को बाध्य स्त्रियाँ भी इससे छुटकारा पाना चाहती हैं, किन्तु समाज और परिवार में पुन स्वीकृति मिलने की सम्भावना न होने के कारण तथा आत्महत्या करने अथवा धर्म परिवर्त्तन के अतिरिक्त कोई और उपाय न देख कर, इसी पेशे से, उसकी सारी बुराइयों के साथ, चिपटी रहती हैं। सुमन और सुधारक विट्ठलदास का एक वार्तालाप इस वस्तुस्थिति पर बहुत ही अच्छी तरह प्रकाश डालता है—

सुमन ने कहा, "मुझे यहाँ बैठते स्वय लज्जा आती है। बताइए, आप मेरे लिए क्या प्रबन्ध कर सकते हैं ? मैं गाने में निपुण हूँ। गाना सिखाने का काम कर सकती हूँ।"

विट्ठलदास, "ऐसी तो यहाँ कोई पाठशाला नहीं है।"

सुमन, "मैंने कुछ विद्या भी पढ़ी है, कन्याओं को अच्छी तरह पढ़ा सकती हूँ।"

विट्ठलदास ने चिन्तित भाव से उत्तर दिया, "कन्या पाठशालाएँ तो कई हैं, पर तुम्हें लोग स्वीकार करेंगे, इसमें सन्देह है।"

सुमन, "तो फिर आप मुझे क्या करने को कहते हैं ? कोई ऐसा हिन्दू जाति का प्रेमी है, जो मेरे गुजारे के लिए पचास रुपए मासिक देने पर राजी हो ?"

विट्ठलदास, "यह तो मुश्किल है।"

सुमन, "तो क्या आप मुझसे चक्की पिसाना चाहते हैं ? मैं ऐसी सन्तोषी नहीं हूँ।"

विट्ठलदास (झेंप कर), "विधवाश्रम में रहना चाहो, तो उसका प्रबन्ध किया जाए।"

सुमन (सोच कर), "मुझे यह भी मन्जूर है, पर वहाँ मैंने स्त्रियों को अपने सम्बन्ध में कानाफूसी करते देखा, तो पल भर न ठहरूँगी।"

विट्ठलदास, "यह टेढ़ी शर्त है, मैं किस किस की जबान को रोकूँगा। लेकिन, मेरी समझ में सभा वाले तुम्हें लेने पर राजी भी न होंगे।"

सुमन ने ताने से कहा, "तो जब आपकी हिन्दू जाति इतनी हृदयशून्य है, तो मैं उसकी मर्यादा पालने के लिए क्यों कष्ट भोगूँ, क्यों जान दूँ ? जब आप मुझे अपनाने के

---

१ मो० क० गांधी, महिलाओं से, पृष्ठ २०० २०१

लिए जाति को प्रेरित नही कर सकते, जब जाति आप ही लज्जाहीन है, तो मेरा क्या दोष है?"[1]

इतने पर भी सुमन उस नरक कुण्ड से निकलने को उत्सुक है, जिस तरह प्राय: सभी वेश्याएँ रहती हैं। किन्तु, उद्धार का मार्ग न पा कर वह धीरे धीरे वेश्या जीवन की प्रणाली को, उससे घृणा करते हुए भी, अपनाना शुरू करती है। फिर भी विट्ठलदास से थोड़ा सहारा पाते ही, वेश्या जीवन से बाहर के अपमान और कष्टों को जानते हुए भी, वह वहाँ से निकलना चाहती है—"सुमन को वहाँ रहते अभी छ मास भी पूरे नहीं हुए थ, लेकिन इतने ही दिनों में उसे वहाँ का पूरा अनुभव हो गया था। उसके यहाँ सारे दिन मीरासियों का जमघट रहता था। वे अपने दुराचार, छल और क्षुद्रता की कथाएँ बड़े गर्व से कहते, उनमें कोई चतुर गिरहकट था, कोई धूर्त ताश खेलने वाला, कोई टपके की विद्या में निपुण, कोई दीवार फाँदने के फन का उस्ताद और सबके सब अपने दुस्साहस और दुर्बलता पर फूले हुए। पड़ोस की रमणियाँ भी नित्य आती थीं, रँगी, बनी ठनी, दीपक के समान जगमगाती हुई, किन्तु ये स्वर्णपात्र थे हलाहल से भरे हुए। उनमें कितना छिछोरापन था। कितना छल। कितनी कुवासना। वह अपनी निलज्जता और कुकर्मों के वृत्तान्त मजे ले-ले कर कहतीं। उनमें लज्जा का अंश भी शेष न रहा था।...यहाँ का आदर और प्रेम अब अपने यथार्थ रूप में दिखाई देता था। वह प्रेम नहीं था, आदर नहीं था, केवल काम लिप्सा थी। अब तक सुमन धैर्य के साथ यह सारी विपत्तियाँ झेलती थी, उसने समझ लिया था कि अब इसी नरक कुण्ड में जीवन व्यतीत करना है, तो इन बातों से कहाँ तक भागूं। नरक में पड़ कर नारकीय धर्म का पालन अनिवार्य था। पहली बार विट्ठलदास जब उसके पास आए थे, तो उसने मन में उनकी उपेक्षा की थी, उस समय तक उसे यहाँ के रंग-ढंग का ज्ञान न था। लेकिन, आज मुक्ति का द्वार सामने खुला हुआ देख कर इस कारागार में उसे क्षण भर भी ठहरना असह्य हो रहा था।"[2]

किन्तु सुमन को भी केवल एक-दो व्यक्तियों का ही, जो सुधार की भावना से प्रेरित हैं, सहारा मिलता है। समाज तो यही चाहता है कि वह या तो डूब धँस जाए, या वेश्या वृत्ति अपनाए। उसके साथ किसी की भी हार्दिक सहानुभूति नहीं है। वह विधवाश्रम से निकाली जाती है, उसके कारण उसकी बहन (शान्ता) का विवाह नहीं होता, और शान्ता को भी, जो अपनी बड़ी बहन के साथ विधवाश्रम में रहती है, सुमन के साथ आश्रम छोड़ने को बाध्य होना पड़ता है। यही शान्ता, जब अपने भावी पति (सदन) द्वारा स्वीकार कर ली जाती है, तो वह खुद सुमन के प्रति कठोर हो जाती है। इसका कारण भी समाज ही है। शान्ता अगर सुमन को नहीं छोड़ती, तो वह भी समाज द्वारा बहिष्कृत कर दी जाती। शान्ता की सास (भामा) के शब्दों में, सुमन और उस जैसी अन्य अभागिनी नारियों के प्रति समाज का दृष्टिकोण स्पष्टत: उदाहृत है। सुभद्रा के यह कहने पर, "वह (सुमन) अब वैसी नहीं है। बड़े नेम धर्म से रहती है", भामा कहती है,

१. सेवासदन, पृष्ठ ९०-९१

२. सेवासदन, पृष्ठ ११०

"चलो, वह बड़ी नेम-धरम से रहने वाली है ? सात घाट का पानी पी के आज नेम वाली बनी है। देवता की मूरत टूट कर फिर नहीं जुड़ती। वह अब देवी बन जाए, तब भी मैं उसका विश्वास न करूँ।"[1]

इस प्रकार वेश्या-समस्या अनादि काल से, प्रेमचन्द-युग में और दुर्भाग्य से आज भी, अत्यन्त जटिल समस्या रही है। वेश्याओं के प्रति हिन्दू समाज का जो दृष्टिकोण रहा है, उससे वेश्याओं का उद्धार-कार्य असम्भवप्राय हो रहा है। प्रेमचन्द के समय में सुधार के जो प्रयत्न हुए भी, वे समाज के ही लाभ का दृष्टि में रख कर हुए। वेश्याओं के साथ सहानुभूति रखने वाले लोग बहुत कम थे और समाज की कट्टरता के कारण उनकी भी एक न चलती थी।[2] उस समय सुधार का मुख्य विषय यह था कि वेश्याओं के शहर के मुख्य स्थानों में रहने और महफिलों में बुलाए जाने से युवकों के पथभ्रष्ट होने की पूर्ण आशंका बनी रहती है, अतः उन्हें शहर से दूर रखने की व्यवस्था होनी चाहिए।[3] उत्तर प्रदेश में यह आन्दोलन 'सेवासदन' उपन्यास के लिखे जाने के पहले से चल रहा था। इस सम्बन्ध में सुधार का सबसे पहला प्रयत्न सन् १९१० ई० में प्रयाग के म्युनिसिपल बोर्ड के एक सदस्य ने बोर्ड में यह प्रस्ताव रख कर किया कि वेश्याओं को चौक से अलग कर दिया जाए, किन्तु प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। उसी के एक-दो साल पहले एक वयोवृद्ध सुधारक ने विवाह में होनेवाले वेश्याओं के नृत्य को बन्द करने का

---

१ सेवासदन, पृष्ठ ३३७

२. प्रेमचन्द भी इसी कोटि के व्यक्तियों में परिगणनीय हैं। लखनऊ की म्युनिसिपैलिटी से वेश्याओं के निकाले जाने का प्रस्ताव पारित होने पर शिवरानी देवी को पुरुषों पर अत्यन्त क्रोध हुआ। वे सोचने लगीं, 'आखिर ये जाएँगी कहाँ और उनका पेशा क्या होगा ? ये ऐसी घृणास्पद हैं कि दुनिया में रहने के लिए इनको जगह नहीं है। आखिर ये हमारे ही बीच की तो हैं। पाप करने में क्या इन्हीं का हिस्सा होता है ? पुरुष समाज क्या इससे बाहर है ? यह अत्याचार तो उन्हीं लोगों की प्रेरणा का फल है।' उसी वक्त प्रेमचन्द उनके पास आए और उन्होंने उनकी उदासी का कारण पूछा। शिवरानी देवी ने उन्हीं पर अपना गुस्सा उतारा कि वे इस अन्याय पर कुछ लिखते क्यों नहीं। प्रेमचन्द बोले, "इन्हीं की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए मैंने 'सेवासदन' लिखा। और भी कहानियाँ और लेख मैंने लिखे हैं। अमल करना, न करना, उन लोगों के हाथ में है। तुम सारा-का-सारा दोष मेरे सिर मढ़ देती हो। खुद परेशान होती हो और मेरे ऊपर बिगड़ती हो। तुम विश्वास मानो, यह मेरे वश के बाहर की बात है। समाज से लड़ने के लिए स्त्रियाँ जितनी विवश हैं, उससे कम विवश पुरुष नहीं हैं। अपना वश ही नहीं है, तो क्या किया जाए।"

शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ १३६-१३७

३. श्रीमती महादेवी वर्मा लिखती हैं, 'उसके (समाज के) निकट ऐसी स्त्रियाँ मनोरञ्जन का निर्जीव साधन मात्र हैं। यदि उसे कभी चिन्ता भी होती है, तो पुरुष-समाज के हानि-लाभ की। उस दशा में वह इन अभागिनियों को ऐसे स्थान में सुरक्षित रखने के नियम बनाता है, जहाँ सुगमता से किसी की दृष्टि न पहुँच सके, परन्तु उनकी स्थिति में परिवर्तन करना उसका अभीष्ट कभी न रहा।'

महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ९४

आन्दोलन चलाया था क्योंकि नवयुवकों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। सन् १६१६ ई० में पुन वेश्याओं को नगर स हटा कर एक निराले भाग में बसाने का प्रस्ताव सुधारकों द्वारा बोर्ड में लाया गया, जो स्वीकृत हो गया। उसके अनुसार एक उपनियम बना, जिसकी स्वीकृति प्रान्तीय सरकार स आ गई, किन्तु व्यावहारिक असुविधा के कारण यह काय सन् १६२५ ई० में सम्पन्न हुआ।[1] प्रेमचन्द को वेश्याओं के प्रति यह अत्याचार मालूम होता था।[2] इसीलिए 'सेवासदन' उपन्यास में वेश्या समस्या के विश्लेषण का आरम्भ होता है—वेश्याओं का शहर के मुख्य स्थानों स दूर बसाने, नगर के उद्यानों आदि में उनके प्रवेश पर निषेध लगाने तथा उत्सवों में वेश्याओ के नृत्य पर रोक लगाने आदि स, और इस समस्या का समाधान बनाया जाता है—'सेवासदन' की स्थापना। 'सेवासदन' एक प्रकार का अनाथालय है, जिसमें वेश्याओं की बारह वष स कम उम्र की कन्याओं को, उनकी माताओं स दूर, एक पवित्र और संस्कारपूर्ण स्थान में शिक्षा दी जाती है। उद्देश्य यही है कि उन्हें अपनी माताओं का पेशा अपनाने स रोका जाए क्योंकि जब तक आने वाली पीढ़ी को इसस मुक्त नहीं किया जाएगा, यह पेशा बदस्तूर कायम रहेगा।[3]

---

१ (क) सगमलाल अग्रवाल क्या वेश्याओं का उद्धार सम्भव है? चाद नवम्बर सन् १९३६ ई० पृष्ठ १०२

(ख) इस प्रकार के प्रयत्न आज भी हो रहे हैं। बिहार मे सन् १९५७-५ ई के बीच बिहार की सामाजिक और नैतिक स्वास्थ्य संस्था की कार्यकारिणी न अपनी एक बैठक म छपरा आरा और गया के नगर निगमों के अध्यक्षों स प्रार्थना की थी कि वे वेश्याओं को शहर के स्कूलो और कालजों म दूर और किसी एकान्त स्थान में हटा दें क्योंकि उनके बीच शहर म रहने से युवकों के चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अन्तर यही है कि वेश्याओं को दूर हटाने और समाज का लाभ देखने के साथ साथ अब रक्षा-गृहों और कानूनों द्वारा वेश्याओं का उद्धार-काय भी किया जा रहा है।

—के० एन० बेगम, सोशल एण्ड मारल हाईजीन वर्क इन बिहार इण्डियन नेशन ३० मार्च १९५

२ प्रेमचन्द को इस बात पर क्रोध था कि हिन्दू-समाज स्त्रियों के साथ बहुत अत्याचार करता है। वह स्त्री को घर से निकाल भी देता है फिर भी यह नहीं चाहता कि वह मुसलमान हो। शायद वह चाहता है कि वह दुनिया ही में न रहे। शिवरानी देवी के यह पूछने पर और रण्डिया शहर से जो निकाली जा रही है उनके लिए आप क्या सोचते हैं?" प्रेमचन्द न कहा था उनको भी समाज चाहता होगा कि यह शहर में न रहें और एकान्तवास करें।"

शिवरानी देवी प्रेमचन्द घर मे पृष्ठ ९७

३ प्रेमचन्द का सेवासदन नामक आश्रम सन् १९५६ ई० के स्त्रियों और लड़कियों के अनैतिक व्यवसाय के दमन का कानून लागू करने के लिए तथा वेश्याओं के सुधार और उद्धार के लिए खोले गए और भविष्य में खोले जाने वाले रक्षा-गृहों से थोड़ा भिन्न अवश्य है जिनमें वेश्याओं की लड़कियों के लिए नहीं बल्कि उन अभागिनी स्त्रियों और वेश्याओं को भी शरण दी जाती है जो पतित जीवन बिताने के लिए बाध्य की जाती हैं किन्तु सेवासदन इनसे तुलनीय अवश्य है। प्रेमचन्द के समय में जब विधवाश्रम तो अनेक खुल रहे थे पर इन पतिताओं के लिए रक्षा-गृह नहीं थे सेवासदन की कल्पना में आज के रक्षा-गृहों और कल्याण-केन्द्रों के बीज मिलते हैं। यदि इन स्त्रियों के लिए भी रक्षा-गृह होते तो सुमन को विधवाश्रम में रखने की जरूरत न होती न उसे विधवाश्रम स निकल कर फिर निराश्रित होना पड़ता।

सुधारक विठ्ठलदास के, जिसके साथ पद्म सिंह (वकील) भी हैं, सुधार के दो मुख्य उद्देश्य हैं—पहला, वेश्याओं को सावजनिक स्थानों से हटाना, और दूसरा, धार्मिक उत्सवों में वेश्याओं के नृत्य गान की प्रथा समाप्त करना। उपन्यास में इन दोनों कुप्रथाओं की वस्तुस्थिति की अवाछनीयता चित्रित है। सदन जैसा भोला भाला, ग्रामीण वातावरण में पला हुआ युवक दालमण्डी जाने लगता है और वेश्या (सुमन) से सम्पर्क बढ़ाता है। दालमण्डी, (वाराणसी मे) वेश्याओं का प्रसिद्ध मुहल्ला है और शहर के बीच में स्थित है। लोग सामान खरीदने और घूमने के बहाने उस मुहल्ले में जाते हैं और छज्जे पर बैठी हुई वेश्याओं के शिकार होते हैं। सदन भी वहाँ जाता है और जहाँ अपने चाचा को आते हुए देखता है, झट किसी दूकान में चढ़ कर चीजो का मोल भाव करने लगता है।' विट्ठलदास पद्म सिंह से कहते हैं, "कुछ नहीं, यह सब इसी कुप्रथा की करामात है, जिसने नगर के सार्वजनिक स्थानों को अपना कार्य क्षेत्र बना रखा है। यह कितना बडा अत्याचार है कि ऐसे मनोविकार पैदा करने वाले दृश्यों को गुप्त रखने के बदले हम उनकी दूकान सजाते हैं और अपने भोले भाले सरल बालकों की कुप्रवृत्तियों को जगाते हैं। जहाँ ग्रन्थालय, धर्मसभाएँ और सुधारक सस्थाओं के स्थान होने चाहिए, वहाँ हम रूप का बाजार सजाते हैं। यह कुवासनाओं को नेवता देना नहीं, तो और क्या है? हम जान बूझ कर युवकों को गढे में ढकेलते हैं। शोक!!!"[२]

स्वय लेखक के इस प्रकार के उद्गार हैं, 'प्राचीन ऋषियो ने इन्द्रियों का दमन करने के दो साधन बताए हैं—एक राग, दूसरा वैराग्य। पहला साधन अत्यन्त कठिन और दुस्साध्य है। लेकिन, हमारे नागरिक समाज ने अपने मुख्य स्थानों पर मीनाबाजार सजा कर इसी कठिन मार्ग को ग्रहण किया है।

'जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न वासनाओं का प्राबल्य रहता है। बचपन मिठाइयों का समय है, बुढ़ापा लोभ का, यौवन प्रेम और लालसाओं का समय है। इस अवस्था में मीनाबाजार की सैर मन में विप्लव मचा देती है। जो सुदृढ हैं, लज्जाशील या भाव शून्य, वह सँभल जाते हैं। शेष फिसलते हैं और गिर पडते हैं।'

'शराब की दूकानों को हम बस्ती से दूर रखने का यत्न करते हैं, जुएखाने से भी हम घृणा करते हैं, लेकिन वेश्याओं की दूकानों को हम सुसज्जित कोठों पर, चौक बाजारों में ठाट से सजाते हैं। यह पापोत्तेजना नहीं तो और क्या है?'

'बाजार की साधारण वस्तुओं में कितना आकर्षण है। हम उन पर लट्टू हो जाते हैं और कोई आवश्यकता न होने पर भी उन्हें ले लेते हैं। तब वह कौन सा हृदय है, जो रूपराशि जैसे अमूल्य रत्न पर मर न मिटेगा? क्या हम इतना भी नहीं जानते?'

'विपक्षी कहता है, यह व्यर्थ की शका है। सहस्रों युवक नित्य शहरों में घूमते रहते हैं, किन्तु उनमें से विरला ही कोई बिगडता है। वह मानव पतन का प्रत्यक्ष प्रमाण

१. बाद में सदन फिसलने से इसी कारण बच जाता है कि दालमण्डी खाली हो गई थी। सेवासदन, पृष्ठ ३२९-३३०

२ सेवासदन, पृष्ठ १२२

चाहता है। किन्तु, उसे मालूम नहीं कि वायु की भाँति दुर्बलता भी एक अदृश्य वस्तु है, जिसका ज्ञान उसके कार्य से ही हो सकता है। हम इतने निर्लज्ज, इतने साहसरहित क्यों हैं? हम में आत्मगौरव का इतना अभाव क्यों है? हमारी निर्जीवता का क्या कारण है? वह मानसिक दुर्बलता के लक्षण हैं।"[1]

इस प्रकार यदि वेश्याएँ शहर से दूर रहें, तो दुर्बल स्वभाव के व्यक्ति उनसे प्रभावित नहीं होंगे और दुश्चरित्र भी उधर जाने का साहस नहीं करेंगे। प्रेमचन्द आगे लिखते हैं, 'इसलिए आवश्यक है कि इन विष भरी नागिनों को आबादी से दूर, किसी पृथक स्थान में, रखा जाए। तब उन निन्द्य स्थानों की ओर सैर करने को जाते हुए हमें संकोच होगा। यदि वह आबादी से दूर हो और वहाँ घूमने के लिए किसी बहाने की गुंजाइश न हो, तो ऐसे बहुत कम बेहया आदमी होंगे, जो इस मीनाबाजार में कदम रखने का साहस कर सकें।'[2]

धार्मिक या सामाजिक उत्सवों में वेश्याओं के नृत्य का भी युवकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। 'सेवासदन' उपन्यास में मदन सिंह कहते हैं, "इतना तो मैं भी कहूँगा कि ऐसे जलसों से मन अवश्य चंचल हो जाता है। जवानी में जब मैं किसी जलसे से लौटता, तो महीनों तक उसी वेश्या के रंग-रूप, हाव भाव की चर्चा किया करता।"[3] पद्म सिंह के घर में होली के अवसर पर भोली बाई का गाना सुनने के बाद ही, सुमन वेश्या जीवन की ओर आकृष्ट होती है। वेश्या होने के बाद वह पद्म सिंह से कहती है, "मेरे मन में नित्य यही चिन्ता रहती थी कि यह आदर कैसे मिले। इसका उत्तर मुझे कितनी ही बार मिला, लेकिन आपके होली वाले जलसे के दिन जो उत्तर मिला, उसने भ्रम दूर कर दिया, मुझे आदर और सम्मान का मार्ग दिखा दिया। यदि मैं उस जलसे में न आती, तो आज मैं अपने झोपड़े में सन्तुष्ट होती।"[4] पद्म सिंह भी विट्ठलदास से कहते हैं, "मुझे अब यह निश्चय हो गया है कि मेरे उसी जलसे ने सुमन बाई को घर से निकाला।"[5]

इस विचार से प्रेरित हो कर पद्म सिंह ने, जो म्युनिसिपल बोर्ड के एक सदस्य हैं, एक दिन अपना प्रस्ताव बोर्ड में रखा। 'यह तीन भागों में विभक्त था। (१) वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थानों से हटा कर बस्ती से दूर रखा जाए, (२) उन्हें शहर के मुख्य सैर

---

१. सेवासदन, पृष्ठ ७९-८०

२. सेवासदन, पृष्ठ ८०

३ (क) सेवासदन, पृष्ठ १५७

(ख) चन्द्रशेखर पाठक रचित 'वारांगना-रहस्य' उपन्यास में मानिक का पति (सुन्दर सिंह) अपने विवाह की महफिल में बुलाई गई मोहिनी (वेश्या) पर रीझ जाता है और कुछ दिनों के लिए उसे अपने ही शहर में रोक लेता है (भाग १, पृष्ठ ६५)। इसी उपन्यास में रामदास नामक एक दूसरा धनी युवक भी अपनी शादी की महफिल में कुन्दन (वेश्या) पर मुग्ध हो जाता है और साल भर बाद उसके घर जा कर उससे मिलता है (भाग २, पृष्ठ ६३)।

४ सेवासदन, पृष्ठ ११४

५ सेवासदन, पृष्ठ १२४

करने के स्थानों और पार्कों में आने का निषेध किया जाए और (३) वेश्याओं का नाच कराने के लिए एक भारी टैक्स लगाया जाए और ऐसे जलसे किसी हालत में खुले स्थानों में न हों।'' सैयद शफकत अली, जो एक पेंशनयाफ्ता डिप्टी कलक्टर तथा उदार और विचारशील व्यक्ति हैं, इस प्रस्ताव के प्रथम खण्ड में थोड़ा संशोधन चाहते हैं। वे कहते हैं, "मेरी राय है कि रिजोलूशन के पहले हिस्से में यह अलफाज बढ़ा दिए जाएँ—बइस्त सनाय उनके जो नौ माह के अन्दर या तो अपना निकाह कर लें, या कोई हुनर सीख लें, जिससे वह जायज तरीके पर जिन्दगी बसर कर सके।"[१] पद्म सिंह यह सुझाव स्वीकार कर लेते हैं, "इस प्रस्ताव से हमारा उद्देश्य वेश्याओं को कष्ट देना नहीं, वरन् उन्हें सुमार्ग पर लाना है, इसलिए मुझे इस तरमीम के स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।"[२] उनके इस कथन में, तत्कालीन सुधारकों की तुलना में, प्रेमचन्द का अधिक उदार दृष्टिकोण लक्षित होता है। पद्म सिंह आगे वेश्या सुधार का जो मार्ग अपनाते हैं, उसमें वर्त्तमान काल में होनेवाले सुधारों के बीज मिलते हैं। पद्म सिंह के सभी साथी सुधारकों का, उनके द्वारा इस तरमीम के स्वीकार किए जाने के कारण, उनका साथ छोड़ देना, प्रेमचन्द के समय की इसी प्रवृत्ति का सूचक है कि सुधारक भी साधारणत वेश्याओं के सुधार में विश्वास नहीं रखते थे, उन्हें उनसे तनिक भी सहानुभूति न थी और वे उन्हें उसी पंक में छोड़ देना चाहते थे।

पद्म सिंह वेश्याओं के बीच में जितना ही काम करते हैं, उन्हें उन पर उतनी ही दया आती है और वे उनके सुधार की चेष्टा करते हैं—'पद्म सिंह ने इस प्रस्ताव को वेश्याओं के प्रति घृणा से प्रेरित हो कर हाथ में लिया था, पर अब इस विषय पर विचार करते-करते उनकी घृणा बहुत कुछ दया और क्षमा का रूप धारण कर चुकी थी। सोचते, यह बेचारी अबलाएँ अपनी इन्द्रियों के सुख भोग में अपना सर्वनाश कर रही हैं। इस अवस्था में *उनके साथ दया और प्रेम की आवश्यकता है। इस अत्याचार से उनकी सुधारक शक्तियाँ* और भी निर्बल हो जाएँगी और जिन आत्माओं का हम उपदेश से, प्रेम से, ज्ञान से, शिक्षा से उद्धार कर सकते हैं, वे सदा के लिए हाथ से निकल जाएँगी। हमलोग जो स्वयं मायामोह के अन्धकार में पड़े हुए हैं, उन्हें दण्ड देने का कोई अधिकार नहीं रखते। उनके कर्म ही उन्हें क्या कम दण्ड दे रहे हैं कि हम यह अत्याचार करके उनके जीवन को और भी दुखमय बना दें। पद्म सिंह ने झिझक और सकोच त्याग कर कर्मक्षेत्र में पैर रखा। (वे) *अब दिन-दोपहर दालमण्डी के कोठों पर बैठे दिखाई देने लगे, उन्हें अब* लोकनिन्दा का भय न था, मुझे लोग क्या कहेंगे, इसकी चिन्ता न थी।'[३]

'पद्म सिंह को अब दालमण्डी में जाने का बहुत अवसर मिलता था और वह वेश्याओं के जीवन का जितना ही अनुभव करते थे, उतना ही उन्हें दु ख होता था। ऐसी

१ सेवासदन, पृष्ठ २६१
२ सेवासदन, पृष्ठ २३१
३ सेवासदन, पृष्ठ २६६
४ सेवासदन, पृष्ठ २८९

ऐसी सुकोमल रमणियों को भोग-विलास के लिए अपना सर्वस्व गँवाते देख कर उनका हृदय करुणा से विह्वल हो जाता था, उनकी आँखों से आँसू निकल पड़ते थे। उन्हे अब ज्ञात हो रहा था कि यह स्त्रियाँ विचारशून्य नहीं, भावशून्य नही, बुद्धिहीन नहीं, लेकिन माया के हाथों में पड कर उनकी सारी सद्वृत्तियाँ उल्टे मार्ग पर जा रही हैं, तृष्णा ने उनकी आत्माओं को निर्बल, निश्चेष्ट बना दिया है। पद्म सिंह इस मायाजाल को तोड़ना चाहते थे, वह उन भूली हुई आत्माओं को सचेत किया चाहते थे, वह उनका इस अज्ञानावस्था से मुक्त किया चाहते थे...।"

विट्ठलदास के इस विचार का भी कि पेशेवर वेश्याओं का सुधार नहीं हो सकता, पद्म सिंह विरोध करते हैं और विट्ठलदास का उनकी बातों पर विश्वास करना पड़ता है—

विट्ठल, "मैने आपसे यह कभी नही कहा कि जन्म की वेश्याओ का देवियाँ बना दूँगा। क्या आप समझते हैं कि उस स्त्री में, जो अपने घर वालों के अन्याय या दुर्जनों के बहकाने से पतित हो जाती है और जन्म की वेश्याओं में कोई अन्तर नही है? मेरे विचार में उतना ही अन्तर है, जितना साध्य और असाध्य रोग में है। जो आग अभी लगी है और अन्दर तक नहीं पहुँचने पाई है, उसे आप शान्त कर सकते हैं, लेकिन ज्वालामुखी पर्वत को शान्त करने की चेष्टा पागल करे तो करे, बुद्धिमान कभी नहीं कर सकता।"

पद्म सिंह, "कम से कम आपको मेरी सहायता तो करनी चाहिए थी। आप अगर एक घण्टे के लिए मेरे साथ दालमण्डी चलें, तो आपका मालूम हो जाएगा कि जिसे आप ज्वालामुखी पर्वत समझ बैठे हैं, वह केवल बुझी हुई आग का ढेर है। अच्छे और बुरे आदमी सब जगह होते हैं। वेश्याएँ भी इस नियम के बाहर नही हैं। आपको यह देख कर आश्चर्य होगा कि उनमें कितनी धार्मिक श्रद्धा, पाप जीवन से कितनी घृणा, अपने जीवनोद्धार की कितनी अभिलाषा है, मुझे स्वयं इस पर आश्चर्य होता है।[2] उन्हें केवल एक सहारे की आवश्यकता है, जिसे पकड कर वह बाहर निकल आवें। पहले तो वह मुझसे बात तक न करती थी, लेकिन जब मैंने उन्हें समझाया कि मैंने यह प्रस्ताव तुम्हारे उपकार के लिए किया है, जिससे तुम दुराचारियों, दुष्टों तथा कुमार्गियों की पहुँच से बाहर रह सको, तो उन्हें मुझ पर कुछ-कुछ विश्वास होने लगा।"[3]

पद्म सिंह एक ऐसे अनाथालय की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, जहाँ वेश्याओं की लड़कियाँ उनसे दूर रखी जा सकें और उनकी शिक्षा-दीक्षा का उत्तम प्रबन्ध हो। उनके छह महीनों के प्रयत्न से बहुतेरी वेश्याएँ अपनी लड़कियों को अनाथालय में रखने को तैयार हो जाती हैं, तीन वेश्याएँ अपनी सारी सम्पत्ति अनाथालय के निमित्त अर्पित कर देती हैं और पाँच वेश्याएँ 'निकाह' करना स्वीकार कर लेती हैं। यह पद्म सिंह की

१ सेवासदन, पृष्ठ ३१९

२ यह अनुभव सभी सुधारकों का है। इंगलैण्ड के एक सुधारक का अनुभव है—'वेश्याओं में एक गुण—सतीत्व—को छोड़ कर अन्य सभी गुण होते हैं।'

पैट्रीशिया टामसन, द विक्टोरियन हिरोइन, पृष्ठ १४७

३. सेवासदन, पृष्ठ ३०८-३०९

शिक्षा का ही फल है कि जब म्युनिसिपैलिटी, शहर से बाहर मकान बनवा कर, वेश्याओं का उनमें चले जाने की आज्ञा देती है, तो वेश्याएँ, प्रसन्नतापूर्वक, एक दिन के अन्दर दालमण्डी खाली कर देती हैं। सभी वेश्याएँ एक बूढ़ी वेश्या के यहाँ एकत्र होती हैं और वे जिस प्रकार के विचार प्रकट करती हैं, वे उनकी परिवर्तित सुरुचि के सूचक हैं। जोहरा जान कहती है, "मैं अपनी बहनों से यही कहना चाहती हूँ कि वह आइन्दा से हलाल, हराम का खयाल रखें। गाना-बजाना हमारे लिए हलाल है। इसी हुनर में कमाल हासिल करो। बदकार रईसों के शुहवत (कामातुरता) का खिलौना बनना छोड़ना चाहिए। हमको खुदा ने क्या इसीलिए पैदा किया है कि अपना हुस्न, अपनी जवानी, अपनी रूह, अपना ईमान, अपनी गैरत, अपनी हया, हरामकार, शुहवतपरस्त आदमियों की नजर करें? जब कोई मनचला नौजवान रईस हमारे ऊपर दीवाना हो जाता है, तो हमको कितनी खुशी होती है। हमारी नायिका फूली नहीं समाती। सफरदाई बगलें बजाने लगते हैं और हमें तो ऐसा मालूम होता है, गोया सोने की चिड़िया फँस गई। लेकिन बहनो, यह हमारी हिमाकत है। हमने उसे अपने दाम में नहीं फँसाया, बल्कि खुद उसके दाम में फँस गई। उसने सोने और चाँदी से हमको खरीद लिया, हम अपने अस्मत (पवित्रता)-जैसी बेबहा (अमूल्य) जिन्स खो बैठी। आइन्दा से हमारा यह बतीरा होना चाहिए कि अगर अपने में से किसी को बुराई करते देखें, तो उसे उसी वक्त *बिरादरी से खारिज कर दें।"*[1]

एक दूसरी वेश्या, (सुन्दरी बाई) कहती है, "जोहरा बहन ने यह बहुत अच्छी तजवीज की है। मैं भी यही चाहती हूँ। अगर हमारे यहाँ किसी की आमद रफ्त होने लगे, तो पहले यह देखना चाहिए कि वह कैसा आदमी है। अगर उसे हमसे मुहब्बत हो और अपना दिल भी उस पर आ जाए, तो शादी करनी चाहिए। लेकिन, अगर वह शादी न करके महज शुहवतपरस्ती के इरादे से आता हो, तो उसे फौरन दुत्कार देना चाहिए। हमें अपनी इज्जत कौड़ियों पर न बेचनी चाहिए।"[2]

पद्म सिंह के प्रयास से स्थापित 'सेवासदन' आश्रम की सचालिका सुमन बनाई जाती है, यद्यपि यह सदिग्ध है कि समाज वेश्याओं की उन लड़कियों को स्वीकार भी करेगा, जिन्हें वहाँ शिक्षा दी जाएगी—

सुमन से सुभद्रा पूछती है, "हाँ तो बताओ, इन बालिकाओं की माताएँ इन्हें देखने आती हैं या नहीं?"

सुमन, "आती हैं, पर मैं यथासाध्य इस मेल-मिलाप को रोकती हूँ।"

सुभद्रा, "अच्छा, इनका विवाह कहाँ होगा?"

सुमन, "यही तो टेढ़ी खीर है। हमारा कर्त्तव्य यह है कि इन कन्याओं को चतुर गृहिणी बनने के योग्य बना दें। उनका आदर समाज करेगा या नहीं, मैं नहीं कह सकती।"[3]

---

१. सेवासदन, पृष्ठ ३२१

२. सेवासदन, पृष्ठ ३२२

३ सेवासदन, पृष्ठ ३५१

इस विस्तृत विवरण के आधार पर हम पाते हैं कि प्रेमचन्द वेश्या वृत्ति की समस्या के निम्नलिखित समाधान सकेतित करते हैं —

(१) वेश्याओं को शिक्षा और सद्ज्ञान दे कर उन्हें उनकी स्थिति का सच्चा ज्ञान कराया जाए, ताकि व गान और नृत्य का पेशा करें भी, तो रईसों की 'कामातुरता' का शिकार न बनें। कोई रईस किसी वश्या से सचमुच प्रेम करे, और वह भी उससे प्रम करती हो, तो दोनों विवाह कर लें। चाँदी के चन्द टुकडों के लिए वे अपनी इज्जत न बेचें, उनमें आत्मसम्मान और स्वतन्त्रता की भावना होनी चाहिए,

(२) उन्हें कुटिल मनुष्यो के ससग से दूर रखा जाए और

(३) उनकी लडकियों की जायज तौर पर शादी हो सके, जिससे इस पेशे की जड कट जाए। यह तभी हो सकता है, जब समाज, हिन्दू या मुस्लिम, वेश्याओं को अपने में मिला ले। ऐसा होने से पचहत्तर प्रतिशत समस्या हल हो जाएगी।[1]

उपन्यास के एक पात्र (शरीफ हसन वकील) के द्वारा, जो म्युनिसिपैलिटी के एक सदस्य हैं और जिनके सामाजिक सिद्धान्त बहुत उन्नत हैं, इस निष्कर्ष को प्रेमचन्द ने यों कहलाया है, "इसमें तो कोई बुराई नहीं कि वह (वेश्याएँ) अपने को मुसलमान कहती हैं, बुराई यह है कि इस्लाम भी उन्हें राहे रास्त पर लाने की कोई कोशिश नहीं करता। हिन्दुओं की देखा देखी इस्लाम ने भी उन्हें अपने दायरे से खारिज कर दिया है। जो औरत एक बार किसी वजह से गुमराह हो गई, उसकी तरफ से इस्लाम हमेशा के लिए अपनी आँखें बन्द कर लेता है। अपने बुरे फेला पर नादिर होना इन्सानी खास्सा है। ये गुमराह औरतें

---

१ चीन में वेश्यावृत्ति का अन्त हो चुका है अत तुलना के लिए वहा के समाधानों का सक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इस सफलता के लिए वहाँ कानून का सहारा लने के अतिरिक्त वेश्याओं के प्रति प्राचीन घृणात्मक दृष्टिकोण को बदला गया और उनके प्रति जनता में सहानुभूति और सहयोग की भावना अकुरित की गई। वेश्याओं को उनके परिवार में लौटने, स्वतन्त्र आजीविका अर्जित करने और विवाह करके दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने की सुविधा दी गई। वहाँ की सरकार ने नवम्बर, सन् १९५१ ई० में सभी वेश्यालयों को एकाएक बन्द कर दिया। शघाई इसका अड्डा था। वेश्याओं के जीवन के नव निर्माण का कार्य महिला-सरक्षण एव शिक्षण-केन्द्र न अपन हाथों में ल लिया। इस केन्द्र में लगभग ४,५०० ऐसी अभागिनी स्त्रियों को शरण दी गई, उनकी डाक्टरी परीक्षा और उपचार किया गया, उन्हें विभिन्न धन्धों की शिक्षा दी गई और उन्हें आत्मनिर्भर बनाया गया। उनमें २,३५० वेश्याओं (लगभग ५० प्रतिशत) का विवाह कर दिया गया और वे देहातों में अपने खेतों पर अपन घर वालों के साथ, सुखी जीवन व्यतीत करन लगीं। शेष महिलाएँ भी कारखानों, अस्पतालों, जच्चाघरों, बाल शिक्षण-केन्द्रों और विद्यालयों में काम करती हुई, सुखी और सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगीं। इस प्रकार वेश्याओं और उनकी लड़कियों का विवाह होना तथा समाज में उन्हें सम्माननीय स्थान मिलना, आजीविका के किसी अन्य साधन का उपाय एव शिक्षा—वेश्या-समस्या के इन समाधानों का पूर्व-रूप प्रेमचन्द द्वारा सन् १९१८ ई० (सेवासदन' का रचनाकाल) में उपस्थित किया गया था। द्रष्टव्य—

सत्यदेव विद्यालकार, चीन में वेश्यावृत्ति का अन्त, नया समाज, नवम्बर, १९५७, पृष्ठ ४२२ ४२३

पेशतर नहीं, तो शराब का नशा उतरने के बाद जरूर अपनी हालत पर अफसोस करती हैं, लेकिन उस वक्त उनका पछताना बेसूद होता है। उनके गुजरानी की इसके सिवा और कोई सूरत नहीं रहती कि वे अपनी लड़कियों से दूसरों को दामसुहब्बत में फँसाएँ और इस तरह यह सिलसिला हमेशा जारी रहता है। अगर उन लड़कियों की जायज तौर पर शादी हो सके और इसके साथ ही उनकी परवरिश की सूरत भी निकल आए, तो मेरे खयाल में ज्यादा नहीं, तो ७५ फी सदी तवायफें इसे खुशी से कबूल कर लें।' हम चाहे खुद कितने ही गुनहगार हों, पर अपनी औलाद को हम नेक और रास्तबाज देखने की तमन्ना रखते हैं।"[१]

इस प्रकार प्रेमचन्द की दृष्टि में, वेश्याओं के लिए किसी दूसरी रोजी की और उनकी लड़कियों के विवाह की व्यवस्था हो जाने से, समस्या का ७५ प्रतिशत हल हो जा सकता है। दोनों ही स्थितियों में समाज के द्वारा वेश्याओं की यदि वे यह पेशा छोड़ देती हैं, स्वीकृति आवश्यक है, क्योंकि समाज बहिष्कृत हो कर कोई मनुष्य जी नहीं सकता। इस दृष्टि से इस्लाम अधिक उदार धर्म है—पूर्वोक्त उपन्यास (सेवासदन) में ही पाँच मुस्लिम वेश्याएँ, (उनकी लड़कियाँ नहीं) निकाह कर लेती हैं।[२] इसके विपरीत हिन्दू धर्म अत्यन्त संकीर्ण है। वेश्याओं की बात तो दूर, वह उनकी लड़कियों को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। 'वेश्या' कहानी की माधुरी एक वेश्या है, जिसके पास हास विलास के लिए अनेक पुरुष आते हैं। दयाकृष्ण सीधा सादा, सहृदय व्यक्ति है। वह अपने मित्र सिंगार सिंह की पत्नी (लीला) को वचन देता है कि सिंगार सिंह को वेश्या के जाल से मुक्त करेगा। वह बिलकुल भिन्न उद्देश्य से माधुरी के पास जाता है, अत माधुरी भी उसे अपने अन्य प्रेमियों की अपेक्षा भिन्न दृष्टि से देखती है—'माधुरी का अब तक जितने आदमियों से साबका पड़ा था, वे सब सिंगार सिंह की ही भांति कामुकी, ईर्ष्यालु, दम्भी और कोमल भावों से शून्य थे, रूप को भोगने की वस्तु समझने वाले। दयाकृष्ण उन सबों से अलग था—सहृदयी, भद्र और सेवाशील, मानों उस पर अपनी आत्मा को समर्पण कर देना चाहता हो। माधुरी को अब अपने जीवन में कोई ऐसा पदार्थ मिल गया है, जिसे वह बड़ी एहतियात से सँभाल कर रखना चाहती है। औरों की वह प्रेमिका है, लेकिन दयाकृष्ण की आशिक, जिसके कदमों की आहट पा कर उसके अन्दर एक तूफान उठने लगता है। उसके जीवन में यह नई अनुभूति है। अब तक वह दूसरों के भोग की वस्तु थी, अब कम से कम एक प्राणी की दृष्टि में वह आदर और प्रेम की वस्तु है।"[३] और, एक दिन वह दयाकृष्ण के सामने अपना हृदय खोल कर रख देती है। वह कहती है—वह उसकी शरण आना चाहती है, उसका आश्रय पा कर, प्रेम की शक्ति से, वह जीवन के सारे प्रलोभनों का सामना कर सकती है। किन्तु, दयाकृष्ण

१ रूस में बहुत पहले और चीन में हाल में इन्हीं दो बातों—रोजी का दूसरा जरिया और विवाह—से वेश्या-वृत्ति का पूर्णत उन्मूलन किया जा चुका है।

२ सेवासदन पृष्ठ १७० १७१

३ मानसरोवर, भाग २ पृष्ठ ४३ ४४

समाज और स्वयं माधुरी की सकुलीनता के भय से इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता—'दयाकृष्ण क्या जवाब दे ? मर्यादामय संसार में वह अभी केवल एक कदम टिका पाया है। ...और एक दूसरे प्राणी को ले कर तो वह खड़ा भी नहीं रह सकता। अगर मान लिया जाए कि अदम्य उद्योग से दोनों के लिए स्थान निकाल लेगा, तो आत्मसम्मान को कहाँ ले जाए ? संसार क्या कहेगा ? यह भी छोड़ो। लेकिन, अपने मन का क्या करे ? विश्वास उसके अन्दर आ कर जाल में फँसे पक्षी की भाँति फड़फड़ा कर निकल भागता है। कुलीना अपने साथ विश्वास का वरदान लिए आती है। उसके साहचर्य में हमें कभी सन्देह नहीं होता। वहाँ सन्देह के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए। कुलिता सन्देह का संस्कार लिए आती है। वहाँ विश्वास के लिए प्रत्यक्ष—अत्यन्त प्रत्यक्ष—प्रमाण की जरूरत है।'[1] माधुरी अपने प्रेम का यह अपमान नहीं सह पाती और आत्महत्या कर लेती है।[2]

'आगा पीछा' कहानी में कोकिला (वेश्या) की पुत्री श्रद्धा को भी ऐसी ही परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। जब श्रद्धा पैदा होती है, तो कोकिला की जीवन प्रणाली ही बदल जाती है। वह अपनी बच्ची को 'वासना के प्रचण्ड आघातों' का शिकार नहीं बनाना चाहती। वह अपना घृणित पेशा छोड़ देती है और दान तथा व्रत से अपनी पिछली कालिमाएँ धोने का प्रयत्न करती है। श्रद्धा के सामने वह वचन और कर्म से, विचार और व्यवहार से, नारी-जीवन का ऊँचा आदर्श रखती है। जब श्रद्धा युवती होती है, तो विद्यालय में, समाज में—सब—सभी उसका बहिष्कार करते हैं और उससे बोलने तक में अपना अपमान समझते हैं। श्रद्धा विवाह करने की इच्छुक नहीं है। उसका विचार है, वह पढ़ लिख कर डाक्टर या वकील बनेगी, क्योंकि अब तो स्त्रियों के लिए सभी मार्ग खुल गए हैं। उसे अपनी माता पर अभिमान है, क्योंकि वह दलदल में फँस कर फिर निकल आई थी। श्रद्धा इसलिए अविवाहित नहीं रहना चाहती कि उसे विवाह से घृणा है, बल्कि

१ मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ ४९ ५०

२ प्रेम और विश्वास की वेश्याएँ भी अनुकूल प्रतिदान करती हैं, यह विश्वास बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार शरत्चन्द्र और प्रेमचन्द, दोनों में समान रूप से मिलता है। 'देवदास' उपन्यास में शरत् ने दिखाया है कि वेश्या चन्द्रमुखी देवदास से प्रेम करती है, तो वेश्या-वृत्ति छोड़ देती है और एक गाँव में जा कर रहती है। देवदास की अवस्था का समाचार पा कर वह उसकी सेवा करती है और दोनों का विवाह न होने पर भी उनका प्रेम बना रहता है। उनके 'श्रीकान्त' उपन्यास की राजलक्ष्मी का चित्रण भी ऐसा ही श्रद्धापूर्ण एवं सहानुभूतिपूर्ण हुआ है। प्रेमचन्द के 'गबन' उपन्यास की जोहरा और 'वेश्या' कहानी की तारा भी अपने प्रेमी का विश्वास पा कर बिलकुल बदल जाती हैं और बिना किसी प्रतिदान की आशा के वेश्या-वृत्ति छोड़ कर त्यागमय जीवन अपनाती हैं। फिर भी शरत् और प्रेमचन्द में ज्यादा अन्तर है। शरत् ने अपनी बाल्यावस्था में छह-सात से कुलत्यागिनी दग्ध-नारियों की करुण गाथा संगृहीत की थी (गोविन्द प्रसाद केजरीवाल, 'शरत् की नारी उनके पत्रों में', नई धारा, अक्टूबर, १९५३, पृष्ठ १६) किन्तु, 'नारियाँ वेश्या क्यों हो जाती हैं ?' शरत् इस समस्या के मूल में नहीं जाते। वे उनकी सहृदयता और महानता के कायल हैं एवं उनका भावुकतापूर्ण चित्रण करते हैं, जब कि प्रेमचन्द की दृष्टि, आदर्शवादी होते हुए भी, सदैव यथार्थ पर टिकी रहती है और इसीलिए उनमें विविधता के दर्शन होते हैं।

इसलिए कि समाज उसे स्वीकार नहीं करेगा। एक दिन उसकी माता पूछती है, वह विवाह के नाम से क्यों चिढ़ती है? श्रद्धा आँखें नीची करके कहती है, "बिना विवाह के क्या जीवन व्यतीत नहीं हो सकता? मैं कुमारी ही रह कर जीवन बिताना चाहती हूँ। विद्यालय से निकल कर कॉलेज में प्रवेश करूँगी और दो तीन वर्ष बाद हम दोनों स्वतन्त्र रूप से रह सकती हैं। डाक्टर बन सकती हूँ, वकालत कर सकती हूँ औरतों के लिए अब सब मार्ग खुल गए हैं।"

कोकिला ने डरते डरते पूछा, "क्यों, क्या तुम्हारे हृदय में कोई दूसरी इच्छा नहीं होती? किसी से प्रेम करने की अभिलाषा तेरे मन में नहीं पैदा होती?"

श्रद्धा ने एक लम्बी साँस ले कर कहा, "अम्माजी! प्रेम विहीन संसार में कौन है? प्रेम मानव जीवन का श्रेष्ठ अंग है। जब कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा, जो मुझे वरने में अपनी मान हानि न समझेगा, तो मैं तन मन धन से उसकी पूजा करूँगी, पर किसके सामने हाथ पसार कर प्रेम की भिक्षा माँगूँ? यदि किसी ने सुधार के क्षणिक आवेश में विवाह कर भी लिया, तो मैं प्रसन्न न हो सकूँगी। इससे तो कहीं अच्छा है कि मैं विवाह का विचार ही छोड़ दूँ।"[1]

एक बार श्रद्धा महिला मण्डल में भाषण करती है। सभा पर उसके विचारों का, उसकी वक्तृत्व शक्ति का रोब छा जाता है। कुछ युवक विद्यार्थी उस पर टिप्पणी करते हैं— कोकिला की लड़की है, तभी यह आवाज है, यह सफाई है। एक काला नवयुवक उनका विरोध करता है, "जिस रमणी के मुख से ऐसे विचार निकल सकते हैं, वह देवी है, रूप को बेचने वाली नहीं।" श्रद्धा उस समय सभा भवन के बाहर निकल रही थी। ये शब्द उसके कानों में पड़ जाते हैं। वह कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से उस काले, किन्तु निर्मल हृदयवाले खद्दरधारी युवक को देखती है और घर चली जाती है। आज पहली बार उसे समाज के एक व्यक्ति से प्रोत्साहन मिला था, अभी तक सभी उसे तिरस्कार और उपेक्षा की दृष्टि से ही देखते थे। वह उस युवक को ढूँढ़ती रहती है, किन्तु वह मिलता नहीं। महिला मण्डल की दूसरी सभा में, जब वह फिर भाषण करने जाती है, उस युवक को देखती है। सभा समाप्त होने के बाद युवक रास्ते में उसके साथ हो लेता है और उसके भाषण की प्रशंसा करता है। श्रद्धा उस धन्यवाद दे कर उसका परिचय पूछती है। उसे मालूम होता है, युवक एम॰ ए॰ का छात्र है और उसके विचार बहुत उदार हैं। वह जाति का चमार है और समाज से लड़ता भिड़ता यहाँ तक पहुँचा है। नाम है—भगतराम।

श्रद्धा और भगतराम एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। भगतराम नित्य श्रद्धा के घर आता है, किन्तु 'विवाह' शब्द को मुँह पर नहीं लाता। यदि श्रद्धा और कोकिला विवाह की बातचीत चलाती हैं, तो भगतराम कहता है, जीविका का प्रश्न हल हो जाए, तो वह विवाह करेगा। वह दिन भी आता है। भगतराम एम॰ ए॰ की परीक्षा में उत्तीर्ण हो कर, अपने विद्यालय में, प्राध्यापक हो जाता है। अब कोकिला जब विवाह के लिए कहती है, तो भगतराम कहता है, उसके माता पिता राजी नहीं हो रहे हैं। श्रद्धा अपनी सेवा, भक्ति

[1] मानसरोवर भाग ४ पृष्ठ ११४ ११५

और मृदुल व्यवहार से उन्हें भी मना लेती है। अब विवाह में कोई बाधा नहीं रहती, अतः दोनों पक्षों से इसकी तैयारियाँ होने लगती हैं। किन्तु, भगतराम छिप-छिप कर रोता है। श्रद्धा के प्रति उसके मन में जो शंका थी, अब उसे प्रत्यक्ष रूप से सताने लगती है। विवाह के चार दिनों पहले वह ज्वर ग्रस्त हो जाता है और फिर बेहोशी में बड़बड़ाता है। वह अपनी माता से कहता है, "अम्माजी, देखो, वह श्रद्धा चली आ रही है। देखो, उसके दोनों हाथों में दो काली नागिनें हैं। वह मुझे उन नागिनों से डँसवाना चाहती है। अरे अम्मा! देखो, वह नजदीक आ गई। श्रद्धा! श्रद्धा! तुम मेरी जान की क्यों वैरिन हो गई हो? क्या मेरे असीम प्रेम का यही परिणाम है? मैं तो तुम्हारे चरणों पर बलि होने के लिए सदैव तत्पर था। इस जीवन का मूल्य ही क्या है? तुम इन नागिनों को दूर फेंक दो। मैं यहाँ तुम्हारे चरणों पर लेट कर यह जान तुम पर न्योछावर कर दूँगा। ...हैं, हैं, तुम न मानोगी?"[1] भगतराम का पिता झाड़-फूँक कराता है। तीसरे दिन कोकिला और श्रद्धा को खबर दी जाती है, जब कि भगतराम की दशा बहुत बिगड़ चुकी होती है। श्रद्धा दौड़ी हुई आती है और भगतराम के सामने खड़ी हो कर रोने लगती है। भगतराम उसे देख कर कहता है, "तुम आ गई श्रद्धा, मैं तुम्हारी ही राह देख रहा था। यह अन्तिम प्यार लो। आज ही सब 'आगा-पीछा' का अन्त हो जाएगा, जो आज से तीन वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था। इन तीन वर्षों में मुझे जो आत्मिक यन्त्रणा मिली है, हृदय ही जानता है। तुम वफा की देवी हो, लेकिन मुझे रह-रह कर यह भ्रम होता था, क्या तुम खून के असर का नाश कर सकती हो? क्या तुम एक ही बार अपनी परम्परा की रीति छोड़ सकोगी? क्या तुम जन्म के प्राकृतिक नियमों को तोड़ सकोगी? इन भ्रमपूर्ण विचारों के लिए शोक न करना। मैं तुम्हारे योग्य न था—किसी प्रकार भी और कभी भी तुम्हारे जैसा महान् हृदय न बन सका।"[2]

अभिमानिनी श्रद्धा को, भगतराम की इन कठोर बातों से, उसकी इस अवस्था में भी, बहुत दुःख होता है। उसे भगतराम से सहानुभूति नहीं होती, वह क्रोध में उलटे पाँव अपने घर चली जाती है। किन्तु, शीघ्र ही उसे अपनी भूल मालूम होती है। वह लौट कर भगतराम के पास जाती है और उसके चरणों पर सर रख कर, फूट फूट कर रोती है। भगतराम उसका चुम्बन ले कर अपने विवाह की चिर साध पूरी करता है और उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। श्रद्धा कुछ देर तक हतबुद्धि सी खड़ी रोती रहती है, फिर वह भी चुम्बन से उसका उत्तर देती हुई कहती है, "प्यारे, मैं तुम्हारी हूँ और सदा तुम्हारी ही रहूँगी।"

'दो कब्रें' कहानी में सुलोचना 'जुहरा' नामक वेश्या की पुत्री है। जुहरा का एक रईस से प्रेम हो गया था। सुलोचना इसी रईस की सन्तान थी। उसके जन्म के तीन साल बाद ही जुहरा की मृत्यु हो जाती है। सुलोचना का पालन पोषण वही रईस, (कुँवर रनवीर सिंह) करते हैं। उनके जीवन का आधार ही सुलोचना है। वह बड़ी होती है और कॉलेज में पढ़ने जाती है। सब कुछ जानते हुए भी प्रोफेसर रामेन्द्र उससे विवाह कर

१ मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ १२७

२. मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ १२८-१२९

लेते हैं। किन्तु, विवाह के बाद उनके प्रति लोगों के भाव बदल जाते हैं। रामेन्द्र के मित्रगण अपने घर की स्त्रियों को उनके घर नहीं जाने देते, उनके घरों की स्त्रियाँ सुलोचना से बात तक नहीं करना चाहतीं, किन्तु वे किसी न किसी बहाने रामेन्द्र के घर जाते हैं। पर, सच यह है कि वे भी रामेन्द्र से मिलने नहीं आते, बल्कि सुलोचना को एक नजर देखने, उससे बातचीत करने और उसकी रूप माधुरी का आनन्द उठाने आते हैं। 'यहाँ उन्हें वह सकोच नहीं होता, जो किसी भले आदमी की बहू बेटी की ओर आँखें नहीं उठने देता। शायद वे सोचते हैं, यहाँ उन्हें कोई रोक टोक नहीं है। कभी-कभी जब रामेन्द्र की अनुपस्थिति में कोई महाशय आ जाते, तो सुलोचना को बड़ी कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ता। वे अपनी चितवनों से, अपने कुत्सित सकेतों से, अपनी रहस्यपूर्ण बातों से, अपनी लम्बी साँसों से उसे दिखाना चाहते थे कि हम भी तुम्हारी कृपा के भिखारी हैं, अगर रामेन्द्र का तुम पर सोलहो आना अधिकार है, तो थोड़ी सी दक्षिणा के अधिकारी हम भी हैं। सुलोचना उस वक्त जहर का घूँट पी कर रह जाती।''[1] स्पष्ट है, समाज का यह व्यवहार रामेन्द्र के हृदय में सुलोचना के प्रति, चाहे वह कितनी सती साध्वी क्यों न हो, कटुता उत्पन्न करेगा ही। यदि रामेन्द्र ने किसी कुलीन स्त्री से विवाह किया होता, तो उनका ऐसा बहिष्कार न होता, न उनकी पत्नी के प्रति उनके मित्रों का ऐसा व्यवहार होता।

सुलोचना के पुत्री होती है, तो उसके जन्मोत्सव पर मित्रों का न आना रामेन्द्र को और भी दुखी बना देता है। वे क्रोध में पागल से हो जाते हैं और चाहते हैं कि जा कर उनसे पूछें कि आप लोग समाज-सुधार का राग अलापते हैं, तो वह किस बल पर? कुँवर साहब का शुहरा की भतीजी (गुलनार) के यहाँ आना-जाना था। वह बधाई देने पहुँचती है, तो रामेन्द्र आपा खो देता है। बात बढ़ जाती है और यह अपमान सहन करने में अपने को असमर्थ पा कर सुलोचना ऐसे घर से चली जाना चाहती है, जहाँ उसे दूसरों की मर्जी का गुलाम बन कर रहना पड़े। रामेन्द्र कहता है, "जाओ तुम्हारे लिए क्या, यह न सही, दूसरा घर सही।" सुलोचना के लिए यह आक्षेप असह्य सिद्ध होता है और वह उसी रात आत्महत्या कर लेती है।

इसके विपरीत, इसी हिन्दू समाज के निम्न वर्गों में पथभ्रष्ट स्त्रियों को भी, पंचों के निर्णयानुसार प्रायश्चित्त कर लेने पर, आश्रय मिल जाता है। 'गोदान' उपन्यास

---

१ (क) मानसरोवर, भाग ८, पृष्ठ ३९

(ख) 'सेवासदन' उपन्यास में जब सुमन बाई को विट्ठलदास विधवाश्रम में रख देते हैं, तो आश्रम पर सेठों और सज्जनों की विशेष रूप से कृपा दृष्टि हो जाती है। जो सज्जन पहले सुमन के उद्धार के लिए चन्दा तक नहीं देने को तैयार थे, जो विधवाश्रम की प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य हो कर भी उसके लिए कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं समझते थे, अब वे ही आश्रम की सफाई और सजावट, उसकी आर्थिक दशा, उसके प्रबन्ध आदि विषयों के प्रति तत्परता दिखाते हैं। सुमन विधवाश्रम में आदर्श जीवन व्यतीत करती है, किन्तु जैसे ही विधवाओं को उसका सच्चा परिचय मालूम होता है, विधवाश्रम खाली हो जाता है।

सेवासदन, पृष्ठ १९२ १९३, ३००-३०१

में मुनिया और गोबर मित्रतादीप हैं और दोनों में प्रेम हो जाता है। मुनिया के पुत्र होता है और तीस मन अनाज तथा सौ रुपए नकद दण्ड लगा कर उनका समाज उन्हें स्वीकार कर लेने को तैयार हो जाता है। 'आगा-पीछा' कहानी में भगतराम के माता पिता, जो जाति के चमार हैं, कान्तिया नामक वेश्या की लड़की, श्रद्धा से, पुत्र का विवाह करने को तैयार हो जाते हैं। भगतराम की माता कहती है, "राम का नाम ले कर ब्याह करो। बहुत होगा, रोटी पड़ जाएगी। पाँच बासी में तो रोटी होती है, कौन छप्पन टके लगते हैं।"[1] भगतराम के विवाह की तैयारियाँ होती हैं, तो उनका समाज उसमें सम्मिलित होता है। स्वयं भगतराम की द्विधा और इसी कारण विवाह के पहले ही उसकी मृत्यु हो जाना, दूसरी बात है।

प्रेमचन्द ने 'गोदान' उपन्यास के विचारशील पात्रों से इस समस्या के विभिन्न पक्षों पर बहस कराई है। मिर्जा साहब नगर की वेश्याओं की एक नाटक-मण्डली बनाने का विचार कर रहे हैं, जिससे वेश्याओं की रोज़ी की समस्या भी हल होगी और उनके आत्मसम्मान को धक्का भी नहीं पहुँचेगा। वे इसी प्रकार वेश्याओं का सुधार करना चाहते हैं। पर, मेहता साहब उनका विरोध करते हैं। वे कहते हैं, "मुआफ कीजिए मिर्जा साहब, जब तक दुनिया में दौलत वाले रहेंगे, वेश्याएँ भी रहेंगी। मण्डली अगर सफल भी हो जाए, हालाँकि मुझे उसमें बहुत सन्देह है, तो आप दस-पाँच औरतों से ज्यादा उसमें कभी न ले सकेंगे, और वह भी थोड़े दिनों के लिए। सभी औरतों में नाट्य करने की शक्ति नहीं होती, उसी तरह जैसे सभी आदमी कवि नहीं हो सकते। और, यह भी मान लें कि वेश्याएँ आपकी मण्डली में स्थायी रूप से टिक जाएँगी, तो भी बाजार में उनकी जगह खाली न रहेगी। जड़ पर जब तक कुल्हाड़े न चलेंगे, पत्तियाँ तोड़ने से कोई नतीजा नहीं। दौलत वालों में कभी-कभी ऐसे लोग निकल आते हैं, जो सब कुछ त्याग कर खुदा की याद में जा बैठते हैं, मगर दौलत का राज्य बदस्तूर कायम है। उसमें जरा भी कमजोरी नहीं आने पाई। आपको मालूम होना चाहिए कि दुनिया में ऐसे मुल्क भी हैं, जहाँ वेश्याएं नहीं हैं। मगर, अमीरों की दौलत वहाँ भी दिलचस्पियों के सामान पैदा कर लेती है।"[2]

'सेवासदन' उपन्यास में प्रेमचन्द ने उस समय की कल्पना की थी, जिसमें वेश्याएँ या तो विवाह कर लेंगी या गाने बजाने जैसे निर्दोष पेशे से जीविकोपार्जन करेंगी और उनकी लड़कियों का विवाह उसी प्रकार होगा, जिस प्रकार किसी भी कुलीन परिवार की युवती का होता है। 'गोदान' उपन्यास तक आते आते, बीस वर्षों की अवधि में, उन्होंने स्पष्ट देखा कि समाज के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन हुए बिना समाज की मनोवृत्ति नहीं बदल सकती।

आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ वेश्या-वृत्ति-उन्मूलन के लिए उन कारणों को भी हटाना होगा, जो इसके मूल में हैं—उदाहरणतः अवाञ्छनीय सामाजिक

१. मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ १२५-१२६
२. गोदान, पृष्ठ ४२६-४२७

नियम और स्त्रियों की कानूनी असमानता, उसके प्रति अन्याय, उन्हें घर में आदर सम्मान न मिलना, वैवाहिक कुरीतियाँ, स्त्री को घर से निकालना, उसके अनजान में पथभ्रष्ट होने या बलात्कार किए जाने पर समाज की उसके प्रति घृणा आदि। 'वैवाहिक कुप्रथाएँ', 'वैवाहिक जीवन,' 'नारी और मातृत्व,' 'नारी और वैधव्य,' आदि पिछले सभी अध्यायों में प्रेमचन्द के इस मत का उल्लेख किया गया है कि वे वैवाहिक कुरीतियों के प्रति कितने असहिष्णु हैं, स्त्रियों के आदर सम्मान के कितने पक्षपाती हैं, उनकी कानूनी समानता के लिए उन्होंने कितनी जबदस्त वकालत की है, विधवा विवाह को कुछ परिस्थितियों में कितना आवश्यक माना है और स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार कितना उपयोगी समझा है। उन तथ्यों की पुनरावृत्ति अनावश्यक है। यहाँ प्रेमचन्द द्वारा चित्रित केवल उन पात्रों और पात्रियों का उल्लेख किया जाएगा, जो नैतिकता के सम्बन्ध में समाज से भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं, जो अबला की रक्षा करते हैं, उसके प्रति न्याय करते हैं।

सर्वप्रथम स्त्रियों को घर से निकाले जाने का ही प्रश्न लें। प्रेमचन्द के अनेक पात्र इसका विरोध करते हैं। 'बहिष्कार' कहानी का सोमदत्त अपनी स्त्री (कालिन्दी) को सिर्फ इसलिए घर से निकाल देता है कि वह जबान की तेज है, यद्यपि उस जैसी हँसमुख स्त्रियाँ बहुत कम देखने में आती हैं। सोमदत्त के इस अत्याचार पर दुखी हो कर ज्ञानचन्द अपनी पत्नी से कहता है, "कम से कम इतना तो करना चाहिए था कि उसे किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देते और उसके निर्वाह का कोई प्रबन्ध कर देते। निर्दयी ने इस तरह घर से निकाला, जैसे कोई कुत्ते को निकाले। बेचारी गाँव के बाहर बैठी रो रही है। कौन कह सकता है, कहाँ जाएगी। शायद मायके में भी कोई नहीं रहा। सोमदत्त के डर के मारे गाँव का कोई आदमी उसके पास भी नहीं आता। ऐसे बग्गड़ का क्या ठिकाना। जो आदमी स्त्री का न हुआ, वह दूसरे का क्या होगा? उसकी दशा देख कर मेरी आँखों में तो आँसू भर आए। जी में तो आया, कहूँ—बहन, तुम मेरे घर चलो, मगर तब तो सोमदत्त मेरे प्राणों का गाहक हो जाता।"[1] पत्नी के अनुरोध पर ज्ञानचन्द्र कालिन्दी को अपने घर ले आता है, किन्तु सोमदत्त तब भी कालिन्दी का पीछा नहीं छोड़ता। तीन साल तक वह कालिन्दी को आश्रय देनेवाले को नीचा दिखाने का उपाय ढूँढ़ता रहता है। आखिर उसे यह पता चलता है कि ज्ञानचन्द्र की पत्नी गोविन्दी के कुल में दाग है। वह गोविन्दी को धमकाता है कि यदि तीन दिनों के अन्दर वह कालिन्दी को घर से नहीं निकालेगी, तो वह सब बातें ज्ञानचन्द्र को कह देगा और ज्ञानचन्द्र उसे घर से अवश्य ही निकाल देगा। फिर भी गोविन्दी कालिन्दी को नहीं निकालती और सोमदत्त ज्ञानचन्द्र से उसके मायके के कलंक की सारी कहानी सुना देता है। किन्तु, ज्ञानचन्द्र पत्नी को घर से नहीं निकालता। वह अपने विचार अपनी पत्नी के सामने प्रकट करता है, "तुम आज भी उतनी ही पवित्र हो, जितनी उस समय थीं, जब देवताओं के समक्ष मैंने आजीवन पत्नीव्रत लिया था, तब मुझसे तुम्हारा परिचय न था। अब तो मेरी देह और मेरी आत्मा का एक एक परमाणु तुम्हारे अक्षय प्रेम से आलोकित हो रहा है। उपहास और निन्दा की तो

---

१ मानसरोवर भाग ५, पृष्ठ ९२-९३

बात ही क्या है, दुर्दैव का कठोरतम आघात भी मेरे व्रत को भग नही कर सकता। अगर डूबेंगे, तो साथ साथ डूबेंगे, तरेंगे तो साथ साथ तरेंगे। मेरे जीवन का मुख्य कर्त्तव्य तुम्हारे प्रति है। ससार इसके पीछे, बहुत पीछे है।'[१] ज्ञानचन्द्र के इस साहसपूर्ण त्याग पर समाज उस बहिष्कृत कर देता है, उसकी नौकरी छूट जाती है, खाने के लाले पड जाते हैं, दूध के अभाव में एकमात्र पुत्र की मृत्यु हो जाती है। किन्तु, वह अपनी निर्दोष पत्नी के प्रति पूर्ववत् सहृदयता और प्रेम का व्यवहार करता है। पत्नी (गोविन्दी) कपडे सी कर, चक्की पीस कर, किसी प्रकार खाने का प्रबन्ध करती है। समाज के अत्याचार से पीडित ज्ञानचन्द्र आत्महत्या कर लेता है। यह समाचार पा कर, गोविन्दी की भी तत्क्षण मृत्यु हो जाती है।

'रंगभूमि' उपन्यास में भैरो नामी अपनी पत्नी (सुभागी) को इतनी निर्दयता से पीटता है कि वह भाग कर मुहल्लेवाला के घर में छिप जाती है, किन्तु मुहल्लेवाले भैरों के भय से उसे घर में रखने को तैयार नही होते। फलस्वरूप निर्दोष सुभागी को बार बार भैरों के हाथो यह अपमान सहना पडता है। एक बार इसी प्रकार पीटी जाने पर वह अन्धे सूरदास की झोपडी में घुस जाती है और सूरदास उसे भैरो से बचाता है। सूरदास की इस सहृदयता पर सुभागी उससे स्नेह करने लगती है। कभी कभी आ कर उसका सुख दु ख पूछ जाती है, झोपडी में आ कर झाड़ू लगा जाती है, घर वालों से छिपा कर कुछ खाने पीने की चीजें दे जाती है। सुभागी के इस काम से भैरों उस पर सन्देह करता है, मुहल्लेवाले भी सन्देह करत हैं। एक दिन सूरदास से बदला लेने के लिए भैरो उसकी झोपडी में आग लगा देता है और बटुए में रखा उसका सारा धन उठा ले जाता है। सुभागी को यह बात मालूम हो जाती है और सूरदास की थैली लौटाने के लिए एक दिन 'चोर' 'चोर' का शोर करती है और वह थैली सूरदास को दे आती है। सूरदास थैली को अब भैरों की वस्तु समझ कर उसे लौटाने आता है। भैरो रुपए देख कर अत्यन्त प्रसन्न होता है और चोर का नाम जानना चाहता है। उसके किसी स न कहने की शपथ लेने पर सूरदास सुभागी का नाम बता देता है। भैरो के तन में आग लग जाती है, वह अपनी शपथ भूल जाता है और डण्डा उठा कर सुभागी को मारने दौडता है। अब तो समाज में यह बात सत्य समझ ली जाती है कि सूरदास और सुभागी में अनैतिक सम्बन्ध है। सूरदास सोचता है, वह तो पुरुष है, उसकी बहुत तो-बहुत बदनामी होगी, किन्तु अबला सुभागी की, पति और पडोसियों द्वारा निकाले जाने पर, इज्जत भी बचेगी, इसमें सन्देह है—'अब बेचारी सुभागी कहाँ जाएगी? मुहल्लेवाले तो अब उसे यहाँ रहने न देंगे, और रहेगी किसके आधार पर? कोई अपना तो हो। मैके में भी कोई नहीं है। जवान औरत अकेली कही रह भी नहीं सकती। जमाना ऐसा खराब आया हुआ है, उसकी आबरू कैसे बचेगी? मैं कही चला गया, तो उसका कोई पुछत्तर भी न रहेगा। मुहल्ले के लोग उसकी छीछालेदर होते देखेंगे और हँसेंगे। कही न-कही डूब मरेगी, कहाँ तक सन्तोष करेगी? इस आँखों वाले अन्धे भैरों को तनिक भी खयाल नही कि मैं इसे निकाल दूँगा, तो कहाँ जाएगी। कल को मुसलमान या किरिसतान हो जाएगी, तो सारे शहर में हलचल पड जाएगी, पर अभी उसके

१. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ १००

आदमी को कोई समझाने वाला नहीं। कहीं भरतीवालों के हाथ पड़ गई, तो पता भी न लगेगा कि कहाँ गई। सभी लोग जान कर अनजान बनते हैं।" अत, जब सुभागी सूरदास का आश्रय पाना चाहती है, तो वह अपनी बदनामी का भय होते हुए भी उसे नहीं ठुकराता –

सुभागी, "सूरे, मैं कहाँ रहूँगी ? उसने (भैरों ने) अभी मारा है, मगर पेट नहीं भरा, कह रहा है कि जा कर पुलिस में लिखाए देता हूँ। मेरे कपड़े लत्ते सब बाहर फेंक दिए हैं। इस झोपड़ी के सिवा अब मुझे और कहीं सरन नहीं।"

सूरदास, "मुझे तू अपने साथ मुहल्ले से निकलवाएगी क्या ?"

सुभागी, "तुम जहाँ जाओगे, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।"

सूरदास, "तब ता तू मुझे कहीं मुँह दिखाने लायक न रखेगी। सब यही कहेंगे कि अन्धा उसे बहका कर ले गया।"

सुभागी, "तुम ता बदनामी से बच जाओगे, लेकिन मरी आबरू कैसे बचेगी ? है कोई मुहल्ले में ऐसा, जो किसी की इज्जत आबरू जाते देखे, तो उसकी बाँह पकड़ ले ? यहाँ तो एक टुकड़ा रोटी भी माँगूँ, ता न मिले। तुम्हारे सिवा अब मेरा और कोई नहीं है। पहले, मैं तुम्हें आदमी समझती थी, अब देवता समझती हूँ। चाहो, तो रहने दो, नहीं तो कह दो, कहीं मुँह में कालिख लगा कर डूब मरूँ।"

सूरदास, 'यही तेरी मरजी है, तो यही सही। आ, पड़ी रह। जैसी कुछ सिर पर आएगी, देखी जाएगी। तुझे मँझधार में छोड़ देने से बदनाम होना अच्छा है।"[१]

सूरदास और सुभागी के इस काम से मुहल्ला उनका दुश्मन हो जाता है और भैरों सूरदास पर स्त्री भगाने का मुकदमा दायर कर देता है। किन्तु, सूरदास इतना साहसी और धैर्यवान है कि सुभागी को घर से नहीं निकालता—

सुभागी सूरदास से, "तुम्हारे ऊपर दावा हो रहा है।"

सूरदास, "दावा करने दे, डरने की कोई बात नहीं। तू यही कह देना कि मैं भैरों के साथ न रहूँगी। कोई कारण पूछे, तो साफ साफ कह देना, वह मुझे मारता है।"

सुभागी, "लेकिन, इसमें तुम्हारी कितनी बदनामी होगी ?"

सूरदास, "बदनामी की चिन्ता नहीं, जब तक वह (भैरों) तुझे रखने को राजी न होगा, मैं तुझे जाने ही न दूँगा।"

सुभागी, "वह राजी भी होगा, तो उसके घर न जाऊँगी। वह मन का बड़ा मैला आदमी है, इसकी कसर जरूर निकालेगा। तुम्हारे घर से भी चली जाऊँगी। मैं यहाँ न रहूँगी, तो उसका कलेजा ठण्ढा हो जाएगा। विस की गाँठ तो मैं हूँ।"

सूरदास, "जाएगी कहाँ ?"

सुभागी, 'जहाँ उसके मुँह में कालिख लगा सकूँ, जहाँ उसकी छाती पर मूँग दल सकूँ।"

---

१ रंगभूमि भाग २ पृष्ठ १०४

२ रंगभूमि भाग २, पृष्ठ १०४ १०६

सूरदास, "उसके मुँह में कालिख लगेगी, तो मेरे मुँह में पहले ही न लग जाएगी। तू मेरी बहन ही तो है। मैं कहे देता हूँ, इस घर से न जाना।"

सुभागी, "मैं अब तुम्हारे साथ रह कर तुम्हें बदनाम न करूँगी।"

सूरदास, "मुझे बदनामी कबूल है, लेकिन जब तक यह न मालूम हो जाए कि तू कहाँ जाएगी, तब तक म तुझे जाने ही न दूगा।"[१]

मुकदमे में सूरदास और सुभागी पर जुर्म साबित हो जाता है। दोनों का जुर्माना होता है, जिसके अदा न करने पर कुछ महीनों की कड़ी कैद। जनता जुर्माना अदा कर देती है। फिर एक दिन झूठ का परदा उठता है और भैरों सुभागी को आदरपूर्वक अपने घर ले जाता है।

'गोदान' उपन्यास की विधवा झुनिया अहीरिन युवती है। किसान होरी के पुत्र, गोबर से, उसका प्रेम होता है और गोबर उसे गर्भावस्था में अपने घर का मार्ग दिखा कर भाग खड़ा होता है। गोबर की माँ (धनिया) पहले तो झुनिया को घर से निकालने को तैयार हो जाती है, किन्तु बाद में उसे झुनिया की निस्सहायता पर दया आ जाती है। वह होरी से कहती है, "इतनी रात गए घर से निकालना उचित नहीं। पाँव भारी है, कहीं डर डरा जाए, तो और आफत हो। ऐसी दशा में कुछ करते धरते भी तो नहीं बनता।"

"हमें क्या करना है, मरे या जिए। जहाँ चाहे जाए। क्यों अपने मुँह में कालिख लगाऊँ? मैं तो गोबर का भी निकाल-बाहर करूँगा।"

धनिया ने गम्भीर चिन्ता से कहा, "कालिख जो लगनी थी, वह तो अब लग चुकी। वह अब जीते जी नहीं छूट सकती, गोबर ने नौका डुबा दी।"[२]

इस घटना से होरी का परिवार जाति से बहिष्कृत हो जाता है, कोई उसका हुक्का नहीं पीता, न उसके घर का पानी पीता है। झुनिया के पुत्र होता है और उसी दिन पंच फैसला करते हैं कि होरी सौ रुपए नक्द और तीस मन अनाज दण्ड में देगा, तो उसका हुक्का खुलेगा। होरी अपने खेत में उत्पन्न सारा अनाज तौल देता है और रुपए के लिए घर रेहन लिख देता है। फिर भी झुनिया का पिता (भोला) आ कर होरी से कहता है कि वह उसकी कुलकलंकिनी लड़की को घर स निकाल दे, तभी उसे सन्तोष होगा, वर्ना वह उसके बैल खोल ले जाएगा। धनिया उसे फटकारती है, "तो महतो! मेरी भी सुन लो। जो बात तुम चाहते हो, वह न होगी, सौ जनम न होगी। झुनिया हमारी जान के साथ है। तुम बैल ही तो ले जाने कहते हो, ले जाओ, अगर इससे तुम्हारी कटी हुई नाक जुड़ती हो, तो जोड़ लो, पुरखों की आबरू बचती हो, तो बचा लो। झुनिया से बुराई जरूर हुई। जिस दिन उसने मेरे घर में पाँव रखा, मैं झाड़ू ले कर मारने उठी थी, लेकिन जब उसकी आँखों से झर झर आँसू बहने लगे, तो मुझे उस पर दया आ गई।"[३]

---

१ रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ १०६-७

२ गोदान, पृष्ठ १११

३ गोदान, पृष्ठ १६७

घर के अपमान और अनादर से दुखी स्त्रियों का क्रोध में स्वयं घर से निकल जाने का भी प्रेमचन्द ने बुरा बतलाया है। 'कायाकल्प' उपन्यास के ठाकुर विशाल सिंह की तीसरी पत्नी (रोहिणी) अपनी सौत के 'दुर्व्यवहार' और पति की 'नीचता' से पीड़ित हो कर घर से निकल पड़ती है। चक्रधर उसे लौटा लाने के लिए जाते हैं। वह उसे समझाते हैं, "*जिस तरह रण से भागते हुए सिपाही को देख कर लोगों को उससे घृणा होती है—यहाँ तक कि उसका वध कर डालना भी पाप नहीं समझा जाता, उसी तरह कुल में कलंक लगाने वाली स्त्रियों से भी सबको घृणा हो जाती है और कोई उनकी सूरत तक नहीं देखना चाहता। हम चाहते हैं कि सिपाही गाली और आग के सामने अटल खड़ा रहे। इसी तरह हम यह भी चाहते हैं कि स्त्री सब कुछ झेल कर अपनी मर्यादा का पालन करती रहे। हमारा मुँह हमारी देवियों से उज्ज्वल है और जिस दिन हमारी देवियाँ इस भाँति मर्यादा की हत्या करने लगेंगी, उसी दिन हमारा सर्वनाश हो जाएगा।*"

रोहिणी रुँधे हुए कण्ठ से बोली, "तो क्या चाहते हो कि मैं फिर उसी आग में जलूँ ?"

चक्रधर, "हाँ, यही चाहता हूँ। रणक्षेत्र में फूलों की वर्षा नहीं होती। मर्यादा की रक्षा करना उससे कहीं कठिन है।"[1]

पतिताओं के उद्धार के लिए प्रेमचन्द युवकों का आह्वान भी करते हैं। वे उनमें अदम्य साहस और दृढ़ता देखना चाहते हैं। 'सेवासदन' उपन्यास के सदन का विवाह, सुमन बाई की बहन, शान्ता से होने वाला था, किन्तु भेद खुल जाने के कारण विवाह रुक जाता है। *शान्ता सदन को मन से पति मान चुकी थी, अतः* वह दूसरे व्यक्ति से विवाह नहीं करती। पहले तो सदन शान्ता को भी अपवित्र समझता है, किन्तु धीरे धीरे उसमें सद्ज्ञान उत्पन्न होता है और वह शान्ता को अपनाने के लिए, स्वतन्त्र पेशा करके, अपने पैरों पर खड़ा होता है। जिस दिन वह शान्ता से विवाह करने का निश्चय करता है, अपने चाचा *(पद्म सिंह) से दूसरी जगह रहने की आज्ञा माँगता है, "मेरे इस घर में रहने से आपकी* बदनामी होगी। मैंने अब अपने उस कर्त्तव्य के पालन करने का संकल्प कर लिया है, जिसे मैं कुछ दिनों तक अपने अज्ञान और कुछ समय तक अपनी कायरता और निन्दा भय से टालता जाता था। मैं आपका लड़का हूँ, जब मुझे कोई कष्ट होगा, आपका आश्रय लूँगा, कोई जरूरत पड़ेगी, तो आपको सुनाऊँगा, लेकिन रहूँगा अलग और मुझे विश्वास है कि आप मेरे प्रस्ताव को पसन्द करेंगे।" ...

पद्म सिंह, "मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ और प्रसन्न हूँ कि ईश्वर ने तुम्हें सद्बुद्धि दी। लेकिन, मैं भाई साहब की इच्छा को सर्वोपरि समझता हूँ।"

सदन, "क्या आपको मालूम नहीं कि वह क्या उत्तर देंगे ?"

पद्म सिंह, "हाँ, यह भी मालूम है।"

---

१ कायाकल्प पृष्ठ ८१

सदन, "तो उनसे पूछना व्यर्थ है। माता-पिता की आज्ञा से मैं अपनी जान दे सकता हूँ, जो उन्हीं की दी हुई है, लेकिन किसी निरपराध की गर्दन पर तलवार नहीं चला सकता।"

पद्म सिंह, "तुम्हें इसमें क्या आपत्ति है कि दोनों बहनें (शान्ता और सुमन बाई) एक अलग मकान में ठहरा दी जाएँ?"

सदन ने गर्म हो कर कहा, "ऐसा तो तब करूँ, जब मुझे छिपाना हो। मैं कोई पाप करने नहीं जा रहा हूँ, जो उसे छिपाऊँ। यह मेरे जीवन का परम कर्त्तव्य है, उसे गुप्त रखने की आवश्यकता नहीं है। अब तक विवाह के जो संस्कार नहीं पूरे हुए हैं, वह कल गंगा के किनारे पूरे किए जाएँगे। यदि आप वहाँ आने की कृपा करेंगे, तो मैं अपना सौभाग्य समझूँगा, नहीं तो ईश्वर के दरबार में गवाहों के बिना भी प्रतिज्ञा हो जाती है।"[1]

'कायाकल्प' उपन्यास में हिन्दू मुस्लिम दंगे में मुसलमान, चक्रधर की वाग्दत्ता (अहल्या) को लूट ले जाते हैं। बलात्कार के लिए उद्यत एक गुण्डे की हत्या अहल्या उसी की छुरी से कर देती है। किन्तु, समाचारपत्रों से चक्रधर को केवल इतना ही मालूम होता है कि अहल्या गायब है। वह उसका पता लगाने के लिए जाना चाहता है और उसके माता पिता कुल-मर्यादा के नाम पर बाधा डालते हैं, परन्तु वह अपने विचारों पर दृढ़ रहता है—

चक्रधर, "कम-से-कम अहल्या का पता तो लगाना ही होगा।"

वज्रधर, "यह भी व्यर्थ है। पहले तो उसका पता लगाना ही मुश्किल और लग भी गया, तो तुम्हारा अब उससे क्या सम्बन्ध? जब वह मुसलमानों के साथ रह चुकी, तो कौन हिन्दू उसे पूछेगा?"

चक्रधर, "इसीलिए तो मेरा जाना और भी जरूरी है।"

निर्मला (चक्रधर की माता), "लड़की को मर्यादा की कुछ लाज होगी, तो वह अब तक जीती ही न होगी। अगर जीती है, तो समझ लो कि भ्रष्ट हो गई।"

चक्रधर, "अम्मा, कभी-कभी आप ऐसी बात कह देती हैं, जिस पर हँसी आती है। प्राण भय से बड़े-बड़े शूर-वीर भूमि पर मस्तक रगड़ते हैं, एक अबला की हस्ती ही क्या? भ्रष्ट वह होती है, जो दुर्वासना से कोई कर्म करे। जो काम हम प्राण भय से करें, वह हमें भ्रष्ट नहीं कर सकता।"

वज्रधर, "मैं तुम्हारा मतलब समझ रहा हूँ, लेकिन तुम उसे चाहे सती समझो, हम उसे भ्रष्ट ही समझेंगे। ऐसी बहू के लिए हमारे घर में स्थान नहीं है।"

चक्रधर ने निश्चयात्मक भाव से कहा, "वह आपके घर में न आएगी।" ...

निर्मला, "बचा, तुमसे ऐसी आशा न थी। अब भी हमारा कहना मानो, हमारे कुल के मुँह में कालिख न लगाओ।"

चक्रधर, "मैंने आपकी आज्ञा कभी भंग नहीं की, लेकिन इस विषय में मजबूर हूँ।"[2]

---

१. सेवासदन, पृष्ठ ३०५-३०६

२ कायाकल्प, पृष्ठ २०२-२०३

अहल्या स्वय पवित्र होते हुए भी, समाज के भय से, अपने को कलकित समझती है। चक्रधर जब उसके साहस और वीरता की प्रशसा करते हुए उसको 'नव कुसुमित पुष्प की भाँति स्वच्छ, निर्मल और पवित्र' कहते हैं और उसे हृदय से लगाना चाहते हैं, तो वह अपना हाथ छुडा कर कहती है, "नहीं नहीं, मेरे अग को मत स्पर्श कीजिए। सूँघा हुआ फूल देवताओं पर नहीं चढाया जाता। मेरी आत्मा निष्कलक है, लेकिन . आपकी सेवा करना मेरे भाग्य में न था। मुझे भय है कि मुझे आश्रय दे कर आप बदनाम हो जाएँगे। कदाचित् आपके माता पिता आपका तिरस्कार करें। मेरे लिए इससे बड़ी सौभाग्य की बात नहीं हो सकती कि आपकी दासी बनूँ, लेकिन आपके तिरस्कार और अपमान का खयाल करके जी में यही आता है कि क्यों न इस जीवन का अन्त कर दूँ। केवल आपके दर्शनों की अभिलाषा ने मुझे अब तक जीवित रखा है। मैं आपको अपनी कालिमा से कलुषित करने के पहले मर जाना ही अच्छा समझती हूँ।"

अहल्या का भ्रम मिटाते हुए चक्रधर कहते हैं, "अहल्या, ऐसी बाते न करो। अगर ससार में अब भी कोई ऐसा क्षुद्र प्राणी है, जो तुम्हारी उज्ज्वल कीर्ति के सामने सिर न झुकाए, तो वह स्वय नीच है। वह मेरा अपमान नहीं कर सकता। अपनी आत्मा की अनुमति के सामने मैं माता पिता के विरोध की परवा नहीं करता। तुम इन बातों को भूल जाओ। मैं तुमसे विनती करता हूँ, अहल्या, कि ये बातें फिर जबान पर न लाना।"[1]

अहल्या आश्वस्त हो जाती है और चक्रधर तथा अहल्या का विवाह होता है।

इस प्रकार पतिता के प्रति हिन्दू समाज के असहानुभूतिपूर्ण और निर्मम दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए प्रेमचन्द ने बतलाया है कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्था ही मूलत: स्त्री के पतन के लिए उत्तरदायी हैं। पतिताओं के प्रति हिन्दू समाज का जो दृष्टिकोण रहा है, उससे उसका उद्धार कार्य असम्भवप्राय हो रहा है। वेश्या समस्या के सुधार के लिए वेश्याओं का शहर से दूर, पवित्र वातावरण में रहना, उनके निकाह या नृत्य गान या दूसरी रोजी की व्यवस्था, उनकी लडकियों की जायज तौर पर शादी आदि भी तब तक अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते, जब तक सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन न हो।

०

१ कायाकल्प, पृष्ठ २०६-२०८

: १० :

नारी और राष्ट्रीय जागृति

राष्ट्रीय जागृति और आन्दोलनों की दृष्टि से प्रेमचन्द का युग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी ने जन-जीवन में राष्ट्रीय चेतना का मन्त्र फूंका। प्रेमचन्द सदैव अपने युग के साथ कदम मिला कर चले—'असरारे मआबिद'[1] उपन्यास से 'गोदान'[2] उपन्यास तक यह बात मिलती है। 'वरदान' पर, जो प्रेमचन्द की एक प्रारम्भिक औपन्यासिक रचना है, तत्कालीन युग की स्पष्ट छाप है। स्वामी विवेकानन्द के देहावसान के बहुत दिन नहीं हुए थे। आर्यसमाज का आन्दोलन जोरों पर था। इस समय तक समाज-सुधारकों एवं देश के नेताओं का ध्यान भारत की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने तक ही था। सन्यास, ब्रह्मचर्य, सेवा व्रत, सुधार-भावना और जाति प्रेम हिलोरें ले रहे थे। दुर्भिक्ष, महामारी और बाढ़ आदि दैवी विपत्तियों में देशवासी स्वजाति प्रेम से प्रेरित हो कर जत्था बना कर जाते थे और पीड़ितों की मदद करते थे। कुछ साधु प्रवृत्ति के व्यक्ति आजन्म ब्रह्मचारी रह कर अथवा घर-गृहस्थी छोड़ कर सन्यासियों के रूप में, मूक भाव से दुखियों की सेवा करते थे, अब तक देशवासियों के मन में राजनैतिक चेतना तथा स्वतन्त्रता की भावना नहीं आई थी। 'वरदान' उपन्यास में भी ऐसी कोई बात नहीं है। प्रेमचन्द की परवर्त्ती नारियों की भाँति सुवामा देश को स्वतन्त्र करने की कल्पना नहीं करती। वह बीस वर्षो तक अष्टभुजी देवी की पूजा करती है और देवी के प्रसन्न होने पर उनसे वरदान में 'देश का उपकार करनेवाला' पुत्र माँगती है।[3] उसके एक पुत्र (प्रताप) पैदा होता है। युवक होने पर प्रताप सन्यास ग्रहण करता है और 'बालाजी' के नाम से प्रसिद्ध होता है, किन्तु अगरेजों का विरोध करने के लिए नहीं। वह दीन दुखियों और बाढ़ पीड़ितों की सहायता करता है, जड़ी बूटियों से असाध्य रोग अच्छा कर देता है, गौशाला खुलवाता है, अछूतों और उच्च जातियों में मेल कराता है, भारत-सेवक समाज की स्थापना करता है और देश में उसकी शाखाएँ खोलता है—वह इन्हीं उपायों से देश की सेवा करता है। सुवामा का मातृहृदय पुत्र के सन्यास लेने और उसके अपनी नजरों से दूर रहने के कारण एक क्षण के लिए दुखी होता है, किन्तु बाद में वह अपनी इस दुर्बलता पर पश्चाताप करती है—

सुवामा, "मैं उन्हें न जाने दूँगी।"

वृजरानी, "उनका सदिया जाना आवश्यक है।"[4]

---

१. सन् १९०३ ई० से 'आवाजये खल्क' में क्रमशः प्रकाशित प्रेमचन्द का प्रथम उपन्यास।

२ प्रकाशनकाल सन् १९३६ ई०

३ वरदान, पृष्ठ ५

४ सदिया में नदी का बाँध 'फट' गया था और सहस्रों मनुष्य कष्ट में थे।—वरदान, पृष्ठ १६७

सुवामा, "मैं क्या सदिया को लेकर चाटूँगी ? भाड़ में जाए। मैं भी तो कोई हूँ ? मेरा भी तो उन पर कोई अधिकार है ?"

वृजरानी, "तुम्हें मेरी शपथ, इस समय ऐसी बातें न करना। सहस्त्रों मनुष्य केवल उनके भरोसे पर जी रहे हैं। ये न जाएँगे, तो प्रलय हो जाएगा।"

माता की ममता ने मनुष्यत्व और जातित्व को दवा लिया था, परन्तु वृजरानी ने समझा बुझा कर उसे रोक लिया। सुवामा इस घटना को स्मरण करके सर्वदा पछताया करती थी। उसे आश्चर्य होता था कि मैं आपे से बाहर क्यों हो गई थी।"[1]

इस प्रकार, सन् १९०५ ई० के पूर्व तक, भारत की राष्ट्रीयता का मनुष्यत्व और जातित्व की भावना का पर्याय ही माना जा सकता है। भारत में वास्तविक राजनैतिक चेतना लार्ड कर्जन की बग भग योजना (सन् १९०५ ई०) के कारण आई।[2] भारतीयों के कड़े विरोध के बावजूद उसी साल इस प्रस्ताव को कार्यान्वित किया गया। ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता, उदारता, परोपकारिता तथा अपने प्रार्थना पत्रों पर से अनेक राष्ट्रवादी काँग्रेसियों का विश्वास हिल गया। उन्होंने उस योजना के विरोध में विदेशी वस्तुओं और विदेशी सस्थाओं के बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग एव राष्ट्रीय सस्थाओं की स्थापना का कार्यक्रम निश्चित किया। अगले साल सूरत के अधिवेशन में काँग्रेस दो दलों में विभक्त हो गई—जो लोग केवल स्वदेशी आन्दोलन के पक्ष में थे, वे 'नरम दल' के सदस्य कहलाए और जो लोग स्वदेशी आन्दोलन के साथ साथ विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के पक्ष में भी थे, वे 'गरम दल' के सदस्य माने गए। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के सर्वथा अप्रत्याशित आन्दोलन से ब्रिटिश सरकार घबड़ा गई और उसने हर सम्भव एव असम्भव उपाय से इसके दमन की कोशिश की।[3]

इन आन्दोलनों का प्रभाव प्रेमचन्द पर भी पड़ा। अभी तक उन्होंने कोई कहानी नहीं लिखी थी। इसके पूर्व उन्होंने रवीन्द्रनाथ की कुछ कहानियों का उर्दू अनुवाद उर्दू पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया था। अब उन्होंने पहले पहल कहानी लिखने का प्रयत्न किया। उन्होंने 'ससार का सबसे अनमोल रत्न' नामक अपनी प्रथम कहानी सन् १९०७ ई० में 'जमाना' में प्रकाशित कराई। इस कहानी में रक्त की उस बूँद को अनमोल रत्न कहा गया था, जो देश प्रेम के लिए बहाई जाती है। इसके बाद उन्होंने इसी प्रकार की चार पाँच कहानियाँ और लिखीं। उनकी इन कहानियों में भी स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीय भावना की महिमा गाई गई थी। और, इन्हीं पाँच कहानियों का एक सग्रह 'सोज़े वतन' नाम से सन्

---

१ वरदान, पृष्ठ १६६

२ महाराष्ट्र में, इस दिशा में, तिलक के प्रयत्न पर्याप्त उग्र थे, अत इस सम्बन्ध में कोई विभक्त करनेवाली रेखा नहीं खींची जा सकती। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि बग भग-योजना के ही परिणामस्वरूप देश भर में राजनैतिक चेतना की लहर उठी थी। तिलक के लिए देखें—गुरुमुख निहाल सिंह, भारत का वैधानिक एव राष्ट्रीय विकास, पृष्ठ १७३-१७४

३ सीतारमय्या, काँग्रेस का इतिहास, भाग १, भूमिका, गुरुमुख निहाल सिंह, भारत का वैधानिक एव राष्ट्रीय विकास, पृष्ठ १७३-१७४

१६०६ ई० में प्रकाशित किया। प्रेमचन्द अपनी आत्मकथा 'जीवन-सार' में लिखते हैं—'मैंने पहले-पहल १६०७ में गल्पें लिखनी शुरू की। डॉ० रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अँगरेजी में पढ़ी थी और उनका उर्दू-अनुवाद उर्दू-पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने १६०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १६०२ में निकला और दूसरा १६०४ में लेकिन गल्प १६०७ के पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था 'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। वह १६०७ में 'जमाना' में छपी। उसके बाद मैंने चार पाँच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह, 'सोज वतन' के नाम से १६०६ में छपा। उस समय बंग भंग का आन्दोलन हो रहा था। काँग्रेस में गर्म दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पाँचों कहानियों में स्वदेश प्रेम की महिमा गाई गई थी।'[1]

राष्ट्रीय जागृति के इन दिनों में सरकार की नजरों में वे सभी लोग खटकने लगे थे, जो देशभक्त थे अथवा राष्ट्रीय जागरण में किसी भाँति भी सहयोग कर रहे थे। उस समय देशभक्ति राजद्रोह से कम न थी। देशभक्तों को तरह तरह की यन्त्रणाएँ दी जाती थीं, फिर भी विद्रोह की आग भड़कती जाती थी। प्रेमचन्द की देश प्रेम मूलक कहानियों को भी राजद्रोह की कहानियाँ कहा गया और 'सोज वतन' प्रकाशित होने के कुछ महीनों बाद (सन् १६१० ई० में) जब्त कर लिया गया। प्रेमचन्द ने 'जीवन-सार' में इसका सविस्तर उल्लेख किया है—

'उस वक्त मैं शिक्षा विभाग में सब डिप्टी इन्सपेक्टर था और हमीरपुर के जिले में तैनात था। पुस्तक को छपे छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं रात को अपनी रावटी में बैठा हुआ था कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुँचा कि मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों रात ३० ४० मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोज वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और उसी की जवाबदेही करने के लिए मुझे बुलाया है।

साहब ने मुझसे पूछा, "यह पुस्तक तुमने लिखी है?"

मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक एक कहानी का आशय पूछा और अन्त में बिगड़ कर बोले, "तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' (राजद्रोह) भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अँगरेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता, तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जाते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी हैं, तुमने अँगरेजी सरकार की तौहीन की है", आदि। फैसला यह हुआ कि मैं 'सोज़ वतन' की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूँ और साहब की अनुमति के बिना कुछ न लिखूँ। मैंने समझा, चलो सस्ते छूटे। एक हजार प्रतियाँ छपी थीं।

१ कफ़न' और शेष रचनाएँ पृष्ठ ६२-६३

अभी मुश्किल से ३०० बिकी थीं। शेष ७०० प्रतियाँ मैंने 'जमाना-कार्यालय' से मँगवा कर साहब की सेवा में अर्पण कर दीं।

'मैंने समझा था, बला टल गई, किन्तु अधिकारियों को इतनी आसानी से सन्तोष न हो सका। मुझे याद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में जिले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस, दो डिप्टी कलक्टर और डिप्टी इन्सपेक्टर—जिनका मैं मातहत था—मेरी तकदीर का फैसला करने बैठे। एक डिप्टी साहब ने गल्पों से उद्धरण निकाल कर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अन्त तक सिडीशन के सिवा और कुछ नहीं है। और सिडीशन भी साधारण नहीं, बल्कि संक्रामक। पुलिस के देवता ने कहा—ऐसे खतरनाक आदमी को जरूर सख्त सजा देनी चाहिए। डिप्टी इन्सपेक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह करते थे। इस भय से कि कहीं मुआमला तूल न पकड़ ले, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वह मित्र भाव से मेरे राजनैतिक विचारों की थाह लें और कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था कि मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें कि लेखक केवल कलम का उग्र है और राजनैतिक आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया। हालाँकि पुलिस के देवता उस वक्त भी पैंतरे बदलते रहे।'[१]

प्रेमचन्द ने इसी घटना के बाद अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानियाँ—'राजा हरदौल,' रानी सारधा,' 'सती', 'विक्रमादित्य का तेगा' आदि—लिखी।[२] इन कहानियों में राजपूतों के साहस, वीरता और त्याग का चित्रण है। किन्तु, इन ऐतिहासिक कहानियों द्वारा वे पुनरुत्थान नहीं करना चाहते थे। इन कहानियों का उद्देश्य भी वही था, जो 'सोज़े वतन' की कहानियों का था—अपने देशवासियों के स्वदेश-प्रेम, साहस और आत्मसम्मान की भावना को जगाना। उन्होंने इन कहानियों में केवल अपना रास्ता बदल लिया था, जिससे ब्रिटिश-सरकार की आँखों में खटकें नहीं। वे 'रानी सारधा' नामक कहानी में कहते हैं, 'संसार एक रणक्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजय-लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर पर जितने उत्साह से आगे बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।'[३] प्रेमचन्द ने भी अपने संग्राम की नीति बदल दी थी।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि 'सोजे वतन' तक प्रेमचन्द 'नवाबराय' के नाम से लिखते थे, किन्तु उस पुस्तक के जब्त होने के बाद से उन्होंने 'प्रेमचन्द' के नाम से लिखना प्रारम्भ किया।

दस वर्ष बाद, सन् १९२० ई० में, प्रारम्भ होनेवाले प्रथम असहयोग-आन्दोलन में प्रेमचन्द ने अपनी बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया और आजीवन निर्भीक हो

१. 'कफन' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ ९३-९५
२. हंसराज रहबर, प्रेमचन्द : जीवन, कला और कृतित्व, पृष्ठ ४६
३. मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ ५२

कर लिखते रहे। 'प्रेमाश्रम,' 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'कर्मभूमि' आदि—बाद के इन सभी उपन्यासों में किसी-न किसी रूप में तत्कालीन राजनैतिक हलचलों का उल्लेख है। सन् १९३० ई० में प्रकाशित 'समर यात्रा और ११ अन्य राजनीतिक कहानियाँ' भी, जिनका उद्देश्य सन् १९३० ई० के अनैतिक कानूनों के विरुद्ध छेड़े गए सविनय-अवज्ञा आन्दोलन तथा करबन्दी-आन्दोलन को प्रोत्साहन देना था, जब्त हो गई।

सम्प्रति इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, राष्ट्रीय जागृति से प्रभावित नारी चित्रण का विवरण उपस्थित किया जाएगा।

'राजा हरदौल' 'रानी सारधा', 'विक्रमादित्य का तेगा', 'सती' आदि ऐतिहासिक कहानियों में स्वजाति प्रेम, आत्मसम्मान आन साहस शौर्य आदि दिव्य गुणों का चित्रण, ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से किया गया है, जिन्होंने युग की राष्ट्रीय चेतना को बल प्रदान किया। मध्ययुगीन भारत में उदयपुर, बुन्देलखण्ड और मारवाड़ वीरता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। रानी सारधा, रानी कुलीना और सती चिन्ता—इन तीनों वीरांगनाओं ने इतिहास में बुन्देलों का नाम अमर कर दिया है। रानी सारधा में कुल मर्यादा के प्रति निष्ठा, स्वातन्त्र्य प्रेम, आत्माभिमान, शरणागत रक्षा और आन पर मर मिटने के दृढ़ संकल्प का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है।

'राजा हरदौल' कहानी की कुलीना के चरित्र में प्रेमचन्द ने अपनी उद्देश्य सिद्धि के लिए कुछ परिवर्तन भी किए हैं। इतिहास में रानी कुलीना अपने पति (जुझार सिंह) के आदेशानुसार अपने निर्दोष देवर को विष भरा भोजन कराती है[1] किन्तु, प्रेमचन्द ने अपनी कहानी में पत्नी द्वारा पति की ऐसी कुटिल आज्ञा न मानने की दृढ़ता दिखलाई है। कहानी यों है—परदेश से लौट कर राजा जुझार सिंह अपने भाई (हरदौल) के साथ भोजन के लिए बैठे और रानी ने जो भोजन परोस रखी है, 'भूल से सोने का थाल हरदौल के आगे रख दिया और चाँदी का थाल राजा के सामने।'[2] राजा छोटे भाई के प्रजा द्वारा मिलने वाले सम्मान पर पहले से ही क्रुद्ध हुए थे, अतः वे रानी के सतीत्व पर कलंक लगा कर उससे कहते हैं कि वह हरदौल को अपने हाथ से विष का बीड़ा खिलाए, तभी उनका सन्देह मिट सकता है, "देखो, इस पानदान में पान का बीड़ा रखा है। तुम्हारे सतीत्व की परीक्षा यही है कि तुम हरदौल को इसे अपने हाथों खिला दो। मेरे मन का भ्रम उसी समय निकलेगा, जब इस घर से हरदौल की लाश निकलेगी।"[3] रानी इस घृणित प्रस्ताव को सुन कर मुँह फेर लेती है और उलटे पाँव महल के अन्दर चली जाती है। वह निर्दोष, सच्चरित्र, वीर हरदौल के, जिसे वह अपना पुत्र और भाई समझती आई है, प्राणों के मूल्य पर अपने सतीत्व की परीक्षा दे, इससे बढ़ कर अमानुषिक कार्य और क्या हो सकता है? वह निश्चय करती है, 'नहीं, यह पाप मुझसे न होगा। यदि राजा मुझे कुलटा समझते हैं, तो समझें, उन्हें मुझ पर सन्देह है, तो हो। मुझसे यह पाप न होगा। नहीं, मेरा हाथ पैर कभी

१ हिस्ट्री आफ बुन्देलखण्ड (हिन्दी अनुवाद) ... पृष्ठ २११

२ मानसरोवर भाग ६ पृष्ठ २९

३ मानसरोवर, भाग ६ पृष्ठ ३२

नहीं उठ सकता। प्यारे हरदौल, मैं तुम्हें खिला सकती। मैं जानती हूँ, तुम मेरे लिए आनन्द से विष का बीड़ा खा लोगे। हाँ, जानती हूँ, तुम 'नहीं' न करोगे, पर मुझसे यह महापाप नहीं हो सकता। एक बार नहीं, हजार बार नहीं हो सकता।"[1]

उधर *एक दासी से हरदौल को सारी बातें मालूम हो जाती हैं और वे स्वयं मरने* को तैयार हो जाते हैं। वह प्रातः भाई के पास जा कर बहाने से पान का वह बीड़ा माँग कर खा लेते हैं, "कल आप यहाँ पधारे हैं, खुशी में मैं आज शिकार खेलने जाता हूँ। आपको ईश्वर ने अजित बनाया है, मुझे अपने हाथ से विजय का बीड़ा दीजिए।"[2] इस प्रकार एक सच्चा राजपूत अपना पुरुषत्व दिखाता है।

रानी कुलीना का निर्णय उसके युग के अनुरूप भले ही न रहा हो, किन्तु जिस युग में प्रेमचन्द ने यह कहानी लिखी थी, उसमें पति की आज्ञा का आँख मूँद कर पालन करना आदर्श नहीं माना जाता था और नारियों से कुलीना के समान साहस की आशा की जाती थी।

'रानी सारधा' कहानी की सारधा के चरित्र में वीरता, जातीय अभिमान, स्वाधीनता, *आत्मगौरव आदि वीरोचित गुणों का विलक्षण समन्वय है। बाल्यावस्था से ही उसमें ये गुण* बीज रूप में थे। एक बार उसका प्राणों से प्रिय भाई (अनिरुद्ध) रण में शत्रुओं को पीठ दिखा कर भाग आया था। उसकी पत्नी (शीतला) ने दबी जबान से पति के सकुशल लौटने पर हर्ष प्रकट किया था, किन्तु सारधा के तेवर पर बल पड़ गए थे और मुखमण्डल गर्व से सतेज हो गया था। वह बोली थी, "भैया, तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा *कभी न हुआ था।" उस दिन अनिरुद्ध उलटे पाँव लौट गया था और कुछ महीनों में विजय* प्राप्त करके ही लौटा था। किन्तु, उस समय शीतला और सारधा में इस प्रकार बातचीत हुई थी—

शीतला ने नागिन की तरह बल खा कर कहा, "मर्यादा इतनी प्यारी है?"

सारधा, "हाँ।"

शीतला, "अपना पति होता, तो हृदय में छिपा लेती।"

सारधा, "ना, छाती में छुरा चुभा देती।"

शीतला ने ऐंठ कर कहा, "चोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह बाँध लो।"

सारधा, "जिस दिन ऐसा होगा, मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।"[3]

सारधा का विवाह चम्पतराय से होता है, जो बुन्देलों का सिरमौर है। विवाह के *बाद सारधा के जीवन में जातीय अभिमान और आत्ममर्यादा के प्रमाण देने के जब जब* अवसर आते हैं, वह अपनी आन निभाती है। इस सम्बन्ध में एक घटना स्मरणीय है। एक बार सारधा द्वारा, युद्ध में जीते हुए घोड़े को उसका असली मालिक, सारधा के पुत्र (छत्रसाल) से, जो अभी बालक ही है, छीन लेता है। बालक जब सारे समाचार माता

---

१ मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ २२-२३

२ मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ २५

३ मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ ४६-४७

से कहता है, तो रानी सारधा का चेहरा क्रोध से तमतमा जाता है और वह अपने पुत्र को उसकी कायरता के लिए फटकारती है, "मुझे इसका शोक नही कि घोडा हाथ से गया, शोक इसका है कि तू उसे खो कर जीता क्यों लौटा ? क्या तेरे शरीर में बुन्देलों का रक्त नहीं है ? घोडा न मिलता, न सही, किन्तु तुझे दिखा देना चाहिए था कि एक बुन्देला बालक से उसका घोडा छीन लेना हँसी नही है।"[1]

इसके बाद रानी सारधा एक घाडे के लिए नही, अपनी आन के लिए, अपनी विस्तृत जागीर, राज्य और राज सम्मान सबसे हाथ धोती है और केवल इतना ही नहीं, भविष्य के लिए काँटे भी बोती है। इसके बाद राजा चम्पतराय को शान्ति नही मिलती, फिर भी वे अपने मुँह से शिकायत का एक शब्द भी नही निकालते, व सारधा के स्वभाव से भली भाँति परिचित हैं।

शीतला की भविष्यवाणी भी पूरी होती है। शत्रुओं के भय से बूढे और बीमार पति को पालकी में बिठा कर, सारधा पाँच चुने हुए सवारों के साथ भागी जा रही है, किन्तु शत्रु उन्हें ढूँढते हुए आ पहुँचते हैं। पाँचों सवार वीरगति पाते हैं। चम्पतराय बेडियाँ पहनने के लिए जीवित नही रहना चाहते। वे सारधा को वचन-बद्ध करके अपनी छाती में तलवार चुभा देने को कहते हैं। सारधा थोडी देर के लिए विचलित होती है, किन्तु शत्रुओं को सर पर आया देख कर अपनी तलवार पति के सीने में चुभा देती है और फिर वही तलवार अपने हृदय में भी चुभा लेती है। इस प्रकार रानी सारधा अपनी भाभी के समक्ष कहे हुए अपने वचन को पूरा करती है।

प्रेमचन्द द्वारा चित्रित प्राचीन वीरागनाओ के मध्य 'सती' कहानी की चिन्ता देवी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वीरात्मा 'आदर्श वीरता की उपासिका' है। इसीलिए वह पति के शरीर के साथ नहीं, उसकी आत्मा के साथ सती होती है।

रानी सारधा की भाँति चिन्ता देवी भी बाल्यावस्था से ही वीर और साहसी है। उसका पालन पोषण लडाई के मैदान में होता है। वीरो के आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ सुन सुन कर और वह भी योद्धाओं के मुख से, वह आदर्शवादी बन जाती है। जब वह तेरह साल की होती है, उसके पिता युद्ध में वीरगति पाते हैं, उसके सामने जब उसके पिता के मित्र आ कर रोने लगते हैं, तो वह हँस कर कहती है, "अगर उन्होंने वीरगति पाई, तो तुमलोग रोते क्यों हो ? योद्धाओं के लिए इससे बढ कर और कौन मृत्यु हो सकती है ? इससे बढ कर उनकी वीरता का और क्या पुरस्कार मिल सकता है ? यह रोने का नहा, आनन्द मनाने का अवसर है।"[2] और, वह उसी समय अपने पिता के आदर्श को पूरा करने के लिए, अपनी मातृभूमि का शत्रुओं के पंजे से छुडाने के लिए, चल पडती है।

कालान्तर में चिन्ता अपने एक योद्धा (रत्न सिंह) की वीरता और चरित्र पर मुग्ध हो कर उससे विवाह करती है, किन्तु सुहागरात उनके लिए समर रात्रि बन जाती है।

---

१ मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ ४३

२ मानसरोवर, भाग ५, पृष्ठ ७०

रत्न सिंह शत्रुओं से युद्ध करने के लिए चले जाते हैं और चिन्ता विचलित हृदय से उनकी रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करती है।

युद्धभूमि से आए हुए एक सैनिक से चिन्ता को ज्ञात होता है कि सभी वीरों ने वीरगति पाई। वह सती होने की तैयारियाँ करती है। चिता में आग लगाई ही जाती है कि रत्न सिंह घोड़ा दौड़ाता हुआ आ पहुँचता है—वह कायर की भाँति युद्धक्षेत्र से भाग आया था। चिन्ता पति की ओर आँख उठा कर देखती भी नहीं। रत्न सिंह को आश्चर्य होता है, क्या वह उस पहचानती नहीं, फिर उसके जीवित रहते वह सती क्यों हो रही है? चिता की अग्निशिखा चिन्ता देवी के मुख तक पहुँच चुकी है, फिर भी वह निन शब्दों में पति को उत्तर देती है, व उसी के योग्य हैं, "खूब पहचानती हूँ। तुम मेरे रत्न सिंह नहीं। मेरा रत्न सिंह सच्चा शूर था। वह आत्मरक्षा के लिए, इस तुच्छ देह को बचाने के लिए, अपने क्षत्रिय धर्म का परित्याग न कर सकता था। मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है। रत्न सिंह को बदनाम मत करो। वह वीर राजपूत था। रणक्षेत्र से भागनेवाला कायर नहीं।"[1]

फिर एक क्षण में वह अनुपम रूप राशि, वह आदर्श वीरता की उपासिका, वह सच्ची सती, अग्नि राशि में विलीन हो गई।'[2]

'प्रेमाश्रम' उपन्यास में वीरता देश प्रेम के बदले वर्ग संघर्ष का क्षेत्र चुनती है। इस उपन्यास के मनोहर अहीर की स्त्री (विलासी) में क्षत्राणी का रक्त है। वह न्याय तथा अधिकार की बातें समझती है और अन्याय के सामने सर झुकाना नहीं जानती। गाँव की बात है। जिन मैदानों में जानवर सदा से चरते आए थे, जमींदार अन्याय से उन पर अधिकार करना चाहता है। एक दिन जब विलासी अपने मवेशियों को चराने के लिए चारागाह में ले जा रही होती है, जमींदार के कारिन्दे और चपरासी उसका रास्ता रोकते हैं और जमींदार का हुक्म सुनाते हैं। पर, विलासी इसका तीव्र विरोध करती है, "कैसा सरकारी हुक्म? सरकार की जमीन नहीं है। हमारे मवेशी सदा से यहाँ चरते आए हैं और सदा यहीं चरेंगे। अच्छा सरकारी हुक्म है! आज कह दिया चरावर छोड़ दो, कल कहेंगे अपना घर छोड़ो, पेड़ तले जा कर रहो। ऐसा कोई अँधेर है?"[3] कारिन्दा गौस खाँ के कहने पर उसके जानवर घेर लिए जाते हैं और हाँक कर मवेशीखाने ले जाए जाते हैं। विलासी आगे बढ़ कर रास्ता रोक लेती है—

'विलासी एक संदिग्ध दशा में मूर्त्तिवत् खड़ी थी। जब जानवर कोई बीस कदम निकल गए, तब वह उन्मत्तों की भाँति दौड़ी और हाँफती हुई बोली, "मैं कहती हूँ कि इन्हें छोड़ दो नहीं तो ठीक न होगा।"

फैजू, "हट जा रास्ते से। तुझ शामत तो नहीं आई है।"

विलासी रास्ते में खड़ी हो गई और बोली, "ले कैसे जाओगे?"

---

१ मानसरोवर भाग ५ पृष्ठ ८०

२ मानसरोवर भाग ५, पृष्ठ ८१

३ प्रेमाश्रम, पृष्ठ १८३

गौस खाँ, "न हटे तो इसकी मरम्मत कर दो।"

बिलासी, "कहे देती हूँ, इन जानवरों के पीछे लोहू की नदी बह जाएगी, माथे गिर जाएँगे।"

फैजू, "हटती है या नहीं चुड़ैल?"

बिलासी, "तू हट जा दाढ़ीजार।"[1]

इस पर फैजू बिलासी को इतने जोर से धक्का देता है कि वह वहीं गिर कर बेहोश हो जाती है। किन्तु सचेत होते ही अपने पति और पुत्र को, जो उसकी मान मर्यादा के रक्षक हैं, अपनी अपमान कथा कहने चलती है। और, जैसा कि उसने कहा था, गौस खाँ को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। मनोहर पकड़ा जाता है, जो बाद में जेल में आत्महत्या कर लेता है।

मनोहर के इस कार्य से पूरा गाँव जमींदार के क्रोध का शिकार हो जाता है और गाँव वाले उसके द्वारा अत्याचार किए जाने पर मनोहर को कोसते हैं, किन्तु कादिर मियाँ उन्हें समझाते हैं, "यारो! ऐसी बातें न करो। बेचारे ने तुम लोगों के लिए, तुम्हारे हक की रक्षा के लिए यह सब कुछ किया। उसकी हिम्मत और जीवट की तारीफ तो नहीं करते, उसकी बुराई करते हो। हम सब के-सब कायर हैं, वही एक मर्द है।"[2]

इसी प्रकार कोई बिलासी की भी बात पूछनेवाला नहीं है। 'जिसे देखिए, उसे जली कटी सुनाता था। न कोई उसके घर जाता, न जाता। यदि वह बैठे बैठे उकता कर किसी के घर चली जाती, तो वहाँ भी उसका अपमान किया जाता। वह गाँव की नागिन समझी जाती थी, जिसके विष ने समस्त गाँव को काल का ग्रास बना दिया। और तो और, उसकी बहू भी उसे ताना देती।'[3]

किन्तु प्रेमचन्द, यहाँ भी साधु सुक्खू के वचनों द्वारा लोगों में साहस, आत्मविश्वास और त्याग की भावना का जगाया जाना दिखाते हैं। वह गाँव वालों के बीच में बिलासी की अभ्यर्थना इन शब्दों में करता है, "तुम क्षत्राणी हो, अहीर की कन्या हो कर भी क्षत्राणी हो। तुमने वही किया, जो क्षत्राणियाँ किया करती हैं। मनोहर भी क्षत्री है। वह वीर आत्मा था उसने गाँव की लाज रख ली, स्त्री की मर्जाद रख ली। ये सब क्षुद्र आत्माएँ बैठी उसे बुरा भला कह रही हैं। नारियों की रक्षा करना पुरुषों का धर्म है। मनोहर ने अपने धर्म का पालन किया। इसको बुरा वही कह सकता है, जिसकी आत्मा मर गई है, जो बेहया हो गया है। गाँव के दस पाँच पुरुष फाँसी चढ़ जाएँ, तो कोई चिन्ता नहीं। यहाँ एक एक स्त्री के पीछे लाखों सिर कट गए हैं। सीता के पीछे रावण का राज्य विध्वंस हो गया। द्रौपदी के पीछे १८ लाख योद्धा मर मिटे।"[4]

'रंगभूमि' उपन्यास की रानी जाह्नवी को भी लेखक ने प्राचीन वीरांगनाओं के साँचे में ढाला है। रानी जाह्नवी का आत्मगौरव रानी सारधा और चिन्ता देवी से तुलनीय है।

१. प्रेमाश्रम, पृष्ठ २०८
२. प्रेमाश्रम, पृष्ठ २०४
३. प्रेमाश्रम, पृष्ठ २२५
४. प्रेमाश्रम, पृष्ठ २२६

वे राजपूतनी हैं भी। जब कि प्रेमचन्द के समय में रानियाँ प्राय भोग विलास में ही मग्न रहती थी, राजपूतों के वीरतापूर्ण आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ पढ कर रानी जाह्नवी के हृदय में जाति प्रेम, सेवा और भक्ति के ऊँचे भाव जाग्रत होते हैं। उनके मन में एक नई अभिलाषा उत्पन्न होती है—'मेरी कोख से भी कोई ऐसा पुत्र जन्म लेता, जो अभिमन्यु, दुर्गादास और प्रताप की भाँति जाति का मस्तक ऊँचा करता।'' इसी के बाद विनय सिंह का जन्म होता है और रानी जाह्नवी उसकी शिक्षा दीक्षा के लिए तदनुरूप प्रबन्ध करती हैं। रानी जाह्नवी ने उसका वर्णन इन शब्दों में किया है, "मैंने बाल्यावस्था ही से उसे कठिनाइयों का अभ्यास कराना शुरू किया। न कभी गद्दों पर सुलाती, न कभी महरियों और दाइयों की गोद में जाने देती, न कभी मेवे खाने देती। दस वर्ष की अवस्था तक केवल धार्मिक कथाओं द्वारा उसकी शिक्षा हुई। इसके बाद मैंने उसे डॉ॰ गांगुली के साथ छोड दिया। मुझे उन्हीं पर पूरा विश्वास था।"[२]

रानी जाह्नवी की आन्तरिक कामना है कि विनय का जीवन आदर्श हो। प्राचीन वीरांगनाओं की भाँति वे अपने हृदय को दृढ कर चुकी हैं। अपनी चिर सचित अभिलाषा में किसी प्रकार की बाधा उनके लिए मरने मारने का प्रश्न है। यही कारण है कि जब उन पर सोफिया और विनय का प्रेम प्रकट होता है, वे सोफिया को, यदि उसके उपकारों के भार से वे दबी नहीं होती, विष दे कर भी अपने मार्ग से हटाने में सकोच न करती, "मैं राजपूतनी हूँ, मरना भी जानती हूँ और मारना भी।"[३]

विनय के कष्टों के लिए रानी जाह्नवी कभी चिन्ता तक नहीं करतीं। वह जेल में कष्ट सहे, लू में चले, पर्वतों को चीरे, भूखा प्यासा रहे, किन्तु अपने उद्देश्य पर दृढ रहे, न्याय पक्ष न छोड़े, बल्कि इस ही व उसकी परीक्षा समझती हैं और विनय की सुविधा के लिए किसी प्रकार की बाहरी मदद के विरुद्ध हैं।[४]

जिस दिन रानी जाह्नवी को ज्ञात होता है कि विनय ने सेवाधर्म त्याग कर अन्याय पक्ष को अपना लिया है, वे विनय को तिरस्कारपूर्ण पत्र लिख भेजती हैं, जिसकी भाषा प्राचीन वीरांगनाओं के शब्दों को भी मात करती है—

'विनय आज से कई मास पहले मैं तुम्हारी माता होने पर गर्व करती थी, पर आज तुम्हे पुत्र कहते हुए लज्जा से गडी जाती हूँ। तुम्हे जीवित देख कर मुझे दुःख होता है। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि ससार में कोई ऐसी वस्तु भी है, जो सन्तान से अधिक प्रिय होती है? वह आत्मगौरव है। अब केवल दो इच्छाएँ हैं—ईश्वर से तो यह कि तुम जैसी सन्तान मातवें वैरी को भी न दे, और तुमसे यह कि अपने जीवन की क्रूर लीला को समाप्त करो।'[५]

१ रंगभूमि भाग १, पृष्ठ १४६
२ रंगभूमि भाग १, पृष्ठ १४६
३ रंगभूमि भाग १, पृष्ठ २४३
४ रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ ४२६
५ रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ २११ २१२

इस पत्र को पढ़ कर विनय, जो अब पूर्वस्थिति में आ चुका है, जो कुछ सोचता है, वह रानी जाह्नवी के सम्मान को और बढ़ा देता है, 'माता, तुम्हें धन्य है। स्वर्ग में बैठी हुई वीर राजपूतनियों की वीर आत्माएँ तुम्हारी आदर्शवादिता पर गर्व करती होंगी।'[१]

विनय की वीरतापूर्ण मृत्यु पर रानी जाह्नवी की आँखों से एक बूँद आँसू तक नहीं गिरा। सोफी को रोते देख कर वे उसे उन्हीं शब्दों में समझाती हैं, जिन शब्दों में चिन्ता देवी ने अपने पिता की मृत्यु पर उनके मित्रों को समझाया था, "क्यों रोती हो बेटी? विनय के लिए? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाए जाते, उत्सव के राग गाए जाते हैं। मेरे पास हीरे और जवाहिर होते, तो उसकी लाश पर लुटा देती। मुझे उसके मरने का दुःख नहीं है। दुःख होता, अगर वह आज प्राण बचा कर भागता। यह तो मेरी चिर संचित अभिलाषा थी मेरी वह कामना पूरी हो गई। आज मैं एक वीर पुत्र की जननी हूँ।"[२]

इसके बाद रानी जाह्नवी अपने पुत्र के छोड़े हुए काम को अपने हाथों में लेती हैं, जो सच्ची कर्मशीलता, साहस और वीरता का सूचक है —'कुँवर विनय सिंह की वीर मृत्यु के पश्चात् रानी जाह्नवी का सदुत्साह दुगना हो गया। वह पहले से कहीं ज्यादा क्रियाशील हो गई। उनके रोम रोम में असाधारण स्फूर्ति का विकास हुआ। वृद्धावस्था की आलस्यप्रियता यौवन काल की कर्मण्यता में परिणत हो गई। कमर बाँधी और सेवक दल का संचालन अपने हाथ में लिया। रनिवास छोड़ दिया, कर्मक्षेत्र में उतर आई और इतने जोश से काम करने लगी कि सेवक दल की जो उन्नति कभी न प्राप्त हुई थी, वह अब हुई। धन का इतना बाहुल्य कभी न था और न सेवकों की संख्या ही कभी इतनी अधिक थी। उनकी सेवा का क्षेत्र भी इतना विस्तीर्ण न था। उनके पास निज का जितना धन था, वह सेवक-दल को अर्पण कर दिया, यहाँ तक कि अपने लिए एक आभूषण भी न रखा। तपस्विनी का वेष धारण करके दिखा दिया कि अवसर पड़ने पर स्त्रियाँ कितनी कर्मशील हो सकती हैं।'[३]

पूर्वोक्त उपन्यास की ही इन्दु और सोफिया भी वीर नारियाँ हैं। सोफिया विनय सिंह की प्रेमिका है और इन्दु बहन। दोनों ही आदर्शवादी हैं, दोनों को ही सत्य, धर्म, न्याय एवं दीन दुखियों से प्रेम है। सोफिया को जब यह मालूम होता है कि विनय ने न्याय और धर्म को छोड़ कर तथा राज्याधिकारियों से मिल कर अन्याय एवं अत्याचार को अपना लिया है, तो वह रानी जाह्नवी की ही भाँति कठोर शब्दों में विनय का तिरस्कार करती है, "मैंने तुम्हारी प्रभुताशीलता पर अपने को समर्पित नहीं किया था, बल्कि तुम्हारी सेवा, सहानुभूति और देशानुराग पर। मैंने इसीलिए तुम्हें अपना उपास्य देव बनाया था कि तुम्हारे जीवन का आदर्श उच्च था, तुम में प्रभु मसीह की दया, भगवान् बुद्ध के विराग और लूथर की सत्यनिष्ठा की झलक थी। क्या दुखियों को सताने वाले, निर्दय, स्वार्थ-प्रिय अधिकारियों की संसार में कमी थी? ..मेरे प्रेम का आधार भक्ति थी। वह आधार

१ रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ २१२
२ रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ ३८४
३ रंगभूमि भाग २ पृष्ठ ४४७

जड़ से हिल गया। तुमने मेरे जीवन का सर्वनाश कर दिया। . मेरी दृष्टि में जिस राज्य का अस्तित्व अन्याय पर हो, उसका निशान जितनी जल्दी मिट जाए, उतना ही अच्छा।"[१] इसी प्रतिक्रिया में वह क्रान्तिकारियों के दल में सम्मिलित होती है। वह विनय से व्यंग्य पूर्वक कहती है, "तुमने मुझे संसार से विरक्त कर दिया, मेरी भोग-तृष्णा को शान्त कर दिया। धार्मिक ग्रन्थों के निरन्तर पढ़ने से जो मार्ग न मिला, वह नैराश्य ने दिखा दिया। इसके लिए मैं तुम्हारी अनुगृहीत हूँ। धर्म और सत्य की सेवा करके कौन सा रत्न पाया? अधम? उन पापियों से खून का बदला लूँगी, जिन्होंने प्रजा की गरदन पर छुरियाँ चलाई हैं। एक एक को जहन्नुम की आग में झोंक दूँगी, तब मेरी आत्मा तृप्त होगी।... मेरे दिल में दुरुत्साह तुम्हीं ने पैदा किया है, और इसका इल्जाम तुम्हारी ही गरदन पर है। . मैं जो कुछ करूँगी, वह तुमसे कह चुकी। तुम्हारी जो इच्छा हो, वह तुम करो। मैं आज से क्रान्तिकारियों के दल में जाती हूँ, तुम खुफिया पुलिस की शरण लो। जाओ, ईश्वर फिर हमें न मिलाए।"[२]

सोफिया का यह व्यंग्य और धिक्कार विनय को राह पर ला देता है। उधर दयालु सोफिया भी अपने दल की क्रूर नीति से ऊब कर भाग खड़ी होती है। एक ट्रेन में दोनों मिलते हैं और फिर नई योजनाएँ बनाते हैं।

दया, न्याय और सत्य को ले कर, जन सेवा के लिए सचेष्ट होने पर, पद-लोलुप, स्वार्थी पति से इन्दु का भी मतभेद होता है। उसके सामने एक ओर हिन्दू पत्नी का आदर्श है—किसी भी दशा में पति की आज्ञा मानना—और दूसरी ओर वह पति द्वारा किए गए अपने अपमान और प्रजा पर हुए अन्याय को असह्य पाती है। दोनों ही भावनाएँ बहुत दिनों तक उसमें द्विधा उत्पन्न किए रहती हैं—'मेरा धर्म उनकी (पति की) आज्ञा का पालन करना है। मुझे तन मन से उनकी सेवा करनी चाहिए। मेरा सबसे पहला कर्त्तव्य उनके प्रति है, देश और जाति का स्थान गौण है, पर मेरा दुर्भाग्य बार-बार मुझे कर्त्तव्य मार्ग से विचलित कर देता है। मैं इस अन्धे (सूरदास) के पीछे बरबस उनसे उलझ पड़ी। वह विद्वान् हैं, विचारशील हैं। यह मेरी धृष्टता है कि मैं उनकी अगुआई करने का दावा करती हूँ। जब मैं छोटी छोटी बातों में मानापमान का विचार करती हूँ, तो उनसे कैसे आशा करूँ कि वह प्रत्येक विषय में निष्पक्ष हो जाएँ।'[३] किन्तु, अन्यत्र वह सोचती है, 'मैं इतना दबना भी नहीं चाहती। मेरा कर्त्तव्य है, सत्कार्य में उनसे (पति से) दबना। अगर कुविचार में पड़ कर वह प्रजा पर अत्याचार करने लगें, तो मुझे उनसे मतभेद रखने का पूरा अधिकार है। बुरे कामों में उनसे दबना मनुष्य के पद से गिर जाना है। मैं पहले मनुष्य हूँ, पत्नी, माता, बहन, बेटी पीछे।'[४]

फलतः इन्दु का पति से मतभेद बढ़ता ही जाता है।

---

१ रंगभूमि भाग २, पृष्ठ ६१ ६२

२ रंगभूमि, भाग २ पृष्ठ ६५ ६६

३ रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ ३६८ ३६९

४. रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ १४२

जब रानी जाह्नवी तक का मातृप्रेम पाण्डेपुर में सूरदास का घेर कर खडी भीड के संकल्प को, सत्याग्रह का, बल प्रदान करने के लिए विनय का जाने से रोक रहा था और स्वय विनय, सोफिया क प्रम क कारण वहाँ जाना नही चाहता था, इन्दु उससे कहती है, "उन्हें (पति का) ता हाकिमो की खुशामद ने चौपट कर दिया, पिताजी का सम्पत्ति प्रेम ने चौपट किया, क्या तुम्हें भी माह चौपट कर देगा? क्यों सोफी, तुम इन्हें एक क्षण के लिए भी कैद से मुक्त नहीं करती? अगर अभी से इनका यह हाल है, ता विवाह हो जाने पर क्या हागा? तब ता यह कदाचित् दीन दुनिया कही क भी न होंगे, भौंरे की भाँति तुम्हारा प्रेम रस-पान करने में उन्मत्त रहेंगे।"[1]

एक दिन पति के अपमान से आहत हा कर, लड झगड कर, इन्दु मायके चली आती है। बाद में पति की मृत्यु के बाद अपनी रियासत का भार एक ट्रस्ट को सौंप कर, स्वय अपनी माता (रानी जाह्नवी) के साथ सेवा-कार्य करती है।

इस प्रकार 'प्रमाश्रम' और 'रगभूमि' उपन्यास तक यद्यपि गाँधीजी का प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन (सन् १९२०-२१ ई०) समाप्त हो चुका था, किन्तु चूँकि इस आन्दोलन में भारतीय नारियो की सख्या अत्यल्प थी, इस कारण प्रेमचन्द द्वारा चित्रित नारियों का देश प्रेम भी सेवा-धर्म, न्यायप्रियता, आत्मसम्मान तक ही सीमित है। इतनी बात अवश्य है कि वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हाने लगी थी और उन्हें मात्र सामाजिक परतन्त्रता का ही नही, बल्कि राजनैतिक पराधीनता का भी ध्यान हा चला था। इस दृष्टि से 'रगभूमि' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यास कहा जा सकता है।

'गबन' उपन्यास की जालपा भी एक देशभक नारी है। उसमें वही सत्यप्रियता, आत्मसम्मान और न्याय भावना है, जो अतीत में भारतीय राजपूत-नारियों की विशेषता रही है। जब उसका पति (रमानाथ) पुलिस की सख्तियो के भय से सरकारी मुखबिर बन कर निर्दोष व्यक्तियों को सजा दिलाने में पुलिस की मदद करता है, ता वह उससे घृणा करती है और उसकी कायरता के लिए उसे उसी भाँति फटकारती है, जिस भाँति मध्य कालीन भारत की वीर नारियाँ, समर भूमि से भाग कर आए हुए, अपने पतियों को फटकारा करती थीं। प्रेमचन्द द्वारा चित्रित नारी-चरित्रों में वह जाह्नवी, सोफिया और इन्दु की परम्परा में आती है। वह कहती है, "अगर तुम सख्तियों और धमकियों से इतना दब सकते हो, तो तुम कायर हा। तुम्हें अपने का मनुष्य कहने का कोई अधिकार नहा। क्या सख्तियाँ थीं? जरा सुनूँ? लोगों ने हँसते हँसते सिर कटा लिए हैं, अपने बेटों का मरते देखा है, कोल्हू में पेले जाना मजूर किया है, पर सच्चाई से जौ भर भी नहीं हटे। तुम भी ता आदमी हो, तुम क्यों धमकी में आ गए? क्यों नहीं छाती खोल कर खडे हा गए कि इसे गोली का निशाना बना लो, पर मैं झूठ न बोलूँगा। क्यों नही सिर झुका दिया? देह के भीतर इसलिए आत्मा रखी गई है कि देह उसकी रक्षा करे। इसलिए नहीं कि उसका सर्वनाश कर दे। ...मैंने तुमसे पहले कह दिया था और आज फिर कहती हूँ कि मेरा तुमसे कोई नाता नहीं है। मैंने समझ लिया कि तुम मर गए। तुम भी समझ लो कि मैं मर गई।

१ रगभूमि, भाग २, पृष्ठ ३६१

तम, जाओ। मैं औरत हूँ, मगर कोई धमका कर मुझसे पाप कराना चाहे, तो चाहे उसे न मार सकूँ, अपनी गरदन पर छुरी चला दूँगी। क्या तुम में औरतों के बराबर भी हिम्मत नहीं है ?"[1]

पूर्वोक्त उपन्यास के बूढ़े खटिक (देवीदीन) की गँवार पत्नी भी देशभक्त स्त्री है। उसके दो जवान बेटे स्वदेशी आन्दोलन की भेंट हो चुके हैं।[2] वह रमानाथ की लाई हुई सोने की चूड़ियों को इसलिए उठा कर फेंक देती है कि वे चूड़ियाँ एक सरकारी गवाह की लाई हुई हैं और आँखें निकाल कर कहती है, "जहाँ इतना पाप समा सकता है, वहाँ चार चूड़ियों की जगह नहीं है ? भगवान की दया से बहुत चूड़ियाँ पहन चुकी और अब भी सेर दो सेर सोना पड़ा होगा, लेकिन जो खाया, पहना, अपनी मिहनत की कमाई से, किसी का गला नहीं दबाया, पाप की गठरी सिर पर नहीं लादी, नीयत नहीं बिगाड़ी ! उस कोख में आग लगे, जिसने तुम जैसे कपूत को जन्म दिया। . अगर तुम मेरे लड़के होते, तो तुम्हें जहर दे देती।"[3]

भारत ने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त पर स्वाधीनता का युद्ध छेड़ा। सविनय अवज्ञा अथवा सत्याग्रह—उसके पास एकमात्र ये ही हथियार थे। सन् १६३६ ई०—प्रेमचन्द के देहावसान—तक, भारतीयों ने तीन चार बार सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ और समाप्त किए। सरकारी कानून भंग करने के अपराध में हजारों स्त्री-पुरुष जेल गए, किन्तु विद्रोह की व्यापकता की दृष्टि से सन् १६३० ई० का नमक सत्याग्रह और करबन्दी आन्दोलन अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। उसी साल काँग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' की घोषणा की और उसके लिए प्रयत्न भी किए। गाँधीजी ने भारतीय नारियों का आह्वान किया। फलस्वरूप हजारों की संख्या में सभी स्तरों और वर्गों की नारियों ने स्वाधीनता संग्राम में भाग लिया। वे जेल गईं, उन्होंने शराब, ताड़ी और विदेशी कपड़ों की दूकानों पर धरना दिया, पुलिस के हाथों डण्डे खाए और अपमान सहा, विदेशी कपड़ों की होली जलाई, अछूतोद्धार किया, जुलूस निकाले, प्रभात फेरियाँ कीं और आर्थिक कष्ट सहे। राष्ट्रीय जागृति की भावना से ओतप्रोत ये नारियाँ भूखों मरीं, किन्तु इन्होंने देश हित को बराबर ध्यान में रखा। सन् १६३० ई० में प्रकाशित प्रेमचन्द का 'समर यात्रा और ११ अन्य राजनीतिक कहानियाँ' नामक कहानी-संग्रह[4] और 'कर्मभूमि' उपन्यास (सन् १६३२ ई०) इन्हीं घटनाओं पर आधारित हैं।

सन् १६३० ई० में लगानबन्दी आन्दोलन जोरों से चल रहा था। पैदावार का भाव गिर जाने से, भयंकर आर्थिक संकट छाया हुआ था, किसान भूखों मर रहे थे। उनके पास

१ गबन पृष्ठ २८४

२ गबन, पृष्ठ १७५, १८३

३ गबन, पृष्ठ २८३

४ इस संग्रह में ये कहानियाँ थीं— जेल', 'कानूनी कुमार', 'पत्नी से पति' 'लाछन' 'ठाकुर का कुआँ', 'शराब की दूकान', 'जुलूस', 'मैकू', आहुति', 'होली का उपहार', 'अनुभव' और 'समर-यात्रा'।

खाने के लिए पैसे न थे, लगान कहाँ से चुकाते ? किन्तु, सरकार संगीन की नोक पर लगान वसूल कर रही थी। किसानों के घरों में घुस कर उनके मवेशियों को खोल लेना, उन्हें नीलाम कर देना, किसानों के विरोध करने पर उन्हें डण्डों से पीटना, फसल और गाँव में आग लगा देना, सरकारी कर्मचारियों के लिए साधारण बात हो गई थी।[1] स्त्रियों और बच्चों को भी नहीं छोड़ा जाता था। प्रेमचन्द ने अपनी कुछ कहानियों और 'कर्मभूमि' उपन्यास में इस तरह के आतंक का बहुत स्वाभाविक चित्र खींचा है और दिखलाया है कि स्त्रियों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई थी। 'जेल' कहानी की मृदुला उस युग के किसानों की सच्ची हालत का खाका इन शब्दों में खींचती है—"अनाज का भाव दिन-दिन गिरता जाता है। पौने दो रुपए में मन भर गेहूँ आता है। मेरी उम्र ही अभी क्या है, अम्माजी भी कहती हैं कि अनाज इतना सस्ता कभी नहीं था। खेत की उपज से बीजों तक के दाम नहीं आते। मेहनत और सिंचाई उसके ऊपर। गरीब किसान लगान कहाँ से दें ? इस पर सरकार का हुक्म है कि लगान कड़ाई के साथ वसूल किया जाए। किसान इस पर भी राजी हैं कि हमारी जमा-जथा नीलाम कर लो, घर कुर्क कर लो, अपनी जमीन ले लो; मगर यहाँ तो अधिकारियों को अपनी कारगुजारी दिखाने की फिक्र पड़ी हुई है। वह चाहे प्रजा को चक्की में पीस ही क्यों न डालें, सरकार उन्हें मना न करेगी। मैंने सुना है कि वह उलटे और शह देती है।"[2] ऐसी अवस्था में जब कि सरकार की ओर से ज्यादती होती है, किसान धैर्य नहीं रख पाते, वे काबू से बाहर हो जाते हैं। स्त्रियाँ भी आगे बढ़ती हैं। 'कर्मभूमि' उपन्यास में जब सलीम, धर्म के नाते, कसाइयों को समझाता है कि वे मवेशी ले जाने से इनकार कर दें, क्योंकि इससे गरीब पिस जाएँगे, तो परिणाम उलटा होता है और उनमें हाथापाई की नौबत आ जाती है। इसी समय बूढ़ी सलोनी लाठी टेकती हुई अपनी गाय को खोजते खोजते वहाँ पहुँच जाती है। वहाँ संग्राम छिड़ा देख कर वह अपना आँचल सर से उतार कर कमर में बाँध लेती है और लाठी सँभाल कर पीछे से दोनों कसाइयों को पीटने लगती है।[3]

इसी प्रसंग में कुछ सिपाही मवेशियों को खोलने के लिए एक अहीरिन के घर में घुसते हैं। अहीर घर में नहीं है। एक सिपाही अहीरिन की बाँह पकड़ लेता है। अहीरिन गड़ाँसा ले कर उन पर टूट पड़ती है और दो को जख्मी कर देती है।[4]

उपरोक्त उपन्यास की ही मुन्नी अशिक्षित ग्रामीण स्त्री है, किन्तु गोरों द्वारा सतीत्व के अपहरण का बदला, कई महीनों बाद, अन्य दो गोरों की हत्या करके लेती है।[5] इस प्रकार ये दोनों नारियाँ भी क्षत्राणियों की परम्परा का पालन करती हैं—किन्तु परिवर्तित वातावरण में, सर्वथा भिन्न समस्याओं के बीच में। बाद में मुन्नी एक पहाड़ी गाँव में

१. सीतारमय्या, कांग्रेस का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४१४
२. मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ १०
३. कर्मभूमि, पृष्ठ ३६०
४. कर्मभूमि, पृष्ठ ३६१-३६२
५. कर्मभूमि, पृष्ठ २७-२८, ५४-५५

जा बसती है और वहाँ सन् १६३० ई० के करबन्दी आन्दोलन में भाग लेती है। उसके हृदय में सहानुभूति, दया और जागृति भरी हुई है। गरीब किसानों की दशा और सरकार का बलपूर्वक लगान वसूल करने का अत्याचारपूर्ण तरीका देख कर उस गँवारिन की आत्मा भी रो उठती है। वह उनकी ओर से लड़ती है और जेल जाती है। जेल में सुखदा के यह पूछने पर कि क्या उसके इलाके के लोग सख्ती से दब जाएँगे, मुन्नी अपने इलाके की हालत का वर्णन इन शब्दों में करती है, "मेरे सामने तो लोग यही कहते थे कि चाहे फाँसी पर चढ़ जाएँ, पर आधे से बेसी लगान न देंगे, लेकिन अपने दिल से सोचो, जब बैल बधिए छीने जाने लगेंगे, सिपाही घरों में घुसेंगे, मरदों पर डण्डों और गोलियों की मार पड़ेगी, तो आदमी कहाँ तक सहेगा। न जाने भगवान कहाँ सोए हैं कि इतना अन्याय देखते हैं और नहीं बोलते। साल में छः महीने एक जून खा कर बेचारे दिन काटते हैं, चीथड़े पहनते हैं, लेकिन सरकार को देखो, तो उन्हीं की गर्दन पर सवार। हाकिमों को तो अपने लिए बँगला चाहिए, मोटर चाहिए, हमानियामत खाने को चाहिए, सैर तमाशा चाहिए, पर गरीबों का इतना सुख भी नहीं देखा जाता। जिसे देखो, गरीबों ही का रक्त चूसने को तैयार है। हम जमा करने को नहीं माँगते, न हमें भोग विलास की इच्छा है, लेकिन पेट को रोटी और तन ढाँकने को कपड़ा तो चाहिए। साल भर खाने पहनने को छोड़ दो, गृहस्थी का जो कुछ खरच पड़े, वह दे दो। बाकी जितना बचे, उठा ले जाओ। मुदा गरीबों की कौन सुनता है।"[१]

'कर्मभूमि' उपन्यास की एक एक पात्री देश प्रेम की पवित्र भावना से पूर्ण है। सुखदा और नैना अछूतोद्धार और सेवा-वृत्ति के लिए अपने घर वालों का विरोध सहती हैं। अछूतों द्वारा मन्दिर प्रवेश का सत्याग्रह हो रहा है और उन पर गालियाँ चल रही हैं। सुखदा को मालूम है कि यह सब उसके ससुर का काम है, किन्तु वह नैना से कहती है, "जिस धर्म की रक्षा गोलियों से हो, उस धर्म में सत्य का लोप समझो।" वह अपने दरवाजे से देख रही है कि लोगों ने कायरता से अपने घरों के दरवाजे बन्द कर लिए हैं और गोली खा कर अछूतों के पैर उखड़ रहे हैं। वह उन्माद की दशा में घर से निकलती है और पुलिस के सामने खड़ी हो कर, भागनेवालों को ललकारती हुई कहती है, "भाइयो, क्या भाग रहे हो? यह भागने का समय नहीं, छाती खोल कर खड़े होने का समय है। दिखा दो कि तुम धर्म के नाम पर किस तरह प्राणों को होम करते हो। धर्मवीर ही ईश्वर का पाते हैं। भागने वालों की कभी विजय नहीं होती।"[२] परिणामस्वरूप मन्दिर का द्वार खुल कर रहता है।

सुखदा शराबबन्दी आन्दोलन को भी गति देती है। शराब और विदेशी कपड़ों की दूकानों पर धरना देने के लिए गाँधीजी ने स्त्रियों को ही चुना था, क्योंकि उनमें पुरुषों से अधिक साहस और आत्मत्याग होता है।[३] शराबबन्दी आन्दोलन के सम्बन्ध

१ कर्मभूमि, पृष्ठ ३२९
२ कर्मभूमि पृष्ठ ३०९ ३१०
३ सीतारमय्या, कांग्रेस का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३६३

में सुखदा के अनुभव महत्त्वपूर्ण हैं। वह नैना से कहती है, "बीबी, अब तो इस घर मे रहने को जी नहीं चाहता। लोग कहते होंगे, आप तो महल में रहती हैं और हमें उपदेश करती हैं। महीनों दौड़ते हो गए, सब कुछ करके हार गई; पर नशेबाजों पर कुछ भी असर नहीं हुआ। हमारी बातों पर कोई कान ही नहीं देता। अधिकतर तो लोग अपनी मुसीबतों को भूल जाने ही के लिए नशा करते हैं। वह हमारी क्यों सुनने लगे। हमारा असर तभी होगा, जब हम भी उन्हीं की तरह रहें।"[1] यही कारण है कि वह अपनी सुधार योजना में गरीबों के लिए मकानों की समस्या भी शामिल कर लेती है। वह इसके लिए म्युनिसि-पैलिटी से जमीन माँगती है। उसका कहना है, जब मिलों के लिए, स्कूलों और कॉलेजों के लिए, जमीन का प्रबन्ध हो सकता है, तो गरीबों के मकान के लिए क्यों न म्युनिसिपैलिटी मुफ्त जमीन दे। किन्तु, म्युनिसिपैलिटी उसकी आरजू मिन्नत नहीं सुनती। शहर के सभी प्लाट उसके सदस्यों के बीवी बच्चों के नाम से खरीदे जा चुके हैं। सुखदा अब अधिक नहीं रुकना चाहती, वह हड़ताल के लिए मेहतरों, धोबियों, चमारों, खटिकों, कहारों, इक्के-गाड़ीवालों और ग्वालों—को तैयार करना चाहती है। इधर हड़ताल होती है और उधर उसकी गिरफ्तारी का वारण्ट निकलता है। सुखदा अपने ससुर (लाला समरकान्त) से कहती है, "जिस समाज का आधार ही अन्याय पर हो, उसकी सरकार के पास दमन के सिवा और क्या दवा हो सकती है, लेकिन इससे कोई यह न समझे कि यह आन्दोलन दब जाएगा, उसी तरह जैसे कोई गेंद टक्कर खा कर और जोर से उछलता है। जितने जोर की टक्कर होगी, उतने ही जोर की प्रतिक्रिया भी होगी। मुझे गिरफ्तार कर लें। उन लाखों गरीबों को कहाँ ले जाएँगे, जिनकी आहें आसमान तक पहुँच रही हैं? यही आहें एक दिन ज्वालामुखी की भाँति फट कर सारे समाज और समाज के साथ सरकार को भी विध्वंस कर देंगी ..।"[2]

वह लाला समरकान्त द्वारा जमानत देने की बात सुनना भी नहीं चाहती और त्योरियाँ बदल कर कहती है, "नहीं, कदापि नहीं। मैं क्यों जमानत दूँ? क्या इसलिए कि अब मैं कभी जबान न खोलूँगी, अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लूँगी, अपने मुँह पर जाली लगा लूँगी। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि अपनी आँखें फोड़ लूँ, जबान कटवा दूँ।"[3]

'कर्मभूमि' उपन्यास की बूढ़ी पठानिन, रेणुका देवी, नैना और सकीना भी उल्लेख-नीय हैं। सुखदा के चलाए हुए आन्दोलन को बूढ़ी पठानिन और रेणुका देवी गति देती हैं और वे भी गिरफ्तार होती हैं। नैना अपने प्राणों की बलि दे कर इस आन्दोलन को अन्त में सफल करती है। नैना को स्वयं उसका पति उस समय गोली मार देता है, जब वह हड़तालियों के जुलूस का नेतृत्व कर रही होती है– 'नैना ने झण्डा उठा लिया और म्युनिसिपैलिटी के दफ्तर की ओर चली। उसके पीछे बीस पचीस हजार आदमियों का एक सागर-सा उमड़ता हुआ चला। और यह दल मेलों की भीड़ की तरह अशृंखल नहीं,

१ कर्मभूमि, पृष्ठ २१४
२. कर्मभूमि, पृष्ठ २६१
३. कर्मभूमि, पृष्ठ २६१

फौज की कतारों की तरह शृंखलाबद्ध था। आठ-आठ आदमियों की असंख्य पंक्तियाँ गम्भीर भाव से, एक विचार, एक उद्देश्य, एक धारणा की आन्तरिक शक्ति का अनुभव करती हुई चली जा रही थी . तब नैना ने यह गीत शुरू कर दिया, जो इस समय बच्चे-बच्चे की जबान पर था—

"हम भी मानव तन धारी हैं······"

कई हजार गलों का सयुक्त, सजीव और व्यापक स्वर गगन में गूँज उठा—

"हम भी मानव तन धारी हैं।"

नैना ने उस पद की पूर्ति की –

"क्यों हमका नीच समझते हो ?"

कई हजार गलों ने साथ दिया—

"क्यों हमको नीच समझते हो ?"

नैना—"क्यों अपने सच्चे दासों पर ?"

जनता—"क्यों अपने सच्चे दासों पर ?"

नैना—"इतना अन्याय बरतते हो।"[1]

मनीराम नैना को गाली मार देता है। इसका वर्णन इन शब्दों में है—'शायद मिस्टर मनीराम गुस्से में भरे हुए जुलूस के सामने आए और अपनी बीवी को वहाँ से हट जाने को कहा। लेडी ने इनकार किया। इस पर कुछ कहा-सुनी हुई। मिस्टर मनीराम के हाथ में पिस्तौल था। फौरन शूट कर दिया। अगर वह भाग न जाएँ, तो धज्जियाँ उड़ जाएँ। जुलूस अपने लीडर की लाश उठाए फिर म्युनिसिपल बोर्ड की तरफ आ रहा है।'[2]

सकीना भी दूर गाँव में जा कर अमर, मुन्नी, सलीम और स्वामी आत्मानन्द के द्वारा आगे बढाए हुए करबन्दी-आन्दोलन का नेतृत्व करती है और इस अपराध में जेल भेज दी जाती है।

प्रेमचन्द ने उन नारियों का भी चित्रण किया है, जिनके पति नौकरशाही के भक्त अथवा प्रशासन में उच्च पदाधिकारी थे, किन्तु जो स्वय देशभक्त थीं और इस कारण अपने को द्विधा में पाती थीं। ये अपने पतियों को प्रेम और धिक्कार से और अन्त में आज्ञोल्लघन करके भी अपने पथ का पथिक बनाती थी। काँग्रेस के इतिहास में भी ऐसा वर्णन आया है। जब 'कोई दूकानदार अपने माल पर मुहर न लगवाता था, तो उसी की स्त्री धरना देने के लिए आ बैठती।'[3]

'पत्नी से पति' कहानी की नायिका (गोदावरी) को सभी विदेशी वस्तुओं से घृणा है और उसके पति (सेठ दीनानाथ) को सभी भारतीय वस्तुओं से चिढ़। वह सरकारी कर्मचारी है। पहले तो गोदावरी धैर्य और विनय के साथ पति की बातों को मानती है और विलायती वस्तुओं का व्यवहार करती है, किन्तु एक दिन जब उसके मकान के सामने काँग्रेस

१. कर्मभूमि, पृष्ठ ३७९-३८०
२. कर्मभूमि, पृष्ठ ३८१-३८२
३. सीतारमय्या, काँग्रेस का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४१३

द्वारा विलायती कपड़ों की होली जलाने की तैयारियाँ होने लगती हैं, वह अपनी पराधीनता पर झुँझला उठती है। फिर भी पति की अप्रसन्नता का खयाल करके चुप हो रहती है। किन्तु, जब उसके पति इस कार्य को 'सिरफिरों' का काम कहते हैं, तो वह उबल पड़ती है और तीक्ष्ण शब्दों में पति का तिरस्कार किए बिना नहीं रह पाती, "तुम्हें अपने भाइयों का जरा भी खयाल नहीं आता? भारत के सिवा और भी कोई देश है, जिस पर किसी दूसरी जाति का शासन हो? छोटे छोटे राष्ट्र भी किसी दूसरी जाति के गुलाम बन कर नहीं रहना चाहते। क्या एक हिन्दुस्तानी के लिए यह लज्जा की बात नहीं है कि वह अपने थोड़े से फायदे के लिए सरकार का साथ दे कर अपने ही भाइयों के साथ अन्याय करे?"[१]

आज से गोदावरी पति की प्रसन्नता की परवाह करना छोड़ देती है और कांग्रेस के जलसों में भाग लेती है। दफ्तर में साहब से जवाब तलब किए जाने पर दीनानाथ इस्तीफा देकर चला आता है। गोदावरी यह सब सुनती है, तो पति से पूछती है, "इस्तीफा देने की क्या जल्दी थी?"

सेठ, "और क्या सिर के बाल नुचवाता? तुम्हारा यही हाल है तो आज नहीं, कल अलग होना ही पड़ता।"

गोदावरी "खैर, जो हुआ, अच्छा ही हुआ। आज से तुम भी कांग्रेस में शरीक हो जाओ।"

सेठ ने ओठ चबा कर कहा, "लजाओगी तो नहीं, ऊपर से घाव पर नमक छिड़कती हो।"

गोदावरी, "लजाऊँ क्या, मैं तो खुश हूँ कि तुम्हारी बेड़ियाँ कट गई।"

सेठ, "आखिर कुछ सोचा है, काम कैसे चलेगा?"

गोदावरी, "सब सोच लिया है, मैं चला कर दिखा दूँगी। हाँ, मैं जो कुछ कहूँ, वह तुम किए जाना। अब तक मैं तुम्हारे इशारे पर चलती थी, अब से तुम मेरे इशारे पर चलना। मैं तुमसे किसी बात की शिकायत न करती थी, तुम जो कुछ खिलाते थे, खाती थी, जो कुछ पहनाते थे, पहनती थी। महल में रखते, महल में रहती। झोपड़ी में रखते, झोपड़ी में रहती। उसी तरह तुम भी रहना। जो काम करने को कहूँ, वह करना। फिर देखूँ, कैसे काम नहीं चलता। बड़प्पन सूट-बूट और ठाठ बाट में नहीं है। जिसकी आत्मा पवित्र हो, वही ऊँचा है। आज तक तुम मेरे पति थे, आज से मैं तुम्हारी पति हूँ।"

सेठजी उसकी ओर स्नेह की आँखों से देख कर हँस पड़े।[२]

इसी प्रकार 'जुलूस' कहानी की मिट्ठन बाई का पति (बीरबल सिंह) दारोगा है। वह 'पूर्ण स्वराज्य' का नारा लगाने वाले एक जुलूस को आगे जाने से रोकने के लिए उसके नेता पर अपना बेटन चलाता है और घोड़ा दौड़ा देता है। नेता घायल हो जाता है। मिट्ठन अपने पति को आड़े हाथों लेती है, "तुम कम से कम इतना तो कर ही सकते थे कि उन पर डण्डे न चलाने देते। तुम्हारा काम आदमियों पर डण्डे चलाना है? तुम ज्यादा से

१. मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ १८

२. मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ २८-२९

ज्यादा उन्हें रोक सकते थे। कल का तुम्हें अपराधियों को बेंत लगाने का काम दिया जाए, तो शायद तुम्हें बड़ा आनन्द आएगा, क्यों? क्या तुम समझते हो, उस दल में कोई भला आदमी न था? उसमें कितने आदमी ऐसे थे, जो तुम्हारे जैसों को नौकर रख सकते हैं। विद्या में तो शायद अधिकांश तुमसे बढ़े हुए होंगे, मगर तुम उन पर डण्डे चला रहे थे और उन्हें घोड़े से कुचल रहे थे, वाह री जवाँमर्दी।.. शायद तुम्हें जल्दी तरक्की भी मिल जाए, मगर बेगुनाहों के खून से हाथ रँग कर तरक्की पाई, तो क्या पाई। यह तुम्हारी कारगुजारी का इनाम नहीं, तुम्हारे देशद्रोह की कीमत है। तुम्हारी कारगुजारी का इनाम तो तब मिलेगा, जब तुम किसी खूनी को खोज निकालोगे, किसी डूबते हुए को बचा लोगे।"[१]

जुलूस के नेता की मृत्यु हो जाती है और जनता उस शहीद का जुलूस निकालती है। बीरबल सिंह को पुनः जुलूस के साथ रहने का हुक्म मिलता है। इस बार मिट्ठन भी जुलूस में है, स्त्रियों के साथ, सबसे आगे। मिट्ठन और बीरबल सिंह की आँखें मिलती हैं, किन्तु मिट्ठन तुरन्त आँखें फेर लेती है। इस समय की उसकी एक चितवन में कुछ ऐसा धिक्कार, कुछ ऐसी लज्जा, कुछ ऐसी व्यथा भरी होती है कि बीरबल सिंह की देह में सर से पाँव तक सनसनी सी दौड़ जाती है। वह अपने को हलका, तुच्छ और दुर्बल पाता है। जुलूस की अन्य औरतें भी बीरबल सिंह पर व्यंग्य करती हैं।

जुलूस से लौटते समय मिट्ठन बाई एक पार्क में ठिठक जाती है, उसे घर जाने की इच्छा नहीं होती। 'वह जीर्ण, आहत, रक्तरंजित शव, मानों उसके अन्तस्तल में बैठा उसे धिक्कार रहा था। पति से उसका मन इतना विरक्त हो गया था कि अब उसे धिक्कारने की भी उसकी इच्छा न थी। ऐसे स्वार्थी मनुष्य पर भय के सिवा और किसी चीज का असर हो सकता है, इसका उसे विश्वास ही न था।'[२] और, वह स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का दृढ़ संकल्प कर लेती है। सहसा उसे मृत नेता की शोकातुर पत्नी की याद आती है और वह उन्हें सान्त्वना देने उनके घर जाती है। वहाँ वह आश्चर्य से देखती है कि बीरबल सिंह पहले से ही पहुँच कर उनसे क्षमा प्रार्थना कर रहे हैं। मिट्ठन बाई का सारा क्लेश तत्क्षण दूर हो जाता है।

उस युग में स्वराज्य की माँग ने ग्रामीण नारियों और पुरुषों के हृदय में भी नवजीवन का मन्त्र फूँक दिया था। उन्हें विश्वास हो गया था कि अब उनकी पीड़ा का शीघ्र अन्त होगा, गाँधीजी उनके उद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं। गाँवों में यदि कोई सत्याग्रही जत्था पहुँच जाता था, तो उनका सोया हुआ आत्मसम्मान जाग उठता, वृद्धों और वृद्धाओं के रक्त में भी जोश की गर्मी आ जाती। 'समर-यात्रा' कहानी में एक ऐसे ही गाँव की कथा है। सत्याग्रहियों को देख कर इस कहानी की पचहत्तर साल की बुढ़िया (नोहरी) नाचने लगती है, उसका बुढ़ापा भाग जाता है, उसमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वह पकड़-धकड़ के लिए आए हुए दारोगा को भी फटकारती है, "जानते हो, यह लोग जो यहाँ

१. मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ ५४
२. मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ ५९

आए हैं, कौन हैं? यह वह लोग हैं, जो हम गरीबों के लिए अपनी जान तक होमने को तैयार हैं। तुम उन्हें बदमाश कहते हो। तुम जो घूस के रुपए खाते हो, जुआ खेलाते हो, चोरियाँ करवाते हो, डाके डलवाते हो, भले आदमियों को फँसा कर मुट्ठियाँ गरम करते हो और अपने देवताओं की जूतियों पर नाक रगड़ते हो, तुम उन्हें बदमाश कहते हो?"[1]

नोहरी गाँववालों को भी समझाती है, उन्हें स्वयंसेवकों की सेना में भरती हो जाने को ललकारती है और स्वयं भी सत्याग्रहियों के साथ जाती है, "मैं तो बूढ़ी औरत हूँ, लेकिन और कुछ न कर सकूँगी, तो जहाँ यह लोग सोएँगे, वहाँ झाड़ू तो लगा दूँगी, इन्हें पंखा तो झलूँगी।"[2] और, जब वह जत्थे के साथ जाती है, 'नोहरी के पाँव जमीन पर नहीं पड़ते थे, मानों विमान पर बैठी हुई स्वर्ग जा रही हो।"

इन स्वयंसेवकों के प्रति नारियों के हृदय में अगाध श्रद्धा है। वे उनका आदर देश को स्वतन्त्र करनेवाली सेना के समान करती हैं। 'अनुभव' कहानी में कुछ स्वयंसेवकों को जेठ की तपती दुपहरी में शरबत पिलाने के अपराध में, एक युवक को एक वर्ष की सजा हो जाती है और उसकी पत्नी अकेली एवं निराधार हो जाती है। उसके पिता और ससुर, जो सरकारी नौकर हैं, भय से मुँह छिपा लेते हैं। उस युवक का मित्र (ज्ञानचन्द) जो एक स्कूल में शिक्षक है, तीसरे दिन अपनी पत्नी (देवी) के साथ, जो वस्तुतः उसकी पथ प्रदर्शिका है, आ पहुँचता है और उसी क्षण उस महिला को अपने घर ले जाता है। इस अपराध में उसकी नौकरी छूटने पर होती है, तो उसकी पत्नी उसे इस्तीफा देने को कहती है। बेचारी निस्सहाय स्त्री लज्जा से कटी जाती है—बाप और ससुर जिसका मुँह नहीं देखना चाहते, उसका यह आदर! अन्त में वह अपने हृदय की बात देवी से कह देती है। देवी का उत्तर एक देशभक्त नारी के मनोभावों का उत्तम उदाहरण है, "अच्छा, बता तेरे प्रियतम क्यों जेल गए? इसीलिए तो कि स्वयंसेवकों का सत्कार किया था। स्वयंसेवक कौन हैं? यह हमारी सेना के वीर हैं, जो हमारी लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं। स्वयंसेवकों के भी तो बाल-बच्चे होंगे, माँ-बाप होंगे, वह भी तो कोई कारबार करते होंगे, पर देश की लड़ाई के लिए उन्होंने सब कुछ त्याग दिया है। ऐसे वीरों का सत्कार करने के लिए, जो आदमी जेल में डाल दिया जाए, उसकी स्त्री के दर्शनों से भी आत्मा पवित्र होती है। मैं तुझ पर एहसान नहीं कर रही हूँ, तू मुझ पर एहसान कर रही है।"[4]

'तावान' कहानी की अम्मा भी ऐसी ही देशभक्त नारी है। वह बीमार है, बच्चों के खाने का ठिकाना नहीं है, पति (छकौड़ी) ने अपने विदेशी कपड़ों पर काँग्रेस की मुहर लगा ली है और रुपए नहीं हैं कि देशी माल खरीद कर बेचे। अम्मा अपने निश्चय पर दृढ़ है कि डाक्टर नहीं बुलाएगी। कौन दवा बिना मरी जाती है और मर ही जाएगी, तो क्या होगा? जी कर ही कौन उपकार कर रही है? देश को स्वराज्य मिले, लोग सुखी हों।

१. मानसरोवर, भाग ७ पृष्ठ ७७
२ मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ ७६
३. मानसरोवर, भाग ७, पृष्ठ ७९
४. मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २६५

हजारों आदमी जेल जा रहे हैं, कितने घर तबाह हो रहे हैं, तो क्या उसी की जान सबसे ज्यादा प्यारी है ? किन्तु, छक्कौड़ी कितना भी है तो पति और पिता भी है, दवा के अभाव में स्त्री को मरने देना नहीं चाहता, न बच्चों को भूखे रोते देख सकता है। एक दिन वह चुपके से मुहर तोड डालता है, किन्तु पिकेटिंग करने वाले शीघ्र ही आ पहुँचते हैं और दूसरे दिन बॉयकाट कमिटी उसे एक सौ एक रुपए का दण्ड भी लगा देती है। छक्कौड़ी दूकान बन्द कर देता है क्योंकि उसमें दण्ड भरने की शक्ति नहीं है और घर पर औने पौने मूल्य में कपड़े बेचने लगता है, किन्तु वहा भी स्यापा बैठ जाता है। दो दिन तक घर में चूल्हा नहीं जलता। रागिणी अम्मा यह सब देख कर छक्कौड़ी को काँग्रेस दफ्तर में भेजती है कि वह कोई राह बतावे, आखिर वे खाएँ क्या ? और नहीं तो पच्चीस रुपए माहवार का ही प्रबन्ध कर दे। काँग्रेस के प्रधान इस सम्बन्ध में अपनी विवशता बताते हैं, इतने बड़े आन्दोलन में न जाने कितने घर तबाह हो रहे हैं और होंगे। तावान भी नहीं माफ किया जा सकता क्योंकि तब मोटे मोटे व्यापारी भी मुहर तोड़ेंगे और तावान लगाने पर माफी माँगेंगे। अम्मा के दिल में प्रधान की बातें बैठ जाती हैं और वह तावान अदा करने के लिए घर रेहन रख देने को कहती है। अपने और परिवार के भविष्य के विषय में उसका निश्चय दृढ़ है ही, "मेरी दवा दारू की चिन्ता न करो। ईश्वर की जो इच्छा होगी, वह होगा। बाल बच्चे भूखों मरते हैं, मरने दो। देश में करोड़ों आदमी ऐसे हैं, जिनकी दशा हमारी दशा से भी खराब है। हम न रहेंगे, देश तो सुखी होगा।"[१]

कोई कोई स्त्री अपने पति से भी पहले स्वाधीनता का अर्थ समझ लेती थी और उसमें भाग देती थी। 'होली का उपहार' कहानी का अमरकान्त होली के अवसर पर पहली बार ससुराल जा रहा है, शहर की ही बात है। मित्रों ने सलाह दी कि वह अपनी पत्नी के लिए कोई अच्छा उपहार ले ले। अमरकान्त एक रेशमी साडी लेने के लिए विदेशी कपड़ों की एक दूकान पर पहुँचा, किन्तु वहाँ पिकेटिंग हो रही थी। तब वह उसके पीछे के द्वार से जा कर एक सुन्दर रेशमी साड़ी खरीदता है, किन्तु स्वयंसेवकों की दृष्टि से वह नहीं बच पाता, वे सत्याग्रह करते हैं। तमाशाइयों की भीड़ लग जाती है। कुछ देर लोग टीका टिप्पणी करते हैं, फिर छीन झपट। अमरकान्त के माथे की टोपी उड़ जाती है और साडी भी गायब हो जाती है। अमरकान्त बिगड़ कर कहता है, 'मैं जा कर पुलिस में रिपोर्ट करता हूँ।"

इधर अमरकान्त की तो यह दशा है और उधर उसकी पत्नी (सुखदा) स्वतन्त्रता संग्राम में कूद चुकी थी। संयोगवश खादी की साडी पहने वह उधर से ही आ निकली, किन्तु दोनों एक दूसरे को भली भाँति पहचानते न थे। सुखदा ने स्वयंसेवकों को डाँटा कि वे क्यों एक भले आदमी को तंग कर रहे हैं और साड़ी भी दिला दी। अमरकान्त ने युवती (सुखदा) को धन्यवाद देते हुए कहा, "आप इस समय न आ गई होतीं, तो इन लोगों ने धोती तो गायब कर ही दी थी, शायद मेरी खबर भी लेते।"

१ मानसरोवर, भाग १, पृष्ठ २९५

युवती ने सरल भर्त्सना के भाव से कहा, "जन सम्मति का लिहाज सभी को करना पड़ता है, मगर आपने इस दूकान से कपड़े लिए ही क्यों ? जब आप देख रहे हैं कि वहाँ हमारे ऊपर कितना अत्याचार हो रहा है, फिर भी आपने न माना। जो लोग समझ कर भी नहीं समझते, उन्हें कैसे कोई समझावे।"[1]

बातों में ही दोनों का एक दूसरे का परिचय मालूम हुआ और अमरकान्त ने उसी समय वह रेशमी साड़ी जला दी। सुखदा ने पूछा, "आप कल आवेंगे ?" अमरकान्त ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा, "नहीं सुखदा, जब तक इसका प्रायश्चित्त न कर लूँगा, न आऊँगा।"[2] और, वह उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना तेजी से चला गया।

होली के दिन उसी दूकान पर अन्य स्वयंसेवकों के साथ अमरकान्त पिकेटिंग करता है, जहाँ से उसने रेशमी साड़ी खरीदी थी। पिकेटिंग करते हुए वह पकड़ लिया जाता है, बन्दियों में वह सबसे आगे था। आँखों में अश्रुकण भरे सुखदा, पति को पुष्पहार पहनाती है और दूकान पर खड़ी हो कर कहती है, "विलायती कपड़े खरीदना और पहनना देशद्रोह है।"

उपर्युक्त सभी विवरणों से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के इच्छुक स्त्री पुरुष विदेशी सरकार द्वारा अपने ऊपर किए गए अत्याचारों से तंग आ गए थे और वे गरीबी तथा अमीरी, ऊँच एवं नीच का भेद-भाव मिटा देना चाहते थे। यों तो कोई आन्दोलन बिना शिक्षित वर्ग के सहयोग के सफल नहीं हो सकता, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अमीरों की धन-लिप्सा और शिक्षितों की स्वार्थ वृत्ति के कारण ही भारत इतने दिनों से अँगरेजों की गुलामी कर रहा था। कितने पढ़े-लिखे भाई तो मजदूरों, काश्तकारों और अछूतों की इस उन्नति से मन ही मन जलते थे; क्योंकि इससे जमींदार, वकील और व्यापारी मारे जाते थे। किन्तु, समझदारों के लिए यह स्थिति असह्य थी। बहुतेरी नारियाँ भी अमीरों और स्वार्थान्धों की इस मनोवृत्ति को समझती थीं और स्वराज्य का एक सही नक्शा अपने दिमाग में रखती थीं। 'आहुति' कहानी में एक कॉलेज छात्रा (रूपमणि) का अपने सहपाठी (आनन्द) से जो वाद-विवाद होता है, उसमें इन दो विरोधी तत्त्वों का प्रेमचन्द ने अच्छा स्पष्टीकरण किया है और उससे यह भी ज्ञात होता है कि उनकी सहानुभूति किधर थी—

आनन्द ने कड़वेपन से कहा, "यही तो स्वराज्य का मजा है कि जमींदार, वकील और व्यापारी सब मरें। बस, केवल मजदूर और किसान रह जाएँ।"

रूपमणि ने भी जैसे आस्तीन चढ़ाते हुए कहा, "तो तुम क्या चाहते हो कि जमींदार और वकील और व्यापारी गरीबों को चूस-चूस कर मोटे होते चले जाएँ और जिन सामाजिक व्यवस्थाओं में ऐसा महान अन्याय हो रहा है, उनके खिलाफ जबान तक न खोली जाए ? तुम तो समाज-शास्त्र के पण्डित हो। क्या किसी अर्थ में भी यह व्यवस्था आदर्श कही जा सकती है ? . "

आनन्द ने गर्म हो कर कहा, "शिक्षा और सम्पत्ति का प्रभुत्व हमेशा रहा है और हमेशा रहेगा। हाँ, उसका रूप भले ही बदल जाए।"

---

१. 'कफन' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ १७३
२ 'कफन' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ १७४

रूपमणि ने जैसे भविष्यवाणी करते हुए कहा, "अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढा लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अँगरेजी महाजनों की धनलोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही आज हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिए हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढाएगी कि वे विदेशी नही, स्वदेशी हैं? कम से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जान की जगह गोविन्द बैठ जाएँ। मैं समाज की ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूँ, जहाँ कम से-कम विषमता को आश्रय मिल सके।"[1]

इस प्रकार प्रेमचन्द द्वारा चित्रित नारी चरित्रों में वीरता, साहस, आत्मगौरव, न्याय भाव, देशभक्ति, स्वाधीनता आदि वीरोचित गुणों का विलक्षण समन्वय है। गाँधीजी के आह्वान पर भारतीय स्वाधीनता संग्राम में हजारों की संख्या में, सभी स्तर और वर्ग की नारियों ने भाग लिया। गाँधीजी ने शराब और विदेशी कपडों की दूकानों पर धरना देने के लिए नारियों को ही चुना था, क्योंकि उनमें पुरुषों से अधिक साहस और आत्मत्याग होता है। नारियाँ देश और समाज की वास्तविक स्थिति से परिचित हैं और समझती हैं कि मजदूरों, काश्तकारों और गरीबों की अवस्था में स्वराज्य मिलने के बाद भी सुधार नहीं होगा, तो वह वास्तविक स्वराज्य न होगा।

●

---

१ 'कफन' और शेष रचनाएँ, पृष्ठ १६२ १६३

: ११ :

नारी और शिक्षा

प्रेमचन्द के जीवन काल में भारतीय नारियों में पाश्चात्य प्रणाली की आधुनिक शिक्षा का पर्याप्त प्रचार हो गया था और वे प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्कूलों और कालेजों में जाने लगी थी। पर, यह स्थिति प्राय: शिक्षित समाज के समृद्ध वर्ग तक ही सीमित थी। जनसाधारण के पास इसके लिए न तो पर्याप्त साधन थे, न विशेष रुचि ही थी। समृद्ध आभिजात्य वर्ग में भी आधुनिक शिक्षा की लोकप्रियता के सामाजिक कारण थे। आधुनिक शिक्षाप्राप्त लड़कियों के विवाह में कठिनाइयाँ कम होती थी, इसलिए माता पिता विवश हो कर उन्हें पढ़ाते थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाली कुछ नारियों का उद्देश्य आर्थिक स्वावलम्बन भी होता था। सन् १९३६ ई० तक उच्च शिक्षाप्राप्त एवं विशेषज्ञ नारियों की संख्या पर्याप्त हो चुकी थी। बहुसंख्यक नारियाँ स्कूलों और कॉलेजों में अध्यापन करने लगी थी, कुछ डाक्टरी और वकालत भी करने लग गई थी और प्राय: प्रत्येक वर्ष उच्चतर शिक्षा के लिए कुछेक विदेश भी जाने लगी थीं।

आधुनिक नारी शिक्षा का, राष्ट्रवादियों और समाज के शुभचिन्तकों द्वारा, कई दृष्टियों से विरोध किया गया। इस शिक्षा पद्धति की सामान्यत: ये बुराइयाँ मानी जाती थीं—ज्ञान प्राप्ति अथवा चरित्र निर्माण की अपेक्षा परीक्षा में उत्तीर्ण होना अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था, इसमें धार्मिक शिक्षा का अभाव था, फलत: इसका उद्देश्य सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक न हो कर भौतिक था और स्त्रियों तथा पुरुषों की शिक्षा में कोई अन्तर न था।[१] प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा स्त्रियों के भावी जीवन और मनोविज्ञान को ध्यान में रख कर नहीं दी जाती थी। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षाप्राप्त नारियाँ, जिनका क्षेत्र घर ही था, घरेलू और सामाजिक जीवन का व्यावहारिक पक्ष समझने में असमर्थ सिद्ध होती थीं। श्रीमती महादेवी वर्मा ने इसी समय के अपने एक लेख में लिखा है—'जिन्हें प्राथमिक शिक्षा देने का हम गर्व करते हैं, उन बालिकाओं को ऐसे वातावरण में जो उनके मानसिक विकास के लिए अनुपयुक्त है, ऐसे शिक्षकों द्वारा शिक्षा मिलती है, जो उन्हें जीवन के उपयोगी सिद्धान्तों से भी अनभिज्ञ रहने देते हैं। इस अभाव में मनुष्य

१ राष्ट्रवादियों और नारी आन्दोलनकारियों द्वारा कन्याओं को इस प्रकार की शिक्षा देने का प्रबल विरोध हुआ। फलस्वरूप धीरे धीरे उनके पाठ्यक्रम में गृह विज्ञान, स्वास्थ्य रक्षा, शरीर-विज्ञान, हस्त शिल्प, बच्चा का पालन-पोषण, पाक-कला सिलाई-कढ़ाई, रोगी की परिचर्या आदि विषयों का समावेश किया गया, किन्तु यह पाठ्यक्रम भी पुस्तकीय होने और स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर निर्धारित न होने के कारण विशेष उपयोगी नहीं सिद्ध हुआ।

के पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का पगु हो जाना अवश्यम्भावी है। अशिक्षिताओं में मूर्खता के साथ सरलता, नम्रता आदि गुण तो मिल जाते हैं, परन्तु ऐसी साक्षर महिलाओं के हाथ, अपने सारे गुण दे कर अक्षर ज्ञान या दो-चार भले बुरे उपन्यासों के पारायण की शक्ति क अतिरिक्त और कुछ नही आता। .. प्राथमिक शिक्षा की शिथिल, अस्थिर नीव पर जब माध्यमिक शिक्षा का भवन निर्मित होता है, तब उसकी भव्यता भी स्थायित्व से शून्य और उपयोग रहित रहती है। जिन गुणों को ले कर भारतीय स्त्री भारतीय रह सकती है, वे तब तक प्रात कालीन नक्षत्रो की तरह झड चुके होते हैं।"[1]

आधुनिक शिक्षा पद्धति में उच्च शिक्षा का उद्देश्य मुख्यत नौकरी या स्वतन्त्र पेशा होने के कारण उच्च शिक्षाप्राप्त नारियों में वैवाहिक जीवन और गार्हस्थ्य के प्रति उपेक्षा तथा अरुचि की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, स्त्री और पुरुष परस्पर सहयोगी के रूप में नही, प्रतिद्वन्द्वी के रूप में जीवन क्षेत्र में उतरते हैं, पढी लिखी नारियाँ अपनी स्वभावगत कोमलता, सहिष्णुता और वात्सल्य का भूल कर पुरुष की कठोरता, हिंसा एव शासन आदि का अनुकरण करना अपना चरम लक्ष्य समझती हैं। नारियों के लिए उच्च शिक्षा का ध्येय शिक्षित और सम्पत्तिशाली परिवार में विवाह भी है, जहाँ वे बिना किसी श्रम के सम्भ्रान्त जीवन व्यतीत कर सकें।[2] इस प्रकार नारी शिक्षा का सारा दृष्टिकोण गलत कहा जा सकता है।

शिक्षा पर राष्ट्र कल्याण और नारी मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करने वाले सुधारकों की भाँति प्रेमचन्द भी अगरेजी शिक्षा पद्धति से असन्तुष्ट थे। आधुनिक शिक्षा पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता की देन है, जिसमें अर्थ तथा भोग विलास का अन्य सभी वस्तुओं से अधिक महत्त्व दिया जाता है। कॉलेजो और विश्वविद्यालयों की छात्राओं का रग बिरगे कपड़े पहन कर, रग रोगन लगा कर, तितली की भाँति फुदकते फिरना उन्हें एकदम नापसन्द था। इसे व शिक्षा नहीं, शिक्षा की विडम्बना मानते थे। ऐसी लडकियाँ कालेज में सीखेंगी कहाँ तक, वे तो अपने रहे सहे गुणों को भी भूल जाएँगी। उनके माता पिता को भी उनके लिए वर ढूँढने में अधिक कठिनाइयों का सामना करना पडेगा, क्योंकि उनकी महत्त्वाकाक्षाओं के अनुरूप सम्पत्तिशाली परिवार का वर आवश्यक होगा। प्रेमचन्द का कहना है कि इस प्रकार की शिक्षित युवतियों को इतना तो मालूम रहता ही है कि उनका देश कितना गरीब है, कितने लोगों को भरपेट खाना भी नहीं मिलता, और

१ श्रीमती महादेवी वर्मा शृखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ११४ ११६

२ यदि कटु सत्य कहा जाए, तो केवल दो ही प्रकार की महिलाएँ उच्च शिक्षा की ओर अग्रसर होती हैं एक वे जिन्हें पुरुषों के समान स्वतन्त्र जीवन निर्वाह के लिए उपाधि चाहिए और दूसरी वे जिनका ध्येय इसके द्वारा विवाह की तुला पर अपने आपको गुरु बना लेना है। इसके द्वारा वे सुगमता से ऐसा पति पा सकती हैं, जो धन और विद्या के कारण उन्हें सब प्रकार की सामाजिक सुविधाएँ बिना प्रतिदान की इच्छा के दे सकता है और वे आडम्बरपूर्ण सुख का ऐसा जीवन व्यतीत करने को स्वतन्त्र हो जाती हैं, जिस पर कर्त्तव्य की धूमिल छाया और त्याग का भार नहीं पडता।'

श्रीमती महादेवी वर्मा, शृखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ११६

फिर भी इन्हे विलासिता सूझती है। फिर भविष्य में देश की बागडोर इन्ही पढी लिखी स्त्रिया के हाथो में जाएगी, तब ये कौन सा अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करेंगी? सन् १९२३ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के युवक और युवतियो को आपस में हँसी ठट्ठा करते हुए, इधर-उधर घूमते देख कर प्रेमचन्द बहुत ही असन्तुष्ट हुए थे और अपनी पत्नी (शिवरानी देवी) के सामने इसकी कडी आलोचना की थी, "क्या इनको नही मालूम है कि बहुत लोग रोटियो के भी पैसे बचा कर इन्हें पढाते हैं। इन सब को देख कर ऐसा लगता है, मानों राजकुमार और राजकुमारियाँ टहलने निकले है। लडकियों को तो देखो, तितली की तरह फुदक रही हैं। यही की अपनी आदत के अनुसार घर भर को इसी तरह का बनाने की कोशिश करगी। वे यहाँ सीखेंगी तो क्या, रहे सहे माता पिता के गुण ही खो कर जाएँगी। अब इनकी शादी के लिए माता पिता को ज्यादा से ज्यादा कीमत देनी पडेगी, क्योंकि दूसरे के घर जब तक इन्हे उडाने को काफी दौलत न मिलेगी, इनका जीवन दूभर हो जाएगा।"

शिवरानी देवी ने पूछा, "ये ग्रेजुएट हो जाने के बाद क्या कुछ कमा न सकेंगी? और क्या ये बिना शादी के नहीं रह सकेंगी?"

प्रेमचन्द बोले, "जब ये दूसरों के पैसे पानी की तरह बहा रही हैं, तब अपनी कमाई का हिस्सा किसी के लिए ये कब छोड सकेंगी?"[1]

जो शिक्षित युवतियाँ अविवाहित रह कर नौकरी करती हैं, उनके इस प्रकार के जीवन अपनाने के पीछे कैसी स्वार्थपरता और विलासप्रियता छिपी होती है, मर्यादा के बन्धनों और सामाजिक नियमों के प्रति उनमें कितनी उपेक्षा भावना रहती है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। स्त्रियों का भी पुरुषों जैसी ही शिक्षा मिलती है, तो वे भी पुरुषों की भाँति स्वतन्त्र होने के प्रयास में स्वार्थी, विलासी, और स्वच्छन्द हो जाती हैं। पत्नीत्व और मातृत्व को अपनी स्वतन्त्रता में बाधक समझती हैं। वे विवाह को व्यवसाय समझती हैं[2] और उससे मुक्त होने के लिए नैतिक बन्धन तोड कर मुक्त भोग अथवा भौतिक सुख विलास की ओर दौडती हैं। बहुतरी पढी लिखी स्त्रियों को वैवाहिक जीवन में नारी की पराधीनता दिखाई पडती है और वे विवाह करने की अपेक्षा नौकरी करके आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त करना तथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना ज्यादा अच्छा समझती हैं।[3] यदि इसमें लोकोपकार की, समाज के दलित पीडित जनों की सेवा करने की भावना होती,

१ शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ १६६

२ (क) 'गोदान' उपन्यास में कॉलेज में शिक्षित सरोज कहती है, "युवतियाँ अब विवाह को पेशा नहीं बनाना चाहतीं। वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।" गोदान, पृष्ठ २११
(ख) 'मिस पद्मा', मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ ८१

३ प्रेमचन्द न 'गोदान' उपन्यास में जनाना-क्लब' का ऐसा वर्णन किया है—'वहाँ कितनी ही शिक्षित ऊँचे कुल की महिलाएँ आती थीं। उनमें वोट और अधिकार और स्वाधीनता और नारी-जागृति की खूब चर्चा होती थी, जैसे पुरुषों के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र रचा जा रहा हो। अधिकतर वही देवियाँ थीं, जिनकी अपने पुरुषों से न पटती थी, जो नई शिक्षा पाने के कारण पुरानी मर्यादाओं को तोड डालना चाहती थीं। कई युवतियाँ भी थीं, जो डिग्रियाँ ले

ता य श्लाघ्य होतीं। इसके विपरीत मन कुछ केवल अपने लिए हो, स्वार्थ की यह भावना एसी स्त्रियों को पथभ्रष्ट कर देती है।

'विश्वास' कहानी की मिस जोशी उच्च शिक्षाप्राप्त युवती और एक कन्या पाठशाला की शिक्षिका है। किन्तु, उसका व्यक्तिगत जीवन कलुषित और विलासपूर्ण है। वह प्रान्त के गवनर (मिस्टर जौहरी) की प्रयसी है। यह खुला हुआ रहस्य है कि मिस जोशी का प्रसन्न करके कोई भी अपना धन, मान और यश बढा सकता है। वह जन सवक मिस्टर आप्टे के सम्मुख इसके लिए अपनी शिक्षा-दीक्षा का दोषी ठहराती है, 'मेरी उच्च शिक्षा ने गृहिणी जीवन स मरे मन में घृणा पैदा कर दी। मुझे किसी पुरुष क अधीन रहने का विचार अस्वाभाविक जान पडता था। म गृहिणी की जिम्मदारियों और चिन्ताओं को अपनी मानसिक स्वाधीनता के लिए विष तुल्य समझती थी। मैं तर्क बुद्धि से अपने स्त्रीत्व को मिटा देना चाहती थी, मैं पुरुषा की भांति स्वतन्त्र रहना चाहती थी। क्यों किसी की पाबन्द हो कर रहूँ? क्यों अपनी इच्छाओं का किसी व्यक्ति के साँचे में ढालूँ? क्या किसी का यह कहने का अधिकार दूँ कि तुमने यह क्यों किया, वह क्यों किया? दाम्पत्य मेरी निगाह में तुच्छ वस्तु थी।"[1]

'मिस पद्मा' कहानी की पद्मा तो, उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद, मिस जोशी से भी दो कदम आगे बढ जाती है। विवाह को वह पराधीनता ही नहीं, अप्राकृतिक बन्धन भी समझती है और मुक्त भोग के सिद्धान्त में विश्वास रखती है। उसके दजनों प्रमी हैं—'विवाह को उन्होंने (पद्मा ने) एक अप्राकृतिक बन्धन समझा था और निश्चय कर लिया था कि स्वतन्त्र रह कर जीवन का उपभोग करूँगी। एम० ए० की डिग्री ली, फिर कानून पास किया और प्रैक्टिस शुरू कर दी। रूपवती थी, युवती थी, मृदुभाषिणी थी और प्रतिभाशालिनी भी थी। माग में कोई बाधा न थी। देखते देखत वह अपने साथी नवजवान मर्द वकीलों को पीछे छोड कर आगे निकल गई और अब उसकी आमदनी कभी कभी एक हजार से भी ऊपर बढ जाती। उसक प्रेमियों की कमी न थी। अगर उसके पास केवल रूप और यौवन होता, तो भी उपासकों का अभाव न रहता, मगर यहाँ तो रूप और यौवन के साथ धन भी था। फिर रसिक वृन्द क्यों चूक जाते? पद्मा को विलास से घृणा न थी, घृणा थी पराधीनता से, विवाह को जीवन का व्यवसाय बनाने से। जब स्वतन्त्र रह कर भोग विलास का आनन्द उड़ाया जा सकता है, तो फिर क्यों न उड़ाया जाए? भोग में उसे कोई नैतिक बाधा न थी, इस वह केवल देह की एक भूख समझती थी।'[2]

'गोदान' उपन्यास की मालती इंगलैण्ड स डाक्टरी पढ कर लौटती है और डाक्टरी का पेशा करती है, किन्तु उसके जीवन में भी स्वार्थ, भौतिक सुखोपलब्धि और विलासिता

चुकी थीं और विवाहित जीवन को आत्मसम्मान के लिए घातक समझ कर नौकरियों की तलाश में थीं।' गोदान, पृष्ठ ४२२

१ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ११

२ मानसरोवर, भाग २ पृष्ठ ६१ ६२

की प्रधानता है। मालती पर आधुनिक शिक्षा और सभ्यता का कैसा प्रभाव पड़ा है, प्रेमचन्द ने इसका वर्णन थोड़े से व्यंग्यपूर्ण शब्दों में किया है—'आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, पर चपलता कूट-कूट कर भरी हुई। झिझक या सकोच का कहीं नाम नहीं, मेक अप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझनेवाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव; मनोद्‌गारों पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया है।''[1]

मालती के बारे में तो और भी अनेक बातों का उल्लेख किया गया है। वह लखनऊ में डाक्टरी करती है और वहाँ के रसिकों की प्रेरणा है। वह कभी अकेली नहीं रहती, उसे हमेशा रसिकों का जमघट चाहिए। वह कभी उदास और चिन्तित नहीं होती। वह पुरुषों के समाज में चिड़िया की भाँति चहकती है। खन्ना, राय साहब, मिर्जा खुर्शेद, तखा, सम्पादक ओंकारनाथ—सभी उससे हँसी-मजाक करते हैं और मन बहलाते हैं। उसने कितने ही विद्वानों और नेताओं को एक मुस्कान में, एक चितवन में, एक रसीले वाक्य में उल्लू बना कर छोड़ दिया है। वह दर्शन-शास्त्र के विद्वान प्रोफेसर मेहता को बुद्धू बनाती है और वैष्णव ओंकारनाथ को शराब पिलाती है। उसमें केवल बुद्धि-ही-बुद्धि है, हृदय का सर्वथा अभाव है। वह *अपने सौन्दर्य और चातुर्य से ओंकारनाथ को प्रभावित करती हुई*, उनसे शराब पीने के लिए इन शब्दों में अनुरोध करती है, "एक रमणी के हाथों से शराब का प्याला पा कर वह कौन भद्र पुरुष है, जो इनकार कर दे। यह तो नारी-जाति का अपमान होगा, उस नारी जाति का जिसके नयन-बाणों से अपने हृदय को बिंधवाने की लालसा पुरुष मात्र में होती है, जिसकी अदाओं पर मर मिटने के लिए बड़े-बड़े महीप लालायित रहते हैं।"[2] इसके बाद 'मालती ने ओंकारनाथ को अपने हाथों से लाल विष से भरा हुआ ग्लास दिया और उन्हें कुछ ऐसी जादू-भरी चितवन से देखा कि उनकी सारी निष्ठा, सारी वर्ण श्रेष्ठता काफूर हो गई।'[3]

मेहता द्वारा पठान सरदार के वेश में आ कर, रास्ता रोके जाने पर पूरी मित्र-मण्डली घबड़ा जाती है। पठान मिस मालती को बलपूर्वक अपने साथ ले जाना चाहता है. फिर भी उसके किसी प्रेमी के खून में गर्मी नहीं आती। तब मालती का मन पठान के बर्बर प्रेम का आनन्द उठाने के लिए लालायित हो उठता है—'मिस मालती के मनोभाव कुछ और ही थे। *खान के लालसाप्रदीप्त नेत्रों ने उन्हें आश्वस्त कर दिया था* और अब इस काण्ड में उन्हें मनचलेपन का आनन्द आ रहा था। उनका हृदय कुछ देर इन नर-पुंगवों के बीच में रह कर उनके बर्बर प्रेम का आनन्द उठाने के लिए ललचा रहा था। शिष्ट प्रेम की दुर्बलता और निर्जीवता का उन्हें अनुभव हो चुका था। आज अक्खड़, अनघड़ पठानों के

---

१. गोदान, पृष्ठ ७१
२. गोदान, पृष्ठ ८५
३. गोदान, पृष्ठ ८५

उन्मत्त प्रेम के लिए उनका मन दौड़ रहा था, जैसे संगीत का आनन्द उठाने के बाद कोई मस्त हाथियों की लड़ाई देखने के लिए दौड़े।"[1]

पुरुषों के अनुकरण में शिक्षित नारियाँ इतनी सचेष्ट हैं कि वे अपनी स्वाभाविक कोमलता, त्याग और वात्सल्य को भूल कर, पुरुषों की ही भाँति कठोर और हृदय हीन हो जाती हैं। महिला चिकित्सकों के बारे में श्रीमती महादेवी वर्मा लिखती हैं—'हमारी अनेक जाग्रत बहिनें चिकित्सा के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं, परन्तु उनमें से प्राय अधिकाश पुरुष चिकित्सकों की हृदय हीनता सीख सीख कर उसमें इतनी निपुण हो गई हैं कि अब उनके लिए जीवन का कोई मूल्य आँक लेना कठिन ही नहीं, असम्भव सा है। एक डाक्टर महिला ने तो किसी दरिद्र वृद्धा स्त्री की पुत्री को देखने जाना तब तक अस्वीकार किया, जब तक उसने पहले उनकी फीस का प्रबन्ध करके उसे उनके पास जमा न कर दिया। परन्तु, इस प्रबन्ध में इतना समय लग गया कि जब वे पहुँचीं, तब उस वृद्धा की असमय माता बनी हुई पुत्री अपने नवजात शिशु के साथ दूसरे लोक के लिए प्रस्थान कर चुकी थी।'[2]

मिस मालती भी ऐसी ही कठोर और हृदय हीन महिला चिकित्सक है, यद्यपि उपन्यास में उसकी हृदयहीनता के दुष्परिणामों का वर्णन नहीं आया है। वह स्वयं मिस्टर तन्खा से कहती है, "इस नई सभ्यता का आधार धन है, विद्या और सेवा और कुल और जाति सब धन के सामने हेय है। . मैं अपनी ही बात कहती हूँ। कोई गरीब औरत दवाखाने में आ जाती है, तो घण्टों उससे बोलती तक नहीं, पर कोई महिला कार पर आ गई, तो द्वार तक जा कर उनका स्वागत करती हूँ और उनकी ऐसी उपासना करती हूँ, मानो साक्षात् देवी हैं।"[3]

'दो सखियाँ' कहानी की पद्मा यद्यपि आधुनिक शिक्षा पाने के बावजूद विवाह करती है, किन्तु उसकी विलासिता और स्वार्थपरता उसे सुगृहिणी नहीं बनने देती। उसके पति (विनोद) प्रोफेसर हैं और तीन सौ रुपए मासिक वेतन पाते हैं। पद्मा के पिता भी अभी उसे सौ रुपए देते हैं, किन्तु उसकी दो आदमियों की गृहस्थी के लिए इतने रुपए भी पूरे नहीं होते। वह उपन्यास पढ़ने, सिनेमा और थिएटर देखने, घूमने फिरने के लिए तरस कर रह जाती है। उसने पत्नी के कर्त्तव्यों और दायित्वों की शिक्षा नहीं पाई है। वह कभी पति की सेवा नहीं करती, उसे अपनी सहानुभूति और सदाशयता नहीं देती। वह उसकी सहचरी नहीं है। उसका मन बहलाने के लिए सजी हुई गुड़िया बनने में ही वह अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझ लेती है। उसे पति पर विश्वास नहीं है और वह उनके धोखा स्वाँग, कपट लीला, बुरी आर्थिक दशा आदि की शिकायत अपनी सहेली को लिख भेजती है और वह स्वयं इतनी उच्छृखल है कि पति को चिढ़ाने के लिए पर पुरुष से प्रेम करने का स्वाँग रचती है।

---

१ गोदान पृष्ठ ९२-९३

२ श्रीमती महादेवी वर्मा, शृखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ११९

३ गोदान, पृष्ठ १८४

उसे केवल अपने से प्यार है, पति के प्रति वह उदासीन है।[1] और, उसके इन व्यवहारो का परिणाम यह होता है कि प्रोफेसर साहब विष खा लेते हैं। यद्यपि वे बच जाते हैं और पद्मा को अपने पिछले व्यवहारा पर दु ख भी होता है, किन्तु उसके उन व्यवहारो का दायित्व किस पर है? मुख्यत उसकी शिक्षा पर।

ऐसी बात भी नही कि प्रेमचन्द नारियो के लिए शिक्षा को अनावश्यक समझते हो। वे तो भारतीय नारियों की हीन दशा का कारण उनकी अशिक्षा और पुरुषा की तुलना में उनकी अधिकारशून्यता ही मानते हैं तथा उनकी दशा के सुधार के लिए शिक्षा एव पुरुषो के बराबर अधिकार को आवश्यक समझते हैं, "अब सोचना यह है कि कैसे दोनो (स्त्री और पुरुष) को बराबर किया जाए और बदमाशी को कैसे ठीक किया जाए। इसमें जरूरत इस बात की है कि स्त्रियाँ शिक्षित हों और उसके साथ साथ स्त्रिया को वह अधिकार मिल जाएँ, जो सब पुरुषों को मिले हुए हैं।"[2]

इसमें स देह नहीं कि प्रेमचन्द नारी शिक्षा को अनिवार्य मानते हैं। प्रश्न यह है कि वे नारिया के लिए कैसी शिक्षा चाहते हैं? मिस मालती, मिस पद्मा और मिस जोशी का जैसा वर्णन ऊपर आया है, उससे तो यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने आधुनिक शिक्षा का विरोध किया है। किन्तु, ध्यानपूर्वक देखने पर अनुभव होता है कि यह विरोध उस शिक्षा स प्राप्त ज्ञान और विवेक का नही है, बल्कि इनके साथ साथ जो विलासिता और स्वार्थ परता आ जाती है, विरोध उसका है। राजनैतिक दृष्टि से पराधीन और आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछडे हुए भारत के युवकों और युवतिया का अपने देश और समाज की स्थिति भूल कर, अँगरेजों की नकल करना, प्रेमचन्द को उद्विग्न कर देता था। उनके विचार में विलासिता से भारत कभी स्वतन्त्र नही हो सकता था और स्वार्थपरता से वह कभी आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उन्नत नहीं हो सकता था। जो स्वाधीन हैं, सम्पन्न हैं, उनके लिए विलास और स्वच्छन्दता क्षम्य हैं, किन्तु भारतीयो के लिए कदापि नही, जो राज नैतिक और सामाजिक—दुहरी दासता के बन्धन में पडे हुए थे। यही कारण है कि प्रेमचन्द ने पश्चिम के लिए पश्चिम की विलासिता और स्वच्छन्दता को बुरा नही कहा है। इस सम्बन्ध में शिवरानी देवी ने 'प्रेमचन्द घर में' नामक पुस्तक में एक प्रसग का उल्लेख किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के एक जलसे में प्रेमचन्द गल्प सम्मेलन के सभापति थे। शिवरानी देवी भी साथ थीं। दो सभाओं के बीच में डेढ घण्ट का समय था, अत प्रेमचन्द शिवरानी देवी के साथ नहर के पास घूमने लगे। वहाँ कालेज के छात्र और छात्राएँ भी चहलकदमी कर रही थीं। यह दृश्य देख कर प्रेमचन्द बडे ही खिन्न हुए। और, उन्होंने

---

१ बाद में पद्मा विनोद के प्रति अपनी उदासीनता और अपने प्रति अपने मोह को स्वीकार करती है, 'मैं उनसे (पति से) सब कुछ लेना चाहती थी देना कुछ न चाहती थी। मैं चाहती थी कि वह आठों पहर भ्रमर की भाँति मुझ पर मँडराते रहें पतगे की भाँति मुझे घेरे रहें। उन्हें किताबों और पत्रों में मग्न देख कर मुझे झुँझलाहट होने लगती थी। मेरा अधिकाश समय अपने ही बनाव-शृ गार में कटता था उनके विषय में मुझे कुछ चिन्ता ही न होती थी।"
मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २७१

२ शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में पृष्ठ १९२-१९३

शिवरानी देवी स जो कुछ कहा, वह उन्हीं के शब्दों में यहाँ उद्धृत है—'हम दोनों नहर के पास घूमने लगे। वहाँ कई जगह हमने देखा कि युवक और युवतियाँ आपस में हँसी ठट्ठा करते इधर उधर चहलकदमी कर रही हैं। उनको देखने पर यह मालूम होता था कि जैसे अँगरेजों के यहाँ सुनने में आता है, उसी तरह का वातावरण यहाँ भी हो रहा है। आपके चेहरे पर तो जैसे खुशी थी ही नहीं। लटकता हुआ चेहरा देख कर मुझे भी चिन्ता हो आई। बोले, "यह गुलाम देश कब सुधरेगा, समझ में नहीं आता। यहाँ नकल करने की आदत यहाँ तक है कि ये दूसरों की नकल करने में अपने को विद्वान और बुद्धिमान समझते हैं और वह भी पूरी नकल नहीं, अधूरी। खराबियों की नकल तो ये झटपट कर लेते हैं, अच्छाइयों की ओर झाँकत तक नहीं। उनमें निरी बुराइयाँ ही हों, यह बात नहीं है। जो अँगरेज गर्मी में पखे के नीचे दिन काट देता है, वही उस समय भी, जब कि बाहर आग बरसती रहती है, मीलों उत्साह से दौड जाता है। खतरे से खतरे उसके लिए आरामदेह हैं। यह उनके राष्ट्र के लिए बहुत ही जरूरी चीज है। उससे तो हम कोसों भागते जा रहे हैं। इसी सब का कारण है कि हम परतन्त्र हैं।"

मैं बोली, "इस समय आपकी आलोचना से क्या लाभ ?"

आप बोले, 'ऐसे गुलाम देश को विलासिता से क्या महत्त्व ?"

मैं बोली, *"अँगरेजों की तरह रहेंगे, तभी तो आजाद होंगे।"*

आप बोले, "विलासिता आजादी की दुश्मन है।"

मैं बोली, "आखिर अँगरेज भी आरामपसन्द हाते हैं, पर वे क्यों नहीं गुलाम होते ?"

आप बोले, "वे आजाद होने के बाद सुख भोग रहे हैं। आजाद और सुखी होने के पहले तो ये पशु से भी ज्यादा काम करते थे। ये जानते भी नहीं थे कि थकावट, आराम और विलासिता क्या कोई चीज होती है ? तुम्हारे यहाँ भी विलासिता से आजादी कभी नहीं आएगी। आजादी तो मिलती है तपस्या, त्याग और बलिदानों से। तुम्हारे यहाँ तो उसका उलटा हो रहा है और यह जो हो रहा है, वह तुम्हें दिन रात गुलामी की ओर लिए जा रहा है। क्या इनको नहीं मालूम है कि बहुत लोग रोटियों के भी पैसे बचा कर इन्हें पढ़ाते हैं ? इन सबों को देख कर ऐसा लगता है, मानों राजकुमार और राजकुमारियाँ टहलने निकले हैं। कुछ दिनों के बाद तो इन्हीं के हाथों में राष्ट्र की बागडोर होगी। ये सिरफिरे तब भी आफत मचाए रहेंगे। गुस्सा क्यों न आए ? ये आखिर गरीबों पर ही तो मँडराएँगे।"'[१]

राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि के अतिरिक्त स्वयं नारी-कल्याण की दृष्टि से भी प्रेमचन्द ने आधुनिक शिक्षा और उससे उत्पन्न विलासिता, स्वच्छन्दता एवं स्वार्थपरता का विरोध किया है। शिक्षित युवतियों में पाश्चात्य नारियों की भाँति सामाजिक बन्धन, मर्यादा पालन और वैवाहिक जीवन के प्रति उपेक्षा का जो भाव आ जाता है तथा उनमें स्वतन्त्र रूप से आजीविका उपार्जित करने, अविवाहित रहते हुए भोग विलासमय जीवन व्यतीत करने एवं पुरुषों के अनुकरण करने की जो कामना उत्पन्न होती है, उसे वे नारी-

१ *शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में पृष्ठ १६५-१६७*

स्वभाव के प्रतिकूल मानते हैं। पुरुष और नारी में पर्याप्त स्वभाव-भेद है। पुरुष में पशु बल, अधिकार भावना, हिंसा और शासन भाव होते हैं, जब कि नारी में वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, श्रद्धा और त्याग की भावनाएँ होती हैं। समाज की पूर्णता के लिए पशु-बल और कोमलता—दोनों की आवश्यकता है। अतः, समाज की सुव्यवस्था के लिए नारी और पुरुष दोनों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास अपेक्षित है। नारीत्व का पूर्ण विकास पत्नी और माता बन कर ही किया जा सकता है, पुरुषों के साथ जीवन संग्राम में प्रतिद्वन्द्विता करके नहीं। 'गोदान' उपन्यास में मेहता नारी और पुरुष का अन्तर बताते हुए मिर्जा खुर्शेद से कहते हैं, "मेरे जेहन में औरत वफा और त्याग की मूर्ति है जो अपनी बेजबानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिलकुल मिटा कर पति को आत्मा का एक अंश बन जाती है। देह पुरुष की रहती है, पर आत्मा स्त्री की होती है। आप कहेंगे, मर्द अपने को क्यों नहीं मिटाता? औरत ही से क्यों इसकी आशा करता है? मर्द में वह सामर्थ्य ही नहीं है।... वह तेजप्रधान जीव है और अपने अहंकार में यह समझ कर कि वह ज्ञान का पुतला है, सीधा ईश्वर में लीन होने की कल्पना किया करता है। स्त्री पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है, शान्ति-सम्पन्न है, सहिष्णु है।"[1]

'वीमेन्स लीग' में भाषण करते हुए मेहता नारी और पुरुष के स्वभाव भेद को पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि संसार में नारियों का क्षेत्र पुरुषों से बिलकुल अलग है और नारियों का पुरुषों के क्षेत्र में आना उन्हें प्रेम और श्रद्धा का पात्र नहीं बना सकता, "देवियो, जब मैं इस तरह आपको सम्बोधित करता हूँ, तो आपको कोई बात खटकती नहीं। आप इस सम्मान को अपना अधिकार समझती हैं, लेकिन आपने किसी महिला को पुरुषों के प्रति 'देवता' का व्यवहार करते सुना है? उसे आप देवता कहें, तो वह समझेगा, आप उसे बना रही हैं। आपके पास दान देने के लिए दया है, श्रद्धा है, त्याग है। पुरुष के पास दान के लिए क्या है? वह देवता नहीं, लेवता है। वह अधिकार के लिए हिंसा करता है, संग्राम करता है, कलह करता है...इसलिए जब मैं देखता हूँ, हमारी उन्नत विचारों वाली देवियाँ उस दया और श्रद्धा और त्याग के जीवन से असन्तुष्ट हो कर संग्राम और कलह और हिंसा के जीवन की ओर दौड रही हैं और समझ रही हैं कि यही सुख का स्वर्ग है, तो मैं उन्हें बधाई नहीं दे सकता।"[2]

अपने एक लेख (सन् १९३१ ई०) में श्रीमती महादेवी वर्मा लिखती हैं—'नारी का मानसिक विकास पुरुषों के मानसिक विकास से भिन्न परन्तु अधिक द्रुत, स्वभाव अधिक कोमल और प्रेम घृणादि भाव अधिक तीव्र तथा स्थायी होते हैं। इन्हीं विशेषताओं के अनुसार उसका व्यक्तित्व विकास पा कर समाज के उन अभावों की पूर्ति करता रहता है, जिनकी पूर्ति पुरुष-स्वभाव द्वारा सम्भव नहीं। इन दोनों प्रकृतियों में उतना ही अन्तर है, जितना विद्युत और झड़ी में। एक से शक्ति उत्पन्न की जा सकती है, बड़े-बड़े कार्य किए जा सकते हैं, परन्तु प्यास नहीं बुझाई जा सकती। दूसरी से शान्ति मिलती है, परन्तु पशु-

१. गोदान, पृष्ठ १८९
२. गोदान, पृष्ठ २०४-२०५

बल की उत्पत्ति सम्भव नहीं। दोनों के व्यक्तित्व, अपनी पूर्णता में समाज के एक ऐसे रिक्त स्थान को भर देते हैं, जिससे विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों में सामञ्जस्य उत्पन्न हो कर उन्हें पूर्ण कर देता है।''[१] आगे इसी को वे दूसरे शब्दों में कहती हैं—'पुरुष समाज का न्याय है, स्त्री दया, पुरुष प्रतिशोधमय क्रोध है, स्त्री क्षमा, पुरुष शुष्क कर्त्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति और पुरुष बल है, स्त्री हृदय की प्रेरणा। जिस प्रकार युक्ति से काटे हुए काष्ठ के छोटे बड़े विभिन्न आकार वाले खण्डों को जोड़ कर हम अखण्ड चतुष्कोण या वृत्त बना सकते हैं, परन्तु उनकी विभिन्नता नष्ट करके तथा सबको समान आकृति दे कर हम उन्हें किसी पूर्ण वस्तु का आकार नहीं दे सकते, उसी प्रकार स्त्री पुरुष के प्राकृतिक मानसिक वैपरीत्य द्वारा ही हमारा समाज सामञ्जस्यपूर्ण और अखण्ड हो सकता है, उनके बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से नहीं। उससे समाज का दृष्टिकोण एकांगी हो जाएगा तथा जीवन की अनेकरूपता का वास्तविक मूल्य आँकना असम्भव।'[२]

नारी और पुरुष के इस स्वभाव भेद की ओर महात्मा गाँधी ने भी बार बार संकेत किया था और नारियों की शक्तियों का विकास साधारणतः घर में ही माना था तथा उनके तदनुरूप शिक्षा की आवश्यकता बतलाई थी—'स्त्री और पुरुष समान हैं, परन्तु एक का स्थान दूसरा नहीं ले सकता। उनका एक अनुपम जोड़ा है और उनमें से एक दूसरे का पूरक और सहायक है। अतः, एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। . स्त्रियों की शिक्षा के विषय में विचार करते समय इस बात का सदा विशेष ध्यान रखना चाहिए। पुरुष का बाहरी बातों में प्रमुख स्थान है, अतः उसे उनका विशेष ज्ञान होना चाहिए और दूसरी ओर गृह-कार्य स्त्री का क्षेत्र है, अतः उन्हें बाल बच्चों के पालन पोषण, उनकी शिक्षा इत्यादि गार्हस्थ्य सम्बन्धी कार्यों की विशेष शिक्षा मिलनी चाहिए। ..जब तक दोनों की शिक्षा के माध्यम में उपर्युक्त मौलिक सिद्धान्तों का ध्यान न रखा जाएगा, स्त्री और पुरुष के जीवन का पूर्ण विकास असम्भव है।'[३]

महात्मा गाँधी नारियों के आर्थिक स्वावलम्बन के भी विरोधी थे, जो नारी शिक्षा का प्रधान उद्देश्य कहा जा सकता है—'मैं इसे नियम के रूप में नहीं मानता कि पत्नी अपने पति से स्वतन्त्र हो कर अपना कोई धन्धा अपनाएगी। उसके लिए यही काफी है कि वह बच्चों की देख भाल करे और घर सँभाले। सुव्यवस्थित समाज में परिवार चलाने का अतिरिक्त भार उन पर नहीं होना चाहिए। पुरुष का धर्म है कि वह गृहस्थी चलाए और स्त्री घर का प्रबन्ध करे और इस प्रकार दोनों एक दूसरे के कार्य में योग तथा सहायता देते रहेंगे।'[४] गाँधीजी पाश्चात्य नारियों की भाँति भारतीय नारियों का पुरुषों की नकल करना भारतीय आदर्शों के प्रतिकूल मानते थे,. .'भारतमाता को शिक्षित पुत्रियों की आवश्यकता है। उन्हें पाश्चात्य ढंग के अनुकरण की आवश्यकता नहीं, यह वहाँ के लिए उचित है।

१ श्रीमती महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ १०-११
२ श्रीमती महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ १३-१४
३ मो० क० गाँधी, महिलाओं से, पृष्ठ २५
४ मो० क० गाँधी, महिलाओं से, पृष्ठ २२

उन्हें भारतीय वातावरण और भारतीय मेधावियों के अनुरूप ढंग का उपयोग करना चाहिए। इनके हाथ बली, नियन्त्रणशील, शोधनकारी और दृढ़ होने चाहिए, जिससे वे हमारी संस्कृति की अच्छी बातों को सुरक्षित रख सकें और निकृष्ट तथा अधोशील को बिना संकोच अलग कर सकें। यह सीता, द्रौपदी, सावित्री और दमयन्ती-जैसी स्त्रियों का कार्य है, न कि पुरुषों की नकल करनेवाली स्त्रियों का।'[1]

इस प्रकार प्रेमचन्द अपने युग के विचारों के अनुरूप नारी और पुरुष में पर्याप्त विभिन्नता मानते हुए नारीत्व का विकास उसके पत्नी और माता रूप में मानते हैं। इस दृष्टिकोण से उनके नारी शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को ठीक-ठीक समझना कठिन नहीं है। 'गोदान' उपन्यास के मेहता कहते हैं, "मैं नहीं कहता, देवियों को विद्या की जरूरत नहीं है। है और पुरुषों से अधिक। मैं नहीं कहता, देवियों को शक्ति की जरूरत नहीं है। है और पुरुषों से अधिक, लेकिन वह विद्या और वह शक्ति नहीं, जिसने पुरुष ने संसार को हिंसा-क्षेत्र बना डाला है। आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है।"[2]

प्रेमचन्द के अनुसार नारी को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे वह पत्नी, माता और गृहिणी के अपने दायित्वों को समझे और पति की सहधर्मिणी बने। किन्तु, वे अधिकार-शून्य पत्नीत्व और आदरशून्य मातृत्व के, जो उस समय की भारतीय नारी के भाग्य में बदे थे, प्रबल विरोधी हैं, वे नारी को गृह क्षेत्र में, अपने क्षेत्र में, उतना ही स्वतन्त्र बनाना चाहते हैं, जितना स्वतन्त्र पुरुष अपने क्षेत्र में है। नारी का कार्य पुरुष के कार्य से किसी प्रकार हीन नहीं है, फिर पुरुष उस पर रोब क्यों जमाए?[3] अपने कर्त्तव्यों का पालन और अपने अधिकारों की रक्षा, संक्षेप में नारी को इसी की शिक्षा मिलनी चाहिए। इसे श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में 'जीने की कला' की शिक्षा कह सकते हैं। वे लिखती हैं—'गृहिणी का कर्त्तव्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं, यदि वह सधिकार और स्वेच्छा से स्वीकृत हो। जिन गृह को बन्धन से उसका लक्ष्य बनाया जाता है, यदि उस पर उसे अन्न-वस्त्र पाने के अतिरिक्त कोई और अधिकार भी होता, जिस पुरुष के लिए उसका जीवन एकान्त रूप से निवेदित है, यदि उसके जीवन पर उसका भी कोई स्वत्व होता, तो यह दासता स्पृहणीय प्रभुता बन जाती। परन्तु जिन गृह के द्वार पर भी वह बिना गृहपति की आज्ञा के पैर नहीं रख सकती, जिस पुरुष के घोर-से घोर अन्याय, नीच-से-नीच आचरण के विरोध में दो शब्द कहना भी उसके लिए अपराध हो जाता है, उस गृह को बन्दीगृह और पुरुष को कारा-रक्षक के अतिरिक्त वह और क्या समझे? इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी परिस्थिति का कुछ

---

१. मो० क० गांधी, महिलाओं से, पृष्ठ १७

२. गोदान, पृष्ठ २०८-२०९

३. प्रेमचन्द के समय में कानूनी दृष्टि से नारियाँ पुरुषों से अत्यन्त हीन थीं। उनमें शिक्षा भी न थी कि वे अपनी स्थिति पर विचार कर सकतीं। प्रेमचन्द नारियों के उद्धार का एकमात्र उपाय उनमें शिक्षा-प्रचार और उनको पुरुष के मुकाबले में कानूनी समानता को मानते हैं, इसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

उत्तरदायित्व स्त्री पर भी है, क्योंकि उसे जीने की कला नहीं आती, केवल युगयुगान्तर से चले आनेवाले सिद्धान्तों का भार ले कर वह स्वय ही अपने लिए भार हो उठी है।''

किन्तु, प्रमचन्द ज्ञान का द्वार किसी के लिए वन्द नही रखना चाहते। नारियाँ भी उच्चतम शिक्षा पाने को स्वतन्त्र हैं, शर्त केवल यही है कि शिक्षा के मद में वे नारीत्व की मर्यादा न भूलें, विलासिता, स्वार्थपरता और पुरुष से प्रतिद्वन्द्विता न करें। शिक्षित होने के कारण उन पर यह जिम्मेवारी आ जाती है कि वे अपनी अशिक्षित वहनों का प्रतिनिधित्व करें, उन्हें भी अपने ज्ञान की किरणों का आलोक दें। अपना क्षेत्र परिवार से विस्तृततर करें। उन्हें अपनी सस्कृति की रक्षा करनी है और भविष्य का निर्माण करना है। ऐसी शिक्षित नारी ही समाज का आदर पा सकेगी। प्रेमचन्द द्वारा चित्रित 'गोदान' उपन्यास की मालती का परिवर्त्तित रूप, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी, इसी कारण श्रद्धा के योग्य है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी अपने एक लेख में विदुषी महिलाओं के इसी प्रकार के कर्त्तव्य को स्पृहणीय माना है—'आज स्त्रियो की विपन्नावस्था से आहत गौरव ले कर कुछ सुयश्य विदुषियाँ यदि अपनी जाति की अवनति के कारण ढूँढने और उन्हे दूर करने में अपना जीवन लगा देने के लिए निकल पडे, तो क्या कोई उन पर हँसने का साहस कर सकेगा? नहीं। परन्तु इस श्रद्धा को पाने के लिए उन्हें अपने प्रत्येक कार्य का त्याग की, परार्थ की तुला पर तौलना पडेगा, आत्म सुखोपभोग द्वारा उसकी गुरुता न जाँची जा सकेगी।'[२]

शिक्षित नारियाँ जब अपने ज्ञान और अनुभव का उपयोग पारिवारिक या सामाजिक जीवन में करेंगी, तभी वे भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व कर सकेंगी। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की प्रमा, 'दो सखियाँ' कहानी की चन्दा तथा 'गोदान' उपन्यास की मालती में बहुत अन्तर है, किन्तु भिन्न स्वभाव कोटियों में परिगणनीय होने पर भी, वे इस निष्कर्ष को उदाहृत करती हैं। प्रमा और चन्दा, नई शिक्षा पाने के बावजूद, पूर्ववर्णित पद्मा और मिस जोशी नहीं होतीं। इसका बहुत बडा कारण है, उनके घर का वातावरण। उनके माता पिता भारतीय सस्कृति के समर्थक हैं तथा उनका दाम्पत्य जीवन सन्तुष्ट और सुखी है। अत, उनके चरित्र पर दूषित बाह्य शिक्षा का भी प्रतिकूल प्रभाव नही पडता। इसके विपरीत मिस जोशी का पारिवारिक वातावरण उसकी शिक्षा को और भी दूषित बना देता है। वह कहती है, "अपने माता पिता पर आलोचना करना मेरे लिए उचित नही, ईश्वर उन्हें सद्गति दे, उनकी राय किसी बात पर न मिलती थी। पिता विद्वान् थे, माता के लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' था। उनमें रात दिन वाद विवाद होता रहता था। पिताजी ऐसी स्त्री से विवाह हो जाना अपने जीवन का सबसे बडा दुर्भाग्य समझते थ। वह यह कहते कभी न थकते थे कि तुम मेरे पाँव की बेडी बन गई, नहीं तो मैं न जाने कहाँ उड कर पहुँचा होता। उनके विचार में सारा दोष माताजी की अशिक्षा के सिर था। वह अपनी एकमात्र पुत्री को मूर्खा माता के ससर्ग से दूर रखना चाहते थे। माता कभी मुझे

१. श्रीमती महादेवी वर्मा, शृखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ११०
२. श्रीमती महादेवी वर्मा, शृखला की कड़ियाँ, पृष्ठ २१ २६

कुछ कहती, तो पिताजी उन पर टूट पडते--तुममे कितनी बार कह चुका कि लडकी को डाँटो मत, वह स्वय अपना भला बुरा सोच सकती है, तुम्हारे डाँटने से उसके आत्मसम्मान को कितना धक्का लगेगा, यह तुम नहीं जान सकती। आखिर माताजी ने निराश हो कर मुझे मेरे हाल पर छोड दिया और कदाचित् इसी शोक में चल बसीं। अपने घर की अशान्ति देख कर मुझे विवाह से और भी घृणा हो गई।"[1]

मिस जोशी के व्यक्तित्व से ही यह भी ज्ञात होता है कि जिन अध्यापिकाओं पर लड़कियों के चरित्र निर्माण और शिक्षा का भार रहता है, वहुधा वे ही वैवाहिक जीवन के प्रति छात्राओं में अनास्था उत्पन्न करती हैं। मिस जोशी अपनी गलत शिक्षा और अपने माता पिता के सदोष दाम्पत्य जीवन को अपनी विलासिता, चचलता, स्वार्थपरता तथा स्वच्छन्दता का कारण बताती हुई अन्त में कहती है, "सबसे बडा असर मुझ पर मेरे कालेज की लेडी प्रिन्सिपल का हुआ, जो स्वय अविवाहिता थीं। मेरा तो अब यह विचार है कि युवकों की शिक्षा का भार केवल आदर्श चरित्रों पर होना चाहिए। विलास में रत, शौकीन कालेज के प्रोफेसर विद्यार्थियों पर कोई अच्छा असर नहीं डाल सकते।"[2]

यदि घर का वातावरण अनुकूल हो, तो कॉलेज की शिक्षा पाने पर भी लडकियाँ उच्छृखल होने से बच सकती हैं। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की प्रेमा कॉलेज की शिक्षा पा चुकी है, टेनिस खेलती है और अपने भावी पति (अमृतराय) से प्रेम भी करती है, किन्तु उच्छृखलता पूर्ण आचरण नहीं करती। विधवा विवाह की प्रतिज्ञा कर जब अमृतराय उससे विवाह करने में असमर्थ हो जाते हैं, तो वह बुरा नहीं मानती, वल्कि अविवाहित रह कर इस व्रत मे उनकी मदद करना चाहती है। उसकी माता (देवकी) अमृतराय को बुला कर समझाना चाहती हैं। उन्हें विश्वास है कि अमृतराय उनका कहा कभी न टालेंगे, किन्तु प्रेमा इसका विरोध करती है, "नहीं अम्माँजी, आपके पैरों पडती हूँ, आप उनसे कुछ न कहिए। उन्होंने हमारी वहनों की ही खातिर तो यह प्रतिज्ञा की है। हमारे यहाँ कितने ऐसे पुरुष हैं, जो इतनी वीरता दिखा सकें? मैं इस शुभ कार्य में बाधक न बनूँगी।"

देवकी ने विस्मय से प्रेमा की ओर देखा, लडकी यह क्या कह रही है, यह उसकी समझ में न आया।

प्रेमा फिर बोली, "ऐसे सुशिक्षित पुरुष यह काम न करेंगे, तो कौन करेगा? जब तक ऐसे लोग साहस से काम न लेंगे, हमारी अभागिनी वहनों की रक्षा कौन करेगा?"

देवकी ने कहा, "और तेरा कौन हाल होगा बेटी?"

प्रेमा ने गम्भीर भाव से कहा, "मुझे इसका बिलकुल दुख नहीं है। अम्माँजी, मैं आप से सच कहती हूँ। मैं भी इस काम में उनकी मदद करूँगी। जब तक आप लोगों का हाथ मेरे सिर पर है, मुझे किस बात की चिन्ता है? आप लोग मेरे लिए जरा भी चिन्ता न करें। मैं क्वाँरी रह कर वहुत सुखी रहूँगी।"[3]

१ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ १५ १६
२ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ १६
३ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १७

अमृतराय के प्रति अपने प्रेम के कारण और उनके प्रतिज्ञा पालन में सहायता करने के लिए प्रेमा अविवाहित रहने को कटिबद्ध है, किन्तु माता के यह समझाने पर कि इससे समाज में बदनामी होगी, वह विवाह करने को तैयार हो जाती है, 'उसकी चलती, तो वह अविवाहिता ही रहना पसन्द करती, पर जवान लड़की बैठी रहे, यह कुल के लिए घोर अपमान की बात थी। इस विषय में किसी प्रकार का दुराग्रह करके वह माता पिता का दिल न दुखाना चाहती थी। जिस दिन अमृतराय ने वह भीषण प्रतिज्ञा की, उसी दिन प्रेमा ने समझ लिया कि अब जीवन में मेरे लिए सुख लोप हो गया, पर अविवाहिता रह कर अपनी हँसी कराने की अपेक्षा किसी की हो कर रहना कहीं सुलभ था।'[1]

दाननाथ से विवाह के बाद भी प्रेमा को सदैव अपने कर्त्तव्य और दायित्व का खयाल रहता है। वह आदर्श गृहिणी है। वह अपने पति और सास – दोनों को प्रसन्न रखती है। प्रेमचन्द अपनी ओर से टिप्पणी करते हैं, 'आदर्श हिन्दू बालिका की भाँति प्रेमा पति के घर आ कर पति की हो गई थी। अब अमृतराय उसके लिए केवल एक स्वप्न की भाँति थे, जो उसने कभी देखा था। वह गृह कार्य में बड़ी कुशल थी। सारा दिन घर का कोई काम करती रहती। दाननाथ को सजावट का सामान खरीदने का शौक था, वह अपने घर को साफ सुथरा सजा हुआ देखना भी चाहते थे, लेकिन इसके लिए जिस संयम और श्रम की जरूरत है, वह उनमें न था। कोई चीज ठिकाने से रखना उन्हें आता ही न था। आय व्यय की व्यवस्था न थी। जब तक हाथ में रुपए रहते, वेदरेग खर्च किए जाते, बिना जरूरत की चीजें आया करतीं। रुपए खर्च किए जाने पर, लकड़ी और तेल में किफायत करनी पड़ती थी। तब वह अपनी वृद्धा माता पर झुँझलाते, पर माता का कोई दोष न था।.. वृद्धा ने कभी मन की बात नहीं कही, पर उसकी हार्दिक इच्छा थी कि दाननाथ अपना पूरा वेतन ला कर उसके हाथ में रख देते, फिर वह अपने ढंग पर उसे खर्च करती। तीन सौ रुपए थोड़े नहीं होते, न जाने कैसे खर्च कर डालता है। इतने रुपयों की गड्डी को हाथों से स्पर्श करने का आनन्द उसे कभी न मिला था। दाननाथ में या तो इतनी सूझ न थी, या तो लापरवाह थे। प्रेमा ने दो ही चार महीनों में घर को सुव्यवस्थित कर दिया। अब हर एक काम का समय और नियम था, हरेक चीज का विशेष स्थान था, आमदनी और खर्च का हिसाब था। दाननाथ को अब दस बजे सोना और पाँच बजे उठना पड़ता था, नौकर चाकर खुश थे, और सबसे ज्यादा खुश थीं प्रेमा की सास। दाननाथ को जेब खर्च के लिए पचीस रुपए दे कर प्रेमा बाकी रुपए सास के हाथ में रख देती थी और जिस चीज की जरूरत होती, उन्हीं से कहती। इस भाँति वृद्धा को गृहस्वामिनी होने का अनुभव होता था। यद्यपि शुरू महीने से वह कहने लगती थी—अब रुपए नहीं रहे, खर्च हो गए, क्या मैं रुपया हो जाऊँ? लेकिन प्रेमा के पास तो पाई पाई का हिसाब रहता था, चिरौरी विनती करके अपना काम निकाल लिया करती थी।'[2]

---

१ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ६०

२ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १००-१०२

'दो सखियाँ' कहानी की चन्दा ने, प्रेमा की भाँति कालेज की शिक्षा न सही, पर माध्यमिक शिक्षा पाई है। पद्मा और चन्दा दोनों सखियाँ साथ साथ पढ़ी हैं, किन्तु पारिवारिक आचार विचार के कारण दोनों में बहुत बडा अन्तर है। पद्मा के पिता नए खयाल के आदमी हैं और नारी की स्वाधीनता तथा समानता के पक्षपाती हैं। इस पारिवारिक वातावरण में पली हुई पद्मा पर स्कूली शिक्षा का अकल्याणकर प्रभाव पडता है। इसके विपरीत चन्दा के माता पिता रूढिवादी तो नहा हैं, किन्तु वे हिन्दू आचार विचार को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। फलत चन्दा आधुनिक शिक्षा पा कर भी विवेकशील बनती है। वह सदा ही दूसरा की कठिनाई और अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखती है। उसकी अभी तीन-चार साल तक विवाह करने की इच्छा नहीं है फिर भी वह इसका विरोध नहीं करती। वह पद्मा को लिखती है—'मेरा वस चलता तो अभी तीन-चार साल तक न वालती, लेकिन मेरी सुनता कौन है और विचार करने पर मुझे भी ऐसा मालूम होता है कि माता पिता का लडकियों के विवाह के लिए जल्दी करना कुछ अनुचित नहीं है। जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। अगर माता पिता अकाल ही मर जाएँ, तो लडकी का विवाह कौन करे।'[1] इसी प्रकार जब उसके पिता वर ठीक कर लेते हैं और उससे कहलाते हैं कि उसकी इच्छा हो, तो वर का वह देख ले, तो चन्दा इसकी कोई जरूरत नहीं समझती—'कौन घर में बहू बने। है तकदीर ही का सौदा। न पिताजी ही किसी के मन में पैठ सकते हैं, न मैं ही। अगर दो एक बार देख ही लेती, नहा मुलाकात ही कर लेती, तो क्या हम एक दूसरे को परख लेते ? यह किसी तरह सम्भव नहा। ज्यादा-से ज्यादा हम दोनों एक दूसरे का रग रूप देख सकते हैं। इस विषय में मुझे विश्वास है कि पिताजी मुझस कम सयत नही हैं।'[2]

चन्दा का वैवाहिक जीवन-सम्बन्धी आदर्श भी विवेक और कर्त्तव्य भावना पर आश्रित है—'मैं तो विवाह को सेवा और त्याग का व्रत समझती हूँ और इसी भाव से उसका अभिवादन करती हूँ।'[3] ससुराल में इन्हीं दोनों गुणों के सहारे वह रूखी और शासनप्रिय सास, ईर्ष्यालु ननदों और भावुक पति का आदर तथा प्रेम प्राप्त करती है। वह पद्मा को लिखती है—'सासजी स्वभाव की रूखी हैं। लेकिन, अभी किसी के बारे में कुछ नही कह सकती। सम्भव है, मुझे भ्रम हो रहा हो। फिर लिखूँगी। मुझे इसकी चिन्ता नहा कि घर कैसा है, आर्थिक दशा कैसी है, सास-ससुर कैसे हैं। मेरी इच्छा है कि यहाँ सभी मुझसे खुश रहें। पतिदेव का मुझमें प्रेम है, यह मेरे लिए काफी है। मुझे और किसी बात की परवा नहीं। तुम्हारे बहनोईजी का मेरे पास बार-बार आना सासजी का अच्छा नहीं लगता। वह समझती हैं, कहीं यह सिर न चढ जाए। क्यों मुझ पर उनकी यह अकृपा है, कह नहीं सकती पर इतना जानती हूँ कि वह अगर इस बात से नाराज होती हैं, तो

१ मानसरोवर भाग ४ पृष्ठ २१४
२ मानसरोवर भाग ४ पृष्ठ २१४
३ मानसरोवर भाग ४, पृष्ठ २१६

हमारे ही भले के लिए। वह ऐसी कोई बात क्या करेंगी, जिसमें हमारा हित न हो। अपनी सन्तान का अहित कोई माता नही कर सकती।''[1]

गोदान' उपन्यास की मालती ने इगलैण्ड से डाक्टरी की उच्च शिक्षा प्राप्त की है। मेहता के सम्पर्क से उसमें परिवर्त्तन होने के बाद ही प्रमचन्द उसकी शिक्षा को सार्थक होत चिनित करत हैं। इस परिवत्त न के बाद भी वह विवाह करके घर-गृहस्थी की झमटो में फँसना नहीं चाहती, किन्तु ऐसा इसलिए नही कि पत्नीत्व और मातृत्व की उपेक्षा कर वह विलासिता का जीवन बिताना चाहती है, बल्कि इसलिए कि वह अपना वात्सल्य और प्रम केवल अपने परिवार तक नहीं सीमित रखना चाहती और अधिक से-अधिक परोपकार और सेवा करना चाहती है।[2] विवाह न करने पर भी उस पर परिवार की जिम्मेदारियाँ हैं—उसके बूढ़े माता पिता और एक छोटी बहन तो हैं ही, अब रोगी भी परिवार के सदस्य ही बन जाते हैं। घर के कामों में दिलचस्पी बढ़ती है, वह भोजन बनाना सीखती है तथा मेहता और खन्ना की दावत करती है—'खन्ना को कुतूहल हुआ। अब मालती अपने हाथों से खाना पकाने लगी है। मालती। वही मालती, जो खुद कभी अपने जूते न पहनती थी, जो खुद कभी बिजली का बटन तक न दबाती थी, विलास और विनोद ही जिसका जीवन था।''[3] मालती अपने ही परिवार का नहीं, बल्कि मेहता के आय व्यय का हिसाब भी रखती है और कुछ सचय भी करती है। उसे दुखी व्यक्तियों से सच्ची सहानुभूति है और वह अपनी शक्ति के अनुसार उनकी सहायता करती है। उसके मित्र (खन्ना) की मिल में आग लग जाती है और वे हताश हो जाते हैं, मालती उन्हें सान्त्वना देती है। मिल जल जाने के बाद खन्ना महोदय प्राय मित्रों की दया से ही जीवन निर्वाह करते हैं, उस पर उनकी पत्नी (गोविन्दी) महीनों से सख्त बीमार है। मालती रात-की रात उसके सिरहाने बैठी रह जाती है—वही मालती जो पहले किसी राजा रईस से पाँच सौ रुपयों की फीस पा कर भी

---

१ मानसरोवर भाग ४, पृष्ठ २३२

२ (क) गाधीजी ने छात्राओं को सलाह दी थी 'हर लड़की, हर हिन्दुस्तानी लड़की, विवाह करने के लिए ही नहीं पैदा हुई है। मै बहुत-सी ऐसी लड़कियों को बता सकता हूँ जिन्होंने एक पुरुष की सेवा की जगह अपना जीवन सेवा के लिए दे दिया है। यही समय है जब हिन्दू लड़कियाँ अपने मे से पार्वती और सीता-जैसी स्त्रियाँ पैदा करें।"

मो० क० गाधी महिलाओं स पृष्ठ १४८

(ख) श्रीमती महादेवी वर्मा भी इस समय के एक लेख में लिखती हैं—'कार्य का विस्तृत क्षेत्र तथा इनकी सख्या देखते हुए हम म स (शिक्षित स्त्रियों में से) प्रत्येक को जिसे कुछ भी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर मिल सका है, अनेक मूक पशु के समान अपनी आवश्यकताओं को स्वय न बता सकने वाली गृहों में बन्द कुलीनाओं, दिन भर कठिन परिश्रम करने के उपरान्त भी अपनी तथा अपनी सन्तान के क्षुधा निवारण के हेतु अन्न न पाने वाली श्रमजीविनियों तथा समाज के अभिशापों के भार से दबी हुई आहत निर्दोष युवतियों का प्रतिनिधि भी बनना होगा और उनकी सन्तान के लिए दूसरी माता भी।'

श्रीमती महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ११७

३ गोदान पृष्ठ ३७५

रात-भर नहीं बैठती थी। धन्ना के छोटे बच्चों के पालने का भार भी मालती पर है। वह अपने माली (गोबर) के लड़के (मंगल) का प्यार करती है, मिठाई से 'परचाती' है। उसको चेचक निकल आती है, तो वह उसकी उसी प्रकार सेवा करती है, जैसे वह अपने बच्चे की करती। मंगल की माँ (झुनिया) दो बच्चों की माँ हो कर भी बच्चे का पालन करना नहीं जानती। मंगल परेशान करता, तो वह उसे बीमारी में भी डाँटती कोसती, जरा अवकाश पाती, तो जमीन पर सो जाती और सुबह के पहले न उठती।[१] मंगल मालती की सेवा और वात्सल्य से ही अच्छा होता है। वह कभी झुँझलाती नहीं, चिढ़ती नहीं और उसकी बीमारी तथा तकलीफ को समझती है। दिन भर अपना पेशा करती है और रात में मंगल की सेवा करती है—'रात में जब मालती आ जाती, तो झुनिया अपना खाना पकाती और मालती बच्चे के पास बैठती। वह बार बार चाहती कि बच्चे के पास बैठे, लेकिन मालती उसे न आने देती। रात को बच्चे का ज्वर तेज हो जाता और वह बेचैन हो कर दोनों हाथ ऊपर उठा लेता। मालती उसे गोद में ले कर घण्टों कमरे में टहलती। चौथे दिन उसे चेचक निकल आई। मालती ने सारे घर को टीका लगाया, खुद टीका लगवाया, मेहता को भी लगाया। गोबर, झुनिया, महाराज, कोई न बचा। पहले दिन तो दाने छोटे थे और अलग अलग थे। जान पड़ता था, छोटी माता हैं। दूसरे दिन दाने जैसे खिल उठे और अंगूर के दाने के बराबर हो गए और फिर कई-कई दाने मिल कर बड़े-बड़े आँवले जैसे हो गए। मंगल जलन और खुजली और पीड़ा से बेचैन हो कर करुण स्वर में कराहता और दीन, असहाय नेत्रों से मालती की ओर देखता।...मालती ज्यों ही किसी काम से चली जाती, वह रोने लगता। मालती के आते ही चुप हो जाता। रात को उसकी बेचैनी बढ़ जाती और मालती को प्राय सारी रात बैठना पड़ जाता। मगर वह न कभी झुँझलाती, न चिढ़ती। हाँ, झुनिया पर उसे कभी-कभी अवश्य क्रोध आता, क्योंकि वह अज्ञान के कारण जो न करना चाहिए, वह कर बैठती।'[२]

मालती का यह वात्सल्य और मातृ-भाव देख कर आदर्शवादी मेहता पुलकित हो जाते हैं, क्योंकि मालती ने शिक्षा और ज्ञान का अब वास्तविक अर्थ समझा है। उसका मातृत्व इतना परिष्कृत है, इतना उदार है कि वह पराए बालक को भी अपना समझती है—'इधर जब से मंगल को चेचक निकल आई थी, मेहता को भी बड़ी चिन्ता हो गई थी। अक्सर कमरे में जा कर मंगल को व्यथित आँखों से देखा करते। उसके कष्टों की कल्पना करके उनका कोमल हृदय हिल जाता था। ..उसे छूते भी उनके हाथ काँपते थे। कहीं उसके आँवले न टूट जाएँ। मालती कितने कोमल हाथों से उसे उठाती है, कन्धे पर उठा कर कमरे में टहलाती है और कितने स्नेह से उसे बहला कर दूध पिलाती है, यह वात्सल्य मालती को उनकी दृष्टि में न जाने कितना ऊँचा उठा देता है।'' मंगल अच्छा होता है,

---

१. नारियों की इस प्रकार की अज्ञानता को प्रेमचन्द बुरा समझते हैं, यह प्रकट है।

२ गोदान, पृष्ठ ४३१-४३७

३. गोदान, पृष्ठ ४३८

तो मालती पड़ोस के लड़कों को भरपेट मिठाइयाँ खिलाती है और जो मनौतियाँ कर रखी थीं, उन्हें भी पूरा करती है।

मालती के वात्सल्य, सेवा और त्याग भाव की परिधि विस्तार पाती है। वह समाज का दुःख-दैन्य देखती है, अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें दूर करती है और भविष्य में भी इसी मार्ग पर आगे बढ़ने का सकल्प करती है। वह अब अक्सर गरीबों के घर बिना फीस लिए ही मरीजों को देखने चली जाती है। मरीजों के साथ उसके व्यवहार में मृदुता आ जाती है। कभी कभी मालती और मेहता देहातों की ओर चले जाते हैं और किसानों के साथ दो चार घण्टे रहने के बाद, उनमें से किसी की झोपड़ी में रात बिता कर और उन्ही का सा भोजन कर अपने को धन्य समझते हैं। मालती ग्रामीण नारियों से मिल कर उनके बच्चों को बुलाती है और उनकी डाक्टरी परीक्षा करती है। जिन्हें तत्काल दवा की जरूरत होती है, उन्हें दवा देती है। दुर्बल और अस्वस्थ बच्चों की माताओं को अच्छा भोजन करने का महत्त्व समझाती है। धीरे धीरे उसे गाँव की सच्ची आर्थिक स्थिति और ग्रामीणों के सरल स्वभाव का पता चलता है—'उसका जी इसलिए जलता था कि ये लोग अच्छा भोजन क्यों नहीं करते? उसे ग्रामीणों पर क्रोध आ जाता था। क्या तुम्हारा जन्म इसीलिए हुआ है कि तुम मर-मर कर कमाओ और जो कुछ पैदा हो, उसे खा न सको? जहाँ दो चार बैलों के लिए भोजन है, एक दो गाय भैंसों के लिए चारा नहीं है? क्यों ये लोग भोजन को जीवन की मुख्य वस्तु न समझ कर उसे केवल प्राण रक्षा की वस्तु समझते हैं? क्यों सरकार से नहीं कहते कि नाम मात्र के ब्याज पर रुपए दे कर उन्हें सूदखोर महाजनों के पंजे से बचाए? बँटवारे का मरज भी बढ़ता जाता था। आपस में इतना वैमनस्य था कि शायद ही कोई दो भाई एक साथ रहते हों। उनकी इस दुर्दशा का कारण बहुत कुछ उनकी संकीर्णता और स्वार्थपरता थी। मालती इन्हीं विषयों पर महिलाओं से बातें करती रही।''[1]

इस प्रकार उसकी दृष्टि ग्रामीण नारियों की समस्याओं और उनके समाधान की ओर जाती है। वह उनके त्याग से प्रभावित होती है, जो गरीबी और कष्ट में भी प्रसन्न रहती हैं, सेवाशील हैं, वात्सल्यमयी हैं। वह उनके उद्धार का उपाय सोचती है—काश, वे देवी कम और मानवी अधिक होतीं। 'इन त्याग और श्रद्धा की देवियों के सामने वह अपनी ही दृष्टि में नीची लग रही थी। जिनमें अहङ्कार का नाम नहीं, दिन भर उपवास करती हैं, रोती हैं, फिर भी इतनी प्रसन्न मुख। उनका अपनापन अपने लड़कों में, अपने पति में, अपने सम्बन्धियों में है। जाग्रत देवियों में इसकी जगह आत्मसेवन का जो भाव आ बैठा है—सब कुछ अपने लिए, अपने भोग विलास के लिए—उससे तो यह सुषुप्तावस्था ही अच्छी। पुरुष निर्दयी है, माना लेकिन है तो इन्हीं माताओं का बेटा। क्यों माता ने पुत्र को ऐसी शिक्षा नहीं दी कि वह माता की, स्त्री जाति की पूजा करता? इसीलिए कि माता को यह शिक्षा देनी नहीं आती, इसीलिए कि उसने अपने को इतना मिटाया कि उसका रूप ही बिगड़ गया, उसका व्यक्तित्व ही नष्ट हो गया। नहीं, अपने को मिटाने से काम न चलेगा।

१ गोदान, पृष्ठ ४०१

नारी को समाज के कल्याण के लिए अपने अधिकारों की रक्षा करनी पड़ेगी। उसी तरह, जैसे इन किसानों को अपनी रक्षा के लिए इस देवत्व का कुछ त्याग करना पड़ेगा।"[1]

इस तरह के कार्यों में संलग्न रहती हुई वह अपने अनुभवों द्वारा अपना सेवा क्षेत्र विस्तृततर बनाती है, यहाँ तक कि वह मेहता के विवाह के प्रस्ताव का इसलिए विरोध करती है कि वह अविवाहित रह कर, निज के परिवार की जिम्मेवारियों से बच कर, अपने दुखी देशवासियों की सेवा करना चाहती है। वह स्वयं माता बनने के बदले देश के गरीब बच्चों की माता बनना चाहती है। वह शिक्षा का उच्चतम आदर्श है। वस्तुतः मालती आज दो दशाब्दियों के बाद भी भारत की उच्च शिक्षित महिलाओं का नेतृत्व करती है। वह मेहता से कहती है, "अपनी छोटी-सी गृहस्थी बना कर, अपनी आत्माओं को छोटे से पिंजरे में बन्द करके, अपने दुख सुख को अपने ही तक रख कर, क्या हम असीम के निकट पहुँच सकते हैं? वह तो हमारे मार्ग में बाधा ही डालेगा। जब तक ममत्व नहीं है, अपनापन नहीं है, तब तक जीवन का मोह नहीं है, स्वार्थ का जोर नहीं है। जिस दिन मन मोह में आसक्त हुआ और हम बन्धन में पड़े, उसी क्षण हमारी मानवता का क्षेत्र सिकुड़ जाएगा, नई नई जिम्मेदारियाँ आ जाएँगी और हमारी सारी शक्ति उन्हीं को पूरा करने में लगने लगेगी। ..संसार में अन्याय की, आतंक की, भय की दुहाई मची हुई है। अन्ध-विश्वास का, कपट धर्म का, स्वार्थ का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने यह आर्त्त पुकार सुनी है ..अपनी विद्या और बुद्धि को, अपनी जगी हुई मानवता को और भी उत्साह और जोर के साथ उसी रास्ते पर ले जाओ। मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे चलूँगी। अपने जीवन के साथ मेरा जीवन भी सार्थक कर दो। मेरा तुमसे यही आग्रह है। अगर तुम्हारा मन सांसारिकता की ओर लपकता है, तब भी मैं अपना काबू चलते तुम्हें उधर से हटाऊँगी और ईश्वर न करे कि मैं असफल हो जाऊँ, लेकिन तब मैं तुम्हारा साथ दो बूँद आँसू गिरा कर छोड़ दूँगी और कह नहीं सकती मेरा क्या अन्त होगा, किस घाट लगूँगी, पर चाहे वह कोई घाट हो, इस बन्धन का घाट न होगा।"[2]

---

१ (क) गोदान, पृष्ठ ४०१-४०२

(ख) 'मनुष्यता से ऊपर की स्थिति को अपना लक्ष्य बनाने से प्रायः मनुष्य देवता की पाषाण-प्रतिमा बन कर रह जाता है और इसके विपरीत मनुष्य से नीचे उतरना पशु की श्रेणी में आ जाना है। एक स्थिति मनुष्य से ऊपर होने पर भी निष्क्रिय है, दूसरी इससे नीची होने के कारण मनुष्यता का कलंक है। अतः, दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। हमारे समाज में अपने स्वार्थ के कारण पुरुष मनुष्यता का कलंक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय निस्पन्द सहिष्णुता के कारण पाषाण-सी उपेक्षणीय—दोनों के मनुष्यत्वयुक्त मनुष्य हो जाने से ही जीवन की कला विकास पा सकेगी, जिसका ध्येय मनुष्य की सहानुभूति, सक्रियता, स्नेह आदि गुणों को अधिक-से अधिक व्यापक बना देना है।'

श्रीमती महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ १५०

२ गोदान, पृष्ठ ४४४-४४५

इस प्रकार शिक्षित नारियों के बारे में, चाहे वे अपना कार्य क्षेत्र घर तक ही सीमित रखें या बाहर भी फैलाएँ, प्रेमचन्द इस बात पर जोर देते हैं कि वे विलास, आत्मसेवा और उच्छृंखलता को अपने जीवन का चरम लक्ष्य न समझें, बल्कि अपने नारीत्व—सेवा, त्याग, वात्सल्य, कोमलता, दया आदि गुणों—को विकसित करें। यही कारण है कि यदि *नारियाँ स्कूल और कालेज की शिक्षा प्राप्ति के बाद भी अपना दायित्व समझती हैं, तो* प्रेमचन्द की दृष्टि में यह स्पृहणीय है, इसके विपरीत यदि उन्हें घर में भी विलासिता, स्वार्थपरता आदि की शिक्षा दी जाती है, तो यह अकल्याणकर है।

'वरदान' उपन्यास की वृजरानी अपने माता पिता की इकलौती सन्तान है, अत: उसकी माता उससे घर का कुछ काम नहीं लेती। जब विरजन को पढ़ना आ जाता है, तो उसके पिता नित्य तरह तरह की पुस्तकें लाते हैं और विरजन भी खूब मन लगा कर पढ़ती है। उसकी माता (सुशीला) के ध्यान में यह बात आती ही नहीं कि वह विरजन को भावी गृहिणी के अनुरूप शिक्षा दे। वह स्नेह से अन्धी हो जाती है, सन्तान प्रेम में वह सन्तान के प्रति अपना कर्त्तव्य भूल जाती है, यहाँ तक कि विरजन बड़ी हो जाती है, पर पाक कला में कोरी ही रहती है—'अब आज से विरजन की यह दशा हो गई कि, जब देखिए, लेखनी लिए हुए पन्ने काले कर रही है। घर के धन्धों से तो उसे पहिले ही कुछ प्रयोजन न था। लिखने का आना सोने में सुहागा हो गया। माता उसकी तल्लीनता देख देख कर प्रमुदित होती, पिता हर्ष से फूला न समाता, नित्य नवीन पुस्तकें लाता कि *विरजन सयानी होगी तो पढ़ेगी।*' *यदि कभी वह अपने से पाँव धो लेती या भोजन करके* अपने ही हाथ धोने लगती, तो माता महरियों पर क्रुद्ध होती, "आँखें फूट गई हैं? चर्बी छा गई है? वह अपने हाथ से पानी उँडेल रही है और तुम खड़ी मुँह ताकती हो।" इसी प्रकार काल बीतता चला गया, विरजन का बारहवाँ वर्ष पूर्ण हुआ, परन्तु अभी तक उसे चावल उबालना तक न आता था। चूल्हे के सामने बैठने का कभी अवसर ही न आया।'[२]

सुशीला की पड़ोसिन, सुवामा के माध्यम से, प्रेमचन्द माताओं की ऐसी प्रवृत्ति की निन्दा कराते हैं। सुवामा की दृष्टि में भोजन बनाना नारी का सबसे आवश्यक गुण है। वह एक दिन सुशीला से कहती है, "बहिन, विरजन सयानी हुई। क्या कुछ गुन ढंग न सिखाओगी?"

---

१ 'हमारे सारे दुर्गुण अपने बाल-रूप में बड़े प्रिय लगते हैं। छोटे से अबोध बालक के मुख से फीका झूठ भी मीठा लगता है, उसकी स्वार्थपरता देख कर हँसी आती है, परन्तु जब वही बालक सुबोध हो कर अपने झूठ और स्वार्थपरता को भी बड़ा कर लेता है, तब हमें उन्हीं गुणों पर आँसू बहाने पड़ते हैं। दरिद्र माता जब अनेक परिश्रमों से उपार्जित धन का प्रचुर अंश व्यय कर अपनी विद्यार्थिनी बालिका को गृह के इतर कार्यों से घृणा तथा जिन्हें ऐसी सुविधा नहीं मिली है, उनके प्रति उपेक्षा प्रकट करते देखती है, तब उसे आत्मसन्तोष की प्रसन्नता हो सकती है, परन्तु जब वही बालिका बड़ी तथा शिक्षिता हो कर अपनी माता तथा उसके समाज के प्रति अनादर दिखाने का स्वभाव बना लेती है, तब सम्भव है उसे पहली सी प्रसन्नता न होती हो।' श्रीमती महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ११३

२. वरदान, पृष्ठ ३२

सुशीला, "क्या कहूँ, जी तो चाहता है कि लगा लगाऊँ, परन्तु कुछ सोच कर रुक जाती हूँ।"

सुवामा, "क्या सोच कर रुक जाती हो ?"

सुशीला, "कुछ नहीं। आलस आ जाती है।"

सुवामा, "तो यह काम मुझे सौंप दो। भोजन बनाना स्त्रियों के लिए सबसे आवश्यक बात है।"

सुशीला, "अभी चूल्हे के सामने उससे बैठा न जाएगा।"

सुवामा, "काम करने ही से आता है।"

सुशीला, (झेंपते हुए) "फूल से गाल कुम्हला जाएँगे।"

सुवामा (हँस कर), "बिना फूल के मुरझाए कहीं फल लगते हैं ?"[1]

और, सुवामा के सत्प्रयत्न से विरजन शीघ्र ही भोजन बनाने लगती है—'दूसरे दिन से विरजन भोजन बनाने लगी। पहले दस पाँच दिन उसे चूल्हे के सामने बैठने में बड़ा कष्ट हुआ। आग न जलती, फूँकने लगती, तो नेत्रों से जल बहता। वे बूटी की भाँति लाल हो जाते। चिनगारियों से कई रेशमी साड़ियाँ सत्यानाश हो गई। हाथों में छाले पड़ गए। परन्तु, क्रमश सारे क्लेश दूर हो गए। सुवामा ऐसी सुशीला स्त्री थी कि कभी रुष्ट न होती। प्रति दिन उसे पुचकार कर काम में लगाए रहती।'[2]

नारियों को, भोजन बनाने के अतिरिक्त, गृह प्रबन्ध में भी कुशल होने की शिक्षा मिलनी चाहिए, जितनी आय हो, उतने ही रुपयों में गृहस्थी चलाना बल्कि विपत्ति के लिए उसमें से कुछ बचा लेना, उनका लक्ष्य होना चाहिए। प्रकट है, इसके लिए संयम और सन्तोष की शिक्षा भी आवश्यक है। 'सेवासदन' उपन्यास की सुमन को यह शिक्षा नहीं मिलती, यद्यपि घर पर ही सही, उसे शिक्षित बनाने का ध्यान रखा जाता है। उसके पिता दारोगा हैं, उनका परिवार छोटा है और वे उदारहृदय भी हैं, अत घर वालों के लिए तरह तरह के कपड़े और चीजें मँगाया करते हैं। उनके सिर्फ दो पुत्रियाँ ही हैं, सुमन और शान्ता। उनकी शिक्षा दीक्षा के लिए वे एक ईसाई लेडी भी रख लेते हैं—'दारोगाजी इन लड़कियों को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। उनके लिए अच्छे-अच्छे कपड़े लाते और शहर से नित्य तरह तरह की चीजें मँगाया करते। बाजार में कोई तरहदार कपड़ा देख कर उनका जी नहीं मानता था, लड़कियों के लिए अवश्य ले जाते थे। घर में सामान जमा करने की उन्हें धुन थी। सारा मकान कुर्सियों, मेजों और आलमारियों से भरा हुआ था। लड़कियों को पढ़ाने और सीना पिरोना सिखाने के लिए उन्होंने एक ईसाई लेडी रख ली थी। कभी-कभी स्वयं उनकी परीक्षा लिया करते थे।'[3]

इस प्रकार सुमन की शिक्षा में गृह प्रबन्ध, सेवा और सन्तोष का नहीं, बल्कि आनन्द भोग को महत्त्व दिया जाता है। सुमन का विवाह एक निर्धन व्यक्ति से होता है और

१ वरदान, पृष्ठ २३
२ वरदान पृष्ठ २३
३ सेवासदन पृष्ठ २

गृह प्रबन्ध की कला न जानने के कारण उसका दाम्पत्य जीवन असफल सिद्ध होता है। वह पति का एक महीने का वेतन बीस दिनों में ही खर्च कर देती है, विपत्तियों के लिए कुछ बचा कर रखना तो दूर की बात है—'गृह प्रबन्ध में कुशल न होने के कारण वह आवश्यक और अनावश्यक खर्च का ज्ञान न रखती थी। उसने गृहिणी बनने की नहीं, इन्द्रियों के आनन्द भाग की शिक्षा पाई थी।"[1] सुमन और उसके पति (गजाधर) झगड़ते हैं। अन्त में सुमन अपनी हँसली गिरवी रखने को देती है और गजाधर उसे ले कर चला जाता है।

गजाधर एक जगह और काम करके अपनी आमदनी बढ़ाता है, पर उसे अपनी आर्थिक अवस्था में कुछ परिवर्तन नहीं मालूम होता—घर का खर्च तो किसी प्रकार चल जाता है, पर बचत कुछ नहीं होती। इस कारण वह बहुत दुखी रहता है 'गजाधर इन दिनों बड़ी मेहनत करता। कारखाने से लौट कर ही एक दूसरी दूकान पर हिसाब किताब लिखने चला जाता था। वहाँ से आठ बजे रात को लौटता। इस काम के लिए उसे पाँच रुपए और मिलते थे। पर उसे अपनी आर्थिक दशा में कोई अन्तर न दिखाई देता था। उसकी सारी कमाई खाने पीने में उड़ जाती थी। उसका संचयशील हृदय 'खा पी बराबर' दशा से बहुत दुखी रहता था।"[2] उधर सुमन अपना दायित्व भूल कर अपने भाग्य को कोसती है। उसकी सहेलियाँ वस्त्राभूषण बनवाती हैं, तो उसे अपनी दशा पर रोना आता है—क्या संसार में वही सबसे अभागिनी है। प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं—'उसने अपने घर यही सीखा था कि मनुष्य को जीवन में सुख भोग करना चाहिए। उसने कभी वह धर्म चर्चा न सुनी थी, वह धर्म शिक्षा न पाई थी, जो मन में सन्तोष का बीजारोपण करती है। उसका हृदय असन्ताप से व्याकुल रहने लगा।"[3]

भोग विलास पर प्राण देनेवाली, असन्तोषी और गृह प्रबन्ध में अकुशल सुमन अपना दायित्व समझ सकने में असमर्थ है। वह पाठकों का हृदय तभी जीत पाती है, जब वेश्या-वृत्ति छोड़ कर त्याग, सेवा और वात्सल्य का रास्ता अपनाती है। वह 'सेवासदन' की, जिसमें वेश्याओं की बालिकाएँ सुशिक्षा के लिए रहती हैं, सञ्चालिका के रूप में अपने नारीत्व को, अत मनुष्यत्व को भी, पाती है और अपने में माननीय गुणों का विकास करती है।

'कर्मभूमि' उपन्यास की सुखदा की स्कूली शिक्षा का स्पष्ट निर्देश नहीं है, वह बाद में जज की पत्नी की सिफारिश से बालिका विद्यालय में पढ़ाती है, जिससे पता चलता है कि वह शिक्षिता है। उसे अपनी माता द्वारा जो शिक्षा मिलती है, उसके कारण वह विलासिता, स्वार्थपरता, प्रतिहिंसा और विद्रोह को महत्त्व देती है। वह अपनी माता की इकलौती सन्तान है और उसका परिवार सम्पत्तिशाली है। अत, उसकी माता ने बेटे की साध बेटी से पूरी की थी। *त्याग की जगह भोग, शील की जगह तेज, कोमल की जगह तीव्र का संस्कार किया था।* सिकुड़ने और सिमटने का उसे अभ्यास न था और वह युवक प्रकृति की युवती ब्याही गई

---

१ सेवासदन, पृष्ठ १८

२. सेवासदन, पृष्ठ २९

३ सेवासदन, पृष्ठ ३०

युवती प्रकृति के युवक से।" परिणाम यह होता है कि सुखदा की प्रखरता, तेजस्विता और विलासिता के कारण पति (अमर) से उसकी नहीं पटती। वह घरेलू जीवन में त्याग और सेवा का महत्त्व नहीं समझ पाती और पति सेवा का तो वह गुलामी समझती है।[१] सुखदा से परेशान हो कर अमर घर छोड़ कर चल देता है। सुखदा अचानक सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करती है और सेवा तथा त्याग का जीवन अपनाती है। अमर और सुखदा का सुखद मिलन होता है।

प्रेमचन्द ने अपनी कथा कृतियों में कुछ ऐसी स्त्रियों को, जिन्हें अक्षर ज्ञान तक नहीं है, जो समाज में नीच समझी जाती हैं, जिन्हें जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए भी कठोर श्रम करना पड़ता है, किन्तु जिन्होंने ससार की पाठशाला में सेवा, त्याग, कर्त्तव्य और सहृदयता का पाठ पढ़ा है, इस प्रकार चित्रित किया है, कि व पाठकों की दृष्टि में आदरणीय बन जाती हैं। प्रेमचन्द के कथा साहित्य में ऐसी शताधिक नारियों का वर्णन है, जिन्हें पुस्तकीय शिक्षा नहीं मिली है, किन्तु वे अपने पत्नीत्व और मातृत्व का सम्पूर्ण दायित्व गम्भीरतापूर्वक सँभालती हैं[२] और यदि सम्भव होता है, तो अपनी सेवा, त्याग और वात्सल्य की अक्षय निधि दूसरों का भी लुटाती हैं। इस सम्बन्ध में 'गोदान' उपन्यास से कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे। इस उपन्यास की अनपढ़ नायिका धनिया को ही ल। वह पहले अपने पति के भाइयों के लिए अपने को मिटाती है, उसके बाद अपने बच्चों के लिए। धनिया के बारे में होरी सोचता है— बेचारी जब से घर में आई, कभी तो आराम स न बैठी। डाली से

१. कर्मभूमि, पृष्ठ ११

२ प्रेमचन्द न मनव्रता देवी लिखित 'नारी धर्म शिक्षा' नामक पुस्तक पर दी गई अपनी सम्मति में लिखा था—'सम्भव है, नई रोशनी वाली बहनों को पुरुष-सेवा और पारिवारिक सेवा का आदर्श दकियानूसी मालूम हो, लेकिन जो देवियाँ अपनी कन्याओं को फैशनेबुल लेडी नहीं, सहधर्मिणी बनाना चाहती हैं, उन्हें इस किताब से बड़ी सहायता मिलेगी। स्त्रियों के लिए जिन बातों के जानने की जरूरत होती है, वे सब यहाँ सरल और शिष्ट भाषा में मिलेंगी। नीति स्वास्थ्य, सन्तति-पालन, हिसाब किताब, चिट्ठी-पत्री, गृह शिल्प आदि सभी बातें आ गई हैं—शब्दों का मायाजाल नहीं है। महिला शालाओं की ऊँची कक्षाओं में यह पुस्तक रख दी जाए, तो बालिकाओं को विशेष लाभ होने की आशा है।'

सम्मति, मनव्रता देवी, नारी-धर्म शिक्षा

३ महात्मा गांधी भी पत्नीत्व और मातृत्व के स्वाभाविक उत्तरदायित्व का ज्ञान नारी में स्वय होना मानते हैं, अत उसका पढ़ना लिखना उतना आवश्यक नहीं समझते, यद्यपि वे यह मानते हैं कि पढ़ने-लिखने से मस्तिष्क का विकास होता है—'स्त्री पुरुष की सहचरी है, उसमें पुरुष के समान ही हर प्रकार की बौद्धिक शक्ति होती है और उसे पुरुष के हर छोटे-से-छोटे कार्य में भाग लेने का और उसी की भाँति स्वाधीनता का अधिकार है। जिस प्रकार पुरुष को अपने क्षेत्र में प्रमुख स्थान मिला है, उसी प्रकार स्त्री को अपने क्षेत्र में मिलना चाहिए। ऐसा लिखना-पढ़ना सीखने के फलस्वरूप नहीं, वरन् स्वाभाविक्त' होना चाहिए। फिर भी पढ़ने-लिखने से मस्तिष्क की वृद्धि और विकास होता है और हमारे अन्दर अच्छे कार्यों के करने की चेतना आती है।'

मो० क० गांधी, महिलाओं से, पृष्ठ ३३-३४

उतरते ही सारा काम सिर पर उठा लिया। अम्मा को पान की तरह फेरती रहती थी। तब देवरों के लिए मरती थी, अब अपने बच्चों के लिए मरती है। वह इतनी सीधी, गमखोर, निर्छल न होती, तो आज सोभा और हीरा जो मूछों पर ताव देते फिरते हैं, कहीं भीख माँगते होते।"[1] बुढ़ापे में होरी के मानसिक नेत्रों के सामने धनिया की मूर्त्ति इन गुणों के साथ खड़ी होती है—'सेवा और त्याग की देवी जबान की तेज, पर मोम-जैसा हृदय, पैसे पैसे के पीछे प्राण देनेवाली, पर मर्यादा रक्षा के लिए अपना सर्वस्व होम कर देने को तैयार।'[2]

धनिया का वात्सल्य जितना अपने बच्चों के लिए है, उससे कम सिलिया चमारिन और झुनिया के लिए नहीं है। सिलिया को उसका प्रेमी (मातादीन) घर से निकाल देता है, तो धनिया दयार्द्र हो कर उसे अपने घर में आश्रय देती है। झुनिया उसके पुत्र (गोबर) की प्रेयसी है और गर्भवती है। अपनी कुल मर्यादा का ध्यान करके पहले तो उसे झुनिया पर क्रोध आता है और वह होरी का क्रोध भी जगाती है, "अपने घर में तो मैं छन भर भी न रहने दूँगी। मैंने तो कह दिया। जैसा किया है, उसका फल भोग। चुड़ैल ने लेके मेरे लड़के को चौपट कर दिया। तब से बैठी रो रही है, उठती ही नहीं। कहती है, अपने घर कौन मुँह ले कर जाऊँ। भगवान् ऐसी सन्तान से तो बाँझ ही रखें, तो अच्छा। सवेरा होत होते सारे गाँव में काँव काँव मच जाएगी। ऐसा जी होता है, माहुर खा लूँ। मैं तुमसे कह देती हूँ। मैं अपने घर में न रखूँगी। गोबर को रखना हो, अपने सिर पर रखे। मेरे घर में ऐसी छत्तीसियों के लिए जगह नहीं है। और अगर तुम बीच में बोले, तो फिर या तो तुम्हीं रहोगे, या मैं ही रहूँगी।"[3]

किन्तु, होरी का कठोर होते देख वही धनिया बार बार उससे अनुरोध करती है कि वह झुनिया को कुछ न कहे, उसे घर से न निकाले, अब तो कालिख जो लगनी थी, लग चुकी। अन्त में होरी के गले में हाथ डाल कर कहती है, "देखो, तुम्हें मेरी सौंह, उस पर हाथ न उठाना। वह तो आप ही रो रही है। भाग की खोटी न होती, तो यह दिन ही क्यों आता।"[4]

होरी की आँखें आर्द्र हो गई। 'धनिया का यह मातृ स्नेह उस अँधेरे में भी जैसे दीपक के समान उसकी चिन्ता जर्जर आकृति को शोभा प्रदान करने लगा।'[5] और इसके बाद 'वही साध्वी जिसने होरी के सिवा किसी पुरुष को आँख भर देखा भी न था, इस पापिष्ठा को गले लगाए उसके आँसू पोंछ रही थी और उसके त्रस्त हृदय को अपने कोमल शब्दों से शान्त कर रही थी, जैसे कोई चिड़िया अपने बच्चे को परों में छिपाए बैठी हो।'[6]

---

१ गोदान, पृष्ठ ३२
२ गोदान, पृष्ठ ३८६
३ गोदान, पृष्ठ ११४
४ गोदान, पृष्ठ ११६
५ गोदान, पृष्ठ ११६
६ गोदान, पृष्ठ ११७

धनिया में न्याय और अन्याय का विवेक भी पर्याप्त है। वह प्रत्यक्ष अन्याय का विरोध करने के लिए तत्पर रहती है। होरी जब उसे बतला देता है कि उसकी गाय को विष दे कर मारने वाला उसका भाई हीरा ही है, तब वह किसी शर्त पर हीरा को क्षमा करने के लिए तैयार नहीं होती। होरी उसे मारता पीटता है, पर वह अपनी बात पर अडी रहती है कि वह गाय को विष देने वाले को थाने पहुँचा कर रहेगी। इसी सम्बन्ध में तहकीकात के लिए आए हुए दारोगा को, जो क्रुद्ध हो कर उसी पर दोषारोपण करता है, वह निर्भीकता पूर्वक फटकारती है "हाँ (जहर) दे दिया अपनी गाय थी, मार डाली, फिर? किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा? तुम्हारे तहकीकात में यही निकलता है, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारे अक्ल की दौड। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है। दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात।"[1] न्याय के सामने वह पति गाँव के मुखिया, धर्म और जाति के ठेकेदारों, किसी को कुछ नहीं समझती और सर्वत्र अन्याय का विरोध करती है

'गोदान' उपन्यास में ही काली, मोटी, अबड़ चुहिया बहुत थोडी देर के लिए पाठकों के सम्मुख आती है, किन्तु उतनी ही देर में वह अपनी निस्वार्थ सेवा और न्याय प्रियता से पाठकों को मुग्ध कर देती है। झुनिया जब गोबर के साथ शहर आती है, तब यही चुहिया परदेश में उसकी हर तरह से मदद करती है। उसका पति इक्का चलाता है और वह खुद लकडी की दूकान करती है। वह बारी-बारी से गोबर के पूरे परिवार के लोगों के प्राण बचाती है। झुनिया गर्भवती है। चुहिया से उसका इतना ही परिचय है कि वह उसके पडोस में रहती है और कभी कभी उसके यहाँ से लकडी लाती है। जब झुनिया के प्रसव का समय आता है, तो चुहिया इसे समझ लेती है। वह देखती है कि झुनिया अकेली है और गोबर शराबी है, अत चिन्ता के कारण रात में उसे नींद नहीं आती। झुनिया को कराहते सुन कर वह गोबर से हाल चाल पूछती है और स्वय उसी आधी रात में दाई बुलाने जाती है क्योंकि गोबर को दाई का घर मालूम नहीं। दाई की माँग सुन कर वह उलटे पाँव लौट आती है और स्वय झुनिया को प्रसव कराती है। वह गोबर से कहती है, "अब संसार में गरीबों का कैसे निर्बाह होगा। राँड कहती है, पाँच रुपए लूँगी, तब चलूँगी। और आठ आने रोज। बारहवें दिन एक साडी। मैंने कहा, तेरा मुँह झुलस दूँ। तू जा चूल्हे में। मै देख लूँगी। बारह बच्चों को माँ यों ही नहीं हो गई हूँ। तुम बाहर आ जाओ गोबरधन। बखत पडने पर आदमी ही आदमी के काम आता है। चार बच्चे जना लिए, तो दाई बन बैठी।"[2]

झुनिया के पुत्र होता है और चुहिया उसके बाद भी उसकी सेवा करती है। झुनिया के दूध तनिक भी नहीं होता और बच्चे को ऊपर का दूध पचता नहीं, अत वह हरदम चिल्लाता रहता है। चुहिया के हृदय में इतनी दया और ममता है कि पराए बच्चे के लिए उसके स्तनों में दूध उतर आता है, जब कि उसकी पिछली सन्तान आठ वर्ष से कम की

१ गोदान, पृष्ठ १४६
२ गोदान, पृष्ठ ३१२

नहीं है—'चुहिया रोज सवेरे आ कर झुनिया के लिए हरीरा और हलवा पका जाती और दिन में भी कई बार आ कर बच्चे को उबटन मल जाती और ऊपर का दूध पिला जाती। आज चौथा दिन था, पर झुनिया के स्तनों में दूध न उतरा था। शिशु रो रो कर गला फाड़े लेता था, क्योंकि ऊपर का दूध उसे पचता न था। एक छन को भी चुप न होता था। चुहिया अपना स्तन उसके मुँह में दे देती। बच्चा एक क्षण चूसता, पर जब दूध न निकलता, तो फिर चीखने लगता। जब चौथे दिन साँझ तक भी झुनिया के दूध न उतरा, तो चुहिया घबड़ाई। बच्चा सूखता चला जाता था। नखास पर एक पेन्शनर डाक्टर रहते थे। चुहिया उन्हें ले आई। डाक्टर ने देख भाल कर कहा, "इसकी देह में खून तो है नहीं, दूध कहाँ से आए!" समस्या जटिल हो गई। देह में खून लाने के लिए महीनों पुष्टिकारक दवाएँ खानी पड़ेंगी, तब कहीं दूध उतरेगा। तब तक तो इस मास के लोथड़े का ही काम तमाम हो जाएगा।

'पहर रात हो गई थी। गोबर ताड़ी पिए ओसारे में पड़ा था। चुहिया बच्चे को चुप कराने के लिए उसके मुँह में अपनी छाती डाले हुए थी कि सहसा उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी छाती में दूध आ गया है। प्रसन्न हो कर बोली, "ले झुनिया, अब तेरा बच्चा जी जाएगा, मेरे दूध आ गया।.. लड़की पेट पोछनी थी। छाती बिलकुल सूख गई थी, लेकिन भगवान् की लीला है, और क्या।"

'अब से चुहिया चार पाँच बार आ कर बच्चे को दूध पिला जाती। बच्चा पैदा तो हुआ था दुर्बल, लेकिन चुहिया का स्वस्थ दूध पी कर गदराया जाता था।'[1]

ममतामयी चुहिया दूसरे के प्रति किया गया अन्याय नहीं देख सकती। एक दिन नशे के वश में गोबर झुनिया को पीटता है। चुहिया आ कर उसे छुड़ाती है और गोबर को डाँटती है। गोबर चुहिया से कहता है, "तुम मेरे घर मत आया करो चूहा, तुम्हारे आने का कुछ काम नहीं।"

चुहिया ने व्यंग्य के साथ कहा, "तुम्हारे घर में न आऊँगी, तो मेरी रोटियाँ कैसे चलेंगी? यहीं से माँग जाँच कर ले जाती हूँ, तब तवा गर्म होता है। मैं न होती लाला, तो यह बीवी आज तुम्हारी लातें खाने के लिए बैठी न होती।"

गोबर घूँसा तान कर बोला, "मैंने कह दिया, मेरे घर में न आया करो। तुम्हीं ने इस चुड़ैल का मिजाज आसमान पर चढ़ा दिया है।"

चुहिया वहीं डटी हुई निःशंक खड़ी थी, बोली, "अच्छा अब चुप रहना गोबर। बेचारी अधमरी लड़कोरी औरत को मार कर तुमने कोई बड़ी जवाँमर्दी का काम नहीं किया है। तुम उसके लिए क्या करते हो कि वह तुम्हारी मार सहे? एक रोटी खिला देते हो इसलिए? अपने भाग बखानो कि ऐसी गऊ औरत पा गए हो। दूसरी होती, तो तुम्हारे मुँह में झाड़ू मार कर निकल गई होती।"[2]

१. गोदान, पृष्ठ ३६३
२. गोदान, पृष्ठ ३६५

चुहिया गोबर को भी एक बार मौत के मुँह स निकालती है। गोबर मिल मजदूर है और हडतालियों में सबस आगे रहने के कारण दगे में सख्त घायल हो जाता है। उसके हाथ की हड्डी टूट जाती है और सर खुल जाता है। गोबर के शराबी होने के कारण घर में एक पैसा भी नहीं है। चुहिया पैसे-रुपए सभी झुनिया की मदद करती है। वह भी कोई मालदार तो है नहीं, लकड़ी की बिक्री क रुपए उस दे देती है। झुनिया का बच्चा तो गोबर की बीमारी के दिनों में उसी के पास रहता है। गोबर को जब होश आता है, तो वह असह्य पीडा के कारण सोचता है कि अब वह बचेगा नहीं और झुनिया से अपना कहा-सुना माफ कराने लगता है। किन्तु, चुहिया इस प्रकार के विश्वास भरे शब्दों में उस सान्त्वना देती है कि वह आशान्वित हो जाता है—

उसी समय गोबर ने आंख खोली और झुनिया को सामने देख कर याचना भाव स क्षीण स्वर में बोला, आज बहुत चोट खा गया झुनिया। म किसी स कुछ नहीं बोला। सबों ने अनायास मुझे मारा। कहा-सुना माफ कर। तुझे सताया था, उसी का यह फल मिला। थोड़ी देर का और मेहमान हूँ। अब न बचूँगा। मारे दरद के सारी देह फटी जाती है।'

चुहिया ने अन्दर आ कर कहा, 'चुपचाप पड रहो। बोलो चालो नहीं। मरोगे नहीं इसका मरा जुम्मा।'

गोबर के मुख पर आशा की रेखा झलक पडी। बोला, "सच कहती हो म मरूँगा नहीं?'

'हा, नहीं मरोगे। तुम्हें हुआ क्या है? जरा सिर में चोट आ गई है और हाथ की हड्डी उतर गई है। ऐसी चोटें मरदों को रोज ही लगा करती हैं। इन चोटों स कोई नहीं मरता।'[1]

'गोदान' उपन्यास स ही एक और उदाहरण ल। मेहता और मालती जब जगलों में शिकार खेलने के लिए जाते हैं तो विद्वान् और दार्शनिक मेहता वहाँ की एक काली कलूटी जगली लडकी स प्रभावित होते हैं। उस जगली युवती में सेवा और त्याग की ऐसी प्रवृत्ति है गृह प्रबन्ध का ऐसा व्यावहारिक ज्ञान है कि मेहता श्रद्धानत हो जाते हैं। मेहता एक पहाडी नाले में तैरते हुए शिकार किए हुए लालसर का, जो गोली लगते ही नाले में गिर कर धार के साथ बहा जा रहा था, आध मील तक पीछा करते हैं। किन्तु, पक्षी हाथ नहीं आता। वह मर कर भी हाथ से निकला जा रहा था। परिस्थिति ताड कर सहसा वह जगली युवती पानी में घुस पडती है और चिडिए को निकाल लाती है। वह मेहता को अपनी झोपडी में दोपहरी बिताने को बुलाती है। मेहता जब तक कुछ कहें, वह उनस पता पूछ कर मालती को बुलाने चली जाती है जो आध मील पीछे छूट गई थी। फिर वह आग जलाती है, लालसर के पख झुलस कर उसकी बोटियाँ बनाती है और चूल्हे पर माम चढा देती है। वह चूल्हे के दूसरे ऐले पर दूध उबालने के लिए चढा देती है और आटा गूँधने लगती है। मेहता अनुरक्त नेत्रों स उसका गृह-कौशल देखते हैं। इतने में उस मालूम

१ गोदान पृष्ठ ३६६ ३७०

होता है कि मालती के सर में बहुत दर्द है। वह उस लू और धूप में दूर ऊँची पहाडी पर जडी लाने चली जाती है। मेहता उसे रोकने के लिए कुछ कह भी नहीं पाते। वे सोचते हैं, 'इस जगली छोकरी मे सवा का कितना भाव और कितना व्यावहारिक ज्ञान है।'' मेहता मालती से कहते हैं अपने किसी घनिष्ठ मित्र के लिए भी इस धूप और लू में उस ऊँची पहाडी पर न जाता। और हम केवल घडी भर के मेहमान हैं, यह वह जानती है। वह किसी गरीब औरत के लिए भी इसी तत्परता से दौड जाएगी। मैं विश्व-बन्धुत्व और विश्व प्रेम पर केवल लेख लिख सकता हूँ, केवल भाषण दे सकता हूँ, वह उस प्रेम और त्याग का व्यवहार कर सकती है। कहने से करना कही कठिन है।''[२]

अत प्रेमचन्द की दृष्टि में शिक्षा का अर्थ मानवीय भावनाओं का विकास है, उनका कुण्ठित होना नहीं।[३] जब अनपढ, गँवार नारियों में इतनी दया, प्रेम, सहानुभूति, वात्सल्य, सेवा, त्याग, सत्यासत्य का विवेक, कर्त्तव्य पालन, धार्मिकता, व्यावहारिक ज्ञान, पारिवारिक और सामाजिक बन्धनों तथा मर्यादा के प्रति निष्ठा हो सकती है, तो विद्या और बुद्धि से सम्पन्न, ससार का विस्तृत अनुभव और ज्ञान रखने वाली शिक्षित नारियों में तो इनका रूप और प्रखर होना चाहिए। उनकी आँखों और हृदय में समाज और राष्ट्र की दशा प्रतिबिम्बित होनी चाहिए और उन्हें समाज सुधार के प्रयत्न करने चाहिए। इसके विपरीत, देखने में यह आता है कि जाग्रत और शिक्षित नारियाँ विलासिनी, आत्मसेवी, उच्छृखल और स्वच्छन्द हो जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि उन्हें गलत ढग की शिक्षा मिली है। 'गोदान' उपन्यास की विदुषी मालती का प्रारम्भिक रूप ऐसा ही है। वह उच्छृखल और स्वच्छन्द तितली के रूप मे पाठको के सम्मुख आती है, किन्तु मेहता के सम्पर्क से उसमें परिवर्त्तन होता है और शिक्षिता होने के कारण वह अपने गुरु दायित्व को समझती है। उनके परिवर्तित आचरण को शिक्षित नारियों का आदर्श कहा जा सकता है। मालती की सारी शिक्षा दीक्षा का उपयोग समाज सेवा में होता है। वह अपने नारीत्व को अपने ज्ञान के अनुसार विकसित करती है। शिक्षा का यही आदर्श हो सकता है।

किन्तु भारत में मालती जैसी उच्च शिक्षाप्राप्त नारियों की सख्या आज भी उँगलियों पर गिनी जा सकती है। अत प्रश्न यह है कि साधारण नारी को, जिसके पास न तो मालती जैसा साधन है, न शक्ति, कैसी शिक्षा मिलनी चाहिए? प्रेमचन्द नारियों का मुख्य कार्य क्षेत्र घर में मानते हैं। वैवाहिक जीवन समझौते का जीवन होता है। समाज सद्भाव, एकता और पारस्परिक सामजस्य की नींव पर ही स्थित है। वैवाहिक जीवन सामाजिक जीवन का

---

१ गोदान, पृष्ठ १०७

२ गोदान, पृष्ठ १०८

३ (क) 'प्रेमाश्रम' उपन्यास का ग्रामीण दुखरन कहता है 'कहते हैं कि विद्या से आदमी की बुद्धि ठीक हो जाती है, पर यहाँ उलटा ही देखने में आता है। यह हाकिम और अमले तो पढ़े लिखे विद्वान् होते है। लेकिन, किसी को दया धर्म का विचार नहीं रहता।"—प्रेमाश्रम, पृष्ठ ६

(ख) ज्ञानशकर की कुटिलता देख कर प्रभाशकर सोचते हैं, 'विद्या का फल तो यह होना चाहिए कि मनुष्य में धैर्य और सन्तोष का विकास हो, ममत्व का दमन हो, हृदय उदार हो न कि स्वार्थपरता, चद्रता और शील हीनता का भूत सिर चढ़ जाए।' —प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३७

एक लघु चित्र कहा जा सकता है। अत जो शिक्षा जीवन में कर्त्तव्य, समन्वय, मेल-जोल, आदान प्रदान का महत्त्व समझाए, वही उपयुक्त शिक्षा कही जा सकती है। भारतीय नारी को भी ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, ताकि वह अपने *पत्नीत्व और मातृत्व के दायित्व का* महत्त्व समझ सके। फैशन या विलास की वृद्धि करके पुरुष की प्रतिस्पर्धा करने या उसका खिलौना बनने की जरूरत नही। नारी को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह पुरुष की सहयोगी हो, प्रतिद्वन्द्वी नही, जैसा कि प्राय आधुनिक शिक्षा से होता है।[१] सत्य यह है कि नारी शिक्षा के नीति निर्धारण में भारतीय आदर्शों से बहुत सहायता मिल सकती है, जिनका भारत के ग्रामों और अशिक्षित समाजों में आज भी लोप नही हुआ है। पूर्वोक्त घनिया, चुहिया, पहाड़ी गँवार युवती और प्रेमचन्द द्वारा ही चित्रित अन्य नारियों का, जिन्होंने स्वाभाविक रूप से अपना कर्त्तव्य सीखा है और जिनमें सेवा, वात्सल्य, दया, श्रद्धा, मर्यादा *प्रेम, न्यायप्रियता-जैसे मानवीय गुणों और मूल्यों के प्रति आस्था है, ऐसा ही वर्णन हुआ है।* इन गुणों की रक्षा करते हुए और इन्ही का क्षत्र बढा कर भावी नारी शिक्षा का आदर्श निर्मित हो सकता है, जिसमे नारीत्व का स्वस्थ विकास हो और नारियाँ परिवार एव समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकें।

●

---

१ यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्रेमचन्द की दृष्टि से आज भारतीय समाज में नारी को मुख से 'देवी' कहा जाता है पर अधिकारों और शिक्षा से वचित नारी को व्यवहार में 'दासी' समझा जाता है। जब प्रेमचन्द नारी को पुरुष की सहयोगी बनाने का वर्णन करते हैं, तो नारी के प्रति इस पशु-व्यवहार को मिटाना भी उनका लक्ष्य रहता है। इस सम्बन्ध में जब वे भारतीय आदर्शों की बात करते हैं, तो उनका अर्थ भारत की प्राचीन सस्कृति से होता है, जब नारी वस्तुत पुरुष की सहचरी थी।

१२

भारतीय नारी और पाश्चात्य सभ्यता

अंगरेजी शासन की स्थापना के परिणामस्वरूप भारत में पाश्चात्य सभ्यता भी, अपनी अच्छाइयों और खराबियों के साथ आई।[1] इसके कारण नई प्रवृत्तियाँ और नई समस्याएँ भी आई। अपनी भौतिकवादी श्रेष्ठता से पाश्चात्य सभ्यता ने भारत को अभिभूत कर दिया। फलतः एक ओर तो संकीर्ण परम्परावादी बने रहे, किन्तु दूसरी ओर ऐसे भारतीयों की संख्या भी कम न थी जो धर्म, आचार, संस्कृति, कला आदि क्षेत्रों में पश्चिम की श्रेष्ठता घोषित करने लग गए थे।

भारत तथा पश्चिम की सभ्यताओं में मौलिक भेद है। भारत की सभ्यता अध्यात्म प्रधान रही है जब कि पाश्चात्य सभ्यता भौतिकताप्रधान है। भौतिकवाद तथा सुखवाद के सिद्धान्त त्याग पर बल देने वाले भारतीय आदर्श के प्रतिकूल हैं। पाश्चात्य सभ्यता में व्यक्ति के अधिकारों—विशेषतः समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों—पर बहुत बल दिया जाता है, जब कि भारतीय सभ्यता में इस बात पर जोर दिया जाता है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना दायित्व पूर्ण करना है। यही कारण है कि पश्चिम की सभ्यता व्यक्ति के सुख को महत्त्व देती है और भारत की सभ्यता समाज-कल्याण को। एक में व्यष्टिवाद की प्रधानता है, दूसरी में समष्टिवाद की।[2]

अधिकार में मनुष्य को सदा भौतिक सुख भोग की चिन्ता रहती है, क्योंकि वह सुख का मूल आत्मतुष्टि में नहीं बाहरी चीजों और सुविधाओं के बाहुल्य में समझता है। वह अपने सुख के लिए धन चाहता है, विश्राम चाहता है अनुकूल वातावरण चाहता है। परिणाम यह होता है कि धीरे धीरे उसमें स्वार्थ की मात्रा बढ़ती जाती है। व्यक्तियों के स्वार्थों के टकराने पर संघर्ष होता है। पश्चिम का यह सुखवाद या अधिकारवाद विशेषतः

---

१ भारत में पाश्चात्य सभ्यता की खराबियों का ही अधिक प्रचार हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की छात्र-छात्राओं की विलासिता और चंचलता को देख कर प्रेमचन्द ने एक बार अपनी पत्नी से कहा था यह गुलाम देश कब सुधरेगा समझ में नहीं आता। यहां नकल करने की आदत यहां तक है कि दूसरों की नकल करने में अपने को विद्वान् और बुद्धिमान् समझते हैं और वह भी पूरी नकल नहीं अधूरी। खराबियों की नकल तो ये झटपट कर लेते हैं अच्छाइयों की ओर झांकते तक नहीं"

शिवरानी देवी प्रेमचन्द घर में पृष्ठ १६५

२ (क) The West is concerned with rights not duties with desires to be released from responsibilities The way of ego assertion cannot be a royal road to realization of the self

ए० के० कुमारस्वामी द डान्स आव शिव

(मारगरेट कारमैक की पुस्तक द हिन्दू वुमन में पृष्ठ १४६ पर उद्धृत)

(ख) हरिदत्त वेदालंकार हिन्दू-परिवार मीमांसा पृष्ठ ७०-७१

औद्योगीकरण का परिणाम है, जो प्रतिद्वन्द्विता और उन्नति के नाम पर समाज का एक सगठन है। भौतिक उन्नति के लिए प्रतिद्वन्द्विता पुरुषों तक ही सीमित न रही। नारियाँ भी घर से बाहर निकल कर कारखानों में काम करने लगी। बाद में शिक्षा के प्रचार से वे अन्य क्षेत्रों में भी प्रविष्ट हुई। इस प्रकार इस अधिकारवाद ने, अन्य क्षेत्रों की भाँति, गृह क्षेत्र में भी प्रवेश किया। युगों से पीडित और दलित नारी ने पुरुष के विरुद्ध विद्रोह किया और तब वह पुरुष के सहयात्री अथवा पूरक के रूप में नहीं, बल्कि प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने आई। इस सघर्ष में उसने अपने स्त्रियोचित गुणों, भावुकता, कोमलता, त्याग, सहन शक्ति आदि का तिलाञ्जलि दे कर पुरुषों की कठोरता, विलासिता, स्वार्थपरता, शक्तिमत्ता, पर-पीडन आदि का अनुकरण किया। उसने अपने बुद्धि-बल का परिचय दे कर अपनी योग्यता के आधार पर अधिकारों की माँग की। आज वह पुरुष की भाँति स्वतन्त्र है और सभी क्षेत्रों में पुरुष के समान अपने बुद्धि विकास का परिचय देने को उत्सुक है।[1] किन्तु, उसकी शृगार-लालसा और रगीन गुडिया बन कर पुरुष को आकृष्ट करने की प्रवृत्ति इस तथ्य का सूचक है कि उसने चाहे अपने नारीत्व को नष्ट कर डाला हो, किन्तु वह रमणीत्व को नही भुला सकी है। इस प्रकार पश्चिम की नारी जिस पुरुष के प्रति होड की भावना रखती है, उसी को अपने रूप और शृगार के बल पर आकृष्ट भी करना चाहती है। आकर्षण और विकर्षण के उसके इस द्वन्द्व ने, उसे पुरुष की दृष्टि में रहस्यमय भी बनाया है और साथ ही, उसके मनोविनोद

१ (क) A condescension—a profound self d strust L ke ndustrial man the modern woman val ies industry more than leisure she seeks in every way to external ze her l fe to achieve success in men s professions she fe gns to be ashamed of her sexual nature she claims to be as reasonable as learned as expert as any man and her best men friends make the same cla m on her behalf But just in proportion as she lacks a genu ne fem nine idealism in as much as she wishes to be something other than herself she lacks power

ए० के कुमारस्वामी द डान्स आव शिव

(मारगरेट कारमैक की पुस्तक द हिन्दू वुमन' में पृष्ठ १४७-१४८ पर उद्धृत)

(ख) नारियों द्वारा पुरुषों के इस अनर्थमय अनुकरण का औद्योगीकरण के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण कारण है। युगों से पीड़ित और दलित नारी ने जब अपने पतन का कारण ढूँढा तो उसने पुरुष की तुलना में अपने अन्दर जो अन्तर पाया उसी को अपनी दुरवस्था का मूल कारण समझ कर अपनी नारीजन्य कोमलता दया वात्सल्य आदि को दमित कर वह पुरुष की भाति स्वतन्त्र स्वच्छन्द स्वार्थी और कठोर बनने का प्रयत्न करने लगी। श्रीमती महादेवी वर्मा लिखती हैं—'दो वस्तुओं का अन्तर सदैव ही उनकी श्रेष्ठता और हीनता का द्योतक नहीं होता यह मनुष्य प्राय भूल जाता है। नारी ने भी यही चिरपरिचित भ्रान्ति अपनाई। उसने निश्चय किया कि वह उस भावुकता को आमूल नष्ट कर डालेगी जिसका आश्रय ले कर पुरुष उसे रमणी समझता है उस गृह बन्धन को छिन्न कर देगी जिसकी सीमा ने उसे पुरुष को भार्या बना दिया है और उस कोमलता का नाम भी न रहने देगी, जिसके कारण उसे बाह्य जगत के कठोर सघर्ष से बचने के लिए पुरुष का निकट रक्षणीय होना पड़ा है।'

श्रीमती महादेवी वर्मा, शृखला की कड़ियाँ पृष्ठ ४२

का साधन भी। वह पुरुष की सहचरी नहीं रह गई है।' नारी के प्रति पश्चिम के पुरुषों की भी दो ही दृष्टियाँ हैं—यदि वह रूपवती है, ता उसके प्रति उसे मोह है, यदि वह ऐसी नहीं, तो वह उसकी उपेक्षा करता है। ये दोनों ही स्थितियाँ नारीत्व को अपमानित करती हैं।[२] अत पश्चिम में पारिवारिक अशान्ति और कलह है, जिनके दर्शन आए दिन, तलाक के रूप में होते हैं।

व्यष्टिवाद और अधिकारवाद की धुन में पश्चिम की नारी ने यह समझने का प्रयत्न नहीं किया कि नारी की अधीनता का कारण उसका नारीत्व नहीं, बल्कि कुछ और ही है। समाज में पुरुष और नारी दोनों की ही तुल्य स्थिति है—कौन बड़ा और कौन छोटा? नारी के लिए उचित होता कि वह उन वास्तविक, किन्तु अप्रत्यक्ष, कारणों को ढूँढने और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करती, जिनसे उसकी वह दुरवस्था थी। इसके विपरीत पुरुष के अनुकरण में अपनी मुक्ति मान कर उसने नारीत्व को ही क्षत विक्षत कर डाला।

आधुनिक शिक्षित भारतीय नारी ने भी अपनी दुरवस्था का कारण ढूँढने के प्रयत्न में पश्चिम की नारी की यह भूल दुहराई, बल्कि उसने उसे ही अपना लक्ष्य बनाया। यद्यपि प्राचीन वैदिक सभ्यता में भारतीय नारी पुरुष की सहचरी थी और उसने अपनी उपयोगिता तथा महत्त्व के कारण समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया था, फिर भी कालान्तर में पुरुष उसकी सेवाओं को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगा, जिससे दोनों के सम्बन्ध में सहयोगी का नहीं, स्वामी और दासी का भाव आ गया। नारी के सेवा, त्याग, कोमलता, विनय आदि गुण उसके दासत्व के चिह्न के रूप में रह गए—न तो नारी इनका महत्त्व समझती थी, न पुरुष। भारतीय नारी मनुष्य के सभी अधिकारों से वंचित होती चली गई, किन्तु दायित्व का भारी बोझ उसके सर पर बना रहा। शास्त्र और सामाजिक व्यवस्था के निर्माता, पुरुषों ने, अपने आपको अधिक से-अधिक स्वच्छन्द रखा था और नारी को कठिन तम नियमों से नियन्त्रित किया था। वह शिक्षा से वंचित और अपनी छोटी से छोटी आव श्यकता के लिए पुरुष पर आश्रित थी। वह अपनी बुद्धि से नहीं, पुरुष की प्रसन्नता और अप्रसन्नता को ध्यान में रख कर अपने कर्त्तव्य का निश्चय करती थी।

---

१ श्रीमती महादेवी वर्मा शृंखला की कड़िया पृष्ठ ४३ ४४

२ पश्चिम में स्त्रियों ने बहुत कुछ प्राप्त कर लिया परन्तु सब कुछ पा कर भी उनके भीतर की चिरन्तन नारी नहीं बदल सकी। पुरुष उसके नारीत्व की उपेक्षा करे यह उसे भी स्वीकार न हुआ अत वह अथक मनोयोग से अपने बाह्य आकर्षण को बढ़ाने और स्थायी रखने का प्रयत्न करने लगी। पश्चिम की स्त्री में जो विशेषता है उसके मूल में पुरुष के प्रति उसकी स्पर्धा के साथ ही उसे आकर्षित करने की प्रवृत्ति भी कार्य करती है। पुरुष भी उसकी प्रवृत्ति से अपरिचित नहीं रहा। इसस उसके व्यवहार में मोह और अवज्ञा ही प्रधान है। स्त्री यदि रंगीन खिलौने के समान आकर्षक है तो वह विस्मय विमुग्ध हो उठेगा, यदि नहीं तो वह उसे उपेक्षा की वस्तु मात्र समझेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही स्थितियाँ स्त्री के लिए अपमानजनक हैं।'

श्रीमती महादेवी वर्मा शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ४५

अत बीसवीं शताब्दी में भारतीय नारी ने भी विद्रोह किया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द आदि नेतागण भूमि तैयार कर चुके थे। भारतीय नारी में शिक्षा का प्रचार बढ रहा था और उसे अपनी दयनीय स्थिति का ज्ञान हो रहा था। इस शताब्दी के आरम्भ में ही शिक्षित नारियों और उनकी ओर से कुछ पुरुषों द्वारा, नारी के स्वत्वों की माँग होने लगी। 'स्त्रियोपयोगी' पत्र पत्रिकाओं के पृष्ठ और अन्य प्रकार की पत्र पत्रिकाओं के नारी सम्बन्धी स्तम्भ नारियों पर पुरुषों के अत्याचार, नारियों की पराधीनता की शिकायत तथा उनके लिए अधिकारा की माँग से भरे रहते। नारी-सम्बन्धी सस्थाओं के भी ये ही प्रधान काय थे।

इन नारी आन्दोलनों का प्रभाव लेखकों और उपन्यासकारों पर भी पडा। प्रमचन्द समाज के उन दलित शोषित वर्गों व प्रति सहानुभूतिशील थे, जिनमें भारतीय नारी की भी गणना होती है। वे अन्य वर्गा की तरह भारतीय नारी समाज की स्थिति में भी सुधार चाहते थे। किन्तु, वे यह नही चाहते थे कि भारतीय नारी पाश्चात्य सभ्यता और नारी से प्रभावित हो कर नारीत्व के परम्परागत महान् आदर्शों से विमुख हो जाए। वे उसको 'भारत की पतिपरायण रमणी' के रूप में देखना चाहते थे, 'योरप की आमोदप्रिय युवती' के रूप में नहीं।[1] मनवता देवी की छोटी सी पुस्तक 'नारी धम शिक्षा' पर दी गई अपनी 'सम्मति' में उन्होंने लिखा था--'सम्भव है, नई रोशनीवाली बहनों को पुरुष सेवा और पारिवारिक सेवा का आदर्श दकियानूसी मालूम हो, लेकिन जो देवियाँ अपनी कन्याओ को फैशनेबुल लेडी नहीं, सहधर्मिणी बनाना चाहती हैं, उ हें इस किताब से बडी सहायता मिलेगी।'[2] प्रेमचन्द की एकाधिक कहानियों से भी उनके इस दृष्टिकोण का समर्थन होता है, उदाहरणार्थ 'शान्ति', 'दो सखियाँ', आदि।

'शान्ति' कहानी का नायक पश्चिमी सभ्यता से अभिभूत है। उसने कालेज की डिग्रियाँ पाई हैं और अँगरेजी सभ्यता की चकाचौंध के सामने उसे अपनी सभ्यता का सारल्य और सन्तोष पसन्द नही है। यह समझने में वह असमर्थ है कि इस सभ्यता का प्रतिनिधित्व करने वालों के हास विलास के पीछे बहुधा अभाव और पीड़न रहते हैं। वह भारतीय सस्कारों के बीच पली हुई अपनी सती साध्वी, सलज्ज, नम्र, धर्म भीरु तथा सेवापरायण पत्नी से असन्तुष्ट है और उसे स्वतन्त्रता, समानता, सुख भोग, पुस्तकावलोकन की शिक्षा देता है। श्यामा (उसकी पत्नी) यदि रामायण और अन्य धार्मिक पुस्तकें पढती है, तो वह उसे उनके बदले अगरेज लेखकों की पुस्तकें पढने और अँगरेजी भाषा सीखने को कहता है, यहाँ तक कि श्यामा धीरे धीरे उसके रग में रँगने लग जाती है। अब उसका मन घर के काम काज में नहीं लगता और वह अपना अधिक समय शृगार तथा पढने में ही लगाती है। इसके बाद वह सास की आज्ञाओं का उल्लघन करती है। माता के अप्रसन्न होने पर श्यामा को ले कर उसका पति एक बडे शहर में वकालत करने चला जाता है। यहाँ आ कर वे पूरी तरह से अँगरेजियत का अपनाते हैं। घर में पाँच पाँच नौकर हैं, अत श्यामा को गृहस्थी

१ 'दो सखियाँ', मानसरोवर, भाग ४ पृष्ठ २५६

२. सम्मति, मनवता देवी, नारी धर्म शिक्षा

से फुर्सत मिल जाती है। नौकरों के हाथ का पकाया भोजन, चीनी मिट्टी के प्लेटों और रकाबियों में सजा हुआ मेज पर आ जाता है। बैठे बैठे श्यामा का जी घबड़ाता है, तो कोई उपन्यास पढने लगती है। खर्च इतना बढ गया है, किन्तु आमदनी कम है। कभी कभी वकील साहब को चिन्ता होती है, पर वे अपना खर्च कम नहीं करते। उनकी दृष्टि में अभाव से ही द्रव्योपार्जन की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो सकती है और सन्तोष दरिद्रता का दूसरा नाम है। अस्तु, वे खर्च बढ़ाते ही जाते हैं। सप्ताह में तीन बार थिएटर जाते हैं और एक बार मित्रों की दावत भी अवश्य ही करते हैं। एक ईसाई महिला श्यामा को पढाने और गाना सिखाने आती है। पियानो भी खरीदा जाता है।

प्रेमचन्द ने वकील साहब और श्यामा की 'सोसायटी' के माध्यम से पाश्चात्य सभ्यता के अन्धभक्त अन्य व्यक्तियों का भी चित्रण किया है। नए समाज की महिलाओं का वर्णन करती हुई श्यामा कहती है—"यह एक बिलकुल नई सोसायटी थी। इसके रहन सहन, आहार व्यवहार और आचार विचार मेरे लिए सर्वथा अनोखे थे। मैं इस सोसायटी में ऐसी जान पडती, जैसे मोरों में कौवा। इन लेडियों की बातचीत कभी थिएटर और घुड़दौड़ के विषय में होती, कभी टेनिस, समाचारपत्रों और अच्छे अच्छे लेखकों के लेखों पर। उनके चातुर्य, बुद्धि की तीव्रता, फुर्ती और चपलता पर मुझे अचम्भा होता। ऐसा मालूम होता कि वे ज्ञान और प्रकाश की पुतलियाँ हैं। मैं उन लेडियों को कभी उदास या चिन्तित न पाती। मि० दास बीमार थे, परन्तु मिसेज दास के माथे पर चिन्ता का चिह्न तक न था। मिस्टर बागडी नैनीताल में तपेदिक का इलाज करा रहे थे, पर मिसेज बागडी नित्य टेनिस खेलने जाती थी।"[1]

धीरे धीरे इस दम्पति की भी यही हालत होती है। यद्यपि अब श्यामा को उसके पति सदैव 'डियर', 'डार्लिंग' आदि कह कर ही पुकारते हैं, तथापि उनकी बातों में उसे एक बनावट सी मालूम होती है। उसे प्रतीत होता है, ये बातें उनके हृदय से नहीं, मुख से निकलती हैं। श्यामा के हृदय में भी पति के प्रति पहले की सी श्रद्धा नहीं रह जाती। अब पति के सर की पीडा उसके हृदय में दर्द नहीं पैदा करती। अब उसका बनाव सिंगार पति के लिए नहीं, अपने लिए होता है। उसके हृदय से त्याग तथा सेवा की भावनाएँ लुप्त होने लगती हैं।

पत्नी की यह दशा देख कर वकील साहब को अपनी भूल मालूम होती है। वे चिन्ता में घुलने लगते हैं और बीमार पड जाते हैं। बीमारी से उन्हें और भी शिक्षा मिलती है। श्यामा उनकी परिचर्या नहीं करती। उसका मन टेनिस खेलने, क्लब जाने, उपन्यास पढने और बनाव सिंगार में ही बसता है। एक दिन वे अपने मन की बात श्यामा से कह देते हैं कि वे इस रोग से तभी छुटकारा पा सकते हैं, जब उन्हें फिर पहला जीवन प्राप्त हो। उन्हें अँगरेजी और भारतीय—दोनों सभ्यताओं का पूर्ण अनुभव हो चुका था, अत उनके मुख से इनका मौलिक भेद कहलाना अर्थपूर्ण है। वे श्यामा से कहते हैं, "मैं इस प्रकार के जीवन के बाहरी रूप पर लट्टू हो रहा था, परन्तु अब मुझे उसकी आन्तरिक अवस्थाओं का बोध हो रहा है। इन चार वर्षों में मैंने इस उपवन का खूब भ्रमण किया और उसे आदि से अन्त

१ मानसरोवर, भाग ७ पृष्ठ ८७

तक कटकमय पाया। यहाँ न तो हृदय की शान्ति है, न आत्मिक आनन्द। यह एक उन्मत्त, अशान्तिमय, स्वार्थपूर्ण, विलासयुक्त जीवन है। यहाँ न नीति है, न धर्म, न सहानुभूति, न सहृदयता।...मैं अब फिर अपने घर जा कर वही पहले की सी जिन्दगी बिताना चाहता हूँ। मुझे अब इस जीवन से घृणा हो गई है और यही मेरी बीमारी का मुख्य कारण है। मुझे *शारीरिक नहीं, मानसिक कष्ट है। मैं फिर तुम्हें वही पहले की-सी सलज्ज, नीचा सिर* करके चलने वाली, पूजा करने वाली, रामायण पढने वाली, घर का काम-काज करने वाली, चरखा कातने वाली, ईश्वर से डरने वाली, पति श्रद्धा से परिपूर्ण स्त्री देखना चाहता हूँ। मैं विश्वास करता हूँ, तुम मुझे निराश न करोगी। तुम को सोलहो आने अपनी बनाना और सोलहो आने तुम्हारा बनना चाहता हूँ। मैं अब समझ गया कि उसी सादे पवित्र जीवन में वास्तविक सुख है।"[१]

'दो सखियाँ' कहानी में पद्मा पाश्चात्य सभ्यता की विचार-स्वतन्त्रता, विलासिता और व्यष्टिवाद से प्रभावित नारी है। अपने इन विचारों के कारण जीवन में उसे कटु अनुभव होते हैं और अन्त में वह भारतीय पत्नी की सेवापरायणता, आत्मसमर्पण और त्याग अपनाती है। पद्मा की सखी (चन्दा) भारतीय आदर्शों और विचारों को मानती है। उसका पारिवारिक जीवन सुखी है। दोनों सखियाँ पत्रों द्वारा अपने-अपने जीवन के अनुभव तथा एक दूसरे के जीवन और आचार विचार की आलोचना करती हैं। यह आलोचना पाश्चात्य और भारतीय सभ्यता की तुलनात्मक आलोचना है। पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित दाम्पत्य जीवन के आरम्भ में विलास, उल्लास और नित्य नवीन आमोद प्रमोद की प्रधानता रहती है, किन्तु *शीघ्र ही उसका अन्त उदासीनता, सन्देह और परित्याग में हो जाता है। भारतीय सभ्यता में* दाम्पत्य जीवन का प्रारम्भ सास, ससुर, देवर, ननद और परिवार के अन्य सदस्यों के नियन्त्रण, उनके प्रति सेवा भावना, आत्मसमर्पण और त्याग से प्रारम्भ होता है, जो ऊपर से देखने पर आत्मसम्मानशून्य और नीरस प्रतीत होता है, किन्तु उसमें सच्ची शान्ति और सुख है और पश्चाताप करने की जरूरत नहीं है। पद्मा और चन्दा के जीवन से यह स्पष्ट हो जाता है।

सुन्दरी पद्मा एक रूपवान्, विद्वान्, शिष्ट और नवीन विचारों वाले युवक (विनोद) की ओर आकृष्ट होती है। विनोद भी उसके सौन्दर्य, उच्च शिक्षा और सरस स्वभाव के कारण उससे प्रेम करता है। विवाह के पूर्व यदि विनोद अपनी पूर्व परिचिता युवती (कुसुम)

---

१ (क) मानसरोवर, भाग ७ पृष्ठ ९२-९३

(ख) महात्मा गांधी ने कहा था—'मैं इन्द्रिय-सुख से पूर्ण आधुनिक कृत्रिम जीवन का विरोध करता हूँ और लोगों से प्राचीन सात्विक जीवन ग्रहण करने को कहता हूँ।"

मो० क० गांधी, महिलाओं से, पृष्ठ २९

(ग) भारतीय तथा पाश्चात्य जीवन प्रणालियों की तुलना करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—
'Social life in the West is like a peal of laughter, but underneath it is a wail. It ends in a sob The fun and frivality are all on the surface really it is full of tragic intensity Here (in India) it is sad and gloomy on the surface but underneath are carelessness and merriment

रोमाँ रोलाँ, द लाइफ ऑफ विवेकानन्द ऐण्ड द युनिवर्सल गोस्पेल, पृष्ठ १७३

के साथ हँसता-बोलता भी है, तो पद्मा जल भुन जाती है और विनोद से बात तक नहीं करना चाहती। विनोद उसके सामने घुटने टेक कर उससे प्रेम की भिक्षा माँगता है और आत्म-समर्पण करता है। अपने विवाह में कुसुम की प्रसन्नता, निष्कपटता और सेवा-भावना देख कर पद्मा को अपनी भूल मालूम होती है कि उसने उस पर सन्देह कर उसके साथ घोर अन्याय किया था। विवाह के दूसरे ही दिन विनोद और पद्मा विहार-यात्रा के लिए मसूरी चले जाते हैं। वहाँ सैर-सपाटे और आमोद प्रमोद में पद्मा के सुख-स्वप्न साकार होते हैं। मसूरी के सैर सपाटे और भोगप्रधान जीवन का वर्णन पद्मा ने इन शब्दों में किया है, 'सुबह हुई, नाश्ता आया, हम दोनों ने नाश्ता किया, डाँडी तैयार है, नौ बजते-बजते सैर करने निकल गए। किसी जल प्रपात के किनारे जा बैठे। वहाँ जल प्रवाह का मधुर संगीत सुन रहे हैं या किसी शिला-खण्ड पर बैठे मेघों की व्योम क्रीड़ा देख रहे हैं। ११ बजते-बजते लौटे। भोजन तैयार है। भोजन किया। मैं प्यानो पर जा बैठी। विनोद को संगीत से प्रेम है। खुद बहुत अच्छा गाते हैं और मैं गाने लगती हूँ, तब तो झूमने ही लगते हैं। तीसरे पहर हम एक घण्टे का विश्राम करके खेलने या कोई खेल देखने चले जाते हैं। रात को भी भोजन करने के बाद थिएटर देखते हैं और वहाँ से लौट कर शयन करते हैं। न सास की घुड़कियाँ हैं, न ननदों की कानाफूसी, न जेठानियों के ताने।''[१]

किन्तु, पद्मा अपनी विहार यात्रा के दो-ढाई महीने की अल्प अवधि में ही पति की दगाबाजी, धोखा, स्वाँग, कपट-लीला, अविश्वास, बुरी आर्थिक दशा आदि की शिकायतें चन्दा को लिख भेजती है। वह पति के भावों को समझने की चेष्टा नहीं करती, न उसे अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान ही है। वह पति से केवल लेना जानती है, उसे देना नहीं जानती, वह केवल अपने अधिकारों के लिए सचेष्ट है, दायित्वों के प्रति सजग नहीं है। वह चन्दा को लिखती है, 'मुझे ऐसा सन्देह हो रहा है कि विनोद ने मेरे साथ दगा की है। इनकी आर्थिक दशा वैसी नहीं, जैसी मैंने समझी थी। केवल मुझे ठगने के लिए इन्होंने सारा स्वाँग भरा था। मोटर माँगे की थी, बँगले का किराया अभी तक नहीं दिया गया, फर्नीचर किराए के थे। यह सच है कि इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से मुझे धोखा नहीं दिया, कभी अपनी दौलत की डींग नहीं मारी, लेकिन ऐसा रहन-सहन बना लेना, जिससे दूसरों को अनुमान हो कि वह कोई बड़े धनी आदमी हैं, एक प्रकार का धोखा ही है। यह स्वाँग इसलिए भरा गया था कि कोई शिकार फँस जाए। अब देखती हूँ कि विनोद मुझसे असली हालत को छिपाने का प्रयत्न किया करते हैं।...मैं इस कपट-लीला से जलती हूँ। अगर विनोद अपनी कठिनाइयाँ कह दें, तो मैं उनके साथ सहानुभूति करूँगी, उन कठिनाइयों को दूर करने में उनकी मदद करूँगी। यों मुझसे परदा करके यह मेरी सहानुभूति और सहयोग ही से हाथ नहीं धोते, मेरे मन में अविश्वास, द्वेष और क्षोभ का बीज बोते हैं। यह चिन्ता मुझे मारे डालती है। *अगर इन्होंने अपनी दशा साफ-साफ बता दी होती, तो मैं यहाँ मसूरी आती ही क्यों?*...सबसे कठिन समस्या जीविका की है। कई विद्यालयों में आवेदन-पत्र भेज रखे हैं। जवाब का इन्तजार कर रहे हैं। शायद इस महीने के अन्त तक कहीं जगह मिल जाए।

१. मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २१७

पहले तीन चार सौ मिलेंगे। समझ में नहीं आता, कैसे काम चलेगा। १५०) तो पापा मेरे कालेज का खर्च देते थे। अगर दस-पाँच महीने जगह न मिली, तो क्या करेंगे, यह फिक्र और भी खाए डालती है। मुश्किल यही है कि विनोद मुझसे परदा रखते हैं। अगर हम दोनों बैठ कर परामर्श कर लेते, तो सारी गुत्थियाँ सुलझ जातीं। मगर, शायद वह मुझे इस योग्य ही नहीं समझते। शायद इनका खयाल है कि मैं केवल रेशमी गुड़ियाँ हूँ, जिसे भाँति भाँति के आभूषणों, सुगन्धों और रेशमी वस्त्रों से सजाना ही काफी है। मानों मेरे हृदय में गम्भीर अंश है ही नहीं। यह मेरा अपमान है, घोर अपमान, जिसे मैं अब नहीं सह सकती। मैं अपने सम्पूर्ण अधिकार ले कर ही सन्तुष्ट हो सकती हूँ।"[1]

चन्दा पद्मा को इन शब्दों में दोषी ठहराती है, "विनोद बाबू पर तुम व्यर्थ ही आक्षेप लगा रही हो। तुमने क्यों पहले ही उनकी आर्थिक दशा की जाँच-पड़ताल नहीं की? बस, एक सुन्दर, रसिक, शिष्ट, वाणी-मधुर युवक को देख कर फूल उठीं? अब भी तुम्हारा ही दोष है। तुम अपने व्यवहार से, रहन-सहन से, सिद्ध कर दो कि तुम में गम्भीर अंश भी है, फिर देखूँ कि विनोद बाबू कैसे तुममें परदा रखते हैं। और बहन, यह तो मानवी स्वभाव है। सभी चाहते हैं कि लोग हमें सम्पन्न समझें। इस स्वाँग को अन्त तक निभाने की चेष्टा की जाती है और जो इस काम में जितना सफल हो जाता है, उसी का जीवन सफल समझा जाता है। जिस युग में धन ही सर्वप्रधान हो, मर्यादा, कीर्ति, यश—यहाँ तक कि विद्या भी धन से खरीदी जा सके, उस युग में स्वाँग भरना एक लाजिमी बात हो जाती है।"[2]

पद्मा के बाद के पत्र भी विनोद की आलोचना और गृह प्रबन्ध के भार के रोने से भरे रहते हैं। विनोद दिल्ली में प्राध्यापक हो जाता है, तीन सौ रुपए वेतन पाता है, सौ रुपए पद्मा के पिता भी उसे देते जाते हैं, किन्तु पद्मा की दो आदमियों की गृहस्थी के लिए चार सौ रुपए भी पूरे नहीं पड़ते और सिनेमा थिएटर जाने को वह तरस कर रह जाती है। विनोद नारियों की स्वतन्त्रता का पक्षपाती है, अतः उसने पद्मा को रुपए पैसे और गृह प्रबन्ध के विषय में पूर्ण स्वाधीनता दे रखी है। किन्तु, यह भी उसे पसन्द नहीं, क्योंकि विनोद के इस आत्मसमर्पण ने उसकी निज की जरूरतों के लिए कोई गुंजाइश नहीं रखी है। उसे अपने शौक की चीजें खुद खरीद कर लाते बुरा मालूम होता है। उसे पिता के दिए हुए रुपयों को भी अपनी जरूरतों पर खर्च करने में संकोच होता है—कहीं विनोद यह न समझ ले कि उसके रुपए खर्च किए डालती हैं। गृहस्थी की झंझटों के कारण उसे किसी से हँसने बोलने का अवसर नहीं मिलता। महीनों से कोई नई पुस्तक नहीं पढ़ सकी है। इच्छा होती है, विनोद से कह दे कि उससे चलाए यह गाड़ी नहीं चलेगी। विनोद दो-ढाई घण्टे युनिवर्सिटी में काम करके दिन भर चैन करे, खूब टेनिस खेले, खूब उपन्यास पढ़े, खूब सोए और वह सुबह से आधी रात तक घर की झंझटों में मरा करे। ये बातें दो वर्षों के अन्दर ही हो जाती हैं।

---

१ मानसरोवर, भाग ४ पृष्ठ २२१ २२२

२ मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २२३

विनोद के साथ कुछ ऐसी बात है कि वह पद्मा के प्रबन्ध में न तो मीन-मेख करता है, न उससे प्रसन्न ही होता है। उसकी इस उदासीनता में, पद्मा को, सहानुभूति और सहृदयता का अभाव प्रतीत होता है। वह अपने लिए विनोद से सहानुभूति चाहती है। और, जब उसे यह सहानुभूति नहीं मिलती, तो वह पति को तंग करने का, उसकी 'समाधि' भंग करने का द्वेषपूर्ण उपाय सोच निकालती है। एक दिन वह विनोद के कमरे के लैम्प का बल्ब तोड़ देती है। विनोद कुछ नहीं कहता और पद्मा के कमरे में ही सो रहता है। दूसरे दिन वह पति पर झुँझला कर रसोइए को निकाल देती है कि भूखे सोएँगे, तब आँखें खुलेंगी। विनोद जलपान और भोजन किए बिना ही कॉलेज चला जाता है, पर उसका धैर्य पूर्ववत् अविचल रहता है। इसके बाद पद्मा ऐसी चाल चलती है कि विनोद की जान पर आ बनती है। वह सिनेमा हॉल में पति के सामने ही एक बंगाली युवक से सम्पर्क बढ़ाती है, उसे घर में खाने के लिए आमन्त्रित करती है और उसके लिए स्वयं भोजन बनाती है। विनोद सब कुछ सहता है, पर पद्मा को कुछ नहीं कहता। पद्मा पति के क्रोध, शासन और कठोरता की भूखी है। उसे पति के प्रेम और विश्वास में तृप्ति नहीं मिलती। यही नहीं, उसे पति पर अविश्वास भी है—जाने किन मित्रों को रोज पत्र लिखते हैं।

पद्मा की भर्त्सना करती हुई चन्दा उसकी इन हरकतों के कारण उसे जो उपदेश देती है, वह भारतीय नारीत्व के सर्वथा अनुरूप है, "हाय, उस गरीब के साथ तुम कितना भयंकर अन्याय कर रही हो। तुम यह क्यों समझती हो कि विनोद तुम्हारी उपेक्षा कर रहे हैं, अपने विचारों में इतना मग्न हैं कि उन्हें तुम्हारी परवा ही नहीं ? यह क्यों नहीं समझती कि उन्हें कोई मानसिक चिन्ता सताया करती है, कोई उन्हें ऐसी फिक्र घेरे हुए है कि जीवन के साधारण व्यापारों में उतनी रुचि नहीं रही। सम्भव है, वह कोई दार्शनिक तत्त्व खोज रहे हों। कौन कह सकता है ? तुम-जैसी रूपवती स्त्री पा कर यदि कोई मनुष्य चिन्तित रहे, तो समझ लो कि उसके दिल पर कोई बड़ा बोझ है। उनको तुम्हारी सहानुभूति की जरूरत है, तुम उनका बोझ हलका कर सकती हो। लेकिन, तुम उलटे उन्हीं को दोष देती हो। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम एक दिन क्यों विनोद से दिल खोल कर बातें नहीं कर लेतीं। सन्देह को जितनी जल्द हो सके, निकाल डालना चाहिए। सन्देह वह चोट है, जिसका उपचार जल्द न हो, तो नासूर पड़ जाता है और फिर अच्छा नहीं होता।"[१]

विनोद जब देखता है कि पद्मा उसके साथ खुश नहीं रह सकती और यह कि उसने एक युवक से मित्रता कर ली है, तो वह सोचता है, वह क्यों न वहाँ से चला जाए ? वह घर से चला जाता है और एक पत्र लिख कर छोड़ देता है, जिससे पद्मा का दिल साफ हो जाता है और वह पति के प्रेम की गम्भीरता को समझ पाती है। उसे पहली बार अपनी भूल मालूम होती है, "मैं उनको प्रचलित प्रेम-व्यापार की कसौटी पर कसना चाहती थी। यह फैशन हो गया है कि पुरुष घर में आए, तो स्त्री के वास्ते कोई तोहफा लाए, पुरुष रात दिन स्त्री के लिए गहने बनवाने, कपड़े सिलवाने, बेल, फीते, लेस खरीदने में मस्त रहे, फिर स्त्री को उससे कोई शिकायत नहीं, वह आदर्श पति है, उसके प्रेम में किसे सन्देह हो

१. मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २४४-२४५

सकता है ? लेकिन, उसी प्रेयसी की मृत्यु के तीसरे महीने वह फिर नया विवाह रचाता है। स्त्री के साथ अपने प्रेम को भी चिता में जला आता है। फिर वही स्वाँग इस नई प्रेयसी से होने लगते हैं, फिर वही लीला शुरू हो जाती है। मैंने यही प्रेम देखा था और इसी कसौटी पर विनोद को कस रही थी। कितनी मन्द-बुद्धि हूँ। छिछोरेपन को प्रेम समझे बैठी थी।"[1]

चन्दा भी उसे विनोद के प्रेम की गम्भीरता नहीं समझने के लिए फटकारती है, वह उसे *पाश्चात्य सभ्यता की विलासप्रिय नारी* बतलाती है और उसे प्रेम के मूल मन्त्र तथा सेवा के महत्त्व का उपदेश देती है, "मुझे तुमसे जरा-भी सहानुभूति नहीं है। तुम गृहिणी हो कर वह कुटिल क्रीडा करने चली थी, जो प्रेम का सौदा करनेवाली स्त्रियों को ही शोभा देती है।...तुम विनोद के योग्य नहीं हो। शायद तुम उस पति से प्रसन्न रहती, जो प्रेम के *नए-नए स्वाँग भर कर तुम्हें जलाया करता। शायद तुमने अँगरेजी किताबों में पढ़ा होगा* कि स्त्रियाँ छैले रसिकों पर ही जान देती हैं और पढ़ कर तुम्हारा सिर फिर गया है। तुम्हें नित्य कोई मनसनी चाहिए, अन्यथा तुम्हारा जीवन शुष्क हो जाएगा। तुम भारत की पति-परायण रमणी नहीं, यौरप की आमोदप्रिय युवती हो। मुझे तुम्हारे ऊपर दया आती है। तुमने अब तक रूप को ही *आकर्षण* का मूल समझ रखा है। रूप में *आकर्षण* है, मानती हूँ। लेकिन उस आकर्षण का नाम मोह है, वह स्थायी नहीं, केवल धोखे की टट्टी है। प्रेम का एक ही मूल मन्त्र है, और वह है सेवा। . मुझे विश्वास नहीं आता कि विनोद को बाहर से थके माँदे, पसीने में तर आया देख कर तुमने कभी पंखा झला होगा। शायद टेबुल फैन *लगाने की बात भी तुम्हें न सूझी होगी। सच कहना, मेरा अनुमान ठीक है या नहीं।* बतलाओ, तुमने कभी उनके पैरों में चप्पी की है ? कभी उनके सिर में तेल डाला है ? तुम कहोगी, यह खिदमतगारों का काम है, लेडियाँ यह मरज नहीं पालतीं। तुमने उस आनन्द का अनुभव ही नहीं किया। तुम विनोद को अपने अधिकार में रखना चाहती हो, मगर *उसका साधन नहीं करती। विलासिनी मनोरंजन कर सकती है, चिरसंगिनी नहीं बन सकती।* पुरुष के गले से लिपटी हुई भी वह उससे कोसों दूर रहती है।"[2]

चन्दा के उपदेश का पद्मा पर शायद ही कोई प्रभाव पड़ता, किन्तु उसकी परिस्थितियाँ उसे सेवा का महत्त्व समझा देती हैं। उसे कुसुम का पत्र मिलता है कि विनोद घर से भाग कर उसी के यहाँ गया था और बहुत दुखी था, किन्तु उसने उसे कुछ बतलाया नहीं।

---

१. (क) मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २५७

(ख) विनोद के प्रति अपनी उदासीनता और अपने प्रति अपने मोह को पद्मा ने अन्यत्र इन शब्दों में स्वीकार किया है, "मैं उनसे सब कुछ लेना चाहती थी, देना कुछ न चाहती थी। मैं चाहती थी कि वह आठों पहर भ्रमर की भाँति मुझ पर मँडराते रहें, पतंग की भाँति मुझे घेरे रहें। उन्हें किताबों और पत्रों में मग्न देख कर मुझे झुंझलाहट होने लगती थी। मेरा अधिकांश समय अपने ही बनाव-शृंगार में कटता था, उनके विषय में मुझे कुछ चिन्ता ही न होती थी।"

मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २७१

२. मानसरोवर, भाग ४, पृष्ठ २५९-२६०

शायद वह विलायत जाना चाहता था। इसीलिए बम्बई चला गया। उसने उसका पता भी दिया था और लिखा था कि पद्मा उस पते पर फौरन विनोद को तार दे दे, जिससे वह रुक जाए। पहले तो पद्मा इस स्थिति में भी कुसुम और विनोद पर सन्देह करती है—कहीं दोनों में प्रेम तो नहीं है और इसीलिए तो विनोद उससे विरक्त नहीं हो गया? फिर भी वह रसीदी तार भेजती है, किन्तु तार का जवाब नहीं आता और कुसुम ही विनोद को ले कर पहुँच जाती है। विनोद की दशा देख कर पद्मा घबड़ा जाती है। विनोद ने बम्बई में विष खा लिया था। विनोद के एक पत्र स सशक हो कर कुसुम बम्बई पहुँच गई थी और वहाँ उसे मरणासन्न पाया था। सवा और उपचार के बाद, विनोद के थोडा स्वस्थ होते ही, कुसुम उसे बलपूर्वक पद्मा के पास ले आई थी, जिससे दोनों के दिल साफ हो जाएँ। विनोद जब आराम स सो जाता है, तो कुसुम पद्मा से बगाली युवक के बारे में पूछताछ करती है। पद्मा कहती है, "वह तो एक दिल्लगी थी।' तब विनाद का सारा हाल कहत हुए कुसुम उसे समझाती है कि रूप ही सब कुछ नहीं। इसका महत्त्व दो चार महीनो के लिए हो सकता है, स्थायी वस्तु तो आत्मसमर्पण और सेवा भाव हैं, "मुझे आशा है, इस दुर्घटना ने तुम्हें इतना सचेत कर दिया होगा कि फिर ऐसी नौबत न आएगी। आत्मसमर्पण करना सीखो। भूल जाओ कि तुम सुन्दरी हो आनन्दमय जीवन का यही मूल मन्त्र है। रूप के साथ अगर तुम सेवा भाव धारण कर सको, तो तुम अजेय हो जाओगी।"[1] पद्मा रोती हुई कुसुम के पैरों पर गिर पडती है। वह चन्दा को लिखती है, "बहन, कुसुम कल चली जाएगी। मुझे तो अब वह देवी सी दीखती है। जी चाहता है, उसके चरण धो धो कर पीऊँ। उसके हाथों मुझे विनोद ही नहीं मिले हैं, सेवा का सच्चा आदर्श और स्त्री का सच्चा कर्त्तव्य ज्ञान भी मिला है। आज से मेरे जीवन का नवयुग आरम्भ होता है, जिसमें भोग और विलास की नहीं, सहृदयता और आत्मीयता की प्रधानता होगी।"[2]

योरोपीय सभ्यता से प्रभावित समाज में साधारणत नारी और पुरुष धन भोग के लिए विवाह करते हैं। यही उनके प्रम का आधार है। रुपया ही उनके पारस्परिक सम्बन्ध में सबसे बडी चीज होता है। फलस्वरूप जीवन पारिवारिक शान्ति से रहित होता है। वहाँ होटल का वातावरण है—अपना अपना काम करके रात में परिवार के सभी सदस्य घर में आए, खाना खाया और पड रहे। अपने बम्बई प्रवास के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर प्रमचन्द ने शिवरानी देवी से कहा था, 'यह लोग तो साहब हैं। इनलोगों को क्या मालूम है कि घर गिरस्त

१ मानसरोवर भाग ४ पृष्ठ २७७

२ (क) मानसरोवर भाग ४ पृष्ठ २७७ २७८

(ख) बगला उपन्यासकार शरत् भी आधुनिकाओं की नई रोशनी के दम्भ से अत्यन्त पीडित थे, लेकिन साथ ही पति परमेश्वर पर भी उनकी आस्था नहीं थी। उनके 'विप्रदास' उपन्यास की वन्दना में ऐसा ही परिवर्त्तन होता है। वह भी लुटपन से ही पश्चिमी सभ्यता के वातावरण में बम्बई में पली है बी० ए० पास किया है और भारतीय आचार विचार को हेय समझती है। वह अन्तजातीय प्रेम विवाह भी करने वाली है। किन्तु इसी बीच वह बगाल के एक देहात में अपनी मँझली दीदी के घर आ कर बिलकुल भारतीय नारी बन जाती है—प्रेम विवाह पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के एकदम विरुद्ध हो जाती है।

आदमी कैसे रहते हैं। अरे, नौकर ने बना दिया और साहब लोगों को दे आया, लोगों ने खा लिया। इनलोगों को क्या मालूम है कि जब घर की स्त्रियाँ खाना पकाती हैं और अपने हाथों से परोस कर खिलाती हैं, उसमें कितना प्यार रहता है और उस खाने में कितना जायका रहता है। इनलोगों के जीवन में जितने काम होते हैं, वह सब हवा पर ही होते हैं और उसी जीवन में यह खुश भी रहते हैं और साहबियत के पीछे तो जैसे जी-जान से पड़ गए हैं और भारत की सभ्यता से जैसे कोसों दूर भागते हैं।"

मैं (शिवरानी देवी), "तो वह भी आपको जाहिल या गँवार समझते होंगे।'

प्रेमचन्द, "वह कुछ भी समझें, मगर वह इन्सानियत से बहुत दूर जा रहे हैं। ... स्त्री, पुरुष या घर के और आदमी जैसे कि भाड़े के टट्टू हों; अपने-अपने काम से आए, खाना खाया और खा-खा कर पड़ रहे। इसको बोर्डिंग हाउस या होस्टल कुछ कह सकती हो। अगर इन लोगों में कुछ सुखदाई चीज है, तो वह है रुपया। इनके पास प्रेम और मुहब्बत के लिए कोई स्थान ही नहीं। जैसे सब के साथ रहने की खुशी नहीं और जुदाई का कोई रंज नहीं।"[1]

भारतीय सभ्यता में विवाह का आध्यात्मिक उद्देश्य होने के कारण नारी अपनी सेवा और त्याग से पति के आत्मविकास में सहायक होती है, जब कि पाश्चात्य नारी अपने रूप, चपलता, चातुर्य और वाणी-कौशल से पति के भौतिक विकास में, सांसारिक उन्नति में, सहायक होती है।[2] भारत के शिक्षित वर्ग के अतिरिक्त धनी वर्ग भी, स्वार्थ-सेवी और सांसारिक उन्नति को अधिक महत्त्व देने के कारण पाश्चात्य सभ्यता की नकल करता है। 'कर्मभूमि' उपन्यास में मनीराम की, जो लखनऊ के सबसे धनी व्यापारी का पुत्र है, पत्नी (नैना) साँवली और भारतीय संस्कृति को मानने वाली है, अतः पाश्चात्य नारी की भाँति मनीराम के व्यापार की उन्नति में वह हाथ नहीं बँटाती। मनीराम उससे सन्तुष्ट नहीं है और चाहता है कि दूसरा विवाह उस स्त्री से करे, जिससे उसे सहायता मिलेगी। उसके कथन का उसकी सलहज (सुखदा), जो इस विषय में उससे मतभेद रखती है, विरोध करती है —

---

१. शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ १८४-१८५

२. 'उन्माद' कहानी का मनहर इंगलैण्ड जाता है, तो उसे वहाँ की दुनिया बिलकुल भिन्न मालूम होती है—'मनहर के लिए इंगलैण्ड एक दूसरी ही दुनिया थी, जहाँ उन्नति के मुख्य साधनों में एक रूपवती पत्नी का होना भी था। अगर पत्नी रूपवती है, चपल है, चतुर है, वाणीकुशल है, प्रगल्भ है तो समझ लो कि उसके पति को सोने की खान मिल गई, अब वह उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। मनोयोग और तपस्या के बूते पर नहीं, पत्नी के प्रभाव और आकर्षण के बूते पर। उस संसार में रूप और लावण्य व्रत के बन्धनों से मुक्त एक अबाध सम्पत्ति थी। जिसने किसी रमणी को प्राप्त कर लिया, उसकी मानों तकदीर खुल गई। यदि कोई सुन्दरी तुम्हारी सहधर्मिणी नहीं है, तो तुम्हारा सारा उद्योग, सारी कार्यपटुता निष्फल है। कोई तुम्हारा पुरसाँहाल न होगा; अतएव वहाँ लोग रूप को व्यापारिक दृष्टि से देखते थे।'

मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ १११

मनीराम, "मेरे घर में ऐसी औरत की जरूरत थी, जो सोसायटी का आचार-व्यवहार जानती हो और लेडियों का स्वागत सत्कार कर सके। इस शादी से तो वह बात पूरी नहीं हुई। वह व्रत करती हैं, पूजा करती हैं, सिन्दूर का टीका लगाती हैं, लेकिन मुझे तो संसार में कुछ काम करना है, कुछ नाम करना है। मुझे पूजा पाठ वाली औरतों की जरूरत नहीं, पर अब तो विवाह हो ही गया, यह तो टूट नहीं सकता। मजबूर हो कर दूसरा विवाह करना पड़ेगा। अब यहाँ दो चार लेडियाँ रोज ही आया चाहें, उनका सत्कार न किया जाए, तो काम नहीं चलता। सब समझती होंगी यह लोग कितने मूर्ख हैं।"

'सुखदा को इस इक्कीस वर्ष वाले युवक की इस निस्संकोच सांसारिकता पर घृणा हो रही थी। उसकी स्वार्थ सेवा ने जैसे उसकी सारी कोमल भावनाओं को कुचल डाला था, यहाँ तक कि वह हास्यास्पद हो गई थी।

"इस काम के लिए तो आपको थोड़े से वेतन में किरानियों की स्त्रियाँ मिल जाएँगी, जो लेडियों के साथ साहबों का भी सत्कार करेंगी।"

'आप इन व्यापार सम्बन्धी समस्याओं को नहीं समझ सकती। बड़ी बड़ी मिलों के एजेण्ट आते हैं। अगर मेरी स्त्री उनसे बातचीत कर सकती, तो कुछ न-कुछ कमीशन रेट बढ़ जाता। यह काम तो कुछ औरत ही कर सकती है।"

"मैं तो कभी न करूँ। चाहे सारा कारोबार जहन्नुम में मिल जाए।"

'विवाह का अर्थ जहाँ तक मैं समझता हूँ, वह यही है कि स्त्री पुरुष की सहगामिनी है। अंगरेजों के यहाँ बराबर स्त्रियाँ सहयोग करती हैं।"

"आप सहगामिनी का अर्थ नहीं समझते।"'[1]

यद्यपि प्रेमचन्द के कथा साहित्य में अंगरेजों के यहाँ स्त्रियाँ पति का जिस प्रकार सहयोग करती हैं, भारतीय नारी के उस प्रकार के सहयोग की चर्चा नहीं है, किन्तु सुखदा के द्वारा मनीराम के विचारों का विरोध कराना इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करता है कि कुछ शिक्षित भारतीय नारियों में यदि यह प्रवृत्ति हो, तो वह भारतीय संस्कृति के विरुद्ध और हेय है।

प्रेमचन्द ने पश्चिम के स्वच्छन्द प्रेम और खुले यौन जीवन की भी स्पष्ट शब्दों में निन्दा की है और शिक्षित एवं पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित भारतीय नारियों पर उसके कुप्रभाव का वर्णन भी किया है। पश्चिम में प्रेम विवाह प्रचलित है, अतः वहाँ युवा वर्ग स्वतन्त्र रूप से मिलता जुलता और विवाह करता है, बल्कि वहाँ अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिससे कामाचार (Promiscuity) बढ़ रहा है।[2] पश्चिम की नारी

१ कर्मभूमि, पृष्ठ २४४ २४५

२ औद्योगिक क्रान्ति के बाद पश्चिम में स्त्रियाँ भी घर से बाहर निकल कर काम करने और अपनी स्वतन्त्र आय रखने लगीं। इस परिस्थिति में वहाँ की भौतिकवादी सभ्यता के कारण, कामाचार अत्यन्त बढ़ गया। विवाह करने और बच्चों का भार बढ़ने से स्त्रियों को अपनी नौकरी छोड़नी पड़ेगी, उनका जीवन-स्तर नीचा हो जाएगा, उनकी स्वतन्त्रता में बाधा

भोग में किसी नैतिक बन्धन का अनुभव नहीं करती, न वह इसे दाम्पत्य जीवन के क्षेत्र के लिए नियन्त्रित ही समझती है। 'नारी और प्रेम' शीर्षक अध्याय में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि प्रेमचन्द विवाह से पूर्व के प्रेम को पवित्र और वासना रहित होने में ही समाज और व्यक्ति का भी कल्याण मानते हैं और इसे ही वह भारतीय संस्कृति के अनुकूल समझते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने प्रेम को पवित्र रखने में असमर्थ है, तो उसे चाहिए कि वह अपने प्रेमी से विवाह कर ले। प्रेम के इस आदर्श का खण्डन प्रेमचन्द ने उन्हीं पात्रों से कराया है, जो शिक्षित हैं और पश्चिम के भोगवादी और व्यष्टिवादी सभ्यता से प्रभावित हैं। उन्होंने इसके बुरे परिणामों को दिखा कर कम-से-कम इसे भारतीय नारी के लिए अनुपयुक्त ठहराया है।

'प्रेमाश्रम' उपन्यास की गायत्री ने पश्चिम के विचार-स्वातन्त्र्य, तलाक और भोग प्रधान सभ्यता की आलोचना की है और साथ ही युक्तिपूर्ण ढंग से भारत के कर्त्तव्य, त्याग और संयम के आदर्श की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। गायत्री और ज्ञानशंकर में इस प्रकार बातचीत होती है—

गायत्री, "जिस पुरुष के साथ विवाह हो गया, उसके साथ निर्वाह करना प्रत्येक कर्मनिष्ठ नारी का धर्म है। ..विवाह स्त्री पुरुष के अस्तित्व को संयुक्त कर देता है। उनकी आत्माएँ एक दूसरे में समाविष्ट हो जाती हैं।"

ज्ञानशंकर, "पुराने जमाने में लोगों के विचार ऐसे रहे हों, पर नया युग इसे नहीं मानता। यह स्त्री को सम्पूर्णतः स्वाधीन ठहराता है। वह मनसा, वाचा, कर्मणा किसी के अधीन नहीं है। . पश्चिम के देशों में आए दिन धार्मिक मतभेद के कारण तलाक होते रहते हैं।"

गायत्री, "उन देशों की बात न चलाइए, वहाँ के लोग तो विवाह को केवल सामाजिक सम्बन्ध समझते हैं। आपने ही एक बार कहा था कि वहाँ कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो विवाह-संस्कार को मिथ्या समझते हैं। उनके विचार में स्त्री पुरुषों की अनुमति ही विवाह है, लेकिन भारतवर्ष में कभी इन विचारों का आदर नहीं हुआ। .. ईश्वर वह कुदिन यहाँ न लाए, जब लोगों में विचार-स्वातन्त्र्य का इतना प्रकोप हो जाए।"

ज्ञानशंकर, "इसका कारण यही है कि हम भीरु प्रकृति हैं, यथार्थ का सामना न करके मिथ्या आदर्श-प्रेम की आड़ में अपनी कमजोरी छिपाते हैं।...लोक-निन्दा के भय

पहुँचेगी, उन पर नई-नई जिम्मेवारियाँ आ जाएँगी, ऐसा सोच कर वे विवाह-बन्धन से मुक्त रहने में ही अपनी कुशल समझने लगीं। इससे स्वतन्त्र प्रेम-व्यापार अतः कामाचार का बढ़ना स्वाभाविक था। कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के छात्रगणों में भी स्वतन्त्र प्रेम का बोलबाला था। अतः, इसे रोकने के लिए लगभग ३-४ दशाब्दियों पहले अमरीका के जज, लिंडसे ने मैत्री-विवाह (Companionate marriage) के रूप में एक अस्थायी विवाह-पद्धति को कानूनी मान्यता देने का प्रस्ताव रखा। इस विवाह में विवाहोपरान्त भी सन्तति निग्रह द्वारा बच्चों की जिम्मेदारी से मुक्त हो कर पति-पत्नी अपनी पढ़ाई या स्वतन्त्र पेशा कर सकते थे।

द्रष्टव्य, बर्ट्रेंड रसेल, मैरेज ऐण्ड मॉरल्स, पृष्ठ १२६-१३१

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइंसेस, भाग ४, पृष्ठ ११३-११५

से अपने प्रेम या अरुचि को छिपाना अपनी आत्मिक स्वाधीनता को खाक में मिलाना है। मैं उस स्त्री को सराहनीय नहीं समझता, जो एक दुराचारी पुरुष से केवल इसलिए भक्ति करती है कि वह उसका पति है। वह अपने उस जीवन को, जो सार्थक हो सकता है, नष्ट कर देती है। यही बात पुरुषों पर भी घटित हो सकती है। हम संसार में रोने और झींकने के ही लिए नहीं आए हैं और न आत्मदमन हमारे जीवन का ध्येय है।"

गायत्री, "तो आपके कथन का निष्कर्ष यह है कि हम अपनी मनोवृत्तियों का अनुसरण करें, जिस ओर इच्छाएँ ले जाएँ, उसी ओर आँखें बन्द किए चले जाएँ। उसके दमन की चेष्टा न करें। इच्छाओं को जीवन का आधार बनाना बालू की दीवार बनाना है। धर्म ग्रन्थों में आत्म दमन और संयम की अखण्ड महिमा कही गई है, बल्कि इसी को मुक्ति का साधन बताया गया है। इच्छाओं और वासनाओं को ही मानव पतन का मुख्य कारण सिद्ध किया गया है और मेरे विचार में यह निर्विवाद है। ऐसी दशा में पश्चिम वालों का अनुसरण करना नादानी है। प्रथाओं की गुलामी इच्छाओं की गुलामी से श्रेष्ठ है।"[1]

'गोदान' उपन्यास की मालती के प्रारम्भिक रूप में पुरुष का अनर्थमय अनुकरण करने वाली पश्चिम की नारी के सभी गुण अवगुण विद्यमान हैं। वह इंगलैण्ड में ही डाक्टरी की उच्च शिक्षा प्राप्त करती है। किन्तु, उच्च शिक्षा पा कर भी उसने केवल उसकी विडम्बना ही सीखी है। वह अत्यन्त सुन्दरी है, फिर भी बनाव सिंगार में उसके प्राण बसते हैं। वह अभी तक कुमारी है और उसके दर्जनों प्रेमी हैं। पुरुषों के समाज में वह चहकती है। उसे मालूम है, किस प्रकार एक मुसकान, एक चितवन, एक रसीले वाक्य से वह पुरुषों को बेवकूफ बना सकती है। उसमें पाश्चात्य नारियों जैसी निर्लज्जता, उद्दण्डता, स्वच्छन्दता, बाह्याडम्बरप्रियता, विलासिता, हृदय हीनता और पुरुषों से प्रतिद्वन्द्विता के भाव हैं और प्रेम, सेवा, कोमलता, त्याग और सहन शक्ति का अभाव है, जो नारियों के स्वाभाविक गुण हैं और उन्हें प्रकृति की ओर से मातृत्व की पूर्ति के लिए मिले हैं। वह गरीब औरतों को दवाखाने में घण्टों बैठाती है, किन्तु कार वाली औरतों का द्वार तक आ कर स्वागत करती

१ (क) प्रेमाश्रम पृष्ठ १६२ १६३

(ख) गायत्री का यह कथन जो भारतीय सभ्यता की व्याख्या है पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक बरट्रेंड रसेल के कथन से तुलनीय है—'I should not however regard self-control as an end in itself and I should wish our institutions and our moral conventions to be such as to make the need for self control a minimum rather than a maximum The use of self control is like the use of brakes on a train It is useful when you find yourself going in the wrong direction, but merely harmful when the direction is right No one would maintain that train ought always to be run with the brakes on yet the habit of difficult self-control has a very similar injurious effect upon the energies available for useful activity Self Control causes these energies to be largely wasted on internal friction instead of external activity and on this account it is always regrettable though *sometimes necessary*

बरट्रेंड रसेल, मैरेज ऐण्ड मारल्स, पृष्ठ १४३

है—वही पुरुषों वाली स्वार्थपरता और कठोरता उसमें भी है। वह अपने को पूर्ण स्वतन्त्र समझती है और किसी एक पुरुष की रक्षा या आश्रय में नहीं रहना चाहती—वह तो पुरुषों के कन्धे से-कन्धा मिला कर चलेगी। किन्तु, उसकी शृंगारप्रियता देख कर कोई भी विचारवान् व्यक्ति उसे स्वतन्त्र नहीं कहेगा। उसका तरह तरह के शृंगार प्रसाधनों से अपने शारीरिक आकर्षण को बढाना इस तथ्य का सूचक है कि वह पुरुषों को आकृष्ट करना चाहती है, फिर वह उनसे स्वतन्त्र होने, उनसे स्पर्धा करने के प्रयास में सफल कैसे कही जा सकती है? उसकी यह शृंगार लालसा उसके अन्दर छिपे हुए रमणीत्व का सूचक है। इस प्रकार उसने अपने रमणीत्व को तो बनाए रखा है, किन्तु वह नारीत्व को भूल गई है। लेखक मालती का परिचय व्यंग्यपूर्ण भाषा में देता है—'दूसरी महिला जो ऊँची एँडी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुखछवि पर हँसी फूटी पडती है, मिस मालती हैं। आप इंगलैण्ड से डाक्टरी पढ आई हैं और अब प्रैक्टिस करती हैं। ताल्लुकेदारों के महलों में उनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, पर चपलता कूट कूट कर भरी हुई। झिझक या सकोच का कहीं नाम नहीं, मेक अप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव मनोद्गारों पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप सा हो गया है।''[1]

'विश्वास' कहानी की मिस जोशी पाश्चात्य सभ्यता से पूर्णत प्रभावित है। उसने उच्च शिक्षा पाई है और उसके घर का वातावरण भी पाश्चात्य ढग का ही है। अत वह विवाह को बन्धन, पराधीनता का तौक, आत्मप्रतिष्ठा का हनन और अपनी विलासिता तथा उच्च रहन सहन में बाधक समझती है। वह पुरुषों का अनुकरण करती हुई उन्हीं के समान नौकरी करती है—एक बालिका विद्यालय में अध्यापिका है। वह प्रान्त के गवर्नर (मिस्टर जौहरी) की प्रेयसी है, किन्तु इस प्रेम में वासना की ही प्रधानता है और दोनो के इस सम्बन्ध से ससार परिचित है। मिस जोशी समाज-सेवक मिस्टर आप्टे के सामने अपने पूर्व-जीवन का वर्णन करती हुई अपना विवाह न करने का कारण बताती है, "मेरा पालन पोषण जिस ढग से हुआ, उसका यह परिणाम होना स्वाभाविक सा मालूम होता है। मेरी उच्च शिक्षा ने गृहिणी जीवन से मेरे मन में घृणा पैदा कर दी। मुझे किसी पुरुष के अधीन रहने का विचार अस्वाभाविक जान पडता था। मैं गृहिणी की जिम्मेदारियों और चिन्ताओं को अपनी मानसिक स्वाधीनता के लिए विष तुल्य समझती थी। मैं तर्कबुद्धि से अपने स्त्रीत्व को मिटा देना चाहती थी, मैं पुरुषों की भाँति स्वतन्त्र रहना चाहती थी। क्यों किसी की पाबन्द होकर रहूँ? क्यों अपनी इच्छाओं को किसी व्यक्ति के साँचे में ढालूँ? क्यों किसी को यह कहने का अधिकार दूँ कि तुमने यह क्यों किया, वह क्यों किया? दाम्पत्य मेरी निगाह में तुच्छ वस्तु था।''[2]

---

१ गोदान, पृष्ठ ७०

२ मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ १५-१६

भारतीय नारियों में इस प्रकार की प्रवृत्ति का होना प्रेमचन्द बुरा समझते थे और उनके द्वारा चित्रित नारियाँ, जो परिस्थितियों के कारण ही पाश्चात्य सभ्यता की चमक दमक से प्रभावित होती हैं, उन परिस्थितियों के बदलने पर, अपने पूर्व संस्कार के कारण, प्रायः उस मोहक जाल से निकलने का प्रयत्न करती हैं। विलासिनी मिस जोशी सीधे सादे, निष्कपट और जन सेवक आप्टे के चरणों पर गिर कर अपने उद्धार की प्रार्थना करती है। प्रेमचन्द के विचार में मिस जोशी जैसी नारियों का बाह्य जीवन चाहे जितना चमकीला बन जाए, उनका आन्तरिक जीवन सूना हो जाता है। 'मिस पद्मा' कहानी की मिस पद्मा भी ऐसी ही युवती है। वह एम० ए० करने के बाद, कानून की उपाधि ले कर, वकालत शुरू करती है। वह विवाह को एक अप्राकृतिक बन्धन समझती है। विवाह को जीवन का व्यवसाय बनाने और पति की अधीनता में रहने से उसे घृणा है। वह निश्चय करती है कि वह स्वतन्त्र रह कर जीवन के सुखों का उपभोग करेगी। वह मुक्त भोग के सिद्धान्त को मानती है। उसके दर्जनों प्रेमी हैं, सभी उसी के समान भोग विलास के लिए लालायित। पद्मा रूपवती और युवती तो है ही, वकालत से धन भी खूब कमाती है, अतः उसके चारों ओर रसिकों की भीड़ लगी रहती है। किन्तु, शीघ्र ही उसे अपने जीवन में सूनापन मालूम होता है और वह इस जीवन से ऊब जाती है—'कानून में अच्छी सफलता प्राप्त कर लेने के बाद मिस पद्मा को एक नया अनुभव हुआ, वह था जीवन का सूनापन। विवाह को उन्होंने एक अप्राकृतिक बन्धन समझा था और निश्चय कर लिया था कि स्वतन्त्र रह कर जीवन का उपभोग करूँगी। एम० ए० की डिग्री ली, फिर कानून पास किया और प्रैक्टिस शुरू कर दी। रूपवती थी, युवती थी, मृदुभाषिणी थी और प्रतिभाशालिनी भी थी। मार्ग में कोई बाधा न थी। . मगर, फिर भी जीवन में सूनेपन का अनुभव होता रहता था। यह बात न थी कि उसे पुरुषों से विरक्ति हो। नहीं, उसके प्रेमियों की कमी न थी। पद्मा को विलास से घृणा थी नहीं, घृणा थी पराधीनता से, विवाह को जीवन का व्यवसाय बनाने से। जब स्वतन्त्र रह कर भोग विलास का आनन्द उड़ाया जा सकता है, तो फिर क्यों न उड़ाया जाए? यों उसके दर्जनों आशिक थे—कई वकील, कई प्रोफेसर, कई डाक्टर, कई रईस। मगर, ये सब के सब ऐयाश थे—बेफिक्र, केवल भौंरे की तरह रस ले कर उड़ जाने वाले। ऐसा एक भी न था, जिस पर वह विश्वास कर सकती। अब उसे मालूम हुआ कि उसका मन केवल भोग नहीं चाहता, कुछ और भी चाहता है। वह चीज क्या थी? पूरा आत्मसमर्पण और यह उसे न मिलती थी।"[1]

इस कहानी में प्रेमचन्द ने वैसे विवाह की निन्दा भी की है, जिसमें, विचार स्वातन्त्र्य और व्यक्तिवाद की धुन में आ कर नारी और पुरुष स्वच्छन्द प्रेम के आगे विवाह की सामाजिक मान्यता को महत्त्व नहीं देते और परस्पर की अनुमति ही पर्याप्त समझते हैं। और, केवल रूप के आकर्षण पर आधारित कर्त्तव्य विहीन प्रेम ज्यादा दिनों तक टिक नहीं सकता, इस सत्य को भी उन्होंने देखा है। जब पद्मा का नारी हृदय आत्मसमर्पण करने और आत्मसमर्पण पाने के लिए व्याकुल रहने लगा, तो उसने अपने प्रेमियों में से प्रोफेसर

१ मानसरोवर, भाग २, पृष्ठ ९१-९२

प्रसाद को, जिसके रूप पर वह आसक्त थी और जो उसी की भाँति मुक्त भोग के आदर्श का उपासक था, आत्मसमर्पण के लिए चुना। दोनों प्रतिज्ञा बद्ध हो कर साथ रहने लगे, विवाह की रसमें पूरी करने की आवश्यकता नहीं समझी। फलतः दोनों पर कोई सामाजिक बन्धन नहीं था, एक दूसरे के प्रति दायित्व की कोई भावना नहीं थी। विवाह के दो साल भी नहीं हुए थे कि प्रसाद पद्मा का सारा सञ्चित धन भोग विलास में उड़ा कर और एक नवजात शिशु के पालन पोषण का भार उस पर छोड़ कर, स्वयं कालेज की एक छात्रा के साथ इंगलैण्ड चला जाता है।

इस प्रकार यूरोप का प्रेम विवाह भी वहाँ की भोग लालसा एवं स्वार्थपरक सभ्यता का सूचक है। विवाह को जब धर्म का बन्धन नहीं समझ कर प्रेम का बन्धन समझा जाता है, तो युवक-युवती जिस भ्रम को प्रेम समझने की भूल करते हैं, वह यथार्थ के हलके आघातों से अपना वास्तविक रूप प्रकट कर देता है। इसी के परिणाम हैं—दाम्पत्य-कलह, अविश्वास, परित्याग, तलाक आदि। भारत में विवाह धर्म का बन्धन माना जाता रहा है। वह सेवा और समझौते का ऐसा व्रत रहा है कि उस पर बड़े से बड़े आघातों का भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। यहाँ के दम्पति पर्याप्त मात्रा में सुखी होते हैं।[१] अतः, जब पढ़ी लिखी भारतीय नारियाँ अपनी प्राचीन संस्कृति की अच्छी बात ठुकरा कर उस प्रवञ्चनामय प्रेम की ओर दौड़ती हैं, तो प्रेमचन्द इसे अच्छा नहीं समझते। 'गोदान' उपन्यास में, वीमेन्स लीग में, मेहता जब पाश्चात्य सभ्यता की तुलना में भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए नारियों से प्रार्थना करते हैं कि वे सोच समझ कर उसका अनुकरण करें, तो 'सरोज' नाम की एक युवती उत्तेजित हो कर कहती है "हम पुरुषों से सलाह नहीं माँगतीं। अगर वह अपने बारे में स्वतन्त्र हैं, तो स्त्रियाँ भी अपने विषय में स्वतन्त्र हैं। युवतियाँ अब विवाह को पेशा नहीं बनाना चाहतीं। वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।"

मेहता ने जवाब दिया, 'जिसे तुम प्रेम कहती हो, वह धोखा है, उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप, उसी तरह जैसे संन्यास केवल भीख माँगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है, तो मुक्त विलास में बिलकुल नहीं है। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति

---

१ भारत के बारे में एक अमरीकी लेखिका का कथन है— In India there is a remarkable amount of marital content This is partially because the pattern of submission has caused women to adjust and partially because early marriage integrates the two personalities The traditional and strongly maintained emphasis on harmony compromise duty and monogamy all result in family integration Indian women are concerned with duties not with rights They are concerned with being wives and mothers—members of a group—not with beings selves or individual Happiness the full development of personality as Hindus conceive it come with a sense of belonging with achieving *goodness* through unselfish service with using feminine power in its own functional sphere This philosophy unquestionably achieves much of its purpose

मारगरट कारमैक द हिन्दू वुमन पृष्ठ १५७-१५८

केवल सेवा मत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्‌गम है। सेवा ही वह सीमेण्ट है, जो दम्पति को जीवन पर्यन्त स्नेह और साहचर्य में जोड़ रख सकता है, जिस पर बड़े बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है, वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है।"[1]

अब नारी के अधिकारों—स्वतन्त्रता, पुरुषों के साथ समानता और शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया जाएगा। पश्चिम की नारियाँ आज जितनी शिक्षित, स्वतन्त्र और अधिकार-सम्पन्न हैं, उतनी पहले नहीं थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में वे भी पुरुषों से हीन समझी जाती थीं और परवश थीं। पति की आज्ञाकारिणी होते हुए भी ऐसे बहुतेरे अधिकारों से वंचित थीं, जिनका पुरुष उपभोग करते थे। नारियों के अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने को हेय दृष्टि से देखा जाता था और उनके कर्त्तव्यों पर ही जोर दिया जाता था। उन्नीसवीं शती के मध्य से विशेषतः जॉन स्टुअर्ट मिल के नेतृत्व में, पश्चिम की नारियाँ अपने अधिकारों—सामाजिक, राजनैतिक, कानूनी, साम्पत्तिक आदि—के प्रति सचेत हुईं और उन्होंने हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ समानता के अधिकार के लिए आन्दोलन किया।[2] औद्योगिक क्रान्ति के कारण नारियों के लिए आय के स्वतन्त्र रास्ते खुल ही गए थे, इसमें शिक्षा ने भी योग दिया। पश्चिम की नारी तेजी से उन्नति पथ की ओर बढ़ चली। किन्तु, फिर भी अपनी सभ्यता की विशेषता के कारण अथवा पुरुषों से विद्रोह करने के प्रयास में, उसने

---

१ (क) गोदान, पृष्ठ २११-२१२

(ख) १२ दिसम्बर, '३८ के 'टाइम्स ऑव इण्डिया' में विदेश से लौटे हुए एक भारतीय का प्रेम और विवाह पर अच्छा निबन्ध प्रकाशित हुआ था। उसने उस प्रेम को, जो प्रथम दर्शन में हो हो जाता है या प्रेम-विवाहों को भी, भारतीय समाज के लिए उपयुक्त नहीं बताया है। इस भारतीय ने अभिभावकों द्वारा आयोजित विवाह में (यदि अन्तिम निर्णय लड़की और लड़के का ले लिया गया हो) प्रेम के अतिरिक्त और सभी चीजों की गारण्टी दी है और इसलिए यदि पति-पत्नी में लेने और देने की भावना हो, तो प्रेम भी समय पर आ ही जाएगा। लेखक की दृष्टि में प्रेम ऐसी चीज नहीं, जो नियन्त्रण में नहीं आ सके, जैसा कि साधारणतः कवि और उपन्यासकार समझते हैं।

आर० जी० दत्ते, द प्रेजेण्ट पोजीशन ऑव हिन्दू वीमेन ऐण्ड द मीन्स ऑव अमेलियोरेटिंग देयर लॉट, पृष्ठ २४-२५

(ग) 'आभूषण' कहानी के सुरेश सिंह यूरोप से लौट कर विवाह को प्रेम का बन्धन नहीं, धर्म का बन्धन समझने लगते हैं, 'वहाँ के जड़वाद, कृत्रिम भोग-लिप्सा और अमानुषिक मदान्धता ने उनकी आँखें खोल दी थीं। पहले वह घर वालों के बहुत जोर देने पर भी विवाह करने को राजी नहीं हुए थे। लड़की से पूर्व-परिचय हुए बिना प्रणय नहीं कर सकते थे। पर, यूरोप से लौटने पर उनके वैवाहिक विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने उसी पहले की कन्या से, बिना उसके आचार-विचार जाने हुए, विवाह कर लिया। अब वह विवाह को प्रेम का बन्धन नहीं, धर्म का बन्धन समझते थे।'

मानसरोवर, भाग ६, पृष्ठ १४०

२. विस्तार के लिए देखिए पैट्रीशिया टॉमसन लिखित 'द विक्टोरियन हिरोइन' का 'राइट्स ऑव वीमेन' शीर्षक अध्याय।

अपने नारीत्व को त्याग कर पुरुष के गुणों और कार्यों का ही अनुकरण करना अपने जीवन का चरम और परम उद्देश्य मान लिया। पश्चिम की नारी पुरुष की ही भाँति स्वच्छन्द, विलासिनी, कठोर और पुरुष के साथ हर क्षेत्र में अपनी योग्यता प्रदर्शित करने को उत्सुक है। वह पुरुष की सहयोगी नहीं, प्रतिद्वन्द्वी है।

भारतीय नारियों में उत्थान और जागरण की भावना बीसवीं शती से आई। प्रेमचन्द ने इसी शती के पूर्वार्द्ध में अपने उपन्यास और कहानियाँ लिखी थीं, अतः उन्होंने पुरुष की तुलना में नारी की हीन स्थिति का सविस्तर चित्रण किया है और जोरदार शब्दों में उसके अधिकारों की माँग की है। वैवाहिक कुप्रथाओं में, जिनका कुफल मुख्यतः नारियों को ही भुगतना पड़ता है, सुधार होना चाहिए—ऐसा उन्होंने बार बार चित्रित किया है।[1] नारियों के साम्पत्तिक अधिकार—पिता और पति की सम्पत्ति में हिस्सा—का भी प्रेमचन्द ने समर्थन किया है। 'बेटोंवाली विधवा' कहानी में कुमुद का विवाह, उसके पिता की मृत्यु के बाद उसके भाई, इसीलिए तो एक वृद्ध के साथ कर देते हैं कि वे योग्य वर के लिए दहेज देना नहीं चाहते थे और पुत्री का अधिकार एक सम्मिलित परिवार में केवल विवाहित होने भर का था। स्वयं कुमुद की विधवा माता (फूलमती) पति की मृत्यु के बाद अपने ही घर में, चार पुत्रों के रहते हुए भी, अनाथिनी हो जाती है, इसीलिए तो कि पति की कमाई में स्त्री का कुछ हिस्सा नहीं होता था, पुत्र ही उसके अधिकारी होते थे। 'गबन' उपन्यास के लखपति वकील की विधवा पत्नी (रतन) की भी फूलमती वाली ही दशा होती है। 'हिन्दू-स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार' के कानून का प्रस्ताव, जो १४ अप्रैल, सन् १९३७ ई० को पारित हुआ, प्रेमचन्द की जीवितावस्था में ही लोकसभा में आ चुका था। प्रेमचन्द ने इसके प्रस्तावक को बधाई दी थी।[2]

साम्पत्तिक अधिकारों से वंचित होने के कारण स्त्री पति पर अवलम्बित होती थी। वह माता पिता के घर तो विवाह के बाद मेहमान के रूप में दो-चार महीने ही रह सकती थी और पति के घर पर उसका कोई अधिकार न था। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास के कमला प्रसाद और सुमित्रा के स्वभाव में पर्याप्त अन्तर है। सुमित्रा उदार और दयालु है, कमला प्रसाद कृपण और निर्दय। अतः, दोनों में नहीं पटती। सुमित्रा का पति के घर में, जहाँ उसका आदर-सम्मान नहीं, मन नहीं लगता। मायका सम्पन्न है, किन्तु वहाँ वाले उसे बुलाने के बदले उपदेश देते हैं। वह बेचारी जलती-कुढ़ती रहती है। उसे अपनी स्थिति किसी विधवा से भी बुरी मालूम होती है। वह विधवा पूर्णा से, जो अनाथ होने के कारण उसी के घर में रहती थी, अपना दुःख कहती है—

सुमित्रा, "हम दोनों दुखिया हैं। तुम्हारे हृदय में सुखद स्मृतियाँ हैं, मेरे में वह भी नहीं। मैंने सुख देखा ही नहीं और न देखने की आशा ही रखती हूँ।"

पूर्णा ने एक लम्बी साँस खींच कर कहा, "मेरे भाग्य से अपने भाग्य की तुलना न करो बहन। पराश्रय से बड़ी विपत्ति दुर्भाग्य के कोष में नहीं है।"

---

१. देखिए इस प्रबन्ध का 'वैवाहिक कुप्रथाएँ' शीर्षक अध्याय।
२. 'नारी और वैधव्य' शीर्षक अध्याय में सविस्तर वर्णित।

सुमित्रा सूखी हँसी हँस कर बोली, "वह विपत्ति क्या मेरे सिर नहीं है बहन ? अगर मुझे कहीं आश्रय होता, तो इस घर में क्षण भर भी न रहती। सैकड़ों बार माता पिता को लिख चुकी हूँ कि मुझे बुला लो, मैं आजीवन तुम्हारे चरणों में पड़ी रहूँगी, पर उन्होंने भी मेरी ओर से अपना हृदय कठोर कर लिया। जवाब में उपदेशों का एक पोथा रँगा हुआ आता है, जिसे मैं कभी नहीं पढ़ती। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ बहन, मुझे इसका दुःख नहीं है कि यह महाशय क्यों इतनी रात गए आते हैं या उनका मन और किसी में अटका हुआ है। ...मुझे तो यह रोना है कि इनके हृदय ही नहीं। हृदय की जगह स्वार्थ का एक रोड़ा रखा हुआ है। न पुस्तकों से प्रेम, न सगीत से प्रेम, न विनोद से प्रेम, प्रेम है पैसे से। मुझे तो विश्वास नहीं कि इन्हें सिनेमा में आनन्द आता हो। वहाँ भी कोई न कोई स्वार्थ है। लेन देन, सवा-ड्योढ़े, घाटे-नफे में इनके प्राण बसते हैं और मुझे इन बातों से घृणा है। ... यों मैं धन का तुच्छ नहीं समझती। सचय करना अच्छी बात है, पर यह क्या कि आदमी धन का दास हो जाए।"[१]

'मंगलसूत्र' उपन्यास में प्रेमचन्द ने दिखलाया है कि स्त्री पति के घर में इसीलिए किसी प्रकार के अधिकार का दावा नहीं कर सकती, क्योंकि कानूनी दृष्टि से उसे एकदम निरीह बना दिया गया है। सन्तकुमार अपनी सुन्दरी और सर्वगुणसम्पन्न पत्नी से कहता है, "जो स्त्री पुरुष पर अवलम्बित है, उसे पुरुष की हुकूमत माननी पड़ेगी।" पुष्पा सन्तकुमार को जो जवाब देती है, उससे यह ध्वनित होता है कि प्रेमचन्द स्त्रियों के पुरुषों के तुल्य साम्पत्तिक अधिकार के कितने समर्थक थे, क्योंकि तब तो पुरुष ऐसा नहीं कह सकेगा। पुष्पा पति से कहती है, "अगर मैं तुम्हारी आश्रिता हूँ, तो तुम भी मेरे आश्रित हो। मैं तुम्हारे घर में जितना काम करती हूँ, उतना ही काम दूसरों के घर में करूँ, तो अपना निबाह कर सकती हूँ या नहीं, बोलो ? तब मैं जो कुछ कमाऊँगी, वह मेरा होगा। यहाँ मैं चाहे प्राण भी दे दूँ, पर मेरा किसी चीज पर अधिकार नहीं। तुम जब चाहो, मुझे घर से निकाल सकते हो।"[२]

'सेवासदन' उपन्यास में तो गजाधर सुमन को घर से निकाल ही देता है। निम्न जातियों में जहाँ स्त्रियाँ भी पुरुषों की ही भाँति नौकरी या रोजगार से पैसे कमाती हैं, उन्हें कानूनी अधिकार नहीं मिले रहने के कारण पुरुष उनके पैसे भी छीन लेता है और घर से भी निकाल देता है। 'अभिलाषा' कहानी की नायिका, कामिनी लिखती है—"कल पड़ोस में बड़ी हलचल मची। एक पानवाला अपनी स्त्री को मार रहा था। वह बेचारी बैठी रो रही थी, पर उस निर्दयी को उस पर लेशमात्र भी दया न आती थी। आखिर स्त्री को भी क्रोध आ गया। उसने खड़े हो कर कहा—बस, अब मारोगे तो ठीक न होगा। आज से मेरा तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं। मैं भीख माँगूँगी, पर तेरे घर न आऊँगी। यह कह कर उसने अपनी एक पुरानी साड़ी उठाई और घर से निकल पड़ी। पुरुष काठ की उल्लू की तरह खड़ा देखता रहा। स्त्री कुछ दूर चल कर फिर लौटी और दूकान की सदूकची खोल कर कुछ पैसे निकाले। शायद अभी तक उसे कुछ ममता थी, पर उस निर्दयी ने तुरन्त उसका हाथ पकड़

१ प्रतिज्ञा, पृष्ठ ४७ ४८

२ मंगलसूत्र, पृष्ठ १० और १२

कर पैसे छीन लिए। हाय री हृदयहीनता! अबला स्त्री के प्रति पुरुष का यह अत्याचार!
आज मुझे स्त्री की सच्ची दशा का पहली बार ज्ञान हुआ। यह दूकान दोनों की थी। पुरुष तो
मटरगस्ती किया करता था, स्त्री रात दिन बैठी सती होती थी। दस-ग्यारह बजे रात तक मैं
उस दूकान पर बैठे देखती थी। प्रातःकाल नींद खुलती, तब भी उसे बैठे पाती। नोच खसोट,
काट-कपट जितना पुरुष करता था, उससे कुछ अधिक ही स्त्री करती थी। पर पुरुष सब कुछ है,
स्त्री कुछ नहीं। पुरुष जब चाहे, उसे निकाल बाहर कर सकता है।"[1]

यही कारण है कि स्त्रियों की इस असमानता और दयनीय दशा से परिचित होने पर भी प्रेमचन्द स्त्रियों की नौकरी के पक्ष में नहीं थे। विधवा, अनाथ अथवा पारिवारिक आवश्यकताओं के कारण विवश हो कर काम करना या थोड़े समय के लिए साहित्यिक अथवा समाज सेवा का काम करना एकदम दूसरी बात है। प्रेमचन्द की दृष्टि में आवश्यकता इस बात की है कि नारियों को पुरुषों के बराबर सभी अधिकार कानूनी तौर पर मिल जाएँ और साथ ही उनकी शिक्षा की भी व्यवस्था हो, ताकि वे अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझ सकें। श्रीमती शिवरानी देवी ने अपनी पुस्तक, 'प्रेमचन्द घर में', में प्रेमचन्द के साथ हुए इस तरह के वार्तालाप को प्रस्तुत किया है—

प्रेमचन्द, "पुरुष खुद मजदूर बन सकता है, मगर अपने घर में स्त्री को मजदूरनी बनाना पसन्द नहीं करता। अब उधर चाहे जो कुछ हो, मगर पहले अंगरेजों के यहाँ भी उनकी स्त्रियों को नौकरी नहीं करने देते थे।"

मैं (शिवरानी देवी) बोली, "मैं देखती हूँ कि यहाँ भी काफी स्त्रियाँ नौकरी करने लगी हैं।"

आप (प्रेमचन्द) बोले, "नौकरियाँ करने लगी हैं, मगर वह अच्छा नहीं है, मैं इसको अच्छा नहीं समझता।[2] अब इसका नतीजा क्या हो रहा है? अब पुरुष और स्त्री दोनों नौकरियाँ करने लगे, तब इसके माने क्या हैं? रुपए ज्यादा आ जाएँगे। उसी का तो फल है कि पुरुषों की बेकारी बढ़ रही है।"

मैं बोली, "कुछ हो, स्त्रियों की कुछ अपनी कमाई तो रहती ही है।"

आप बोले, "यह कमाई का सवाल अभी थोड़े दिनों से उठा है, नहीं तो पहले स्त्रियों की कमाई एक पैसा नहीं होती थी और स्त्रियाँ काफी दबदबे के साथ घर पर शासन करती थीं, तब क्या वह कमाई करती थी?"

---

१ मानसरोवर भाग ४ पृष्ठ ८३

२ महात्मा गांधी भी यही कहते थे— 'मैं इस नियम के रूप में नहीं मानता कि पत्नी अपने पति से स्वतन्त्र हो कर कोई धन्धा अपनाएगी। उसके लिए यही काफी है कि वह बच्चों की देख-भाल करे और घर सँभाले। सुव्यवस्थित समाज में परिवार चलाने का अतिरिक्त भार उन पर नहीं होना चाहिए। पुरुष का धर्म है कि वह गृहस्थी चलाए और स्त्री घर का प्रबन्ध करे और इस प्रकार दोनों एक दूसरे के कार्य में योग तथा सहायता देते रहेंगे। इस प्रकार स्त्री के अधिकारों का न तो हनन होता है और न उसकी स्वतन्त्रता ही छीनी जाती है।'

मो० क० गाँधी, महिलाओं से, पृष्ठ ३२

मैं बोली, "अब तो अपनी कमाई का पैसा पुरुष अपने पास रखे रहते हैं, जब उन बेचारियों को जरूरत होती है, उनसे माँगना पड़ता है। इच्छा हुई तो कभी दे दिया, कभी इनकार करके हट गए, तब ऐसी हालत मे मेरे ख़याल में बेहतर यही है कि दोनों कमाएँ।"

आप बोले, "जब ऐसे पुरुष ही रहे हैं, तो तुम्हारे देश के शुभ लक्षण नहीं हैं।"

मैं बोली, "शुभ हो चाहे अशुभ हों, देखना तो यह है कि इस वक्त जरूरत किसकी है।"

आप बोले, "जरूरत तो इस वक्त मालूम होती है, मगर कभी यह न भूल जाना चाहिए कि देश में कुछ ही स्त्री पुरुष ऐसे हैं, जो एक की कमाई पर दूसरा गुजर करता है। छोटी जातियों में और काश्तकारो में देख लो, दोनो बराबर की मेहनत करते हैं, बल्कि स्त्रियाँ उनसे कुछ अधिक ही काम करती हैं, फिर भी पुरुष जो बदमाश हैं, वह अपनी स्त्रियों से पैसा भी छीन लेते हैं और उन पर शासन भी करते हैं। अब सोचना यह है कि कैसे दोनों को बराबर किया जाए और बदमाशों को कैसे ठीक किया जाए। इसमें जरूरत इस बात की है कि स्त्रियाँ शिक्षित हों और उसके साथ साथ स्त्रियों को वह अधिकार मिल जाएँ, जो सब पुरुषों को मिले हुए हैं। जब तक सब स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होंगी और सब कानून अधिकार उनको बराबर न मिल जाएँगे, तब तक महज बराबर काम करने से ही काम नहीं चलेगा।"

मैं बोली, "आखिर वह काम कैसे चलेगा ?"

आप बोले, "यह सब धीरे धीरे होगा, इस समाज को बिगड़ते बिगड़ते बहुत दिन हो गए, उसी तरह इसको बनने में भी बहुत दिन लगेंगे।"[1]

यहाँ प्रेमचन्द नारियों के केवल साम्पत्तिक उत्तराधिकार का ही समर्थन नहीं करते, बल्कि वे सभी क्षेत्रों—राजनैतिक, सामाजिक आदि—में नारियों के पुरुषों के तुल्य कानूनी अधिकार की भी माँग करते हैं। उदाहरणतः पुरुष भी नारी की भाँति एक पत्नी व्रत पालन करे, उसका कई विवाह करना, वेश्यागामी होना अथवा उप पत्नी रखना गैरकानूनी ठहराया जाए। यदि वह दुराचारी, शराबी और निर्दय हो, तो स्त्री के लिए यह आवश्यक नहीं होना चाहिए कि वह उसके तलवे सहलाए, उसकी खुशामद करे। तब 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की सुमित्रा जैसी पति द्वारा ठुकराई हुई नारियों को यह नहीं कहना पड़ेगा, "मैं तो आप ही कहती हूँ, भाई। स्त्री पुरुष के पैरों की जूती के सिवा और है क्या ? पुरुष चाहे जैसा हो—

---

१ (क) शिवरानी देवी प्रेमचन्द घर में पृष्ठ १९२ १९३

(ख) महात्मा गांधी भी नारियों को सभी कानूनी अधिकार देने के पक्ष में थे—'मैं स्त्रियों के अधिकारों के मामले में कोई सुलह नहीं करना चाहता। कानूनन उन्हें पुरुषों की अपेक्षा किसी प्रकार शक्तिहीन नहीं रखना चाहिए। मैं तो लड़कों और लड़कियों के साथ पूर्ण समानता का व्यवहार करना चाहता हूँ। जैसे जैसे स्त्रियों को अपनी शक्ति का ज्ञान होता जाएगा (जैसा कि उनकी शिक्षा के अनुपात से अवश्य होगा) वे स्वयं जिस असमानता की दृष्टि से देखी जाती हैं, उससे घृणा करने लगेंगी।'

मो० क० गाँधी, महिलाओं से, पृष्ठ २५

चोर हो, ठग हो, व्यभिचारी हो, शराबी हो—स्त्री का धर्म है कि उसकी चरण रज धो धो कर पिए।"[1]

प्रेमचन्द ने स्त्री द्वारा नीच पति की खुशामद नही करने की दृढता भी दिखलाई है। 'कुसुम' कहानी की कुसुम का विवाह होता है और वह कई बार अपनी ससुराल जाती है, किन्तु उसका पति उससे बात तक नही करना चाहता। कुसुम को इसका कारण नही मालूम है, अत वह इसमें अपना ही कोई अपराध समझ कर प्रम, करुणा, लज्जा, तिरस्कार, न्याय आदि सभी पहलुओं के पत्र पति के पास भेजती है। उनका भी उत्तर नही मिलता। वह रोती रोती गल कर काँटा हो जाती है और डाक्टर तपेदिक का सन्देह करते हैं। कुसुम एक दूसरे व्यक्ति द्वारा अपने पति के हृदय की बात जान पाती है। उसके पति ने समझा था कि कुसुम के पिता उसे पटने के लिए विलायत भेज देंगे, किन्तु उन्होने विवाह के बाद कभी उसकी चर्चा तक नही की। अब उसका जीवन चौपट हो रहा है। जब कुसुम के पिता को यह मालूम होता है, तो वे दामाद को विलायत भेजने के पहले प्रबन्धादि के लिए उसके नाम एक हजार का चेक भेजना चाहते हैं। कुसुम अपने पिता की इकलौती सन्तान थी, अतः वे अपनी जायदाद बेच कर भी उसे सुखी देखना चाहते थे, किन्तु कुसुम को अपने पति से घृणा हो गई थी। वह ऐसे आदमी का मुँह भी नही देखना चाहती थी, जिसके लिए ससार में धन ही सबसे बडी वस्तु हो। उसने स्वतन्त्र रहने का निश्चय कर लिया था। फलत' उसने पति के पास एक पाई भी नहीं भेजने दी।

प्रेमचन्द नारियों में इस प्रकार का 'आत्माभिमान' तो देखना चाहते थे, किन्तु प्रतिहिंसा या विद्रोह को वे बुरा समझते थे।[2] प्रतिहिंसा में नारियों के स्त्रियोचित गुणों क नष्ट होने की आशका हो जाती है। पश्चिम की नारियों ने पुरुषो के अत्याचार का ऐसा ही उत्तर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे भी पुरुषों की ही भाँति कठोर और हिंसात्मक हो गई हैं। उनमें नारीत्व का लोप हो रहा है और पुरुषत्व की वृद्धि हो रही है। वे पुरुष की ही भाँति नौकरी करती हैं, वे स्वच्छन्द और विलासिनी हो गई हैं और इसलिए कि उन्हें पुरुष के अधीन हो कर रहना और गृहस्थी के लिए अपनी स्वतन्त्रता और विलासिता का कुछ त्याग करना पड़ेगा, व विवाह करने से घबडाती हैं और यदि विवाह कर भी लिया, तो सन्तान के उत्तरादायित्व से भागती हैं। वे मोटर, शराब और थिएटर को पारिवारिक सुख और शान्ति से अधिक महत्त्व देती हैं। उनमें सहनशीलता, सेवा और त्याग का, जो नारीत्व

---

१. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ८५

२. 'गोदान' उपन्यास के रायसाहब की पुत्री (मीनाक्षी) अपने दुराचारी पति से छुटकारा पाने के लिए मायके में आराम से रह सकती थी, उसका मायका सम्पन्न था और पिता ने बुलाया भी था। तब शायद कभी उसे दाम्पत्य-सुख मिल जाता। किन्तु, पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में आ कर जब वह पति पर क्रोधित हो गुजारे का दावा करती है, तो वह कहीं का नहीं रह जाती। उसका पति उलटा उसी पर बदचलनी का आरोप करता है। उसका क्रोध और बढ़ता है और यद्यपि उसके पति का दावा खारिज हो जाता है और वह पति पर गुजारे की डिग्री पाती है, किन्तु पति पत्नी एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। उनके फिर मिलने की कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। गोदान, पृष्ठ ४२१-४२३

के विकास के लिए आवश्यक हैं, अभाव हो रहा है, जिससे पश्चिम में अविश्वास है, विवाह-विच्छेद और तलाक है। इस प्रकार विद्रोह से प्रेरित हो कर वे अपना ही सर्वनाश कर रही हैं और पुरुष की सहयोगी न हो कर, प्रतिद्वन्द्वी हो गई हैं। भारत की कुछ पढ़ी लिखी, पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित नारियों पर भी पाश्चात्य नारी का प्रभाव पड़ रहा है।

पश्चिम की नारी की, जो पुरुष के अनुकरण में ही जीवन का परम सुख और चरम लक्ष्य समझती है, 'गोदान' उपन्यास के मेहता कटु आलोचना करते हैं, "संसार में स्त्रियों का क्षेत्र पुरुषों से बिलकुल अलग है। स्त्रियों का पुरुषों के क्षेत्र में आना इस युग का कलंक है।"[1] इसी बात को वे वीमेन्स लीग की ओर से भाषण करते हुए दूसरे शब्दों में दुहराते हैं, "स्त्री को पुरुष के रूप में, पुरुष के कर्म में रत देख कर मुझे उसी तरह वेदना होती है, जैसे पुरुष को स्त्री के रूप में, स्त्री के कर्म करते देख कर। मुझे विश्वास है, ऐसे पुरुषों को आप अपने विश्वास और प्रेम का पात्र नहीं समझतीं। और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, ऐसी स्त्री भी पुरुष के प्रेम और श्रद्धा का पात्र नहीं बन सकती।"[2]

पुरुष और नारी की शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं—पुरुष में स्वार्थ, लालसा, अधिकार, शासन, हिंसा, क्रोध और संग्राम की दानवी प्रवृत्तियाँ होती हैं और नारी में मातृत्व की पूर्ति के लिए वात्सल्य, सेवा, त्याग आदि दैवी प्रवृत्तियाँ होती हैं, पुरुष में पाशविक बल की प्रधानता होती है और नारी में आत्मिक बल की। स्त्री और पुरुष की संयुक्त शक्ति ही समाज है, अतः स्त्री पुरुष की पूरक होती है। समाज के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि स्त्री पुरुष में सहयोग हो, सामंजस्य हो, विरोध या प्रतिद्वन्द्विता नहीं।[3] अब यदि नारी विद्रोह और संघर्ष भाव से प्रेरित हो कर पुरुष का अनुकरण करे और अपनी विशिष्ट प्रकृति 'मातृत्व' को ही खो दे, तो संसार का तारतम्य बिगड़ जाएगा और वह केवल संग्राम एवं कलह का क्षेत्र हो जाएगा। पश्चिम की नारियाँ ऐसा ही कर रही हैं और अनेक शिक्षित भारतीय नारियाँ भी उनका अन्धानुसरण कर रही हैं।[4] मेहता अपने भाषण में कहते हैं, "मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुषों के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ, उसी तरह जैसे प्रेम, त्याग और श्रद्धा को हिंसा और संग्राम और कलह से श्रेष्ठ समझता हूँ। अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव मन्दिर से हिंसा और कलह के दानव क्षेत्र में आना चाहती हैं, तो उससे समाज का कल्याण न होगा। मैं इस विषय में दृढ़ हूँ। पुरुष ने अपने अभिमान में अपनी दानवी कीर्ति को अधिक महत्त्व दिया। वह अपने भाई का स्वत्व छीन कर और उसका रक्त बहा कर समझने लगा, उसने बहुत बड़ी विजय पाई। जिन शिशुओं को देवियों ने अपने रक्त से सिरजा और पाला, उन्हें बम और मशीनगन और सहस्र टैंकों

१. गोदान, पृष्ठ २०२

२ गोदान, पृष्ठ २०५

३ ये विचार प्रेमचन्द के समय के अन्य विचारकों—महात्मा गाँधी, श्रीमती महादेवी वर्मा आदि—के भी हैं, देखिए ग्यारहवाँ अध्याय।

४ महात्मा गाँधी भी भारत की उन्नति के लिए सीता, द्रौपदी, सावित्री और दमयन्ती जैसी दृढ़-चरित्र, संयमी और त्यागशील नारियों की आवश्यकता समझते थे, पुरुष की 'नकल' करनेवाली नारियों की नहीं। मो० क० गाँधी, महिलाओं से, पृष्ठ २७

का शिकार बना कर वह अपने को विजेता समझता है। और, जब हमारी ही माताएँ उसके माथे पर केसर का तिलक लगा कर और उसे अपने असीसों का कवच पहना कर हिंसा-क्षेत्र में भेजती हैं, तो आश्चर्य नहीं कि पुरुष ने विनाश को ही संसार के कल्याण की वस्तु समझा और उसकी हिंसा-प्रवृत्ति दिन-दिन बढ़ती गई..। देवियो, मैं आपसे पूछता हूँ, क्या आप इस दानव लीला में सहयोग दे कर, इस संग्राम क्षेत्र में उतर कर संसार का कल्याण करेंगी? मैं आपसे विनती करता हूँ, नाश करने वालों को अपना काम करने दीजिए, आप अपने धर्म का पालन किए जाइए।"[1]

नारियों की शिक्षा और अधिकारों का समर्थन करते हुए मेहता कहते हैं, स्त्री उच्च शिक्षा और अन्य शक्तियों और अधिकारों का प्रयोग पुरुष के साथ सहयोग में करे, संघर्ष में नहीं। उसका प्रधान कार्य-क्षेत्र घर ही हो, कारखाने और दफ्तर पुरुषों के लिए वह छोड़ दे, "मैं नहीं कहता, देवियों को विद्या की जरूरत नहीं है। है और पुरुषों से अधिक। मैं नहीं कहता, देवियों को शक्ति की जरूरत नहीं है। है और पुरुषों से अधिक, लेकिन वह विद्या और वह शक्ति नहीं, जिससे पुरुष ने संसार को हिंसा-क्षेत्र बना डाला है। अगर वही विद्या और वही शक्ति आप भी ले लेंगी, तो संसार मरुस्थल हो जाएगा। आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है। क्या आप समझती हैं, वोटों से मानव-जाति का उद्धार होगा या दफ्तरों में और अदालतों में जबान और कलम चलाने से? इन नकली, अप्राकृतिक, विनाशकारी अधिकारों के लिए आप वह अधिकार छोड़ देना चाहती हैं, जो आपको प्रकृति ने दिए हैं...कौन कहता है कि आपका क्षेत्र संकुचित है और उसमें आपको अभिव्यक्ति का अवकाश नहीं मिलता। हम सभी पहले मनुष्य हैं, पीछे और कुछ। हमारा जीवन हमारा घर है। वहीं हमारी सृष्टि होती है, वहीं हमारा पालन होता है, वहीं जीवन के सारे व्यापार होते हैं। अगर वह क्षेत्र परिमित है, तो अपरिमित कौन-सा क्षेत्र है? क्या वह संघर्ष, जहाँ संगठित अपहरण है? जिस कारखाने में मनुष्य और उसका भाग्य बनता है, उसे छोड़ कर आप उन कारखानों में जाना चाहती हैं, जहाँ मनुष्य पीसा जाता है, जहाँ उसका रक्त निकाला जाता है।"[2]

---

१. (क) गोदान, पृष्ठ २०५-२०६

(ख) योरप में महात्मा गांधी से यह पूछा गया कि नारियाँ सैनिकता के विरुद्ध कैसे लड़ें? इटली में उनसे कहा गया कि वे इटली की नारियों को भारत की नारियों से सीखने योग्य कुछ बातें बताएँ। पेरिस में महात्मा गांधी ने कहा, "यदि स्त्रियाँ भूल जाएँ कि वे पुरुषों से कम शक्तिशाली हैं, तो पुरुषों की अपेक्षा युद्ध के विरोध में कहीं अधिक कार्य कर सकती है। आप लोग स्वयं सोचिए, यदि सिपाहियों और सेनानायकों की माताएँ, स्त्रियाँ और बालिकाएँ उन्हें किसी भी रूप में युद्ध में भाग लेते हुए न देखना चाहें, तो क्या हो?" नारियों की एक टोली से उन्होंने कहा, "यदि पाश्चात्य स्त्रियाँ पाशविकता में पुरुषों से जीतना चाहती हों, तो भारतीय स्त्रियों के पास कोई संदेश या शिक्षा नहीं है। उन्हें अपने पतियों और बालकों को लोगों की हत्या के लिए भेज कर आनन्द नहीं अनुभव करना चाहिए और न उन्हें इस बहादुरी के लिए बधाई ही देनी चाहिए।" मो० क० गांधी, महिलाओं से, पृष्ठ ४८ और ५०

२. गोदान, पृष्ठ २०८-२०९

यद्यपि पाश्चात्य नारियाँ और कुछेक भारतीय नारियाँ पुरुष का अनुकरण इसीलिए करती हैं कि इस प्रकार वे पुरुषों के अन्यायों का उत्तर देना चाहती हैं और यह समझती हैं कि व पुरुषो की ही भाँति स्वतन्त्र और सुखी होंगी। किन्तु, परिणाम यह होता है कि वे आत्मसेवी और विलासिनी बन जाती हैं एव अपने गुणों को त्याग कर नारीत्व के उच्च आसन से गिर जाती हैं। इस प्रकार वे अपना ही नाश करती हैं। यह ठीक है, उनके साथ समाज ने, पुरुषों ने, जो अन्याय किया है उनमें विद्रोह की भावना लाएगा ही, पर उसका यह उत्तर नहीं। यह तो एक विकृति को छोड कर उससे भयकर और नाशकारक विकृति को अपना लेना है—इससे तो उनका नारीत्व ही खतरे में पड जाता है। मेहता अपने भाषण में कहते हैं, "बेशक पुरुषों ने अन्याय किया है, लेकिन उसका यह जवाब नहीं है। अन्याय को मिटाइए, लेकिन अपने को मिटा कर नहीं। मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिर कर विलास की वस्तु बन गई है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक-से अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के अधिकार से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीजें अच्छी हैं, वह उनसे लीजिए। संस्कृति में सदैव आदान प्रदान होता आया है, लेकिन अन्धी नकल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है।' पश्चिम की स्त्री आज गृहस्वामिनी नहीं रहना

१ नारियों में प्रतिद्वन्द्विता का भाव आ जाने से नारीत्व की जो कमी प्रेमचन्द देखते हैं, इसे आज के नारी मनोविज्ञान के विशेषज्ञ भी मानते हैं और वे एक ऐसे समाज की आवश्यकता समझते हैं, जहाँ नारी पुरुष को प्रतिद्वन्द्वी न हो। इस दृष्टि से, भारतीय संस्कृति का, पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में अधिक मनोविज्ञानसम्मत आधार है। अत भारतीय नारी को पाश्चात्य नारी के अनुकरण की आवश्यकता नहीं, वह तो अनेक क्षेत्रों में पाश्चात्य नारी का नेतृत्व कर सकती है। एक अमरीकी लेखिका ने, हेलन ड्यूश के नारी-मनोविज्ञान के अध्ययन के आधार पर, भारतीय नारी को स्त्रीत्व प्रधान नारी माना है और पाश्चात्य नारी में प्रतिद्वन्द्विता के भाव के कारण स्त्रीत्व की न्यूनता पर चिन्ता प्रकट की है, साथ ही भारतीय नारी को इस दृष्टि से पथ प्रदर्शिका भी माना है। वह लिखती है—

"It is interesting to note the similarity between the Hindu feminine woman and what Helene Deutsch has called the 'feminine passive' woman, a rare type in our Western culture She describes traits of this type ef feminity as narcissism (self-loving, wanting to be loved), passivity (activity directed inward), and intensification of masochism From her clinical experience she has found this type to have a positive relationship with her mother, to be overwhelmingly monogamous, to be prone to feelings of solitude, nostalgia, and brooding and to have a great capacity for real love (in contrast to being in love'). These points seem to fit Hindu Woman as a general norm It is further pertinent that Dr Deutsch attributes many of the neuroses of Western woman to the effects of competition She found that the above type, rare in Western society, had not tried to compete Unmindful of Hindu society, she suggests that a new form of society, less competitive, might be desirable. It would certainly seem that India, a very old soniety, has much to demonstrate on this point"

मारगरेट कारमैक, द हिन्दू वुमन, पृष्ठ २०४

चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छृंखल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को, जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और आमोद प्रमोद पर होम कर रही है। जब मैं वहाँ की सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का या भरी हुई गोल बाहों का या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हूँ, तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे *अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं।* नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है।"[1]

इस प्रकार नारी स्वातन्त्र्य, नारी शिक्षा और पुरुष के समान ही नारी के अधिकारों को मानते हुए भी प्रेमचन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय नारी, पश्चिम की नारी से सर्वथा भिन्न, भारतीय आदर्शों के अनुरूप ही अपने अधिकारों का उपयोग करे। *स्वतन्त्रता के नाम पर स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता, समानता के नाम पर प्रतिद्वन्द्विता* और शिक्षा के नाम पर विलासिता भारतीय नारी के ध्येय नहीं होने चाहिए। प्रेमचन्द नारी को पुरुष की सहचरी के रूप में देखना चाहते हैं, वे भारतीय नारी को न तो पुरुष की अनुचरी (जैसी कि आज असंख्य भारतीय नारियाँ हैं) के रूप में देखना चाहते हैं, न पुरुष की प्रतियोगिनी के रूप में (जैसी पश्चिम की या आधुनिक भारतीय नारियाँ हैं)। वे नारी को अपनी सारी शिक्षा और *शक्तियों को गृहस्थी के संचालन और बच्चों के पालन पोषण में लगाने को* कहते हैं। किन्तु, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह उसे घर की चहारदीवारी में बन्द होने को कहते हैं। इसके विपरीत वे चाहते हैं कि नारी को अवकाश मिले और वह आवश्यकता समझे, तो अपने ज्ञान और शक्ति की परिधि परिवार से विस्तृततर करे। साधारण भारतीय नारी में यह विशेषता है भी। उसने जब गाँधीजी के आह्वान पर देश की स्वतन्त्रता को गृहकार्य से *अधिक महत्त्व दिया, तो स्वातन्त्र्य संग्राम में घर से बाहर निकल कर पुरुष की सहायता की है।* प्रेमचन्द ने भी स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने वाली प्रत्येक नारी का श्रद्धापूर्वक चित्रण किया है।[2]

---

१ (क) मारगरेट कारमैक, द हिन्दु वुमन, पृष्ठ २०९-२१०

(ख) श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी 'आधुनिक नारी' पर लिखते हुए इसी तथ्य का उद्घाटन किया है कि नारी ने पुरुषों के अन्याय का जो 'प्रतिकार' चुना, वह उस सुमार्ग पर नहीं ले जा रहा है—"आज पुरुष के निकट स्त्री प्रसाधित-शृंगारित कौतुक मात्र ले कर खड़ी है, यह वह मानना नहीं चाहेगी, परन्तु वास्तव में यही सत्य है। पहले की नारी-जाति केवल रूप और वय का पाथेय ले कर संसार-यात्रा के लिए नहीं निकली थी। उसने संसार को वह दिया, जो पुरुष नहीं दे सकता था। अतः, उसके अक्षय वरदान का वह आज तक कृतज्ञ है। यह सत्य है कि उसके अयाचित वरदान को संसार अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगा, जिससे विकृति भी उत्पन्न हो गई, परन्तु उसके प्रतिकार के जो उपाय हुए, वे उस विकृति को दूसरी ओर फेरने के अतिरिक्त और कुछ न कर सके।"

श्रीमती महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ ४४-४५

२ (क) महात्मा गाँधी ने भी, जो नारियों का कार्य-क्षेत्र घर मानते थे, देश के संकट की अवस्था में *अहिंसात्मक लड़ाई लड़ने के लिए, नारियों का* आह्वान किया था। हजारों की संख्या में पर्दानशीन भारतीय नारियों ने घर घर से निकल कर अपने नेता के आह्वान का समुचित उत्तर दिया था। महात्मा गाँधी ने योरप की नारियों की एक टोली को, जो भारतीय नारियों से कुछ सीखना चाहती थीं, कहा था, "भारत की स्त्रियों ने परदे को फाड़ फेंका और वे राष्ट्र के

इसी प्रकार प्रेमचन्द का विचार था कि समाज की उन्नति तब तक नहीं हो सकती, जब तक नारी समाज-कल्याण में योग नहीं देती। एक बार उन्होंने शिवरानी देवी से कहा था, "मैं तो यहाँ तक समझता हूँ कि कोई पुरुष बिना स्त्रियों के कुछ भी नहीं कर सकता। जब तक स्त्रियों का हाथ किसी काम में न लगेगा, तब तक कोई भी काम पूरा नहीं हो सकता। जब घर घर की स्त्रियाँ और पुरुष हिन्दुस्तान की तरक्की में लगेंगे, तभी कल्याण होगा।"[1]

यद्यपि प्रेमचन्द ने किसी ऐसी विवाहित नारी का (स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने वाली नारियों को छोड़ कर) चित्रण नहीं किया है, जो पारिवारिक क्षेत्र में पुरुष की सहयोगी होते हुए भी राष्ट्र कल्याण या समाज कल्याण का काम करे, तथापि 'गोदान' उपन्यास की मालती के परिवर्तित रूप में विवाहित और अविवाहित दोनों प्रकार की नारियों का वह आदर्श रूप मिलता है, जो प्रेमचन्द चाहते हैं।[2] समाज की रीतियों के अनुसार मालती विवाहित भले ही न हो, किन्तु वह मेहता से विवाह करते करते रुक जाती है और यदि

लिए लड़ने को मैदान में आ गई। उन्होंने देखा कि देश उनसे गृहस्थी के कामों के अतिरिक्त कुछ और माँग रहा था। उन्होंने गैरकानूनी नमक बनाए, विदेशी कपड़े और नशीली वस्तुओं की दूकानों पर धरने दिए और ग्राहकों तथा दूकानदारों दोनों को रोकने की चेष्टा की।"

मो० क० गांधी, महिलाओं से, पृष्ठ ५०

(ख) स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद उन नारियों का पुन: अपने घरों में जा कर गृहस्थी चलाना इस तथ्य का सूचक है कि भारतीय नारियाँ अपने लिए अधिकार या विलासिता की शर्त पर कुछ नहीं करतीं परिवार और समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य समझ कर करती हैं। आज २५-३० वर्षों बाद भी भारतीय नारी में कोई परिवर्त्तन नहीं आया है। अमरीकी लेखिका मारगरेट कारमैक ने अपनी पुस्तक में एक भारतीय नारी का वचन उद्धृत किया है—'Our society is not yet ready to accept careers for women An Indian woman s security is entirely in her home and her husband, not in herself For instance few Indian women are interested in political rights They don't think about rights. They don t think that way, althogh they did work for independence"

मारगरेट कारमैक, द हिन्दू वुमन, पृष्ठ १८८

१ शिवरानी देवी, प्रेमचन्द घर में, पृष्ठ १३५

२ जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तब तक यह सम्भव भी नहीं था, क्योंकि परतन्त्रता की स्थिति में नेता से ले कर साधारण व्यक्ति भी यही सोचता है कि देश की दुर्दशा का मूल कारण उसकी दासता है, अत: बिना स्वतन्त्रता के किसी समस्या का समाधान होना अत्यन्त कठिन है। सन् १९३६ ई०, प्रेमचन्द के देहावसान, तक भारत अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता की समस्या में ही फँसा हुआ था। 'रंगभूमि' उपन्यास में रानी जाह्नवी का हृदय नारी-जाति की *अधोगति में सुधार लाने की 'सदिच्छाओं' से परिपूर्ण है—'सोफी को अब मालूम हुआ कि उनका* (रानी जाह्नवी का) हृदय स्त्री-जाति के प्रति सदिच्छाओं से कितना परिपूर्ण था। उन्हें भारत की देवियों को ईंट और पत्थर के सामने सिर झुकाते देख कर हार्दिक वेदना होती थी। वह उनके जड़वाद को, उनके मिथ्यावाद को, उनके स्वार्थवाद को भारत की अधोगति का मुख्य कारण समझती थीं। इन विषयों पर सोफी से घण्टों बातें किया करतीं' (रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ १४९)—किन्तु, वे इस प्रकार का कोई प्रयास नहीं करतीं। वे भी उसमें बड़ी समस्या, देश की स्वतन्त्रता, को ही अधिक महत्त्व देती हैं। फिर भी अपने जीवन के अन्त में मालती-जैसी नारी की कल्पना कर लेना प्रेमचन्द-जैसे सचेत और सच्चे साहित्यकार का ही काम था।

आत्मसमर्पण को विवाह माना जाए, तो दोनो एक-दूसरे को आत्मसमर्पण कर भी चुके हैं। विवाह के लिए दूसरी बात यह आवश्यक है कि पारिवारिक जिम्मेवारियाँ हों। मालती मेहता और अपने माता पिता तथा बहन का उत्तरदायित्व ले कर सुगृहिणी है ही। अत, पहले उसका गृहिणी रूप ही देखना है। उसके जीवन का, पाश्चात्य सभ्यता और उससे प्रभावित भारतीय नारियों के विपरीत, उद्देश्य है - सेवा, त्याग और वात्सल्य, जो नारीत्व के अनुकूल अत. भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। वह घर में भी और बाहर भी, सेवा में निमग्न है। वह नारी जाति की अधोगति, किसानों की गरीबी और निरीहता तथा बालको की अस्वस्थता और बीमारी को दूर करने का सकल्प करती है।[1] उसकी इस सेवा भावना में कही वह पुरुषों का अनर्थमय अनुकरण, प्रतिद्वन्द्विता, हिंसा, अधिकार भावना, विलासिता और आत्मसेवा नही है, प्रेमचन्द ने जिन्हें पश्चिम की नारी में देख कर निन्दा की है।[2] मालती का कौमार्य रूप भी कम अभिनन्दनीय नही है।

---

१. मालती का घर के बाहर के सेवा-कार्य का 'नारी और शिक्षा' शीर्षक अध्याय मे सविस्तर वर्णन किया गया है।

२ मालती के इस भारतीय रूप की, जो पुरुष से प्रतिद्वन्द्विता का नही, बल्कि नारीत्व का विकास करते हुए पुरुष के साथ सहयोग का है, अभ्यर्थना मारगरेट कारमैक ने अपनी पुस्तक 'द हिन्दू वुमन' म तडी अबला बोस, सरोज नलिनी और रामाबाई रानाडे के जीवनोद्देश्य द्वारा की है। इन भारतीय नारियो का उद्देश्य था—"Devotion to home, husband, son, were her (woman s) first care in life, but she sought also to consecrate herself to the *service of her country* (पृष्ठ १४२) *मिस कारमैक ने इन तीन भारतीय नारियों* द्वारा दिखलाया है कि इनमें से कोई भी किसी भी दृष्टि से, पुरुष से कम बुद्धिसम्पन्न और शिक्षित नही थीं, किन्तु उन्होने अपनी शक्ति और शिक्षा का उपयोग अपने पतियों के सहयोग में किया, उनकी प्रतिद्वन्द्विता में नहीं। फिर भी वे परिवार तक ही सीमित नहीं रहीं। भारतीय नारी की श्रद्धा, त्याग और सेवा भावना से गृहस्थी का सचालन करते हुए उन्होंने देखा कि जिस समाज में उन्होने जन्म लिया है, वह उनसे कुछ और चाहता है। पति के सहयोग से वे नारी-जाति के सुधार और उन्नति में उसी प्रकार जुटी रहीं, जिस प्रकार उन्होंने अपने परिवार के किसी सदस्य के लिए किया होगा। श्रीमती अबला बोस के बारे में आप लिखती हैं—"It is true that Abala Bose had no children, but the life in the household was *only half of her life* She was interested in the status of women, in getting women out of purdah, in educating widows in vocational work She was the founder of Nari Sikaha Samiti (Women's Educational League) and was one of the founders of Brahmo Girl s School, thus living in integrated fashion the ideal of service, to husband and to community" (पृष्ठ १३८) *श्रीमती सरोज नलिनी ने लड़कियों की शिक्षा, पर्दा-प्रथा के अन्त और विधवाओं* के पुनर्विवाह के लिए अथक परिश्रम किया था।—"It was one of the missions of Saroj Nalini s life—and also of her husband's—that women should again, as in Vedic days, fulfil their social duties outside home (This is consistent with the traditional four stages of life—studentship, marriage and family, *semi retirement and community service, full retirement and meditation*) (पृ० १४१) श्रीमती रामाबाई रानाडे भी आदर्श गृहिणी होते हुए अपने पति (जस्टिस रानाडे) के साथ समाज-सेवा करती रहीं।

अभिनन्दनीय चिरकौमार्य '—भारत के वैदिक साहित्य में बडी उम्र की कुमारियों का प्राय वर्णन आया है। कुछ नारियाँ अध्यात्म चिन्तन आदि के लिए आजन्म ब्रह्मचारी रह जाती थीं। बाद में यह परम्परा बुद्ध और जैन धर्मावलम्बियों में भी वर्त्तमान थी। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व से कन्याओ के लिए विवाह अनिवार्य कर्त्तव्य हो गया, यहाँ तक कि रोगग्रस्त और विवाह के लिए शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अयोग्य लडकियों के लिए भी विवाह आवश्यक हो गया। यही नहीं, विवाह बहुत छोटी उम्र में ही होने लगे। एक ओर तो विवाह को आवश्यक कर्त्तव्य बना कर प्रतिभासम्पन्न कन्याओं की साहित्यिक और आध्यात्मिक महत्त्वाकाक्षाएँ कुचल दी गई, दूसरी ओर दोषपूर्ण लडकी से धन आदि के लोभ में कोई व्यक्ति विवाह कर लेता था, तो कुछ दिनों में ही वह उस पर सौत ला कर बिठा देता था। भारतीय नारियों की यह दुर्दशा उन्नीसवी शताब्दी तक रही। शिक्षा के प्रचार, आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता, पाश्चात्य सभ्यता और विचारों का प्रभाव, आदि के कारण बीसवी शती में कन्याओं के विवाह बडी उम्र में तो होने ही लगे, कुछ नारियाँ आजन्म कुमारी भी रहने लगीं। प्रेमचन्द ने भी मिस जोशी, मिस पद्मा, मिस मालती—इन कुमारियों का वर्णन किया है।

प्रेम विवाह का प्रचलन होने के कारण कुछ पाश्चात्य नारियों को विवाह करने का अवसर ही नहीं मिलता था, फिर उन्हें पिता की सम्पत्ति में हिस्सा भी मिलता था, फलस्वरूप कुमारी रहने में उनके सामने किसी आर्थिक कठिनाई की समस्या नही खडी होती थी। बाद में शिक्षा के प्रचार, नौकरी करने और स्वतन्त्र रहने की इच्छा के कारण वहाँ कुमारियों की सख्या में और वृद्धि हुई।[1] अपवादस्वरूप कुछेक नारियाँ समाज सेवा के लिए भी कुमारी रह जाती हैं। भारत में भी ऐसी नारियाँ हैं। प्रेमचन्द ने इस सत्य को देखा, अनुभव किया और इसका चित्रण भी किया। किन्तु, भोग विलास और विवाह की जिम्मेदारियों से मुक्त रहने के लिए अविवाहित रहनेवाली नारियों की, जैसा कि मिस जोशी और मिस पद्मा करती हैं, उन्होंने निन्दा की है। इसे वे स्पष्टतः भारतीय नारी पर पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा का प्रभाव मानते थे और इसे भारतीय सस्कृति तथा नारीत्व के आदर्शों के प्रतिकूल समझते थे। मालती का प्रारम्भिक रूप, जिसमें वह ससार की दृष्टि में कुमारी-जीवन व्यतीत करती हुई भी विलासिनी है, नारीत्व को ठुकराने और पुरुषत्व को अपनाने के कारण प्रेमचन्द की दृष्टि में हेय है। हाँ, जब वह समाज सेवा के उद्देश्य से आजन्म अविवाहित रहना चाहती है, तो लेखक की दृष्टि में आदरणीय हो जाती है।

●

---

1 भारत में पन्द्रह वर्ष तक या इससे अधिक आयु की अविवाहित नारियों की सख्या ६'४ प्रतिशत है, जब कि इगलैण्ड में २५ ५%, फ्रास में २५%, अमरीका में २५ ८%, जर्मनी में २६%, इटली में ३३% और कनाडा में ३३% है। (द्रष्टव्य १९५१ की जनगणना रिपोर्ट, पृष्ठ ७३)।

हरिदत्त वेदालकार, हिन्दू-परिवार मीमासा, पृष्ठ ६२१

: १३ :

प्रेमचन्द का दर्शन और उनके नारी-पात्र

प्रेमचन्द की तुलना प्रायः शरत् और प्रसाद से यह कह कर की जाती है कि इनकी अपेक्षा प्रेमचन्द ने नारी-मनोविज्ञान को समझने में अधिक सफलता नहीं पाई है। प्रेमचन्द की नारियाँ शरत् और प्रसाद की नारियों की तरह भावुक नहीं होतीं, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जाना चाहिए कि प्रेमचन्द को नारी-चरित्र का ज्ञान नहीं था। वस्तुतः हम तब कच्चे मनोविज्ञान के ज्ञान का उद्घाटन करते हैं, जब 'नारी' शब्द का अर्थ भावुकता लगाते हैं। उदाहरणार्थ उपन्यासकार रवीन्द्र को ही लीजिए, जो उसी बंगभूमि के हैं, उसी भावुक क्षेत्र के हैं, जिसके शरत् हैं। किन्तु वे अपनी कविताओं में भले ही भावुक हों, पर उनके उपन्यासों में वैसी बात नहीं है। उपन्यासकार प्रसाद भी नाटककार और कवि प्रसाद से कम भावुक हैं। जब रवीन्द्र या प्रसाद उपन्यास लिखते हैं, तो उनका कवि-रूप सहसा परिवर्तित हो जाता है। ये जितनी दूर तक कठोर वास्तविकता का वैसा परिचय देते हैं, वैसा शरत् भी नहीं देते। प्रसाद अपने उपन्यास 'कंकाल' में उस समाज का, जिसका वे चित्रण करते हैं, कंकाल ही सामने रख देते हैं। आदर्शवादी प्रसाद से ऐसे कुत्स्य, फिर भी यथार्थ रचना की आशा नहीं की जा सकती थी। रवीन्द्र की नारियाँ शरत्चन्द्र की नारी की तरह जिससे प्रेम करती हैं, उसके लिए प्राण देने को हमेशा तैयार नहीं रहती हैं। कहीं-कहीं शरत् के नारी पात्रों (राजलक्ष्मी, किरणमयी आदि) की अनायास सर्वस्व समर्पण करने की भावुकता हास्यास्पद हो गई है। किन्तु, रवीन्द्र के 'कुमुदिनी' आदि उपन्यासों में जहाँ नारी से अनुचित अपेक्षा की जाती है—वहीं दीन हीन नारी भी विद्रोह करने की क्षमता प्रदर्शित करती है।

प्रेमचन्द ने शरत्चन्द्र और अपने सम्बन्ध में एक बात कह दी है कि जहाँ शरत् में सभी जगह भावुकता मिलती है, उनमें नहीं मिलती। वस्तुतः, प्रेमचन्द भावुकता से घबड़ाते हैं। वे भावुक बनने के बदले अपने को तटस्थ बनाए रहते हैं। वे अपने पात्रों से सहानुभूति रखते हैं, किन्तु उनके भाग्य पर आँसू बहाना उन्हें अभीष्ट नहीं है। इसीलिए कुछ आलोचकों ने कहा है कि नारी-चित्रण में प्रेमचन्द को सफलता नहीं मिली है, मिली भी है तो किसान-वर्ग के नारी चित्रण में। उनके नारी-पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

(१) बाबू-वर्ग अर्थात् मध्यवित्त परिवार की नारियाँ—सुमन, जालपा, निर्मला आदि।

(२) किसान-वर्ग—धनिया, सुनिया, सिलिया, झुनिया आदि।

(३) जमींदार-वर्ग—गायत्री, विद्या, मीनाक्षी आदि।

उपर्युक्त वर्गीकरण अव्याप्ति-दोष से ग्रसित है। प्रश्न है कि हम रानी जाह्नवी, सोफिया और मालती को किस वर्ग में रखेंगे, जो इन गिनाए गए नामों से अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व की नारियाँ हैं। मालती मध्यवित्त परिवार की युवती है अवश्य, किन्तु प्रेमचन्द जिस मध्यवित्त वर्ग का चित्रण करते हैं, उसकी नहीं है। वैसे ही सोफिया भी हिन्दू-समाज के मध्य वर्ग की

नहीं, सम्पन्न ईसाई वर्ग की लड़की है और प्रेमचन्द ने जिस प्रकार उसके मनोविज्ञान का चित्रण किया है, उसे देख कर आश्चर्य होता है। उनकी जो जीवनी उपलब्ध है, उससे भी यह रहस्य नहीं खुलता कि उन्हें इतनी जानकारी कैसे हुई। सोफिया के सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह उनकी मानस पुत्री है।[१] वैसे उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उनसे विवरण सम्बन्धी भूलें इसलिए हो गई हैं कि वे ज्यादा भ्रमण नहीं कर सके थे। किन्तु, मनुष्य के बारे में, चाहे वह किसी धर्म और श्रेणी का हो, उनमें भूल चूक ढूँढ़ना असम्भव हो जाता है। जब वे किसी उपन्यास के अन्त में आदर्श स्थापित करते हैं, तब तो कभी कभी मानव स्वभाव के विरुद्ध बातें कह जाते हैं। किन्तु जहाँ कहानी कहते हैं, परिस्थितियों का संघर्ष दिखलाते हैं, मानसिक द्वन्द्व का विश्लेषण करते हैं, मानव मनोविज्ञान से परिचित रहते ही हैं। सूरदास का चित्रण करने वाला लेखक रानी जाह्नवी और सोफिया के भी, उन्हीं के अनुरूप व्यक्तित्व का, चित्रण करता है। प्राचीन सामन्त परिवार की इस क्षत्राणी (रानी जाह्नवी) का जो रूप हमें देखने को मिलता है, वह एक साथ ही कोमलहृदया जननी का भी है और कापुरुष पुत्र को अपने हाथों मार डालने वाली क्षत्राणी का भी। उसके इस दोहरे व्यक्तित्व का चित्रण प्रेमचन्द किस आधार पर करते हैं, इसकी व्याख्या अनावश्यक है, क्योंकि यह निर्विवाद है कि सभी उपन्यासकार अनुभूति के साथ साथ कल्पना से भी बहुत काम लेते हैं। बाद में सोफिया प्रेमचन्द के हाथों की कठपुतली लगती है, पर प्रारम्भ में उन्होंने उसकी जो जीवन झाँकी दी है, वह किशोरावस्था से तुरत यौवन की दहलीज पर पैर रखने वाली युवती के मनोविज्ञान का परिचय नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विनय के प्रति उसका मनोद्वन्द्व हमें आश्चर्य में डाल देता है। मालती भी ऐसी ही नारी है। वह उनके नारी पात्रों में अपवाद है और उसके लिए एक नए वर्ग की कल्पना हमें करनी होगी, जिसमें सोफिया भी रखी जा सकती है। सोफिया से मालती बहुत आगे है। सोफिया ईसाई है, उसमें पर्दे का जो अभाव है, पुरुषों से मिलने की जो छूट है, उसके कारण उसकी स्वतन्त्रता आदि को हम क्षम्य समझते हैं। किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उस प्रकार की स्वतन्त्रताप्राप्त युवती को प्रेमचन्द पहले पहल अपने समाज में मालती के रूप में ही देखते हैं। वह सम्पूर्ण वातावरण के साथ हमारे सामने उपस्थित होती है और वह भी अपवाद के रूप में नहीं, बल्कि विशेष प्रकार की नारियों का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी के रूप में, जो अल्पसंख्यक ही हैं। जैनेन्द्र की 'सुनीता' की भाँति मालती विचित्र नारी नहीं है, जो अपवाद हो। उसमें विचित्रताएँ तो हैं, किन्तु साथ ही वह सामाजिक यथार्थता का प्रतिनिधित्व भी करती है। और, यह विशिष्टता तो प्रेमचन्द के सभी पात्रों के साथ लागू है। उनमें वर्ग प्रतिनिधित्व और चारित्रिक वैशिष्ट्य दोनों ही रहते हैं।

प्रेमचन्द पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि उन्हें सामान्य या देहात के लोगों का चित्रण करने में ही सफलता मिली है। ऐसा कहना भी उनके प्रति अन्याय करना है। वे मध्य वर्ग के व्यक्ति थे और इसी आधार पर यह सोच लेना कि उनका सम्पर्क बहुत उच्च

१ 'जमाना'-सम्पादक दयानारायण निगम के नाम लिखे गए एक पत्र में प्रेमचन्द ने लिखा था—मैंने सोफिया का चरित्र मिसेज एनी बेसेन्ट से लिया ।'

श्रेणी के लोगों से, अत्याधुनिक समाज से नहीं होगा, तो इनके सम्बन्ध में उनके चित्रण कैसे सत्य हो सकते हैं, अनुचित है। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने जीवन को इतने धैर्य के साथ, इतनी तटस्थता और सूक्ष्मता के साथ देखा था कि उसके समक्ष सामान्य रूप से परिचय का कोई महत्त्व नहीं है। 'अज्ञेय' के उपन्यासों के पात्रों में विविधता का अभाव है जबकि उन्होंने देश विदेश का काफी भ्रमण किया है। दूसरी ओर प्रेमचन्द इलाहाबाद में ट्राम चलने की बात कह जाते हैं, जो हास्यास्पद है। किन्तु, चित्रण सम्बन्धी ऐसी भूलों के बावजूद उनके उपन्यासों में जो शील वैचित्र्य, चरित्र वैविध्य मिलता है, उसकी बराबरी बहुत कम लेखक ही कर सकते हैं। यशपाल और 'अज्ञेय' के उपन्यासों में शहरों, पहाड़ों, नगरों आदि के नाम और वर्णन पर्याप्त रूप से मिल जाते हैं, पर वे जिन चरित्रों को हमारे सामने रखते हैं, उनमें कोई वैविध्य नहीं रहता। केवल उनके नाम, स्थान और पद में ही विभिन्नता रहती है। जैनेन्द्र के उपन्यासों के पात्र तो वस्तुतः एक ही हैं—वही नारी है, वही पुरुष, केवल उनके नाम और पद बदल जाते हैं। और, प्रेमचन्द, जो ऊपर से देखने पर इस मानी में कम वैविध्य उपस्थित करते हैं, जैसे उनके ग्रामीण चित्रण में वही उत्तर भारत विशेष रूप से उत्तर प्रदेश के ग्रामों का नाम और वर्णन आया है, किन्तु इस सीमित क्षेत्र में भी उनके पात्रों का पुनरावर्तन कभी नहीं होता। हमें यह निःसंकोच स्वीकार करना चाहिए कि उनके अनुभवों का भाण्डार बड़ा विस्तृत था। वस्तुतः वे कोई फैशनेबुल लेखक नहीं थे, उनके मित्र भी फैशनेबुल नहीं थे। किन्तु, जब वे टमटम पड़ाव पर खड़े हो कर प्रतीक्षा करते थे, तब ये फैशनेबुल पात्र उनकी पैनी दृष्टि से अपने को छिपा ही कैसे सकते थे? ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने मालती-जैसे नारी पात्र को ऐसे ही क्षणों में देखा होगा। उन्होंने उसे चैसे काफी दूर से और सूक्ष्मता से देखा था। 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' की रेखा, भुवन आदि आधुनिकतम पात्रों के जीवन के उन आधारों से पाठक परिचित नहीं होता, जिनके कारण उनका जीवन ऐसा है। परन्तु, मालती और मेहता के प्रत्येक आचरण पर उसे विश्वास करना होता है। इसी प्रकार यद्यपि प्रेमचन्द एक मनोविज्ञानवत्ता की भाँति मानव मन के उप चेतन और अर्द्ध-चेतन के विश्लेषण का प्रयास नहीं करते, तथापि मानव मन का सरल विश्लेषण तो वे करते ही हैं। जिस प्रकार वे बाह्य जीवन में मनुष्य की बुराई और गन्दगी को बहुत महत्त्व नहीं देते, अनावश्यक रूप से उसमें नहीं रमते, उसी प्रकार मानव मनोविज्ञान का चित्रण करते समय भी सचेत रूप से मनुष्य के चेतन मस्तिष्क में जो द्वन्द्व चलते हैं, वे उन्हीं का चित्रण करते हैं। यह सत्य है कि मानव-मन की अन्तर्धारा में और भी गम्भीर और भयानक द्वन्द्व चलते हैं, किन्तु यदि उनसे वह बाह्य जीवन में परिचालित नहीं होता हो, तो अनावश्यक रूप से उन्हें प्रकट करने की आवश्यकता वे नहीं समझते। उदाहरणतः रानी जाह्नवी का अपने पुत्र की प्रेयसी (सोफिया) के प्रति जो व्यवहार है, वह एक माता का अपने पुत्र के प्रति मात्र उदात्त भाव नहीं है, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, पुरुष पर अधिकार के मोह को ले कर एक नारी का दूसरी नारी के प्रति ईर्ष्या भाव भी है। कोई मनोवैज्ञानिक होता, तो इस पर अनावश्यक रूप से जोर देता और रानी के अचेतन मन की विकृति को प्रकाश में लाता। किन्तु, प्रेमचन्द ऐसा नहीं करते। ऐसी बात नहीं कि उन्होंने इस मनोवैज्ञानिक सत्य को नहीं

समझा था, हाँ, उसे अवश्य ही वे विकृत रूप से प्रकट नहीं करते। रानी जाह्नवी, सोफिया के नाम आए हुए विनय के पत्रों को फाड़ लेती हैं, दरवाजे से सोफिया के कमरे में झाँकती हैं आदि। किन्तु, साथ ही वे अपने पर नियन्त्रण भी रखती हैं, इसलिए लेखक भी इतना ही कहना पर्याप्त समझता है।

यथार्थवाद के नाम पर उपन्यासों में कुत्सित वासनाओं के चित्रण से प्रेमचन्द भली भाँति परिचित थे, किन्तु उसका समर्थन नहीं करते थे। अपने 'उपन्यास का विषय' नामक लेख में वे कहते हैं—'इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यास में मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओं का, कमजारियों और अपकीर्तियों का विशद वर्णन वाञ्छनीय है या नहीं, मगर इसमें सन्देह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बाँध लेता है, वह कभी उस कलाविद् की महानता को नहीं पा सकता, जो जीवन-संग्राम में एक मनुष्य की आन्तरिक दशा को, सत् और असत् के संघर्ष और अन्त में सत्य की विजय को, मार्मिक ढंग से दरसाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं कि हम अपनी दृष्टि को अन्धकार की ओर केन्द्रित कर दें। अन्धकार में मनुष्य का अन्धकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है? बेशक चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी कभी आवश्यक हो जाता है। लेकिन, दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाए, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है। किसी को नीच समझ कर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते, बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जाएगा कि 'तुम कायर हो।' हमें यह दिखाना होगा कि उसमें साहस, बल, धैर्य—सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुन्दर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।''[1]

कुछ विद्वानों का मत है कि प्रेमचन्द एक सामाजिक ध्येय, समाज-सुधार से प्रेरित हो कर लिखते हैं, उनकी कला आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से प्रेरित है। वे यथार्थ से प्रारम्भ करके अपने कथानकों अथवा पात्रों को आदर्श बना देते हैं, इस परिवर्तन का पर्याप्त कारण नहीं देते। सुधार भावना से प्रेरित होने के कारण उनके पात्रों का ठीक से चरित्र विकास नहीं होता और उपन्यास के पिछले हिस्से में समस्या समाधान ही प्रधान कार्य हो जाता है, चरित्र निरूपण गौण।[2] इस दृष्टि से वे बँगला उपन्यासकार शरत् को पूर्ण सफल समझते हैं, क्योंकि समाज-सुधार में उनका उत्साह नहीं है, वे चरित्र चित्रण में रुचि रखते हैं। यह भी कहा जाता है कि पात्रों की मृत्यु करा देना अधिकतर चेत में प्रेमचन्द की कलात्मक असमर्थता का सूचक है। जिन उलझनों की सृष्टि हुई रहती है, मृत्यु अथवा आत्महत्या के द्वारा उनका एकाएक आकस्मिकता से सुलझाव नहीं, बल्कि अन्त कर देते हैं। इनके कथा साहित्य में आत्महत्याओं की भरमार है—विद्या, गायत्री, रोहिणी, सोफिया आदि

---

१ प्रेमचन्द, कुछ विचार, पृष्ठ ६६ ६७

२ (क) इन्द्रनाथ मदान, प्रेमचन्द : एक विवेचना, पृष्ठ ४९, ५७, १२३, १३१

(ख) हंसराज रहबर, प्रेमचन्द जीवन, कला और कृतित्व, पृष्ठ २७७

आत्महत्या करती हैं। पर, इन आरोपों के बावजूद, वस्तुवाद के आग्रह के कारण, कुछ आलोचक चरित्र चित्रण में उन्हें सफल मानते हैं।'

वस्तुतः प्रेमचन्द के पात्र जीवन में मिलने वाले व्यक्तियों के समान यथार्थ हैं। पाठक उनसे उसी प्रकार हृदय से प्रेम और घृणा करता है, उसी प्रकार गम्भीरता से सहानुभूति दिखलाता है, उन पर उसी तरह पूर्ण रूप से विश्वास करता है, जिस प्रकार वह अपने सम्पर्क में नित्य आनेवाले हाड माँस के बने व्यक्तियों से करता है। दूसरे शब्दों में वे यथार्थ जीवन के अनुभवों के आधार पर लिए गए चरित्र हैं। वे न तो देव स्वरूप हैं और न दानवस्वरूप, बल्कि उनमें गुण और अवगुण दानों का मिश्रण है। हाँ, उनके परिवेश और घटनाओं के अनुसार उन्होंने उनका उत्थान अथवा पतन दिखलाया है। उन्होंने 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में लिखा है—'मानव-चरित्र न बिलकुल श्यामल होता है, न बिलकुल श्वेत। उसमें दोनो ही रगों का विचित्र सम्मिश्रण होता है। स्थिति अनुकूल हुई, तो वह न्र्षपितुल्य हो जाता है, प्रतिकूल हुई, तो नराधम। वह अपनी परिस्थितियों का खिलौना मात्र है।'[२] अत प्रेमचन्द का पात्र चाहे 'न्रृषितुल्य' हो अथवा 'नराधम'—उन्होंने उसमें मनुष्योचित व्यवहार अवश्य दिखलाया है और इसीलिए उनके आदर्शीकृत अथवा दृष्टान्तभूत चरित्रो में भी स्पन्दनशीलता और सजीवता देखने को मिलती है। जड पात्रों की रचना उन्होंने नही की है।

प्रेमचन्द ने कभी धरती का दामन नहीं छोडा, क्योंकि उनका कहना था कि आकाश में उड़ने वाली चिडिया को भी दाने के लिए पृथ्वी पर उतरना पडता है। हाँ, उन्होंने यथार्थ को उसके नग्न रूप में न देख कर वांछित रूप में देखा। यथातथ्य चित्रण की सीमारेखा उन्होंने वहीं तक खींची, जहाँ तक पहुँच कर कथा साहित्य का उद्देश्य अमर्यादित नहीं हो जाता। 'अगर हम यथार्थ को हू-ब-हू खींच कर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है।'[३] इसीलिए उन्होंने अपने यथार्थवाद को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा और आलोचको ने भी भ्रम में यही कहा, किन्तु प्रेमचन्द पूर्ण रूप से यथार्थवादी हैं—आज 'समाजवादी यथार्थ' यही तो है।

प्रेमचन्द के सभी आलोचक इस तथ्य से सहमत हैं कि वे उत्तरोत्तर यथार्थवादी होते गए थे। यों भी देखा जाए, तो उनके प्रारम्भिक उपन्यासों की प्रधान पात्रियाँ, जो आदर्श विशेष को अंशतः उदाहृत करती हैं, की तुलना में वे गौण पात्रियाँ कम सजीव नहीं हैं, जिनसे हमारा परिचय थोडी देर के लिए ही होता है। 'वरदान' उपन्यास की विरजन और माधवी की तुलना में चन्द्रा और सेवती, और सुदामा की तुलना में प्रेमवती कम सजीव नहीं हैं। इसी प्रकार 'सेवासदन' उपन्यास की सुमन की तुलना में सुभद्रा और भामा, 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की पूर्णा और प्रेमा की तुलना में सुमित्रा, 'प्रेमाश्रम' उपन्यास की श्रद्धा, विद्या और गायत्री की तुलना में बडी बहू और विलासी, 'रगभूमि' उपन्यास की रानी जाह्नवी,

१. (क) कृष्णशकर शुक्ल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३१४
(ख) डॉ० रामरतन भटनागर, प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृष्ठ २२३-२२४

२ प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३६६

३. प्रेमचन्द, कुछ विचार, पृष्ठ ३२

और सोफिया की तुलना में इन्दु, मिसेज सेवक, सुभागी, जमुनी, कुल्सूम और ज़ैनब, 'काया कल्प' उपन्यास की मनोरमा और अहल्या की तुलना में रोहिणी और वागीश्वरी तथा 'निर्मला' उपन्यास की निर्मला की तुलना में सुधा, कल्याणी और रुक्मिणी कम सजीव नहीं हैं। बाद के उपन्यासों — गबन', 'कर्मभूमि' और 'गोदान', में इस त्रुटि का पर्याप्त मात्रा में परिमार्जन हो गया है। 'गबन' की नायिका जालपा गौण पात्रियों यथा—रतन और जोहरा से अपेक्षाकृत अधिक सप्राण है। 'कर्मभूमि' उपन्यास की सुखदा और मुन्नी गौण पात्रियों रेणुका देवी, बुढ़िया पठानिन, नैना, सकीना आदि से कहीं अधिक सजीव और यथार्थ हैं, बल्कि इन उपन्यासों में गौण पात्रियों—'गबन' उपन्यास की जोहरा और रतन तथा 'कर्मभूमि' उपन्यास की सकीना और नैना — का ही आदर्शीकृत चित्रण हुआ है। इस दृष्टि से 'गोदान' उपन्यास प्रेमचन्द की सर्वोत्तम औपन्यासिक रचना है। इसमें सभी वर्गों और समाजों के एक दर्जन से अधिक नारी चरित्र आए हैं, किन्तु कोई भी जीवन के स्पन्दन से रहित नहीं है। धनिया, सिलिया, झुनिया, पुनिया सोना, रूपा सोहरी, चुहिया, दुलारी सहुआइन, वनकन्या, गोविन्दी, मालती, सरोज, मीनाक्षी आदि सभी अपनी अच्छाइयों और कमजोरियों के कारण पाठकों की सहानुभूति की अधिकारिणी हैं।

प्रमुख नारी पात्र

'वरदान' प्रेमचन्द का एक प्रारम्भिक उपन्यास है। इसकी नायिका (विरजन) एक आदर्श चरित्र को उदाहृत करती है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने वृजरानी के चरित्र की इस असंगति की ओर इन शब्दों में संकेत किया है—'वरदान का सबसे हलका हिस्सा वह है, जिसमें वृजरानी के सम्बन्ध में यह दिखलाया गया है कि वह कमलाचरण से प्रेम से मिलती है और प्रेम पत्र लिखती है। यहाँ तो प्रेमचन्द ने वृजरानी के चरित्र की बिलकुल हत्या कर डाली है। यह मैं नहीं कहता कि परिवर्त्तन असम्भव है, पर जिस पृष्ठभूमि में यह परिवर्त्तन दिखलाया गया है, वह जचता नहीं। इस बीच में यह भी दिखला दिया गया है कि वृजरानी प्रताप के प्रेम के कारण बहुत बीमार हो गई है और प्रताप के आने से ही अच्छी हुई। फिर भी उसी साँस में फौरन ही यह दिखलाया जाता है कि वृजरानी के नयनों में कमला के लिए प्रेम रस भरा हुआ था। यह कैसे हो सकता है?''[१] किन्तु, इसमें अस्वाभाविकता प्रथम दृष्टि में ही दिखाई पड़ती है। प्रेमचन्द ने इस परिवर्त्तन के पर्याप्त कारण दिए हैं। प्रेमी के लिए विरजन का प्रेम विवाहोपरान्त नियन्त्रित, दमित हो जाता है, इसके विपरीत पति के प्रति विवाह के बाद से ही, संस्कारवश, प्रेम अंकुरित होता है—पति बीमारी में उसकी सेवा करता है, तो यह अंकुर स्वभावतः विकसित होता है। प्रेमचन्द ने वृजरानी की मनोदशा का ऐसा चित्रण किया है। वह सोचती है—'इस अपार उपकार का क्या प्रतिउत्तर दूँ? मेरा धर्म था कि सेवा सत्कार से उन्हें सुख देती, पर सुख देना कैसा, उलटे उनके प्राण ही की गाहक हुई हूँ। वे तो ऐसे सच्चे दिल से मेरा प्रेम करें और मैं अपना कर्त्तव्य भी न पालन

१ मन्मथनाथ गुप्त, कथाकार प्रेमचन्द, पृष्ठ १६७

कर सकूँ। ईश्वर को क्या मुँह दिखलाऊँगी ?'' प्रेमचन्द ने टिप्पणी की है—'सच्चे प्रेम का कमल बहुधा कृपा के प्रभाव से खिल जाया करता है। जहाँ रूप, यौवन, सम्पत्ति और प्रभुता तथा स्वाभाविक सौजन्य प्रेम का बीज बोने में अकृतकार्य रहते हैं, वहाँ प्रायः उपकार का जादू चल जाता है। कोई हृदय ऐसा वज्र और कठोर नहीं हो सकता जो सत्य सेवा से द्रवीभूत न हो जाए।'[२]

फिर भी उन्होंने लिखा है कि वृजरानी का प्रेम कर्त्तव्य पर आश्रित था—'कमला और वृजरानी में दिन दिन प्रीति बढ़ने लगी। एक प्रेम का दास था, दूसरी कर्त्तव्य की दासी।'' वे अन्यत्र लिखते हैं--'दोनों यही चाहते थे कि प्रेमक्षेत्र में मैं आगे निकल जाऊँ। पर, दोनों के प्रेम में अन्तर था। कमलाचरण प्रेमोन्माद में अपने को भूल गया था। पर, इसके विरुद्ध विरजन का प्रेम कर्त्तव्य की नींव पर स्थित था। हाँ, यह आनन्दमय कर्त्तव्य था।'[४] फिर तीन वर्ष के दाम्पत्य प्रेम के पश्चात्, जब उसके प्रेम का अंकुर वृक्ष के रूप में विकसित हो जाता है, कमलाचरण पढ़ने के लिए प्रयाग चला जाता है, उसी समय विरजन पति को वे प्रेम पत्र लिखती है, जिनके कारण मन्मथनाथ गुप्त वृजरानी के चरित्र की 'हत्या' होना समझते हैं। यही कारण है कि, विरजन के विपरीत प्रतापचन्द्र के कँवारे जीवन में वृजरानी का प्रभाव, प्रेमचन्द ने, अधिक काल तक दिखलाया है। आकस्मिक रूप से वृजरानी के विधवा होने का समाचार उसे दुखी नहीं बनाता और वह विरजन से एक बार गुप्त भेंट करने की प्रबल इच्छा को रोक नहीं पाता है, किन्तु दो बजे रात्रि में उसके घर के पीछे की ओर से वाटिका की चहारदीवारी फाँद कर जब वह विरजन के बन्द कमरे के सामने पहुँचता है और दरवाजे के दरार से रोशनी आती देख उससे आँख लगा कर देखता है कि विरजन तो एक सफेद साड़ी पहने, लेखनी लिए कुछ सोच सोच कर लिख रही है, तो उसके हृदय की कुवासनाएँ मर जाती हैं और वह उलटे पाँव लौट कर उत्तम एवं निःस्वार्थ जीवन व्यतीत करने के लिए प्रायश्चित्तस्वरूप सन्यासी हो जाता है।

आगे चल कर उक्त उपन्यास में प्रेमचन्द ने विरजन की ओर से जो व्यावहारिक कदम उठवाया है, वह उसके चरित्र को और भी प्रशंसनीय बना देता है। वह प्रताप के जीवन को भी सुखी बनाने के लिए ग्यारहवर्षीया माधुरी को उसकी पत्नी बनने के योग्य शिक्षा देती है, ताकि उसका विवाह उससे करा सके।[५] इस प्रकार उसमें प्रतिनिधित्व और विलक्षणता दोनों ही हैं।

प्रेम का भावुक, स्वार्थपूर्ण, वैयक्तिक और समाजनिरपेक्ष रूप प्रेमचन्द ने कभी पसन्द नहीं किया। उनकी यह विशेषता है कि विरजन में परिवर्त्तन दिखलाने के लिए उन्होंने पर्याप्त कारण दिए हैं और एक सीमा तक उसके चरित्र को विश्वसनीय बनाया है। इसी उपन्यास की माधवी का चरित्र एक आदर्शीकृत प्रेमिका का चरित्र है। वह वृजरानी से

१. वरदान, पृष्ठ ८२
२. वरदान, पृष्ठ ८२
३. वरदान, पृष्ठ ८३
४. वरदान, पृष्ठ ८६
५. वरदान, पृष्ठ १३३

प्रतापचन्द्र के रूप और गुण की प्रशंसा सुन कर उससे प्रेम करने लगती है और प्रताप लापता है। इस प्रकार वह पचीस वर्ष की अवस्था तक कुमारी ही है, किन्तु इसकी सामाजिक प्रतिक्रिया नही दिखलाई गई है, जब कि उस समय लड़कियों का बहुत बड़ी उम्र तक कुमारी रहना समाज में बुरा समझा जाता था। इसके बाद प्रताप से, जो सन्यासी हो गया था और 'बालाजी' के नाम से विख्यात हो चुका था, उसकी कुछ देर के लिए बातचीत होती है। प्रताप इसके प्रेम और त्याग से प्रभावित होता है और प्रतिदान के लिए अपना सन्यासी-जीवन त्याग कर उससे विवाह करना चाहता है। किन्तु, माधवी कहती है कि वह उसे पुनः सांसारिक बन्धनों में न बाँधेगी। उसे उसका प्रेम प्राप्त है, यही उसकी अमूल्य निधि है। और, वह स्वयं भी योगिनी का वेश धारण करके 'बालाजी' की कीर्ति सरस पदों में गाती है। अब उसके हृदय में लोक-लज्जा का भाव शेष न था। वह प्राचीन भारत की आदर्श प्रेमिकाओं का प्रतिनिधित्व करती है।

'सेवासदन' उपन्यास की सुमन के चरित्र के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं—प्रथम, गृहिणी से वेश्या के रूप में उसका पतन और द्वितीय, वेश्या से समाज सेविका के रूप में उसका उत्थान। सुमन के जीवन का प्रथम भाग उसके प्राणवान् एवं सशक्त व्यक्तित्व का सूचक है। वह सुन्दर है, अभिमानिनी है, चतुर है, प्रशंसा, सम्मान और विलास सुख की इच्छुक है, परिस्थितियों से प्रभावित होने वाली साधारण नारी है और इन सबसे बड़ी बात यह है कि पति उसके अनुरूप नहीं है। उसके वेश्या बनने के ये ही कारण हैं। उसके जीवन का दूसरा पहलू उसकी विवेकशीलता, आत्माभिमान, त्याग, सेवा, पश्चात्ताप और परिवेश के सुन्दर ग्रथन की कहानी है। वह एक साथ ही पाठकों की घृणा, प्रेम, सहानुभूति, दया तथा श्रद्धा की अधिकारिणी है।

सुमन का पतन की निम्नतम सीढी पर उतरना और उसके बाद वहाँ से आदर्श नारीत्व के शिखर पर पहुँच जाना असम्भव सा दिखता है। आलोचकों ने उसके चरित्र के प्रथम भाग को यथार्थ और दूसरे भाग को सुधारवाद एवं आदर्शवाद से प्रेरित कहा है। डॉ० कृष्णशंकर शुक्ल लिखते हैं—'सेवासदन' की सुमन बाई के हृदय में संसार के प्रलोभनों के लिए बहुत बड़ा आकर्षण है। इस आकर्षण का नियन्त्रण वह नहीं कर पाती, उसकी परिस्थितियाँ भी ऊपर उठने में सहायता देने के बदले उसे और भी नीचे ढकेलती जाती हैं। पति द्वारा परित्यक्ता होने पर भी वह साधारण स्त्रियों की तरह आत्मघात नहीं करती, इसका मुख्य कारण है कि जीवन के सुख भोगने की लालसा उसके हृदय से नहीं जा सकी। वह पतन की चरम सीमा पर पहुँचती है। कुलकामिनी से वेश्या बन जाती है। इसके बाद प्रेमचन्दजी उसको शुद्ध करना प्रारम्भ करते हैं, वह फिर एक आदर्श महिला बन जाती है। जिस स्त्री के चरित्र में इतनी दृढता नहीं थी कि वह वेश्या बनने से रुक सके, उसके चरित्र का यह अद्भुत परिवर्तन हमें आश्चर्य में डाल देता है। इस परिवर्तन के लिए जो कारण उपस्थित किए गए हैं, वे पर्याप्त नहीं हैं।"[1] अब हम यह देखें कि आलोचकों का कथन कहाँ तक सत्य है।

१. कृष्णशंकर शुक्ल, आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३१४-३१५

सुमन के चरित्र की प्रथम परिणति—गृहिणी से वेश्या बनना—कार्य कारण सम्बन्ध की दृष्टि से स्वाभाविक है, इससे सभी आलोचक सहमत हैं। वह अचानक वेश्या वृत्ति नहीं अपनाती। प्रेमचन्द ने मानों इसकी सम्भावना दिखलाने के लिए ही उसके बचपन का चित्र भी खींचा है। बचपन से ही वह चंचल और अभिमानिनी है और दूसरों से बढ़ कर रहना चाहती है। उसके एक छोटी बहन है, शान्ता। दोनों बहनों के लिए यदि पिता एक ही प्रकार के कपड़े लाते हैं, तो सुमन मुँह फुला लेती है। पिता भी लड़कियों को मखमली स्लिपर पहनाते हैं, शिक्षा देने और कसीदाकारी सिखलाने के लिए एक ईसाई लेडी रख देते हैं और उनके भोग विलास के लिए सारे सामान प्रस्तुत करते हैं। मितव्ययिता और कर्त्तव्य की शिक्षा का पूर्ण अभाव है और इसी के फलस्वरूप सुमन का विवाह गरीब एवं अधेड़ गजाधर से होता है। उसका विवाह यदि किसी सम्पन्न घर में हुआ होता, तो उसके जीवन की ऐसी परिणति न होती। लेखक ने उन घटनाओं और परिस्थितियों का विशद वर्णन किया है, जिनके कारण वह वेश्या वृत्ति अपनाती है।

एक ओर गरीब और रूखा अधेड़ पति, दूसरी ओर भोग विलास की तीव्र लालसा, कम आय, बदबूदार घर, सामने ही वेश्या की कोठी, आदर्श दम्पति पद्म सिंह (वकील) और सुभद्रा का उदाहरण तथा अपने घर पर पति-पत्नी में अभावों को लेकर हमेशा झगड़ा, बचपन की कुशिक्षा, पड़ोसिनों की कुसंगति, सौन्दर्य, अभिमान और चंचलता, वेश्या का सम्मान और कुल स्त्री होने पर भी उसका सर्वत्र अपमान, आदर सम्मान की भूख, पति द्वारा घर से निकाला जाना, कहीं भी शरण न मिलना, जीविका साधन का अभाव, गुण्डों और शोहदों द्वारा पीछा किया जाना, अतः अन्त में वेश्या की देहरी—यह है सुमन का प्रारम्भिक जीवन। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अन्य अनेक कारण भी उसे प्रभावित करते हैं। जैसा श्री मन्मथनाथ गुप्त ने कहा है, चूँकि सुमन का पिता जेल में है, इसलिए उसके नैतिक बन्धन भी ढीले हो गए हैं, वह पाप और पुण्य की असलियत पहचान गई है। अतः, उसके चरित्र का यह विकास सर्वथा विश्वसनीय है।

सुमन के चरित्र का दूसरा अंश है—वेश्या से भोग विलास की पुतली से—सेवा की प्रतिमा बन जाना। प्रेमचन्द ने सुमन को उच्चासन से जितना नीचे गिराया था, उतना ही वे उसे ऊपर भी उठाते हैं और यह भी अस्वाभाविक नहीं है। सुमन ने जीविका के अन्य साधन के अभाव में विवश हो कर वेश्या-जीवन अपनाया था, अतः वह केवल गाती नाचती है, शरीर का व्यापार नहीं करती। वेश्या जीवन के उसे कटु अनुभव भी हुए। उसने देखा कि वह मृगतृष्णा है, उसकी चमक दमक ऊपरी ही है। उसमें आदर प्रेम प्राप्त करने और सुख भोग करने की जो लालसा थी, वह यहाँ भी तृप्त होती नहीं दिखाई पड़ी। उसने पद्म सिंह (वकील) और उनकी पत्नी (सुभद्रा) के प्रेम को देखा था। सुभद्रा कितने प्रेम से पति के लिए जलपान तैयार करती और कचहरी से आने में तनिक देर होने पर कितनी चिन्तित हो जाती। उसने उनका प्रेमालिंगन भी देखा था। वह सच्चा प्रेम वेश्यालय में कहाँ? यहाँ के आदर प्यार में उसे काम लिप्सा घुली मिली दिखाई देती है। सदन के प्रेम को वह सच्चा प्रेम समझती है, किन्तु यहाँ के जीवन से वह इस तरह असन्तुष्ट हो गई होती है

कि यदि किसी सुरक्षित स्थान का उसे विश्वास दिलाया जा सकता, तो वह वहाँ एक क्षण के लिए भी नही टिकना चाहती।

इसी बीच परिस्थितियाँ ऐसा मोड लेती हैं कि पास पडोस और समाज के अनेक परिचित व्यक्ति, जो सुधारक भी हैं और सुमन के पतन में सहायक भी हुए थे, ग्लानिवश उसका उद्धार करना चाहते हैं। सुमन तैयार है ही और कोई उपाय न देख विट्ठलदास उसे विधवाश्रम में रख देते हैं। वहाँ वह इस प्रकार रहती है, जैसे वहाँ क जीवन से चिरअभ्यस्त हो। अपने सद्व्यवहारों और सेवा भाव से वह अपनी कलक कालिमा धोना चाहती है। प्राय वह अपने विगत जीवन के क्षणों को याद करती है और अपनी विलास लालसा को जी भर कोसती है। अपनी छोटी बहन (शान्ता), जिसकी बारात उसी के कलक के कारण दरवाजे पर से लौट गई थी, को कैसे मुख दिखलाएगी, यह सोच कर वह आत्महत्या करने को तैयार हो जाती है। वस्तुत सुमन की आत्मभर्त्सना परम मार्मिक है। उधर समाज भी उसे क्षमा नही करता, बल्कि उसे पतिता समझता है। विधवाओ को जब सुमन का सच्चा हाल ज्ञात होता है, तो आश्रम खाली होने लगता है। सुमन शान्ता के साथ आश्रम से निकल पडती है। राह में सदन से मुलाकात हो जाती है और दोनो बहनें उसके झोपड़े में रहने लगती हैं। यहाँ भी सेवा, त्याग और तपस्या की दृष्टि से उसका जीवन अनुपम है। जीवन के कटु अनुभवों और सच्चे पश्चाताप के कारण अब उसमें चचलता तथा अभिमान के बदले गम्भीरता एव धैर्य आ गए हैं। फिर भी समाज उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं। नीच जाति के मल्लाह भी उसके घर का पानी नहीं पीते। 'देवता की मूरत टूट कर फिर नहीं जुडती। अब वह देवी बन जाए, तब भी मैं उसका विश्वास न करूँ'—भामा के इन शब्दों में सामाजिक धारणा ही बोलती है। इसी कारण बहन (शान्ता) भी कृतघ्न हो जाती है। फलस्वरूप सुमन वहाँ से भी चली जाती है।

अपने कर्मों पर पश्चाताप करते हुए उसकी भेंट अपने पति (अब साधु गजानन्द) से होती है। 'सेवासदन' की सचालिका के रूप में उसका अन्तिम और सवश्रेष्ठ सेवा रूप सामने आता है। उसमें नारी की चरम विभूति, माता की प्रतिष्ठा होती है। सुमन वही है, किन्तु पूर्व के निकृष्ट जीवन की स्मृति तथा विट्ठलदास, पद्म सिंह और गजानन्द की सगति उसके शील के कच्चे घडे स विलास प्रेम का रग बिलकुल मिटा कर उसे त्याग तथा सेवा की भट्टी में पका देती है।

सुमन का चरित्र प्रतिनिधि चरित्र की अपेक्षा व्यक्तिप्रधान चरित्र अधिक है। वह असाधारण नारी है, सघर्षशील और साहसी। सामान्यत मध्यवर्ग की नारियाँ ऐसी नहीं होतीं। हर एक नारी में अच्छा खाने पहनने की इच्छा होती है, किन्तु सामान्यत वह उतना भयकर रूप नहीं धारण करती कि उसका पति उसे घर स निकाल दे और विवश हो कर उसे वेश्या वृत्ति अपनानी पड़े। सुमन दालमण्डी में पहुँच कर भी सामान्य वेश्याओं की भाँति नहीं है। वह स्वय खाना बनाती है और केवल नाचती गाती है, शारीरिक पवित्रता रखती है, जो दुस्साध्य अथवा अविश्वसनीय नहीं, क्योंकि वह हिन्दू परिवार के सस्कारों में पली हुई नारी है, शान्ता और गगाजली जैसी सती साध्वी नारियाँ उसकी बहन और माता हैं।

किमी वश्या क लिए कुल छह महीने अपनी मतीत्व रखा करना कोई कठिन नही है, क्योंकि उन्हे रसिकों क प्रेम मे नही, धन से मतलब रहता है। आत्मसमर्पण के पूर्व व महीनो उनसे धन चूसती हैं।' सुमन ने भी जीविका के अभाव और गुण्डों से चरित्र रक्षा क लिए ही इस कूचे में कदम रखा था और धन की जरूरत ता थी ही। यदि सुमन को आजीवन निष्कलक चित्रित किया जाता, ता अस्वाभाविकता का दोषारोपण समीचीन हा सकता था। किन्तु, उपन्यास में ता उसके दालमण्डी के कोठे पर बैठत ही उसके परिचितो और सुधारको में उसके उद्धार के लिए हलचल मच जाती है। सतीत्व रक्षा की दृष्टि से यदि वह वेश्याओं में असाधारण है, तो सामान्य हिन्दू-नारी भी है। वेश्या जीवन छोड़ने के बाद तो उसमें त्याग और सवा वाला रूप हिन्दू नारी का ही है, यद्यपि वह पति और बच्चों तक सीमित न हो कर समाज के कल्याण के लिए हो जाता है।

'प्रमाश्रम' उपन्यास की गायत्री में भी पहले पतन और फिर उत्थान की यही झाँकी मिलती है। गायत्री विधवा है, किन्तु सुन्दरी है। वह युवती है और अपार सम्पत्ति की स्वामिनी भी। उसे अपने ऊपर इतना विश्वास है कि विधवा होने पर भी माँग-चोटी से विमुख नहीं है। वह माली तो है, किन्तु आदर सम्मान को भूखी भी है। उसका छाटा बहनोई (ज्ञानशकर) नीच और स्वार्थी है। वह उसकी सम्पत्ति पर ही नही, बल्कि उसके यौवन और सौन्दर्य पर भी अपनी कुदृष्टि डालता है। वह सभ्य है, सौम्य है, रूपवान है, शिक्षित है, वाणी-कुशल है, अत भाली भाली गायत्री निष्कपट रूप से उसकी ओर आकृष्ट होती जाती है। एक बार ज्ञानशकर उसे अकेली ही थियेटर देखने के लिए ले जाना चाहता है। गायत्री अपनी बहन (विद्या) और उसके पुत्र (मायाशकर) को भी साथ ले जाती है, किन्तु ज्ञानशकर माया क राने पर दोनों का घर भेज देता है और गायत्री के साथ थियेटर देखता है। रास्ते में लौटते वक्त कुछ छेड छाड भी करता है। गायत्री उसी दिन से ज्ञानशकर से सचेत हो जाती है। सम्भवत उसका जीवन बिना किसी हलचल के कट जाता, किन्तु उसके पिता (रायसाहब) के प्रेरित करने पर जब ज्ञानशकर उसकी प्रशसात्मक जीवनी लिख कर एक सम्मानित पत्र में छपवा देता है, ता परिस्थितियाँ कुछ और ही मोड लेती हैं और गायत्री उत्तरोत्तर पतन की ओर बढती जाती है। वह लेख पढने के पहले ही उसके मन में अपनी जमींदारी के सुप्रबन्ध के लिए एक सुयोग्य मैनेजर रखने की बात उठी थी और ज्ञानशकर भी उसके मस्तिष्क में उक्त पद क लिए आए थे, किन्तु उनके कुटिल रूप की याद करके वह शान्त हा गई थी। इस लेख ने उसे ज्ञानशकर का मैनेजर बनाने का प्रेरित किया, क्योंकि उसका सम्मानप्रिय हृदय उसे कुछ पुरस्कार दिए बिना नहीं रह सका।

आगे उसी लेख के आधार पर गायत्री को 'रानी' की पदवी मिलती है और उपाधि वितरण के जलसे का सारा भार मैनेजर ज्ञानशंकर ही दक्षतापूर्वक सँभालता है। गायत्री के जीवन का यह सबसे बडा अरमान था, जो ज्ञानशकर की बदौलत पूरा हुआ था।

---

१ इसी सत्य को उद्घाटित करने के निमित्त चन्द्रशेखर पाठक ने 'वारागना-रहस्य' नामक उपन्यास लिखा था।

वह प्रसन्न हो कर ज्ञानशकर को एक बँगला बनवाने का सारा खर्च देती है। ज्ञानशकर समझ जाता है कि गायत्री सम्मान की भूखी है। अब वह ऐसे ही अवसरों की ताक में रहता है। जहाँ कोई ऐसा मौका आता, वह जी जान से लग जाता। इलाके से उसने कई लाख की आमदनी दिखलाई। सनातन धर्म मण्डल के वार्षिकोत्सव, जिसकी सभानेत्री गायत्री थी, की व्यवस्था भी उसने सुचारु ढग से की। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का प्रभाव गायत्री पर पड़ना स्वाभाविक है।

धीरे धीरे गायत्री के चरित्र का एक भेद और खुलता है। ज्ञानशकर समझता है, गायत्री की प्रवृत्ति धार्मिक है, वह भोग की जगह सयम और इच्छाओं के स्थान पर प्रथाओं की समर्थक है। अत, कुटिलबुद्धि ज्ञानशकर ने उसकी धार्मिक प्रवृत्ति को उत्तेजित करके अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहा। वह स्वय वेश भूषा और व्यवहार में पूरा योगी बन गया, जैसे उसने साक्षात् भगवान् के दर्शन कर लिए हैं। इलाके में मन्दिर और धर्मशाले की नींव पड़ी दूर दूर से भगवद्भक्त मण्डलियाँ बुलाई जाने लगी। इन सबका यह प्रभाव हुआ कि जो गायत्री ज्ञानशकर तक से पर्दा करती थी और बिना किसी काम के उससे बोलती तक न थी, अब पर्दा छोड कर भक्तों का आदर सत्कार करने लगी। यद्यपि वह कृष्ण और राधा के आध्यात्मिक प्रेम का मर्म नहीं जानती थी और न उसके हृदय में भक्ति के फलस्वरूप शान्ति ही थी, फिर भी वह ज्ञानशकर की ओर अज्ञात रूप से ही सही, बढ़ती जाती थी। उसके कृष्ण भगवान् की सूरत बहुत कुछ ज्ञानशकर से मिलती जुलती थी। वह बह तो रही थी वासना के प्रवाह में, किन्तु समझ रही थी उसे आध्यात्मिक प्रेम। किन्तु, इन सबके साथ ही उसकी सतीत्व रक्षा की आन्तरिक प्रेरणा बनी हुई थी, जैसा कि, कृष्ण की वैद्य लीला के अभिनय के अवसर पर, जिसमें ज्ञानशकर कृष्ण और वह राधा बनी हुई थी, उसकी झिझक से ज्ञात होता है।

गायत्री वासना के प्रवाह में इस प्रकार बह रही थी कि इस सम्बन्ध में उसके पिता (राय साहब) और बहन (विद्या) के प्रयास भी निष्फल होते हैं। विद्या हार कर आत्म हत्या कर लेती है और उसका मृत्यु के समय का आचरण—ज्ञानशकर से उसका इस प्रकार भयभीत होना, जैसे वह पिशाच हो और उसे तथा उसके परिवार को नष्ट कर देने के लिए अपने भयानक नख और दाँतों के साथ आगे बढ रहा हो—गायत्री को पुन सचेत कर देता है। उसकी आँखे खुलती हैं। यहाँ से उसका चरित्र दूसरा मोड़ लेता है। ज्ञानशकर के व्यक्तित्व का जादू उतरने पर शनै शनै उसे उसकी कुटिलता और स्वार्थ-भावना का भी परिचय मिलता है और उसे अपने प्रति ग्लानि होने के साथ ही ज्ञानशकर से भी घृणा हो जाती है।

विद्या की मृत्यु से ज्ञानशकर को भी कठोर धक्का लगना चाहिए था, किन्तु वह स्वार्थान्ध ही नहीं, कामान्ध भी हो गया था। अत, उसके साथ यह बात हुई नहीं। उसने विद्या की दाह क्रिया स्वय नहीं की, एक ब्राह्मण से सारे सस्कार कराए। उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया भी बिलकुल साधारण ढग से की। गायत्री की धार्मिक प्रवृत्ति पर इसका क्या असर पड़ा होगा, यह अकल्पनीय नहीं है। यही नहीं, ज्ञानशकर अपने निज भाई (प्रेमशकर)

और चाचा (प्रभाशंकर) के परिवार की निन्दा करते हुए गायत्री के सामने थकता न था, वह सब भी बिलकुल भूठ निकला। उनलोगों ने विद्या के सभी संस्कारों में सच्चे मन से भाग लिया, किन्तु ज्ञानशंकर ऐसा मुँह बनाता, मानों उसे यह सब पसन्द नहीं और जैसे वे सब उसके शत्रु हैं और इसी बहाने उसका अनिष्ट करना चाहते हैं। गायत्री सब कुछ देखती और समझती थी। उसके प्रति भी ज्ञानशंकर का ऐसा व्यवहार होता, मानों वह उसके शासन में हो। वह उसके पत्र खोल कर पढ़ लेता था और उसका परिवार की स्त्रियों के साथ बैठना-उठना पसन्द नहीं करता था। गायत्री, जो विद्या के बलिदान की अपराधिनी स्वयं को समझती थी, घर की स्त्रियों से बातें करके अपना दुःख भुलाना चाहती थी। इस बातचीत में उसे ज्ञानशंकर की स्वार्थ-वृत्ति और कुटिलता का भी परिचय मिलता था। उसे सन्देह होने लगा था, कहीं उसी स्वार्थ के लिए ही तो उसने भक्ति का कपट-आवरण नहीं ओढ़ रखा है? पिछली बातों से इसकी पुष्टि भी होती थी। और गायत्री को ज्ञानशंकर से अत्यन्त घृणा हो गई।

अतएव, यह स्पष्ट है कि किस प्रकार गायत्री-जैसी सती-साध्वी विधवा ज्ञानशंकर के दूषित प्रेम और भक्ति को आध्यात्मिक प्रेम समझती है। यह भी सच है कि यदि उसे ज्ञानशंकर छेड़ता नहीं, उसके लिए भक्ति का रंगीन जाल नहीं बिछाता, उसकी सम्मान-लालसा और उसके अहंभाव को अनुचित ढंग से उत्तेजित नहीं करता, उसके भोलेपन का फायदा नहीं उठाता, तो वह पतन के मार्ग की ओर कभी नहीं बढ़ती। फिर भी, पतन के गड्ढे में गिरने के पहले ही, गायत्री वह रास्ता छोड़ देती है और जिस नए रास्ते पर चलती है, वह रास्ता उत्थान का है। अतः, उसका चारित्रिक उत्थान भी सर्वथा स्वाभाविक है।

गायत्री का आत्महत्या करना उसके चरित्र की अन्तिम परिणति है। क्या यह उसके चरित्र का उचित विकास है? पहली बात यह है कि विद्या ने आत्महत्या करके गायत्री के अन्दर भी इसकी प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी थी—'मर्यादा तो यही कहती है कि विद्या के समान मैं भी अपनी आत्महत्या कर लूँ, लेकिन यह तो उसके (ज्ञानशंकर के) मन की बात होगी। नहीं, मैं ऐसी मूर्ख नहीं, मैं उसे घुला घुला कर मारूँगी।' यहाँ उसका आत्माभिमान आत्महत्या करने से उसे रोकता है। यह उसके चरित्र की एक विशेषता है।

दूसरी बात यह है कि गायत्री निस्सन्तान विधवा है। रायसाहब (पिता) और विद्या (बहन) ही उसके एकमात्र निकटतम व्यक्ति हैं। मनुष्य को अपने निकटतम सम्बन्धियों के आगे नीच कर्म करते हुए बड़ी आत्मग्लानि होती है।

तीसरी बात यह है कि गायत्री को जब यह मालूम होता है कि उसके पिता सब कुछ जानते थे और इसीलिए उन्होंने उसे ज्ञानशंकर से अलग रहने को कहा था, यही नहीं, उन्होंने विद्या को यह कह कर भेजा था कि अपने पति से उसको बचाओ, वर्ना तुम्हारे कुल का सर्वनाश हो जाएगा और विद्या जब उसे नहीं बचा सकी, तो अपने कुल का सर्वनाश देखने से पहले उसने स्वयं आँखें मूँद ली। अब गायत्री सोचती है, मैं कैसे पिताजी को मुँह दिखाऊँगी। उन्हें तो मेरी परछाई से भी नफरत होगी।

चौथी बात यह है कि उपर्युक्त मनःस्थिति में गायत्री अपने चित्त की शान्ति के लिए तीर्थयात्रा कर रही है, किन्तु उसे शान्ति नहीं मिल रही है, उसके अन्तर्मन में पूर्व-स्मृतियों

का द्वन्द्व और आत्मग्लानि बनी हुई है। इसी दशा में उसे ज्ञात होता है कि चित्रकूट पर कोई ऐसे महात्मा आए हुए हैं, जिनके दर्शनों से आत्मा को शान्ति मिलती है। वह बड़े प्रयत्नों से उन महात्मा के पास पहुँचती है, किन्तु उनके सम्मुख देखने का उसे साहस नहीं है, उसकी आत्मग्लानि उसका पिण्ड नहीं छोड़ रही है। इतने में स्वामीजी की आवाज सुनाई पड़ती है, "गायत्री, मैं बहुत देर से तेरी बाट जोह रहा हूँ।" स्वामीजी और कोई नहीं, स्वय उसके पिता ही थे। गायत्री देखती है कि उसके पिता उसकी ओर बढ़े आ रहे हैं। हा, वह इसी दिव्य आत्मा की कुलकलंकिनी पुत्री है। अपराध और कुलकलंक की भावना उसमें इतना क्षोभ भर देती है कि वह दोनों हाथ फैलाए पर्वत शिखर से नीचे कूद पड़ती है और उसका पता भी नहीं चलता। गायत्री की आत्महत्या उसके आत्माभिमान का ही परिणाम है।

'रगभूमि' उपन्यास की रानी जाह्नवी एक आदर्श चरित्र है। वे एक पराधीन देश के एक राजकुल की रानी हो कर क्यों भोग विलास के स्वार्थमय जीवन को त्याग देती हैं और जाति सेवा को जीवन का लक्ष्य बना कर अपने पुत्र का भी उसी की बलिवेदी पर चढ़ा कर गौरव का अनुभाव करती हैं, यह एक महत्त्वपूर्ण बात है।

रानी जाह्नवी को अपने स्वार्थमय भोग विलासपूर्ण जीवन से सर्वप्रथम तब घृणा होती है, जब युवावस्था में ही उन्हें हृदय रोग हो जाता है और उसकी चिकित्सा के लिए डॉ० गागुली उन्हें महाभारत पढ़ कर सुनाना शुरू करते हैं और महाभारत कथा श्रवण में रानी का जी लग जाता है। फिर तो उसे वे आधी-आधी रात तक स्वय ही पढ़ती रहती हैं। इसके बाद वीरतापूर्ण कथाओं से उन्हें इतनी रुचि हो गई कि राजपूतों की कोई कथा ऐसी नहीं बची, जिसे उन्होंने नहीं पढ़ा हो। देश प्रेम, त्याग और बलिदान की कथाएँ पढ़ते पढ़ते उनके हृदय में भी जाति प्रेम का भाव अकुरित हुआ। एक नई अभिलाषा उत्पन्न हुई, 'मेरी कोख से भी कोई ऐसा पुत्र जन्म लेता, जो अभिमन्यु, दुर्गादास और प्रताप की भाँति जाति का मस्तक ऊँचा करता।'

इसके बाद रानी के जीवन का दूसरा अध्याय आरम्भ होता है। वे वीर पुत्र की माता बनने के लिए कठोर जीवन अपनाती हैं और राजमहल में भी तपस्विनी की भाँति रहती हैं। तीसरे साल विनय सिंह का जन्म होता है। उसे भी बाल्यकाल से ही जीवन की कठिनाइयों का अभ्यास कराती हैं। दस वर्षों तक उसकी शिक्षा केवल धार्मिक कथाओं द्वारा होती है। युवावस्था तक आते आते विनय सिंह पूर्ण योगी हो जाते हैं, वे कम्बल पर सोते हैं, रोटी साग खाते हैं और जाति हित की बात सोचते रहते हैं। डॉ० गागुली और उसके पिता (कुँवर भरत सिंह) ने एक युवक सेवा समिति की स्थापना की है, वह भी उसका एक सदस्य हो जाता है।

माता जाह्नवी को अपने पुत्र से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। उन्हें अपने पुत्र की प्रगति से पूर्ण सन्तोष है और स्वभावत उनकी इच्छा है कि विनय जाति रक्षा के लिए अपने प्राण दे दे, किन्तु प्राण भय से अथवा ऐश्वर्य लालसा के कारण कदम पीछे नहीं हटाए। यदि वह ऐसा करेगा, तो उन्हें बड़ा दु ख होगा और कहा नहीं जा सकता कि अपनी चिरसचित

अभिलाषाओं को मिट्टी में मिलते देख रानी जाह्नवी क्या कर बैठेंगी, सम्भवतः वे अपने पुत्र के खून की प्यासी हो जाएँ।

रानी जाह्नवी के चरित्र के इसी मूल भाव को ले कर कथा का आरम्भ होता है। उपन्यासकार ने घटनाओं और परिस्थितियों के माध्यम से इसके कथानक को परिपुष्ट किया है।

सर्वप्रथम, रानी जाह्नवी की इस चिरसंचित अभिलाषा में विनय और सोफिया का प्रेम बाधक बन कर आता है। रानी जाह्नवी सभी सम्भव और असम्भव उपायों द्वारा दोनों को अलग करना चाहती हैं। विनय को तो उसी समय, भीषण गर्मी में ही, सेवा-समिति के कार्यों के लिए राजपूताना भेज देती हैं और तब भी जब उसका पत्र सोफिया के नाम आता है, वे विनय को एक शोक और व्यंग्य भरा पत्र लिखती हैं। सोफी को भी मार्ग से हटाने के लिए बड़ी कठोरता दिखलाती हैं।

विनय सिंह जसवन्तनगर के जेल में कष्ट पा रहा है, किन्तु रानी जाह्नवी उसकी किसी प्रकार की सहायता नहीं करना चाहतीं, न ही कुँवर साहब और डॉ॰ गांगुली को करने देती हैं। कहती हैं, "यह उसकी पहली परीक्षा है, इसमें उसको सहायता देना उसके भविष्य का नष्ट करना है।"[1] जब विनय सिंह जसवन्तनगर के विद्रोह में अधिकारियों से मिल कर प्रजा पर अत्याचार करता है, तो रानी शोक और क्रोध की मूर्ति हो जाती हैं। वे डॉ॰ गांगुली से कहती हैं, "बेटे का कुत्सित व्यवहार नहीं सहा जाता। दुष्ट जसवन्त-नगर के विद्रोह में मर गया होता, तो इतना शोक तो न होता।"[2] और, इसी प्रकार का शोक में डूबा हुआ एक पत्र वे विनय को भी लिखती हैं—'अब केवल दो इच्छाएँ हैं—ईश्वर से तो यह कि तुम जैसी सन्तान सातवें वैरी को भी न दे, और तुमसे यह कि अपने जीवन की इस क्रूर लीला को समाप्त करो।"[3]

अन्त में रानी जाह्नवी की चिरसंचित अभिलाषा भी पूरी होती है। पाण्डेपुर के सत्याग्रह में विनय आत्महत्या कर लेता है। रानी को शोक नहीं होता, बल्कि आनन्दमय गौरव होता है। वे रो कर उस वीर आत्मा का अपमान नहीं करना चाहतीं। कंगालों को भोजन कराती हैं, दान देती हैं।

विनय सिंह की मृत्यु के बाद रानी जाह्नवी का सेवा समिति के कार्यों को दूने उत्साह से सँभालना उनके चरित्र विकास की अन्तिम कड़ी है। यद्यपि उनके चरित्र का निर्माण भारत की वीर क्षत्राणियों के आदर्श पर हुआ है, किन्तु उनमें कोमलता, दया, ईर्ष्या आदि मानवोचित कमजोरियाँ भी हैं। एक अकुशल कलाकार के हाथों में पड़ कर उनका चरित्र सर्वथा स्पन्दन-रहित, जड़ हो जाता, परन्तु प्रेमचन्द ने बड़ी सतर्कता से उनकी चरित्र रक्षा की है। वस्तुतः रानी जाह्नवी के चरित्र में उपन्यासकार ने मध्यकालीन क्षत्राणियों को ध्यान में रखा है, जो अपने देश और सतीत्व को सर्वप्रमुख समझती थीं और उनकी

१. रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ ४२५
२. रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ १८६
३. रंगभूमि, भाग २, पृष्ठ २१२

रक्षा के लिए कायर पति और पुत्रों की भर्त्सना करती थी एवं हँसते-हँसते प्राण दे देती थीं। ऐसे सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी चरित्र के अभ्यन्तर के प्रभुत्व की आकांक्षा को संकेतित कर उसे जड़ होने से बचाया गया है। पाठक के लिए यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि रानी जाह्नवी का कौन रूप यथार्थ है—उनकी आदर्शवादिता अथवा प्रभुत्व-शीलता। प्रभुत्व की आकांक्षा के अतिरिक्त रानी में अन्य मानवीय कमजोरियाँ भी हैं। विनय और सोफिया के प्रेम से सशंक हो कर वे सोफिया के नाम आए हुए पत्रों को खोल लेती हैं, सोफिया जब रानी के आज्ञानुसार विनय को इस आशय का पत्र लिख रही होती है कि उन दोनों में अब केवल भाई-बहन का सम्बन्ध रहेगा, वे कई बार उसके कमरे के द्वार पर आ कर झाँक जाती हैं। और, वे मिसेज सेवक से इसलिए उलझ पड़ती हैं कि उन्होंने इतनी सयानी होने पर भी सोफिया का अब तक विवाह क्यों नहीं किया। रानी जाह्नवी की सबसे बड़ी कमजोरी तो उस समय प्रकट होती है, जब वे एक सामान्य माता की तरह, संकेतों से ही सही, विनय सिंह को पाण्डेपुर के सत्याग्रह में जाने से रोकती हैं। उनके चरित्र की ये ही कुछेक विशेषताएँ हैं, जो उन्हें प्रतिनिधि चरित्र होने से बचा लेती हैं।

पूर्वोक्त उपन्यास की ही सोफिया भी एक आदर्शवादी और स्वाभिमानी नारी है। उसकी आस्था सत्य और न्याय के प्रति है, इसलिए वह संसार के सभी धर्मों में सत्य की छान बीन करती रहती है। प्रभु ईसामसीह को सम्पूर्ण संसार का कर्ता धर्ता मान लेना उसकी आत्मा को स्वीकार्य नहीं है। फलतः उसकी कट्टर ईसाई माता हमेशा उसका अपमान करती रहती है, यहाँ तक कि एक दिन तंग आ कर वह घर से निकल पड़ती है। सोफिया का गृह त्याग उसकी आदर्शवादी और स्वाभिमानी प्रकृति को प्रकट करता है।

विनय के प्रति सोफिया का प्रेम भी आदि से अन्त तक आदर्श-मूलक है। इसी कारण वह विनय से आध्यात्मिक प्रेम करना चाहती है, किन्तु शीघ्र ही उसे ज्ञात होता है कि प्रेम जब नारी और पुरुष के बीच में हो, उसका वासना से निर्लिप्त होना असम्भव है। फिर भी वह अन्त तक जिस संयम और धैर्य से अपने प्रेम को लालसा से दूर रख पाती है, वह उसके ऊँचे प्रेमादर्श का सूचक है।

इसी प्रकार रानी जाह्नवी द्वारा प्रेम में निराश और माता द्वारा तंग किए जाने पर सोफिया जिलाधीश मिस्टर क्लार्क से कोर्टशिप करती है, किन्तु वह सम्पूर्णतः स्वाँग ही है। इस बीच वह विनय सिंह को एक क्षण के लिए भी नहीं भूलती। फिर मिसेज सेवक द्वारा इस प्रकार धमकाए जाने पर कि यदि वह मिस्टर क्लार्क को कुछ दिनों के अन्दर 'प्रपोज' करने का मौका न देगी, तो वह उसे रानी जाह्नवी के पास भेज देगी, सोफिया विनय से मिल कर दो बातें करने के लिए बेचैन हो उठती है और एक बार पुनः मिस्टर क्लार्क के साथ प्रेम का स्वाँग भर कर जसवन्तनगर पहुँच जाती है। जेल में विनय सिंह से मिल कर दिल्ली भाग जाने का प्रस्ताव करती है। इस प्रस्ताव में भी लुक छिप कर प्रेम-तृष्णा शान्त करने की उसकी कामना नहीं है। वह तो रानी जाह्नवी को मना कर, उनके इच्छानुसार ही अगला कदम उठाना उचित समझती है।

सोफिया का प्रेम मोह नहीं है और आदर्श प्रेम मोह होता भी नही। जब उसका पता पाने के लिए विनय सिंह जसवन्तनगर क अधिकारियों से मिल जाता है और प्रजा को अन्याय तथा असत्य की चक्की में पीसने लगता है, तो सोफिया को उसके प्रति असीम क्रोध और घृणा होती है। उसी के व्यग्य और तिरस्कार से विनय की भी आँखें खुलती हैं। सोफिया अपनी दयालुता और न्यायप्रियता के कारण ही क्रान्तिकारिणी नहीं बन पाती और दल को छोड देती है।

विनय और सोफिया जब एक पहाडी गाँव में एक बुढिया की झोपडी में साथ-साथ रहते हैं, तो विनय सोफिया के प्रति आसक्ति से विचलित हो जाता है। किन्तु, सोफिया दृढ है कि बिना रानी जाह्नवी की आज्ञा और सामाजिक नियमों की स्वीकृति के वह भावना प्रवाह में नही बहेगी और विनय को उसके विचारो के आगे झुकना पडता है।

विनय की मृत्यु के बाद सोफिया जिन परिस्थितियों में आत्महत्या करती है, वह उसके आदर्श प्रेम की अन्तिम परिणति है।

'रंगभूमि' उपन्यास की ही इन्दु दुर्बल व्यक्तित्व की सामान्य नारी है। उसके जीवन का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है। वह अनिश्चित स्वभाव की, ढुलमुल विश्वासों वाली नारी है। उसके स्वभाव की इस विशेषता का उसके शील में स्वाभाविक रूप से क्रमिक विकास होता है और पाठक उसे पहचानता चलता है। यद्यपि उसकी शिक्षा दीक्षा में उसकी माता (रानी जाह्नवी) ने अपने पुत्र (विनय सिंह) की भाँति आदर्शों का खयाल नहीं रखा था, जैसे सभी राजे महाराजे की लडकियो की शिक्षा होती है, वैसी ही उसकी भी हुई। किन्तु, उस पर अपनी माता के आदर्शवाद का प्रभाव पडे बिना नही रहा। वह सरल, कोमलहृदया, स्वातन्त्र्यप्रिय, स्वाभिमानी नारी है। रानी हो कर भी आभूषण के नाम पर गले में केवल एक हार पहनती है। रईसों की लड़कियों की विलासप्रियता और क्षुद्रता उसे उनसे मिलने जुलने नही देती। उसका विवाह हो चुका है और उसके पति (राजा महेन्द्र) म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन हो गए हैं। वे उससे प्रेम करते हैं, किन्तु सार्वजनिक कार्यों में व्यस्त रहने क कारण वह उनके 'हृदय के केवल चतुर्थांश की अधिकारिणी' है। उसे इस बात का बहुत दु ख है। वह देखती है कि विवाह दोनों का हुआ है, किन्तु बन्धन में अकेली वही है, राजा साहब मुक्त हैं। वह देश सेवा और समाज-सेवा को बुरा नहीं कहती, बल्कि वह अपने पति से अधिक आदर्शवादी कही जा सकती है। किन्तु, एक पत्नी होने के कारण यह उसे सह्य नही है कि सार्वजनिक जीवन के आगे दाम्पत्य जीवन को एकदम भुला दिया जाए और हाकिमों की खुशामद, बदनामी नेकनामी आदि का प्रश्न आने पर पत्नी की कोमल भावनाओं की परवाह न की जाए। वह पति की उचित-अनुचित आज्ञाओं का पालन भी आँख बन्द करके नहीं करना चाहती। रानी जाह्नवी जैसे पुत्री के स्वभाव से पूर्ण रूप से परिचित हो कर ही उसके लिए पति-सेवा वाला सामान्य नारियों का लक्ष्य बताती हैं और जब कभी वह बाँके पद चिह्नों का अनुसरण करना चाहती है, वह उसे पति के साथ चलने को कहती हैं। इन्दु भी सामान्य हिन्दू-पत्नी के सस्कारों के कारण ही पति से समझौता करती रहती है, यद्यपि

उत्तरोत्तर उसका दाम्पत्य जीवन दुर्वह होता जाता है। अन्त में पति से झगड़ कर वह मायके चली जाती है।

अपनी माता की भाँति इन्दु आदर्शवादी या सिद्धान्तवादी नहीं है। वह एक ऐसी सामान्य नारी है, जिस पर उसके परिवेश का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। उसके व्यक्तित्व की अनिश्चयता बार-बार प्रकट होती है। वह सोफी के सौन्दर्य और विचारों से प्रभावित हो कर उससे शीघ्र ही घुल-मिल जाती है। वह उसके प्रेम में पग सी जाती है और उसी की भाँति धर्म और दर्शन ग्रन्थों में रुचि रखने लगती है, यहाँ तक कि उसे अपनी ससुराल ले चलने की भी सारी तैयारियाँ कर लेती है। किन्तु, जब इस बात पर उसका पति (राजा महेन्द्र) राजी नहीं होता, तो वह इसमें अपना अपमान समझती है। वस्तुतः वह अत्यन्त भावुक नारी है और उसकी प्रकृति में, उसके भाई विनय की ही भाँति, धैर्य का सर्वथा अभाव है। वह बहुत शीघ्र आवेश में आ जाती है और दूसरे से प्रभावित हो जाती है। उसके पति छोटे से छोटे खर्च का भी हिसाब लिखना आवश्यक समझते हैं और वह इस कार्य से ऊब कर उन्हें 'कृपण' कहती है। बार-बार अपने दाम्पत्य जीवन में परवशता, पराधीनता और अपमान का अनुभव करना और पति को बात बात पर पद-त्याग करने के लिए प्रेरित करना—उसकी अधीर और अस्थिर प्रकृति का सूचक है। आवेश में औचित्य की सीमा से बाहर चले जाने का अनुभव स्वयं वह कई बार करती है। जिस सूरदास की जमीन के प्रश्न पर वह पति से इसलिए लड़ जाती है कि वे शासनाधिकारियों के अत्याचार के विरुद्ध दुखियों का पक्ष क्यों नहीं लेते, उसी सूरदास को जीते चुनवा देने की बात भी कह बैठती है, क्योंकि सूरदास जमीन ले लिए जाने पर जनता से, उसके पति के अन्याय की, फरियाद करता चलता है।

ईर्ष्या, अभिमान और बदला आदि की भावनाएँ भी इन्दु में तीव्र रूप से हैं। जिन दिनों वह सूरदास से असन्तुष्ट थी, उन्हीं दिनों उसे सोफिया और जिलाधीश मिस्टर क्लार्क की मँगनी की खबर मिलती है। उसने अभी तक सोफिया को एक सामान्य ईसाई की लड़की समझ रखा था और मन ही मन अपनी तुलना में उसे हीन समझती थी, किन्तु अब उसे आशंका है कि वह जिलाधीश की पत्नी हो कर उसके पति पर अपरोक्ष रूप से शासन कर सकेगी। इस विचार से वह अस्थिर हो जाती है। किन्तु, सोफी एक दयालु युवती है। सूरदास की फरियाद पर उसे दया आ जाती है और वह इन्दु से मिलती है कि इस सम्बन्ध में वह राजा साहब को समझाए। इन्दु उससे अभिमान करती है, ठीक से बात भी नहीं करती है। सोफी रुष्ट हो कर चली जाती है और मिस्टर क्लार्क से कह कर सूरदास को जमीन दिला देती है। इन्दु की आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है। किन्तु, वह शान्त बैठने वाली नारी नहीं है। वह राजा साहब (पति) को अपनी मर्यादा रक्षा के लिए ललकारती है। वह कहती है, मिस्टर क्लार्क का यह न्याय-विरुद्ध हस्तक्षेप एक रईस के लिए किसी भी हालत में सह्य नहीं हो सकता। वह उनके हृदय में महाराणा प्रताप और राणा साँगा का आत्माभिमान जगाना चाहती है। यहाँ वह जातीय गौरव और स्वाभिमान का हास्यास्पद रूप सामने रखती है। तात्पर्य यह है कि वह अपनी माता के समान असाधारण व्यक्तित्वसम्पन्न नारी नहीं है, किन्तु उनका अनुकरण करना चाहती है। पाठक के सम्मुख उसका यही रूप आता है। वह अपनी

माता की, जो नक्ल कर रही होती है, उसका प्रभाव थोड़े समय में मिट जाता है और साधारण नारी की ईर्ष्या, क्रोध आदि भावनाएँ उसे दबा देती हैं। उसमें वह क्षमता है ही नहीं। यही बात उसके भाई (विनयसिंह) के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यद्यपि विनय को रानी जाह्नवी की पूर्ण सहायता मिलती है, जो इन्दु को बिलकुल नहीं मिलती, फिर भी उसमें बहन की ही भाँति अस्थिरता, अनिश्चयता और उद्देश्यहीनता है। इन दोनों भाई बहनों पर इस दृष्टि से, पृष्ठभूमि में बने रहने वाले उनके पिता (कुँवर भरत सिंह) का, आनुवंशिक प्रभाव मानना पड़ता है।

इस प्रकार एक सामान्य नारी की दृष्टि से इन्दु का चरित्र सफल बन पड़ा है। लेखक ने उसकी अनिश्चयता, अस्थिरता, भावुकता, आवेश, प्रभावग्राहिता आदि का उद्घाटन बार-बार किया है। वह माता और भाई के आदर्श से प्रभावित होती है। किन्तु, इसके लिए उसके पास न अवसर है, न अवकाश और न अपेक्षित दृढ़ता। अपने स्वभाव के कारण ही वह सोफी और सूरदास के बारे में गलत धारणा बनाती है, यहाँ तक कि वह अपने पति को भी नहीं पहचान पाती। वह बार बार जो पति इच्छा के विरुद्ध कार्य कर बैठती है, उसमें भी उसकी अदूरदर्शिता और आवेश ही प्रकट होता है।

पति से झगड़ कर मायके पहुँच जाने पर, उसमें एक स्थिरता के दर्शन होते हैं, किन्तु वह स्थिरता उसकी स्थिरता नहीं, बल्कि उसकी माता की स्थिरता है। यहाँ भी उसका अपना तो कोई व्यक्तित्व है नहीं, माता जैसा कहेगी, वैसा करेगी।

'कायाकल्प' उपन्यास की मनोरमा म अपने प्रेमी (चक्रधर) के प्रति आदर्श प्रेम है और अपने बूढ़े पति (राजा विशाल सिंह) के प्रति अपार श्रद्धा। वह मन ही मन अपने शिक्षक, आदर्शवादी युवक चक्रधर, से प्रेम करती है और कई बार उस लज्जाशीला ने अपना प्रेम प्रकट भी किया है। किन्तु चक्रधर गरीब है, सिद्धान्तवादी है, अत वह सुकुमार मनोरमा को दरिद्रता के दलदल में नहीं घसीटना चाहता। वह समाज सेवा करना चाहता है और इसके लिए चन्दा से रुपए एकत्र करता है। मनोरमा प्रेम से निराश हो कर सोचती है यदि वह कहीं से बहुत सा धन पा जाती, तो चक्रधर को दे कर प्रसन्न करती। इस प्रकार वह चक्रधर की सेवा करना चाहती है। बूढ़े राजा से वह इसीलिए विवाह करती है और अपनी सहज सरलता से विवाह के पूर्व ही उनसे कह देती है कि वह न तो उनसे प्रेम करती है और न कभी कर सकेगी। वह तो धन को परोपकारार्थ खर्च करने के लिए ही उनसे विवाह करना चाहती है। राजा साहब भी पुत्र के लिए उससे पाँचवी शादी कर लेते हैं। किन्तु, बीस वर्षों के दाम्पत्य जीवन के बाद मनोरमा का पूर्व-कथन कितना झूठा प्रमाणित होता है, जब वह देखती है कि राजा साहब से वह बहुत प्रेम करती है और उनके हितार्थ अपने प्राण की भी बलि कर सकती है।

प्रारम्भ में मनोरमा राजा साहब के प्रति किसी विशेष कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रखती, केवल अपने सौन्दर्य और अपनी परोपकार-वृत्ति से प्रभावित करके उन्हें अपने इशारों पर नचाती है। उसने कई गोशालाएँ खोल रखी हैं, सदाव्रत चलाती है और बेगार बन्द करवा दिया है। पत्नी के कर्त्तव्य उसे मालूम नहीं हैं। हाँ, राजा साहब ने उसे कई बार

अपने विनय और प्रेम से प्रभावित किया है, किन्तु उसे चक्रधर की चिन्ता राजा साहब से भी अधिक है। वह गवर्नर साहब से शतरज की बाजी जीतती है, तो चक्रधर को जेल से छुड़ा लेती है।

मनोरमा के त्याग से चक्रधर अभिभूत हो जाते हैं, किन्तु उसे उसके कर्त्तव्य की याद दिलाना भी नहीं भूलते, "मेरी तुमसे एक प्रार्थना है कि इस ऊँचे आदर्श का सदैव पालन करना। राजा साहब के प्रति एक पल के लिए भी तुम्हारे मन में अश्रद्धा का भाव न आने पाए। अगर ऐसा हुआ, तो तुम्हारा त्याग निष्फल हो जाएगा।"

वस्तुत वह चक्रधर का त्याग और आदर्श प्रेम ही था, जिसने मनोरमा को उसके कर्त्तव्य पथ की ओर प्रेरित किया। विवाहोपरान्त भी उसकी प्रवृत्ति अपनी ओर देख कर, उसके तीव्र आकर्षण से बचने के लिए, चक्रधर ने अहल्या से विवाह कर लिया और दूर (इलाहाबाद) जा कर वे दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने लगे। चक्रधर के वियोग में मनोरमा बीमार पड़ गई। तार पा कर चक्रधर अहल्या के साथ आते हैं। अहल्या मनोरमा की सौतेली पुत्री निकलती है, जो बचपन में ही मेले में खो गई थी। इस प्रकार चक्रधर के पुत्र (शखधर) पर उसका अधिकार हो जाता है और वह उसे छोडना नहीं चाहती। अहल्या भी एक राजकुमारी के सुख भोग को पा कर पति और पुत्र को भूल सी जाती है। मनोरमा अत्यन्त प्रसन्न है, वह चक्रधर से प्रेम की दो बातें भी कर लेती है, किन्तु चक्रधर को ऐसा प्रतीत होता है मानों उसकी सोने की गृहस्थी मिट्टी में मिल गई। और वह सबका समाधान करता है, घर से लापता हो कर।

इस प्रकार यहाँ तक मनोरमा में चक्रधर के प्रति प्रेम प्रधान है। शायद उसका अस्तित्व उसकी प्रेम भावना को उत्तेजित करता रहता है। किन्तु, जब चक्रधर अपनी विलासिनी पत्नी से रूठ कर साधु हो जाता है, तो मनोरमा समझ जाती है कि अब वह त्यागी पुरुष लौट कर नहीं आएगा। शखधर भी बडा हो कर पिता की खोज में निकल जाता है। अहल्या अपनी ससुराल चली जाती है। मनोरमा के जीवन में केवल उसका बूढ़ा पति रह जाता है। अभी भी वह पति सेवा से अधिक परोपकार-कार्य को ही महत्त्व देती है। इसी बीच मनोरमा के पिता (दीवान साहब) का देहान्त होता है और मृत्यु शय्या पर वे पुत्री से केवल एक बात कहते हैं, "लौंगी को देखो।" लौंगी दीवान साहब की कहारिन उप पत्नी थी, जिसे उनके पुत्र ने तीर्थयात्रा पर भेज दिया था और उसी के वियोग में उनकी मृत्यु हुई थी। लौंगी ने मनोरमा और उसके भाई को भी मातृ स्नेह से पाला था। अब मनोरमा लौंगी अम्मा की पति भक्ति से प्रभावित होने लगती है।

मनोरमा की पति भक्ति आदर्श सिद्ध होती है। अपनी सौतों और राजा द्वारा तिरस्कृत, अपमानित और ठुकराई जाने पर भी उसमें प्रतिकार की भावना नहीं आती। निर्मला की एक सपत्नी (रुक्मिणी) जिसे मनोरमा के आने के पहले राजा साहब का प्रेम और आदर प्राप्त था, सोलह वर्षों तक पति प्रेम की आशा देख कर एक दिन विष खा लेती है। राजा साहब को शक होता है कि मनोरमा ने ही उसे विष दिया है। राजा साहब को मनोरमा से चिढ हो जाती है। वे उसके सभी परोपकार कार्यों को बन्द करवा देते हैं। पुत्र प्राप्ति के

लिए वे छठा विवाह करना चाहते हैं। नई रानी के आगमन के लिए स्थान बनाने में सबसे अधिक कष्ट मनोरमा को दिया जाता है। उसका महल आदि सब कुछ उससे खाली करवा दिया जाता है। ये विपत्तियाँ उसके चरित्र को तपे हुए कुन्दन के समान चमका देती हैं। वह प्रेम, धैर्य, विवेक और क्षमा की देवी हो जाती है। वह सोचती है, उसके पति के ऊपर जो दैवी अत्याचार हुए हैं, उनको देखते हुए किसी का पागल हो जाना स्वाभाविक है। राजा साहब के लिए उसके हृदय में क्षमा का अविरल स्रोत है। उनके लिए उसके अपने प्राणों का भी कोई मूल्य नहीं है। किन्तु, बारात के दिन ही शंखधर (नाती) के लौट आने से विवाह नहीं होता। बाद में, विक्षिप्तावस्था समाप्त होने पर, राजा साहब उससे क्षमा माँगते हैं।

वस्तुतः मनोरमा के चरित्र में लेखक ने जो इतना बड़ा परिवर्तन दिखलाया है, उसके लिए उसने पर्याप्त और उचित कारण भी दिए हैं।

पूर्वोक्त उपन्यास की ही अहल्या में आर्थिक परिस्थितियाँ एक दूसरे ही ढंग का परिवर्त्तन लाती हैं। प्रारम्भ में वह गरीब पति के साथ सन्तुष्ट रहने वाली, शील और विनय की देवी है। किन्तु, जब उसे ज्ञात होता है कि वह एक राजा की खोई हुई पुत्री है, तो उसमें भोग विलास की वृत्ति अपनी चरम सीमा को छूती है। वह घमण्डी और कटुभाषिणी हो जाती है। राज-सुख भोगने के लिए वह पति और पुत्र को छोड़ देती है।

वस्तुतः उसके चरित्र-परिवर्त्तन में दो मनोवैज्ञानिक कारण काम करते हैं। पहला कारण तो यह है कि वह अभी तक अपने को अनाथ, अभागिनी, कुल और जाति रहित ऐसी नारी समझती थी, जिससे शायद ही कोई विवाह करे। इसीलिए चक्रधर द्वारा अपनायी जाने पर वह अपने भाग्य को सराहती है और गरीबी में ही सुख का अनुभव करती है। किन्तु, एकाएक जब उसे यह मालूम होता है कि वह एक क्षत्रिय कुल की बाला है और एक राज्य की उत्तराधिकारिणी भी, तो उसकी भोग विलास की वृत्तियाँ अपने-आप उन्मुक्त हो जाती हैं। वह इस सुख प्रवाह में बह जाती है और पति पुत्र तक को भूल जाती है। उसके अभिमान का भी यही कारण है—'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं?'

दूसरा कारण है—उसके व्यक्तित्व निर्माण की आनुवंशिकता। इस मनोवैज्ञानिक प्रभाव से उसका व्यक्तित्व असम्पृक्त कैसे हो सकता था? फलतः गरीबी की हालत में वह भी अपने पिता की भाँति न्याय, सत्य और धर्म की बातें करती है। किन्तु, राज्य पा कर जैसे वे मदान्ध हो जाते हैं और सारी पिछली बातें भूल जाते हैं, वैसे ही अहल्या भी अपने पूर्व-जीवन पर दृष्टिपात भी नहीं करना चाहती। उसकी इस प्रकृति का उपन्यासकार ने बार-बार उद्घाटन किया है। उसके जीवन में कई बार ऐसे अवसर आते हैं, जब वह पति और पुत्र—दोनों को पा सकती थी, किन्तु राज्य का मोह बार-बार उसे उसके कर्त्तव्य से विचलित कर देता है।

'निर्मला' उपन्यास की नायिका निर्मला सुन्दर, मृदुभाषिणी, दयालु और सहनशील नारी है, किन्तु उसके चरित्र में साहस का अभाव है। वह प्रतिकूल परिस्थितियों से समझौता करने वाली भाग्यवादी नारी है, अपने साहस और उद्योग से उन पर विजय प्राप्त

करने वाली पुरुषार्थपूर्ण स्त्री नहीं। उसकी माता (कल्याणी) जब उसका विवाह चालीस वर्ष के बूढ़े वर से करना चाहती है, तो वह नम्र विरोध भी नहीं करती, बल्कि प्राणविहीन सी हो कर अपने कमरे में बैठी बैठी भगवान् से अपनी मौत मनाती है। विवाहोपरान्त भी वह पग पग पर बूढ़े पति के साथ समझौता करती है। उसके तीन सौतेले पुत्र हैं, सबसे बड़ा पुत्र (मंसाराम) तो उसी का समवयस्क है। वकील साहब (पति) जब उस पर सन्देह करके मंसाराम को बोर्डिंग हाउस में भेजने का निश्चय करते हैं, तो वह उससे बोलना छोड़ देती है। कई दिनों तक वह पति के सन्देह और अविश्वास को सोच सोच कर रोती रहती है, किन्तु मुख नहीं खोलती। सरलहृदय मंसाराम पर जब यह भेद खुलता है, तो वह होस्टल में लापरवाही से रहने लगता है और शोक से बीमार पड़ जाता है। उसकी भयंकर बीमारी और मानसिक पीड़ा की कल्पना करके निर्मला बहुत दुखी रहती है अतः उससे खाना नहीं खाया जाता। किन्तु, पति के सम्मुख सोलहों शृंगार करके प्रसन्नमुख ही रहती है, ताकि उनका सन्देह दृढ़ न हो जाए। जब वह निष्कलंक है, तो मुंशीजी से इतना क्या डरना था कि परिवार का सर्वनाश हो जाए? यहाँ उसकी यह सचेत भावना उसकी भीरु प्रकृति का ही द्योतक है। मंसाराम की अन्तिम घड़ियों के समय उसमें थोड़ा सा साहस आता है और वह उसे खून देने के लिए अस्पताल पहुँच जाती है, किन्तु सामान्यतः वह एक साहसहीन नारी है।

निर्मला जानती है कि उसके आभूषणों का बक्स चुराने वाला और कोई नहीं, बल्कि उसका दूसरा सौतेला पुत्र (जियाराम) ही है, फिर भी यह बात वह इस भय से नहीं कहती कि दुनिया यही तो कहेगी कि लड़के की अपनी माँ मर गई है, तो सौतेली माँ उसे चोर बना रही है। इसी भय से वह वकील साहब को भी सच्ची बात नहीं बतलाती और वे थाने में रिपोर्ट कर देते हैं। लज्जावश जियाराम आत्महत्या कर लेता है।

अन्त में डाक्टर सिन्हा जब निर्मला को छेड़ते हैं, तब भी उनसे कुछ कहने का साहस उसमें नहीं है। शक्तिहीन हो कर अपने घर में वह घण्टों रोती है। अपनी बूढ़ी ननद (रुक्मिणी देवी) से भी वह इसी प्रकार हमेशा दबी दबी सी रहती है।

आभूषण चोरी चले जाने और वकील साहब की आमदनी स्वल्प होने पर मृदुभाषिणी, कोमलहृदया, सहनशील निर्मला निर्दय, शक्की और कंजूस हो जाती है। आर्थिक परिस्थितियाँ मनुष्य में कितना बड़ा परिवर्तन लाती हैं, यह इस बात का सूचक है। उसके दुर्व्यवहार से ऊब कर, उसका तीसरा सौतेला बेटा भी, साधुओं के चक्कर में पड़ कर घर से भाग गया। पति निराश हो कर उसे ढूँढ़ने निकल गया। निर्मला के एक बच्ची है, किन्तु अब उसे उस पर भी दया नहीं आती। पास के एक एक पैसे को इस प्रकार खर्च के लिए निकालती है, जैसे अपना खून निकाल कर दे रही हो। अन्धकारमय भविष्य विराट बन कर उसकी आँखों के सामने हमेशा मँडराया करता है। उसका क्या होगा, उसकी बच्ची किस घाट लगेगी, बस उसे यही चिन्ता है। आर्थिक सुविधा के कारण उसने सभी विपत्तियों को भुला दिया था, किन्तु एकाएक यह सहारा भी छिन जाने से उसमें आकस्मिक, किन्तु स्वाभाविक परिवर्तन आ जाता है, यद्यपि यही उसके और उसके कुल के सर्वनाश का कारण होता है।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास की पूर्णा अत्यन्त सुन्दरी और सरलहृदया विधवा ब्राह्मनी है। उसका पालन-पोषण गाँव में हुआ है। वह एक सामान्य शिक्षित नारी है और दुर्बल व्यक्तित्व की है। अतः जब उसका आश्रयदाता उस पर बल प्रयोग करना चाहता है, उसका उसे कुर्सी से घायल कर देना, जब कि वह उसके प्रेम-जाल में लगभग फँस चुकी है, प्रथम दृष्टि में अस्वाभाविक लगता है, किन्तु सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर यह उसके चरित्र का यथार्थ और मनोवैज्ञानिक विकास प्रतीत होता है।

पूर्णा अपने आश्रयदाता (कमला प्रसाद) को भाई समझती है। कमला प्रसाद उसकी सहेली (प्रेमा) का भाई है भी। अतः, उसका करुन-कोमल हृदय कमला प्रसाद की पत्नी (सुमित्रा) का दुःख नहीं देख सकता और वह कमला प्रसाद को मनाने जाती है। कमला प्रसाद, जो महीनों से पूर्णा के लिए षड्यन्त्र रच रहा था, एकान्त कमरे में उसे अकेली पा कर उसकी ओर बढ़ता है। स्मरण रखने की बात यह है कि अभी तक कमला प्रसाद ने पूर्णा से एक भी प्रेमपूर्ण वचन नहीं कहा है, पूर्णा उसके प्रभाव से मुक्त है। कमला प्रसाद की मुख-मुद्रा और चेष्टा देख कर उसकी गर्दन तन जाती है, नेत्रों में ज्वाला प्रदीप्त हो जाती है और मुट्ठियाँ बँध जाती हैं। उसका यह दुर्गा-रूप देख कर कमला प्रसाद ठिठक जाता है। इसके बाद वह कभी ऐसा दुस्साहस नहीं करता। फिर वह धर्म, ईश्वर और प्रेम के नाम पर ही पूर्णा को अपनी ओर आकृष्ट करता है।

पूर्णा जितनी ही जल्द रुष्ट होती है, उतनी ही जल्द तुष्ट भी। फिर भी वह हमेशा सावधान है। कमला प्रसाद के भावों के प्रवाह में वह एकदम बह नहीं जाती। वह कहती है, "अब जाने दो बाबूजी, क्यों मेरा जीवन भ्रष्ट करना चाहते हो। तुम मर्द हो, तुम्हारे लिए सब कुछ माफ है। मैं औरत हूँ, मैं कहाँ जाऊँगी? दूर तक सोचो। अगर घर में जरा भी सुनगुन हो गई, तो जानते हो, मेरी क्या दुर्गति होगी? डूब मरने के सिवा मेरे लिए कोई और उपाय रह जाएगा? इसको सोचिए, आप मेरे पीछे निर्वासित होना पसन्द करेंगे?.. ज्यों ही कोई अवसर आएगा, आप पर झाड़ कर अलग हो जाइएगा, मेरी क्या गति होगी—इसकी आपको उस वक्त जरा भी चिन्ता न होगी।"[1]

वह कमला प्रसाद के ईश्वर और प्रेम का मर्म भी खूब समझती है। वह उससे कहती है, "आप को न जाने क्यों मेरे इस रूप पर मोह हो गया है। अपने दुर्भाग्य के सिवा इसे और क्या कहूँ। जब तक आपकी इच्छा होगी, अपना मन बहलाइएगा; फिर बात भी न पूछिएगा, यह सब समझ रही हूँ। ईश्वर को आप बार-बार बीच में घसीट लाते हैं, इसका मतलब समझ रही हूँ। ईश्वर किसी को कुमार्ग की ओर नहीं ले जाते। इसे चाहे प्रेम कहिए, चाहे वैराग्य कहिए; लेकिन है कुमार्ग ही। मैं इस धोखे में नहीं आने की...।"[2]

फिर भी पूर्णा युवती विधवा है, उसे प्रेम की भूख है। फलतः संस्कार और धर्म की नींव हिल जाती है। उसके मन में ये विचार उत्पन्न होते हैं—'क्या वह मर जाती, तो उसके पति पुनर्विवाह न करते? अभी उनकी अवस्था ही क्या थी? पच्चीस वर्ष की अवस्था

१. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ६८
२. प्रतिज्ञा, पृष्ठ ६६

में क्या वह विधुर जीवन का पालन करते? कदापि नहीं। . स्वर्ग और नरक सब ढकोसला है। अब इससे दु खदायी नरक क्या होगा? जब नरक ही में रहना है, तो नरक ही सही। कम से कम जीवन के कुछ दिन तो आनन्द से कटेंगे, जीवन का कुछ सुख तो मिलेगा। जिससे प्रेम हो, वही अपना सब कुछ है। विवाह और संस्कार सब दिखावा है। . विवाह होने पर भी तो पुरुष की जब इच्छा होती है, स्त्री को छोड देता है। बिना विवाह के भी तो स्त्री पुरुष आजीवन प्रेम से रहते हैं।''[1]

पूर्णा के इन विचारों को देखते हुए, यह समझा जा सकता है कि एक धक्का और, फिर तो उसका पतन अवश्यम्भावी है। किन्तु, कमला प्रसाद जब उसे धोखा दे कर एकान्त बागीचे में ले जाता है और दोनों प्रेमालिंगन में बँध जाते हैं, तभी एकाएक पूर्णा की दृष्टि कमला प्रसाद के मुख पर पडती है और उसके मन में प्रतिक्रिया होती है। कमला प्रसाद के मुख पर प्रेम भावना नहीं, बल्कि कामुकता और पशुता अंकित थी। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि पूर्णा के मस्तिष्क में कमला प्रसाद की पहली मुलाकात की तसवीर बिजली की भाँति कौंध जाती है। फिर इस घटना के कुछ ही देर पहले सुमित्रा ने पूर्णा को कमला प्रसाद की नीच मनोवृत्ति से सचेत किया था। यह बात भी उसके दिमाग में काम करती है। उसे एकान्त, निर्जन बागीचे में लाने का भी यही अर्थ था। पूर्णा झटके से उठती है, यह विचार कि उसके साथ एक बार बलात्कार का प्रयत्न किया गया था और आज भी किया जा रहा है, उसे एक बार पुन चण्डी बना देता है और वह कुर्सी ले कर कमला प्रसाद पर टूट पडती है। अत, निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यहाँ उसके संस्कार ही उसकी रक्षा करते हैं। वह एक हिन्दू नारी है, उसके प्राणों में भारतीय संस्कृति और संस्कार घुल-मिल गए हैं—सतीत्व रक्षा उन संस्कारों में एक है। अतएव, यह स्थिति तो उसके चरित्र की स्वाभाविक परिणति है।

उपर्युक्त विवरण के प्रकाश में श्री मन्मथनाथ गुप्त द्वारा आरोपित यह मन्तव्य सार हीन ज्ञात होता है—'प्रतिज्ञा में प्रेमचन्द शुरू से पूर्णा को जिस प्रकार से चित्रित करते हैं, उससे यह बात समझ में नहीं आती कि वह अन्त में कमला प्रसाद के चंगुल से बच कैसे जाती है। वह स्वयं रात को उठ कर कमला प्रसाद के यहाँ जाती है, उससे कई बार हाथ पकड वाती है, उसके कहने पर रेशमी साडी का अंचल सिर पर रख कर आइने में मुँह देख कर हँसती है, फिर भी वह फँसती कैसे नहीं है, यह समझ में नहीं आता।'[2]

श्री हरस्वरूप माथुर ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द उपन्यास और शिल्प' में, पूर्णा के चरित्र की एक अन्य असंगति की ओर इशारा किया है। वे कहते हैं कि जिन परिस्थितियों में पूर्णा के चरित्र का विकास अंकित किया गया है, उनमें उसे कृष्ण की उपासना करते दिखाना सर्वथा अस्वाभाविक प्रतीत होता है। चूँकि विधवा पूर्णा के चरित्र की समस्या का समाधान प्रेमचन्द के पास नहीं था, अत उसके निमित्त कृष्ण भक्ति की व्यवस्था की गई है। समस्या के सम्भव समाधान, विधवा विवाह से प्रारम्भ करके 'वनिताश्रम' की ओर भटक

---

१ प्रतिज्ञा, पृष्ठ १६६ १७०

२ मन्मथनाथ गुप्त, कथाकार प्रेमचन्द पृष्ठ ७४३

जाना प्रेमचन्द के सामाजिक युग का प्रभाव है।' विधवाश्रम दुरवस्था का सुधार है, समस्या का समाधान नहीं।

पूर्णा-जैसी अल्प-शिक्षित नारी की उस समय की मानसिक दशा पर विचार करने से श्री माथुर का यह आरोप निर्मूल सिद्ध होता है। कमला प्रसाद से आत्मरक्षा करने के बाद पूर्णा की दशा इतनी दयनीय हो जाती है कि उसके सामने आत्महत्या के अतिरिक्त कोई और उपाय नहीं है। वह एकदम भयभीत हो गई है, दुःख और ग्लानि से निर्जीव-सी हो गई है। जैसा कि 'वनिताश्रम' के संस्थापक और संचालक अमृतराय कहते हैं, भक्ति मनुष्य का अन्तिम आश्रय है। बड़े-बड़े संशयवादियों और बुद्धिवादियों ने अन्त में ईश्वर की उपासना की है, पूर्णा तो एक हिन्दू-नारी है, जिसे भक्ति घुट्टी में पिलाई जाती है। जिस समय पूर्णा आश्रम में पहुँच कर गुम-सुम रहती है, दिन-दिन भर अपने कमरे में अन्न-जल ग्रहण किए बिना पड़ी रहती है, उस समय यदि वह कृष्ण की उपासना करने लग जाती है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। और जहाँ तक समस्या-समाधान का प्रश्न है, प्रेमचन्द इसके लिए प्रतिज्ञा नहीं करते। सभी विधवाएँ विधवा-विवाह प्रचलित होने पर पुनर्विवाह कर ही लेंगी, यह आवश्यक नहीं है। फिर जहाँ तक पूर्णा के निर्वाह और रक्षा का प्रश्न है, उसका समाधान 'वनिताश्रम' के द्वारा हो ही गया है। वस्तुतः उसके चरित्र द्वारा लेखक ने विधवा-विवाह का एक वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत किया है। बहुतेरे लोग पूर्णा से विवाह करने को तैयार हैं, पर वह ऐसी चुप है कि उससे कुछ कहते नही बनता। इसका यही अर्थ तो है कि विधवाएँ यदि चाहें, तो उनका पुनर्विवाह कर दिया जाए, वर्ना उनकी रक्षा और निर्वाह का सुप्रबन्ध किया जाए, यह नहीं कि उनकी निराश्रयता और परवशता का लम्पट लाभ उठाएँ। विधवाश्रमों की स्थापना का मूल उद्देश्य इस दूसरी समस्या का ही समाधान है। पूर्णा के चारित्रिक विकास पर विधवाश्रम का कोई आरोपित किया हुआ प्रभाव नहीं पड़ता, यही विचारणीय प्रश्न है और प्रेमचन्द इसमें सफल हुए हैं।

'गबन' उपन्यास की जालपा प्रारम्भ में आभूषणों पर प्राण देने वाली विलासिनी नारी के रूप में चित्रित की गई है, किन्तु उपन्यास के अन्त में वह त्यागमयी, कर्त्तव्यपरायण, सत्यनिष्ठ, न्यायप्रिय, धर्मभीरु और सेवापरायण हो गई है। उसके चरित्र का यह विकास कहाँ तक विश्वसनीय है, यह विचारणीय है।

सर्वप्रथम यह बात ध्यान देने की है कि जालपा जिस प्रकार आभूषणों के लिए हठ करती है, वह कोई साधारण हठ नहीं है। वह उसके चरित्र की दृढ़ता और गम्भीरता का सूचक है। जालपा के चरित्र-परिवर्त्तन के पहले लेखक ने बार-बार इस बात की ओर संकेत किया है कि जालपा हठी है, उदार है, सत्यवादिनी है, अभिमानिनी है, दयालु है, पति-प्राणा है, किन्तु प्रारम्भिक परिस्थितियों में सम्पूर्ण कहानी आभूषणों को ले कर ही चलती है।

१. श्री हरस्वरूप माथुर का यह आरोप उचित नहीं है; क्योंकि 'प्रतिज्ञा' प्रेमचन्द के उर्दू-उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' (सन् १९०६ ई०) के हिन्दी-अनुवाद 'प्रेमा' (सन् १९०७ ई०) का नया रूप ही था। 'प्रेमा' में विधवा पूर्णा का विवाह अमृतराय से हुआ है।

इन पृष्ठों में जालपा के सारे गुण उसकी आभूषणप्रियता और उसके पति (रमानाथ) की प्रदर्शनप्रियता के कारण प्रच्छन्न हैं।

जालपा अपने माता पिता की इकलौती सन्तान है, अत लाड प्यार में उसका हठी और अभिमानिनी हो जाना स्वाभाविक है। 'आभूषण मण्डित संसार' में पल कर वह आभूषणप्रिय भी हो जाती है। जब वह बालिका है, तभी चन्द्रहार के लिए उसके मन में लालसा उत्पन्न हो जाती है। उसकी माता के पास चन्द्रहार है और जब वह भी उससे वैसा ही चन्द्रहार मँगवाने को कहती है, माँ आश्वासन देती है, "तेरे लिए तेरी ससुराल से आएगा।" वह सोचती है, यदि ससुराल से नहीं आया तो ? तब क्या उसकी माता उसे अपना चन्द्रहार न दे देंगी ? अवश्य देंगी।

विवाह में जालपा को एक चन्द्रहार छोड़ कर सभी आभूषण चढ़ाव पर आते हैं। उसकी माता भी उसे अपना चन्द्रहार नहीं देती। अब उसकी निराशा की कल्पना ही की जा सकती है। इस पर रमानाथ (पति) ने अपने पिता के कुलगौरव और धन सम्पत्ति का ऐसा विशद, किन्तु मिथ्या विवरण उसे दिया कि वह ख्वाहमख्वाह हठ कर बैठती है कि बिना चन्द्रहार के किसी आभूषण में हाथ भी नहीं लगाएगी। परन्तु, स्थिति कुछ और हो गई। जालपा को चन्द्रहार तो नहीं मिला, हाँ, उसके सारे आभूषण चोरी हो गए। रमानाथ सराफ का कर्ज चुकाने के लिए उन्हें उठा ले गया। अब जालपा का जीवन कठिन हो गया। उसे पति, सास, ससुर आदि सभी पर क्रोध आता और अपने कमरे में बैठी वह अपने भाग्य पर आँसू बहाया करती।

जालपा जैसी हठी है, वैसी ही स्वाभिमानिनी भी है। आभूषण चोरी होने पर उसकी माता अपना चन्द्रहार पासल में उसके लिए भेज देती है, किन्तु वह उसे तत्क्षण वापस कर देती है। वह जानती है कि माता ने खुशी से उसे न भेजा होगा, किसी के कहने से अथवा सङ्कोचवश दिया तो क्या दिया ? प्रेम से दिए हुए एक छल्ले का उसके लिए इससे अधिक महत्त्व होगा।

इसी प्रकार रमानाथ के घर से भाग जाने पर उसके पिता उसे देखने आते हैं और उसे कुछ रुपए देना चाहते हैं। पर, वह रुपए नहीं लेती। वह उनसे केवल पति के लौटने का आशीर्वाद चाहती है। मायके तक नहीं जाती। विपत्ति पड़ने पर उसका स्वाभिमान विशेष रूप से सजग हो जाता है। किसी की सहायता में उसे दया की गन्ध आती है। अपनी सहेली (रतन) से भी इसीलिए रुपए नहीं लेती।

आवेश में आ कर किसी से अपनी गुप्त बातें नहीं कहना, यह भी स्वाभिमानी प्रकृति का सूचक है। जालपा भी जल्दी किसी से खुलती नहीं। एक बार क्रोध में और दूसरी बार निराशा में वह अपनी बचपन की सहेलियों पर अपना भेद प्रकट कर देती है, किन्तु साधारणतः वह अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण ही रखती है। रमानाथ के गबन की खबर वह किसी को नहीं देती। यदि किसी को, चाहे वह उसका पिता भी क्यों न हो, यह भेद मालूम है, तो भी वह स्वयं इस बात को अस्वीकार करती है और कहती है, उन्हें घूमने का शौक था। सोचा होगा, यों तो कोई जाने न देगा, चलो भाग चलें। इसी प्रकार रतन के हाथ अपना

कगन बेचते समय वह एक बार भी यह बात जबान पर नहीं लाती कि सराफों के रुपए चुकाने के लिए वह कगन बेच रही है, हालाँकि इसके तुरत पहले आभूषणों के रुपया के तकाने के कारण उसके ससुर ने उसे बुरा भला कहा था, जिससे उसका मन खिन्न था। रतन उसकी एक मात्र सहेली थी और उससे अपना दु ख कहना उसके लिए अस्वाभाविक न था। परन्तु, वह ऐसा नहीं करती। इसके विपरीत वह बार बार यही कहती है कि वह उसके स्नेह की खातिर ही उसे कगन दे रही है, वर्ना वह उसे प्राणों से भी प्रिय हैं।

वस्तुत जालपा में आभूषणों के लिए मोह के अतिरिक्त और कोई कमजोरी नहीं है। वह सत्यपरायण, उदार, न्यायप्रिय, स्वाभिमानिनी, तेजस्विनी, पति और उसके सम्बन्धियों से प्रेम करनेवाली और दृढ व्यक्तित्वसम्पन्न नारी है। आभूषणों के लिए उसकी कमजोरी ही उसका सत्यानाश करती है। फिर भी इसके लिए केवल उसके आभूषण प्रेम का ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इसमें रमानाथ की प्रदर्शनप्रियता और परिस्थितियों का भी उतना ही हाथ है, जितना जालपा के आभूषण प्रेम का। वह बार बार पति को सचेत करती है कि वह कर्ज ले कर गहने पहनने को तैयार नहीं, किन्तु रमानाथ उसे अपने तर्कों से निरस्त्र कर देता है और वह भी अपनी इस कमजोरी के कारण उसकी बातों में आ जाती है। परिस्थितियाँ भी बहुत कुछ इसमें योग देती हैं। यदि दलाल कगन और इयरिंग ले कर रमानाथ के दरवाजे पर नहीं पहुँच जाता, तो वह शायद ही उन वस्तुओं का उधार खरीदता और तब जालपा भी सैर सपाटे में मग्न न होती, क्योंकि इतने अधिक आभूषणों का प्रदर्शन करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार रमानाथ के गबन करके भागने तक जालपा में जो गुण हैं, वे उसकी आभूषणप्रियता और रमानाथ की प्रदर्शनप्रियता के कारण प्रच्छन्न हैं। रमानाथ के भागने पर जालपा के चरित्र का दूसरा परिच्छेद प्रारम्भ होता है। अब उसका सारा कार्योत्साह केवल दो शब्दों में सीमित किया जा सकता है—अपने पूर्व-आचरण के लिए 'प्रायश्चित्त' और पति का स्वार्थ के दलदल से निकालने के लिए 'प्रयत्न'। एक एक कदम करके वह आगे ही बढ़ती जाती है और सफलता पग पग पर उसके कदम चूमती है। जहाँ उसे बाधा मिलती है, वह यही सोचती है कि अभी उसका प्रायश्चित्त पूरा नहीं हुआ है, सम्भवत इस जन्म में पूरा नहीं भी हो। यह भावना सर्वत्र उसकी रक्षा करती है।

सर्वप्रथम, जालपा गबन की राशि चुकाने के लिए अपना चन्द्रहार आधे दाम में बेच देती है। वही हार, जिसकी लालसा उसके मन में बाल्यावस्था से ही थी और इसके लिए उसे जरा भी दु ख नहीं होता, बल्कि पति की प्रसन्नता का अन्दाज कर उसे गर्वमय हर्ष ही होता है। जब रमानाथ रात तक नहीं लौटता है, तब उसे विश्वास होता है कि वह शहर में नहीं है, फिर भी वह गबन और उसके रुपए चुकाने की बात घर में किसी से नहीं कहती, अपने कमरे में जा कर चुपचाप रोती है। आज उसे पहली बार अपनी भूल मालूम होती है—'अगर गहने चोरी होने के बाद वह इतनी अधीर न हो गई होती, तो आज यह दिन क्यों

जाता। मन की इस दुर्बल अवस्था में वह अपने भार से अधिक भार अपने ऊपर लेने लगी।"[1] वह अपना दोष रमानाथ के आगे भी स्वीकार करती है।[2]

गबन के रुपए चुकाने ही जालपा को सराफों के रुपए भी चुकाने पड़ते हैं और वह अपना कंगन रतन के हाथ बेच देती है। एक दिन वह शृंगार के साधनों को इकट्ठा कर गंगा में बहा देती है, क्योंकि वे रिश्वत की कमाई से आए थे और वे ही सारे दुःखों के मूल थे। अब यदि ईश्वर-कृपा से रमानाथ फिर घर लौट कर आएँगे, तो वह इस तरह से रहेगी कि थोड़े-से थोड़े में निर्वाह हो जाए। अपनी मजदूरी के अतिरिक्त एक कौड़ी भी घर में न आने देगी। प्रसाधन सामग्री के उस गट्ठर को पानी [illegible] भाँति। [illegible] ने ऐसा गर्वमिश्रित आनन्द होता है, मानो उसने अपनी दुर्बलता पर विजय [illegible] ी आभूषण [illegible] र अब उसके अन्तः-करण में प्रकाश छा गया हो।

इस प्रकार जालपा शनै शनै अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रही है। वह सहज बुद्धि रखती है, इससे पाठक कई बार परिचित हो चुका रहता है—चन्द्रहार बेच कर गबन के रुपए वह इस शीघ्रता से दे चुकी है कि बड़े बाबू को छोड़ कर कोई यह भी नहीं जानता कि रुपए गबन हुए थे। रमानाथ का पता लगाने में भी वह इसका परिचय देती है। बीमार ससुर के पास बैठे-बैठे वह प्रायः प्राचीन पत्र पत्रिकाओं को पढ़ कर मन बहलाती रहती है। एक दिन एक पत्र में देखती है कि उसमें शतरंज का एक नक्शा बना है और हल करने वाले को इनाम देने की घोषणा भी है। वह सोचती है, रमानाथ भी तो शतरंज खेलने में इस शहर में अपना सानी नहीं रखते थे, यदि वह इस प्रकार का इश्तहार छपवाए, तो उनका पता लग सकता है। वह दस रुपए पुरस्कार रखती है, किन्तु रतन पचास रुपए करा देती है। रमानाथ का पता चल जाता है। आज छह महीने के बाद जालपा को पति का पता मिलता है कि वह कलकत्ता में है। वह पत्र के कार्यालय से उसका पता लगाने के लिए अपने देवर को ले कर कलकत्ता पहुँच जाती है। इस सम्बन्ध में उसकी जो झिझक है, रतन उसे निकाल देती है। वही एक रक्षा-कटार भी देती है।

जालपा निश्चय कर चुकी है कि अब वह सत्पथ पर चलेगी। पत्र-कार्यालय से पता ले कर वह देवीदीन खटिक के घर पहुँच जाती है। किन्तु, रमानाथ से भेंट नहीं होती। उसे पन्द्रह दिन पहले ही पुलिस ने शक में गिरफ्तार कर लिया था और अब वह डाके के एक मुकदमे में 'सरकारी गवाह' था। उसका बयान भी लिया जा चुका था। अब जालपा के सामने एक जटिल समस्या आ जाती है। वह सोचती है, अपने को बचाने के लिए रमानाथ कितनी घोर नीचता पर उतर आया। अगर उसे मालूम हो जाए कि म्युनिसिपैलिटी उसका कुछ नहीं कर सकती, तो शायद बयान बदल दे। वह किसी प्रकार रमानाथ के पास एक पत्र पहुँचाने में सफल हो जाती है और रमानाथ अधिकारियों से चुपचाप उससे मिलता भी है। उसे वह बयान बदल देने के लिए राजी कर लेती है। किन्तु, पुलिस के चकमे में आ कर रमानाथ अपना बयान नहीं बदलता। अदालत में उसका रटा रटाया बयान सुन कर जालपा

१. गबन, पृष्ठ १६८

२. गबन, पृष्ठ २६०-२६१

अत्यन्त दुखी होती है, पर चुप बैठ कर वह रमानाथ की आत्मा का हनन भी नहीं देख सकती। वह फैसले की प्रतीक्षा करती है। सभी अभियुक्तों को लम्बी सजा हुई, एक को तो जो सर्वथा निर्दोष और गरीब था, फाँसी की सजा हो गई। जालपा सोचती है, अभी उसके पापों का प्रायश्चित्त नहीं हुआ है। वह प्राण-दण्ड पाए हुए व्यक्ति के परिवार की सेवा में ही अपना प्रायश्चित्त पूरा करती है। अभी हाईकोर्ट की अपील बाकी थी। कभी-कभी जालपा की इच्छा होती कि वह जज के आगे सारी सच्ची बात कह दे। पर उसे भय होता है, कहीं रमानाथ पर पुलिस अत्याचार न करे। जब रमानाथ एक हार ले कर उससे मिलने आता है, तो वह कटु शब्दों में उसकी भर्त्सना करती है। इस प्रकार वह एक ओर पति की स्वार्थपरता और कायरता के कारण उसकी सूरत से घृणा करती है, पर दूसरी ओर उसकी कोमलता उसका अहित भी नहीं करने देती।

बाद में जोहरा (वेश्या) की मदद से रमानाथ जब जज के सामने सभी सच्ची बात कहता है, तो फिर से मुकदमा पेश होता है और रमानाथ बेदाग छूट जाता है। रमानाथ और जालपा का पुनर्मिलन होता है। वस्तुत जालपा की सत्यनिष्ठा रमानाथ को पतित होने से बचा लेती है। इसमें अस्वाभाविकता नहीं है। यह उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में स्पष्ट है।

कर्मभूमि' उपन्यास की सुखदा भी भोग विलास की प्रतिमा से त्याग और सेवा की देवी बन जाती है, किन्तु उसमें वे गुण कहीं आरोपित नहीं मालूम पड़ते। उपन्यासकार ने परिस्थितियों और घटनाओं के माध्यम से विलासिनी, अभिमानिनी और शासनप्रिय सुखदा के त्याग, सेवा, कोमलता आदि उच्च भावों को इस प्रकार विकसित किया है कि परिवर्तित सुखदा को देख कर पाठक यह अनुभव करता है कि यह वही सुखदा है, कोई अन्य नारी नहीं।

सुखदा में स्वाभिमान की मात्रा अत्यधिक है। उसका पालन पोषण साधारण गृहस्थ घर की लड़कियों की भाँति नहीं हुआ है। वह विधवा रेणुका की इकलौती सन्तान है, जो अतुल सम्पत्ति की स्वामिनी है। रेणुका ने बेटी से बेटे की साध पूरी की थी, अत सुखदा में अभिमान, तेजस्विता, कठोरता, तीव्रता आदि पुरुषोचित गुणों का विकास होता है। विवाहोपरान्त वह पति सेवा को 'गुलामी' समझती है। उसमें मानापमान की भावनाएँ इतनी तीव्र हैं कि इसके सामने वह ससुर और माता की अपार सम्पत्ति को भी तुच्छ समझती है। ससुर से अलग होने पर वह एक स्कूल में शिक्षिका हो कर और भी स्वतन्त्र हो जाती है। अमीर विधवा की इकलौती पुत्री होने के कारण वह विलासिनी तो है ही।

सुखदा की विलास-वृत्ति, स्वाभिमान और स्वतन्त्रता की भावनाएँ, दृढ़ता और साहस, तेजस्विता और कठोरता यदि उसे अपने त्यागी, समाज सेवी पति से दूर करते जाते हैं, तो ये ही गुण आगे चल कर उसे सामाजिक कार्यों के निकट भी लाते हैं। समाज सेवा करते समय उसकी विलास-वृत्ति धीरे धीरे क्षीण हो जाती है और अन्य प्रवृत्तियों का उन्नयन हो जाता है। इस प्रकार वह अनजाने ही उस पथ की पथिक हो जाती है, जिस पर उसका पति भी उसे नहीं ला सका, जैसा कि हम देखते हैं, विलासिनी और अभिमानिनी सुखदा स्वेच्छा या पूर्व निश्चित योजना से नहीं, बल्कि आकस्मिक रूप से, समाज सेवा की काँटों

भरी राह पर कदम रखती है। और, यह उसके चरित्र की स्वाभाविक परिणति के लिए आवश्यक भी था। एक दिन वह क्या देखती है कि उसके ससुर अपने मन्दिर में प्रवेश करने वाले अन्त्यजों को रोकने के लिए पुलिस को बुला चुके हैं और लोग गोली खा खा कर कायरों की तरह भागे जा रहे हैं। अपने ससुर की भाँति ही वह भी मन्दिर में अछूतों के प्रवेश का विरोध करती थी। किन्तु, जब वह देखती है कि भगवान् के दर्शनों के इच्छुक मनुष्यों पर गोली चलाई जा रही है, तो उसे इस अन्याय पर क्रोध आता है और अछूतों के प्रति उसकी सहानुभूति हो जाती है। एक आदमी की छाती से खून बहते देख कर वह उत्तेजित हो जाती है और ससुर से मिन्नत करती है कि वे मन्दिर का द्वार खुलवा दें। और, जब वे उसकी मिन्नतों का कोई खयाल नहीं करते, तो उसकी उत्तेजना और बढ़ जाती है और वह उसी आवेश में अछूतों के पास पहुँच जाती है। वह भागने वालों को ललकारती हुई गोलियों की वर्षा के बीच जा कर खड़ी हो जाती है। उसकी इस प्रकार की उत्तेजना, आवेश और तीव्रता का अनुभव पाठक को कई बार हो चुका रहता है। अतः, इसकी स्वाभाविकता के बारे में उसे शंका नहीं होती। बाद में, लाला समरकान्त पुत्रवधू को वहाँ देख कर घबड़ा जाते हैं और गोलीबारी बन्द करवा देते हैं। फिर तो वे मन्दिर का द्वार भी खुलवा देते हैं। अतः, तब जनता सुखदा को सर आँखों पर उठा लेती है।

बस, यही घटना सुखदा को घर से बाहर खींच लाती है। जो गुण घर में, उसके पति द्वारा निरादृत होते थे, बाहर समाज में वे ही गुण अमूल्य प्रमाणित होते हैं और उनका विकास होता है। समाज उसे श्रद्धा और आदर दे कर उसके त्याग और सेवा भावना के तारों को छेड़ देता है। अमरकान्त उसे विलासिनी समझ कर उससे हमेशा भय खाता रहा और अपने सामाजिक कार्यों को उससे छिपाता रहा, अतः अभिमानिनी सुखदा भी अपने आप में ही मग्न रहती थी। किन्तु, यहाँ जनता ने उसे अपनाया, उसे नगर की नेत्री बनाया, तो वह भी जनता के सुख दुःख में भाग लेने लगी। जैसे जैसे उसका गरीबों के सुख दुःख से परिचय होता है, वह अनजाने ही पति के सिद्धान्तों की ओर बढ़ती जाती है, उसका रहन सहन सादा होता जाता है, धन से मोह नहीं रहता और उसमें सहनशीलता आ जाती है।

लाला मनीराम सुखदा का अपमान करके उसके स्वाभिमान को एक बार पुनः भीषण रूप से जगा देता है और तब शहर में हड़ताल करा कर वह उसका अनिष्ट करने को तैयार हो जाती है। लाला मनीराम के पिता लाला धनीराम म्युनिसिपैलिटी के वाइसचेयरमैन हैं, अतः हड़ताल करा कर सुखदा उससे अपने अपमान का बदला लेती है। इस प्रकार उसकी स्वाभिमानी प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आता है। यह वही सुखदा है, पाठक ऐसा समझता चलता है। फिर भी, उसकी त्याग वृत्ति और सेवा वृत्ति ने उसके पति को भी उसका भक्त बना दिया और इसीलिए कहानी सुखान्त हो जाती है। सुखदा ने एक बार नैना से ठीक ही कहा था, "मैं तो जैसी अब हूँ, पहले भी थी। तुम्हारे भैया लालाजी से अलग हुए थे, तो क्या मैंने साथ नहीं दिया था?" सत्य यह है कि ऊपर से देखने पर सुखदा में बहुत बड़ा सुधार होना दिखता है, किन्तु है वह सूक्ष्म ही और वह उसके पूर्व-चरित्र की स्वाभाविक परिणति भी है।

'कमभूमि' उपन्यास की ही मुन्नी के चरित्र में बाद में जा परिवर्तन होता है, वह उसके पूर्व जीवन की तुलना में अस्वाभाविक सा लगता है। वह राजपूत परिवार की नारी है, उसका शील गोरों द्वारा बलात् अपहृत होता है। उसकी मानसिक वेदना की सीमा नहीं रहती। इस विक्षोभ की दशा में वह अपने प्राणप्रिय पति और पुत्र के पास घर नहीं लौटती और विक्षिप्त सी हो जाती है। उस होश तब आता है, जब वह दो गोरों पर छुरे से घातक आक्रमण कर चुकी होती है। उस पर अभियोग चलता है और वह बेदाग छूट जाती है। फिर भी वह इस पतित जीवन में, पति के बहुत मिन्नत करने पर भी, अपने घर नहीं लौटती। अपनी इस उच्च नैतिकता के कारण वह पाठक की श्रद्धा का पात्र होती है। किन्तु, बाद में यही मुन्नी अमर से किस आदर्श और सिद्धान्त के कारण प्रेम करने लगती है, यह उलझन में डालने वाली बात है, किन्तु है सर्वथा मनोवैज्ञानिक। मुन्नी के इस शील-परिवर्तन के सम्बन्ध में लेखक ने पर्याप्त कारण दिए हैं।

हम देखते हैं कि मुन्नी भावुकतावश ही अपने पति और पुत्र पर अपनी अशुभ छाया न पड़ने देने के विचार से उनके साथ नहीं जाती, किन्तु तब भी जब उसका पति उसका पीछा नहीं छोड़ता है, तो रात में वह गंगा में कूद पड़ती है और बहते बहते एक चमार (सुमेर) द्वारा बचायी जाती है। किन्तु, बहुत दिनों तक अस्वस्थ रहती है। स्वस्थ होने के बाद वह एक बार उसी धर्मशाले में पति का समाचार लेने जाती है। परन्तु, मालूम होता है कि पति पुत्र दोनों ही अब इस दुनिया में नहीं हैं। वह जिस सर्वनाश से डरती थी, वही हो गया। अब वह बिलकुल बेसहारा थी। जिनके लिए उसने इतना कुछ किया, जब वे ही नहीं रहे, तो अब उसे किसका भय था?

सुमेर, जिसने उसे मरने से बचाया था, उससे प्रेम करने लगा था। किन्तु, उसके प्रेम प्रकट करने पर मुन्नी ने उसे डाँटा था, 'क्या तुम इस रूप में मुझसे नेकी का बदला चाहते हो? अगर यही नीयत है, तो मुझे ले जा कर गंगा में डुबा दो।...तुम जानते हो, मैं कौन हूँ? मैं राजपूतनी हूँ। फिर कभी भूल कर भी मुझसे ऐसी बातें न करना, नहीं गंगा यहाँ से दूर नहीं हैं।" एक राजपूतनी चमार को कैसे अपने हृदय-मन्दिर का देवता समझ सकती है? और, एक दिन मुन्नी के लिए आफ्रा बुलाने में सुमेर की डूबने से मृत्यु हो जाती है।

यहाँ यह स्पष्टतया सकेतित है कि मुन्नी युवती है और सुन्दर तथा स्वस्थ भी है, अत काल के प्रवाह में विगत स्मृतियाँ धूमिल होती गईं[1] और उसके यौवन तथा प्रेम की भूख बढ़ती गई। चमारों की उस बस्ती में अमर का उच्च कुल, सभ्य व्यवहार उसे विशेष आकर्षक मालूम होता है। अमर से वह मुकदमे के दिनों से ही परिचित है, उसने उसे छुड़ाने के लिए सबसे अधिक दौड़ धूप की थी। फिर अमर की लज्जालु, स्त्रियों की सी प्रकृति भी मुन्नी को उत्तेजित करती है। वही उस पर पहले अपना प्रेम प्रकट करती है और एक साँस में सब कुछ कह जाती है, "तुम न थे, तब मैं बड़े आनन्द से थी। घर का धन्धा करती थी, रूखा सूखा

---

[1] 'वह वही मुन्नी थी, जो खून के मुकदमे में बरी हो गई थी। वह अब उतनी दुर्बल, उतनी चिन्तित नहीं है। रूप में माधुर्य है, अंगों में विकास, मुख पर हास्य की मधुर छवि। आनन्द जीवन का तत्त्व है, वह अतीत की परवाह नहीं करता।' कर्मभूमि, पृष्ठ २४३

खाती थी और सो रहती थी। तुमने मेरा वह सुख छीन लिया। अपने मन में कहते होगे, बड़ी चचल नार है। कहो, जब मर्द औरत हो जाए, तो औरत को मर्द बनना ही पड़ेगा। जानती हूँ, तुम मुझसे भागे भागे फिरते हो, मुझसे गला छुड़ाते हो। यह भी जानती हूँ, तुम्हे पा नहीं सकती। मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ? पर, छोड़ूँगी नहीं। मैं तुमसे और कुछ नहीं माँगती। बस इतना ही चाहती हूँ, कि तुम मुझे अपनी समझो। मुझे मालूम हो कि मैं भी स्त्री हूँ, मेरे सिर पर भी कोई है, मेरी जिन्दगानी भी किसी के काम आ सकती है।"[१]

फिर भी मुन्नी का प्रेम विशुद्ध, वासना रहित प्रेम है। उसका नारी हृदय एक सहारा चाहता है। सेवा और त्याग की भावनाओं के प्रकाशन के लिए एक प्रेम पात्र चाहता है, यह मुन्नी के उपयुक्त कथन से सिद्ध है। उस समय भी जब कि पत्नी व्रत की धुन में अमर मुन्नी से खिंचा रहने लगा था, मुन्नी अपने मनोभावों को सलोनी के समक्ष प्रकट करती है, "वह समझते होंगे कि मैं उनके गले पड़ी जा रही हूँ। मैं तुम्हारे चरण छू कर कहती हूँ काकी, जो यह बात कभी मेरे मन में आई हो। मैं तो उनके पैरों की धूल के बराबर भी नहीं हूँ। हाँ, इतना चाहती हूँ कि वह मुझसे मन से बोलें, जो कुछ थोड़ी-बहुत सेवा करूँ, उसे मन से ले। मेरे मन में बस इतनी ही साध है कि मैं जल चढ़ाती जाऊँ और वह चढ़वाते जाएँ। और कुछ नहीं चाहती।"[२] वह अमर से भी पहले ही दिन कह देती है, "मैं तुमसे सगाई नहीं करूँगी, तुम्हारी रखेली भी नहीं बनूँगी। तुम मुझे अपनी चेरी समझते रहो, यही मेरे लिए बहुत है।"[३]

'गोदान' उपन्यास की धनिया स्वाभिमानी, विद्रोही और न्यायप्रिय नारी है। धीरे धीरे उसके इन गुणों का विकास होता है, उसमें अन्त में कोई परिवर्तन नहीं होता। वह प्रारम्भ में ही अपने पति (हारी) को जमींदार की खुशामद करने से रोकती है। जब जमींदार की खुशामद करने पर भी उसकी हालत अन्य किसानों से अच्छी नही है, तो वह क्यों उसके तलुवे सहलाए ? अपनी इसी स्वाभिमानी प्रवृत्ति के कारण वह किसी की कृतज्ञता का भार नहीं लेना चाहती। भूखों मरने के दिनो में वह पुनिया (देवरानी) से अन्न अवश्य ले लेती है और उसकी आँखों में प्रेमाश्रु भी भर जाते हैं, किन्तु होरी जब पूछता है, तो कहती है, वह क्यों कृतज्ञ हो ? उसी के पति ने तो दिन रात परिश्रम करके पुनी के खेत में अन्न उपजाया था। फिर, वह उधार के रूप में ले रही है, उसे लौटा देगी।

इसी प्रकार सोना (पुत्री) के विवाह में उसे नोहरी से रुपए मिल जाते हैं। नोहरी सबसे आत्मप्रशसा करती रहती थी, बेचारी धनिया बड़े कष्ट में थी, उसका रुपया पा कर खुश हो गई। धनिया तुरत जवाब देती है, इसमें एहसान की क्या बात है ? ब्याज और लोग भी लेंगे, वह भी लेगी। वह अपने पुत्र के साथ भी अपने स्वाभिमान की रक्षा करती है। उसका अपने बेटे बहू से झगड़ा हो जाता है और व शहर चले जाते हैं। छोटी बेटी (रूपा) विवाह योग्य हो जाती है। तीन साल से लगान बाकी है। बेदखली का डर है, किन्तु फिर

---

१ कर्मभूमि, पृष्ठ ११८

२ कर्मभूमि, पृष्ठ २६०-२६१

३ कर्मभूमि, पृष्ठ ११८

भी वह गोबर के आगे सहायता के लिए हाथ नही पसारती। होरी चाहता है कि गोबर को एक पत्र लिख दे, किन्तु धनिया इस स्वीकार नहीं करती।

असत्य और अन्याय से तो उसको बिलकुल चिढ है। इनसे वह कभी समझौता नही करती। होरी की झूठी गवाही पर वह सिर्फ घृणा ही नहीं करती, बल्कि थूकती भी है। वह गाय के हत्यारे को, चाहे वह उसका देवर ही क्यों न हो, छोड देने में पाप समझती है। सत्य और न्याय का बल उसे साहसी बना देता है। वह किसी स डरना नहीं जानती। थानेदार तक का फटकारती है। जब पच उसके ऊपर इसलिए दण्ड लगा देत हैं कि उसने अपने पुत्र की गर्भवती प्रमिका (झुनिया) को घर में रख लिया था, तो उसकी न्यायप्रिय, दयालु आत्मा विद्रोह करती है। वह कहती है, उसे जाति में नही रहना है, चिलम नही खुलवाना है। क्या वे चाहते हैं कि बेसहारा गर्भवती स्त्री कही डूब धँस मरे। किन्तु, हर बार की तरह इस बार भी उसे होरी की सिधाई क आगे झुकना पडता है। वह यही दया और वात्सल्य सिलिया चमारिन के लिए भी दिखलाती है। वह जबान की थोडी कटु जरूर है, लेकिन उसका हृदय अत्यन्त कामल है। उसमें वात्सल्य भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है।

धनिया के चरित्र की सबस बडी कमजोरी यह है कि वह प्रशसा से शीघ्र फूल उठती है और उसे प्रसन्न करके काम निकालना बडा आसान है। वह एक सती साध्वी व्यवहार कुशल नारी है। अपने व्यवहार से वह होरी की कमियो को ढँक देती है और जब होरी कल्पना की बातें करता है, तो वह यथार्थ बात कह कर उसे धरती पर खीच लाती है। इस प्रकार पति पत्नी दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

आर्थिक विवशता की स्थिति में, मर्यादा रक्षा के लिए जान देने वाली धनिया से भी एक भूल हो ही जाती है। अपना खेत बचाने के लिए, वह रूपा का विवाह, वर पक्ष से दो सौ रुपए ले कर करती है। किन्तु, उसकी कुरेदन उसे चुपचाप नही बैठने देती। होरी दामाद के रुपए चुकाने के लिए कठोर परिश्रम करता है। धनिया भी उसे नहीं रोकती। उलटे आधी आधी रात तक बैठ कर सुतली कातती रहती है। लू लगने से होरी की मृत्यु होने पर उसी से निकले सवा रुपए स वह उसका गोदान करा देती है।

'गोदान' की चचल, विलासप्रिय मालती सेवा और त्याग का मार्ग निर्देशन करने वाली आदर्श नारी बन जाती है। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि प्रेमचन्द ने उस पर अपना आदर्श आरोपित किया है। किन्तु उसके सम्बध में उनका यह जो निकष-वाक्य है— 'मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी।' इससे स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में वे उसका बाहरी रूप ही प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि साथ ही उसका जा वास्तविक रूप है, उसके भीतर भी देखते हैं। सोसायटी लेडी के ऊपर जो आवरण रहता है, उसे उन्होंने समझने की कोशिश की है। सन् ३५ ३६ ई० में मालती-जैसी नारियाँ अपवाद ही होंगी, किन्तु उस भारतीय समाज के सर्वथा नवीन, अप्रत्यक्ष, अदृश्य परिवर्तन के परिणामस्वरूप मालती जैसी नारी की भी सृष्टि हो रही है, जो उस दुनिया में अपने पाँव पर खडी होना चाहती है, जो दूसरों को देना तो नही चाहती, ले लेना चाहती है, और उसका चित्रण भी आवश्यक है,

ऐसा प्रमचन्द ने समझा। मालती-जैसी नारी मजबूर हो कर ही आधुनिकतम नारी के रूप में समाज में आती है—यही उसका तितली वाला रूप है। मालती सजी धजी गुड़िया इस लिए है, तितली के समान आकर्षक इसलिए बनती है कि इसके भी उसे दाम मिलते हैं। स्वभाव से तो वह एक मधुमक्खी के समान है, जो सचय करने के कारण प्राणिशास्त्र में महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व रखती है। नर मक्खी मादा मक्खी पर आश्रित होते हैं। मादा रानी (Queen bee) एक होती है, उसी के निदशानुसार छत्ता बनता है और मधु-सचय होता है। हमें मालूम है कि हमारे पूर्वजों में भी मातृसत्तात्मक युग रहा है। आज भी कई जगली जातियो में है। इसी रूप में मालती का अपने पिता का भरण पोषण करना है। उसके पिता एक शिक्षित, सुसस्कृत व्यक्ति हैं, पर उनमें ऐस दुर्गुण हैं कि वे अपनी पुत्रियो का पालन नहीं कर पाते हैं। फलस्वरूप मालती का अपने पिता और अपनी बहनों के लिए तितली का रूप धारण करना पडता है। वह पुरुषों के बीच आकर्षक बन कर आती है। किन्तु, इस बाध्यता के बावजूद उसका जीवन मधुमक्खी वाला ही है। जिस प्रकार मातृ सत्तात्मक प्रणाली के बाद धीरे धीरे नारी मधुमक्खी से तितली बन गई और धीरे धीरे अपने अधिकारों से वञ्चित होती गई, उसी प्रकार मालती भी मधुमक्खी स तितली बन जाने के सघर्ष में थक कर जैसे एक मात्र तितली वाला रूप ही ग्रहण करने को बाध्य होती जा रही है। आधुनिक सभ्यता में नारी को मधुमक्खी से तितली बनाने में पुरुष को सफलता मिल रही है। जब मेहता से मालती का परिचय होता है, तो उस 'प्रेम' मिलता है, जिसके कारण वह अब मधुमक्खी वाले पक्ष की ओर भी बढ जाती है, किन्तु परिवार को ही नहीं, सारे समाज को देना चाहती है और इसके लिए मधु सचित करती है।

नारी के अध पतन के पीछे केवल इन्द्रिय लिप्सा ही कारण क रूप में वर्त्तमान रहती हो, ऐसी बात नहीं, बल्कि उसके पीछे एक ऐसी आर्थिक विवशता रहती है, जो उसके अध पतन के लिए उत्तरदायी होती है। इसे आज के समाजशास्त्री भी मानते हैं। मालती के चरित्र चित्रण में प्रेमचन्द ने अपनी सूक्ष्म बूझ का परिचय दिया है। हाँ, वे समाजशास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग नहीं करते। यही बात उनके मनोवैज्ञानिक चित्रणो के साथ भी लागू है। मालती सुशिक्षिता है, वह ऐसी नहीं है कि उसे कोई प्रलोभन दे कर पथ भ्रष्ट कर सकता है। वह साधारण रूप से अपनी आजीविका बडी आसानी से उपार्जित कर सकती है, पर वह जिस स्तर के जीवन को अपने लिए स्वाभाविक पाती है, दूसरी ओर अपने ऊपर आश्रित अपने पिता और अपनी बहनों को देखती है, ऐसी स्थिति में यदि वह नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में अपने विचार उदार बना देती है, तो यह स्वाभाविक ही है।

प्रेमचन्द बँगला उपन्यासकार शरत् की भावुकता के विरोधी थे, किन्तु मालती और शरत् के अनेक नारी पात्रों में हम एक विचित्र समानता पाते हैं। जिस क्षण से मालती मेहता से प्रेम करने लगती है, उसी क्षण से जैसे उसे अभय मिल जाता है। शरत् ने दिखलाया है कि उनकी पतिता नारियाँ भी जब किसी पुरुष से प्रेम करती हैं, तो सती साध्वी बन जाती हैं (राजलक्ष्मी, किरणमयी आदि)। यद्यपि उनका वातावरण नहीं छूटता, बल्कि कभी कभी तो वे उससे भी निम्न वातावरण में चली जाती हैं। पर, चरित्र की दृष्टि से उस उँचाई पर

पहुँच जाती हैं कि कोई भी प्रलोभन उन्हें गिरा नही सकता। यहाँ तक कि वे जिससे प्रेम करती हैं, उससे विवाह इसलिए नहीं करती कि इस प्रकार उनके प्रेमी सामाजिक दृष्टि में हीन हो जाएँगे। यहाँ प्रेमचन्द और शरत् में बहुत अन्तर है। शरत् के ऐसे नारी पात्रों में जो परिवर्तन होता है, निषेधात्मक है। प्रेमचन्द की मालती का परिवर्तन विधेयात्मक है। न केवल यही कि मालती शारीरिक या नैतिक दृष्टि से अध पतित होने से बडी आसानी से बच जाती है, बल्कि यह भी कि वह अपने को व्यक्ति की सीमा से निकाल कर समूचे समाज में बिकीर्ण कर देना चाहती है। मालती मेहता से इसलिए विवाह करना अस्वीकार नहीं करती है कि वह अपने को अपवित्र समझती है। वह पत्नी और उसके स्वाभाविक परिणाम मातृत्व की स्वीकृति से भी विचलित नही होती। वह तो चिकित्सक के रूप में दुखियों की सेवा करने के लिए मेहता की पत्नी बनने से इनकार करती है।

प्रेमचन्द की आदर्शवादिता यदि 'गोदान' में कहीं सफल हुई है, तो मालती में ही। जीवन के अन्त में पूर्णत आस्था रहित होना उनके लिए सम्भव था भी नहीं। मालती ही एकमात्र ऐसे व्यक्तित्व से सम्पन्न है, जो आधुनिक कही जा सकती है। पर, तो भी वह आस्था रहित नहीं है। मेहता वह बौद्धिक, शास्त्रज्ञ दार्शनिक है, जो आधुनिक भारतीय बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अपने विश्वास समाप्त हो चुके हैं और जिसे पश्चिम से केवल अनास्था ही मिल सकी है। प्रेमचन्द ऐसे व्यक्ति से जैसे समाधान की आशा नहीं रख, आज की वैसी नारी से रखते हैं, जो न केवल विलास ही का त्याग कर सके, बल्कि पत्नीत्व और मातृत्व की स्वाभाविक आकांक्षा से ऊपर भी उठ सके। ऐसी नारी का बहुत ऊंचा स्थान हो सकता है और समाधान के रूप में उन्होने जो कुछ प्रस्तुत किया है, वह मालती का आदर्श भारतीय नारीत्व है। किन्तु, मालती-जैसे आदर्शवादी पात्र के चित्रण में जो यथार्थवादिता है, उसे हमें नही भूलना चाहिए।

प्रेमचन्द ने मालती की सृष्टि को तब आवश्यक समझा, जब पाश्चात्य सभ्यता भारतीय सभ्यता को अनिवार्य रूप से प्रभावित कर चुकी थी। 'गोदान' के समय तक स्वतन्त्रताप्राप्त नारी के चरित्र का लाभ बहुत से उपन्यासकारों ने उठाया, किन्तु उसके अभावों और दोषों की तरफ उनका उतना ध्यान नही जा सका, जितना प्रेमचन्द का गया। हम जब 'अज्ञेय' और यशपाल के कथा साहित्य को पढते हैं, तो कहते हैं कि आधुनिक नारी के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का ज्ञान बिलकुल सीमित है। किन्तु, मालती का जिस स्वतन्त्र नारी के रूप में उन्होंने चित्रण किया है वह समाज में एक बहुत बड़े होते चलने वाले परिवर्तन का चित्र है। ऊपर से स्वतन्त्र दिखने वाली नारी में कितनी दयनीयता छिपी है, वे यह भी दिखलाते हैं। आधुनिक नारी कल्पनाप्रसूत आकर्षक तितली भर नही है—मधुमक्खी भी है और उसके जीवन की जो अनिवार्यता है, इसे तो बहुत कम लोग देख पाते हैं। प्रेमचन्द की तो यह विशेषता ही है कि वे उसी पृष्ठभूमि में अपने पात्रों को चित्रित करते हैं। मालती के लिए पहले अपने परिवार की सेवा का उद्देश्य था, परिवर्तित परिस्थितियों में उसमें लोक-सेवा का भाव भी आ गया। पहले उसका तितली वाला रूप प्रधान और मधुमक्खी वाला रूप गौण था, किन्तु अब मधुमक्खी वाला रूप प्रधान और तितली वाला रूप गौण हो गया।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के अतिरिक्त उनकी कहानियों के नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण का उल्लेख भी आवश्यक है। नारी जीवन से सम्बन्धित अनेकानेक कहानियों—'रहस्य', 'दो बहनें', 'प्रेम की होली', 'धर्म सकट', 'बूढ़ी काकी', 'हार की जीत', 'सौत', 'शान्ति', 'बड़े घर की बेटी', 'जिहाद', 'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल', 'त्यागी का प्रेम', 'मर्यादा की वेदी', 'आभूषण', 'लांछन', 'अग्नि समाधि', 'सुहाग का शव', 'ऐक्ट्रेस', 'ममता', 'माँ', 'बेटोंवाली विधवा', 'स्वामिनी', 'कायर', 'घासवाली', 'कुसुम', 'मिस पद्मा', 'शूद्रा', 'उन्माद', 'विश्वास', 'स्वर्ग की देवी', 'अन्तिम शान्ति', 'जीवन का शाप', 'सती', 'जादू', 'कौशल', 'तथ्य', 'गृह दाह' आदि में उन्हीं कहानियों को प्रस्तुत प्रसग के लिए चुना गया है, जिनमें प्रेमचन्द के दर्शन क लिए अधिक अवकाश है।

प्रेमचन्द ने 'हार की जीत' कहानी की लज्जावती को एक आदर्श प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है, जो अपने प्रेमी को सुखी और प्रसन्न देखने के लिए उसके मार्ग से हट जाना चाहती है। वह त्याग, बलिदान, धैर्य, क्षमा, स्नेह और पवित्रता की साक्षात् मूर्त्ति है। फिर भी उसको उन्होंने देवी नहीं बनाया है। वह मानवी ही है।

प्रोफेसर भाटिया की सुन्दर, सुशिक्षित, हिन्दू-सस्कारों में पली हुई पुत्री (लज्जावती) के चरित्र में आत्माभिमान के साथ कर्त्तव्य और विवेक घुल मिल गए हैं। वह शारदाचरण को मन ही मन प्रेम करती है, किन्तु यह आशका कि वह एक ताल्लुकेदार और रईस है, उस पर उसे अपना प्रेम प्रकट करने नहीं देती। वह सोचती है, विवाहोपरान्त, प्रेम का आवेश घटने पर, कहीं ठुकरा न दी जाए। इसलिए अपने-जैसे सामान्य कुल, शील और ऐश्वर्य वाले एक युवक (केशव) को वह अपना स्नेह पात्र बनाती है। और, इस आत्मसम्मान एव विवेक से पूर्ण निर्णय लेने में उसने कितनी रातें केवल करवट बदल कर काटी थीं, कितने आँसू बहाए थे, हृदय को कितना विवश किया था, यह कोई नहीं जानता था। बाद में जब प्रोफेसर भाटिया शारदाचरण को ही अपना दामाद चुनते हैं और वह भी लज्जावती से प्रेम की भिक्षा माँगता है, तो वह अपनी शकाएँ उसके सामने रख ही देती है। काश! शारदाचरण की कुल प्रतिष्ठा और रियासत उसके प्रेम के रास्ते में दीवार बन कर खड़ी न होती, तो वह इतना आगा पीछा न करती।

आगामी दो तीन वर्षों में कौंसिल का सदस्य हो कर और लोक-सेवा को अपना कर शारदाचरण यह सिद्ध कर देता है कि वह अन्य अमीरों की भाँति हृदय हीन नहीं है। लज्जावती क हृदय पर से यह भार उतर जाता है और वह शारदाचरण से विवाह करने के लिए तैयार हो जाती है। विवाह की तिथि भी निश्चित हो जाती है, किन्तु इसी बीच शारदाचरण एक दीवान की पुत्री (सुशीला) क सौन्दर्य और शील पर मुग्ध हो, अपना कर्त्तव्याकर्त्तव्य भूल जाता है। वह लज्जावती से अपने कल्पित गुप्त रोग का बहाना कर विवाह की तिथि टालना चाहता है। लज्जावती अपने पिता को साथ ले कर उसकी बीमारी में सेवा करने क लिए उसके पास पहुँच जाती है। सच्ची बात मालूम होने देर नहीं लगती और न ही लज्जावती को अपना कर्त्तव्य निश्चित करते समय लगता है। वह शारदाचरण क सुख में बाधा नहीं बनना चाहती और अपना भग्न हृदय ले कर वहाँ से विदा हो जाना चाहती है।

सुशीला का, मिलने पर, वह छोटी वहन के समान सत्कार करती है और शारदाचरण को लज्जा से बचाने के लिए वचन तोड़ने का अपराध अपने ही सर लेती है। वह दिखलाती है कि शारदाचरण की बीमारी के कारण वह खुद ही उससे विवाह नहीं करना चाहती। उस-जैसी स्वाभिमानिनी, विवेकशील और कर्त्तव्यपरायण नारी से और कुछ उम्मीद की भी नहीं जा सकती। किन्तु, असत्य को सत्य बनाने के इस प्रयत्न में वह प्रेम की पुजारिन अपना प्रेम नहीं छिपा पाती है। वह शारदाचरण की सेवा सुश्रूषा के लिए गुप्त रूप से प्रयत्नशील रहती है, जो शारदाचरण को भी प्रभावित किए विना नही रहता और उसका यही त्यागपूर्ण प्रेम उसे हारी हुई बाजी जिता देता है। जब वह सफेद साडी में लिपटी हुई शारदाचरण के पास विदा लेने आती है, तो वह उसे विदा देने के बदले उससे विवाह करना चाहता है। इस प्रकार लज्जावती का चरित्र कितना आदर्शवादी क्यों न हो उसकी विवेकशीलता, स्वाभिमानी प्रकृति, कर्त्तव्य और उदारता की भावनाओं के साथ साथ नारीजन्य कोमलता उसके चरित्र को मानव चरित्र ही बनाती हैं, देवी नहीं।

'ऐक्ट्रेस' कहानी की तारा के चरित्र चित्रण में भी प्रेमचन्द की आदर्शवादी कला के दर्शन होते हैं। कुँवर निर्मलकान्त का सच्चा प्रेम पा कर वह ऐक्ट्रेस (बाजारू औरत) से प्रेम की देवी बन जाती है। वह पैंतीस बसन्त देख चुकी है, किन्तु आज भी शृगार द्वारा काल के चिह्नों को इस प्रकार मिटा देती है कि देखने में एक नवयौवना प्रतीत होती है। उसके अभिनेत्री बनने का भी कारण था। बीस वर्ष पूर्व उसे एक बार प्रेम का जो कटु अनुभव हुआ था, उस दिन से उसने प्रेम का स्वप्न ही देखना छोड दिया था। रईसों और प्रेमियों से वह घिरी रहती थी। जैसे वे उसके पास मनोरजनार्थ आते थे, वैसे ही वह भी उन्हें नोच खसोट कर अपनी राह लेती थी। परन्तु, अपने दर्शकों में से एक सौम्य, सुन्दर और रूपवान युवक को अपनी ओर अविचलित दृष्टि से देखते हुए पा कर वह स्थिर न रह सकी। युवक की आँखों में कितना गम्भीर अनुराग था। कुँवर निर्मलकान्त के अतुल, अथाह, निर्मल, निःस्वार्थ एव सयम-शील प्रेम ने उसकी बीस वर्षों की प्यासी आत्मा को वह तृप्ति प्रदान की कि वह कुँवर साहब के प्रेम सम्भाषणों में 'विवाह' शब्द सुनने को आतुर हो जाती है। प्रेम का बदला प्रेम है, कुँवर साहब के साथ इस प्रकार रहना उसे पसन्द नहीं था। उधर कुँवर साहब सकोचवश उससे विवाह का प्रस्ताव नहीं करते थे। वे चाहते थे कि उनकी उपासना से प्रसन्न हो कर देवी स्वय ही (बिना माँगे) वरदान दे। किन्तु, उन्हें तारा के जाल में फँसा हुआ देख कर उनके भाई-बन्द उन्हें विवाह-बन्धन में शीघ्र-से शीघ्र बाँध देने को उत्सुक हो उठे थे। अत, उन्हें तारा से इस सम्बन्ध में कहना ही पडा। तारा जहाँ प्रेम का इतना बडा प्रमाण पा कर खुश थी, वहाँ अपनी क्षुद्रता और नीचता पर लज्जित भी।

कुँवर निर्मलकान्त ने अगले ही सप्ताह 'सिविल मैरेज कानून' द्वारा विवाह-सूत्र में बँधने का निर्णय किया था। तारा, जो विवाह के लिए इतनी बेचैन थी, विवाह मुहूर्त को दिन दिन पास आते देख कर उधेड़बुन में पड जाती है। अपने प्रेम के देवता के साथ कैसे विश्वासघात करे? वह बूढ़ी है और कुँवर साहब युवक। शृगार के कृत्रिम साधनों से उन्हें कब तक धोखे में रखेगी और अब यह भी कैसे कहे कि मैं रँगी हुई गुड़िया हूँ, जवानी मुझसे

कब की विदा हो चुकी है। नहीं, वह छल और विश्वासघात करके उनका जीवन दुखी नहीं बनाएगी। सच्चे प्रेम का ऐसा बदला वह कभी नहीं दे सकती। वह अभी यहाँ से किसी ऐसी जगह चली जाएगी, जहाँ उसे कोई नहीं जान पाएगा और जब कुँवर साहब का विवाह हो जाएगा, तो वह फिर उनसे आ कर मिलेगी। वह नि स्वार्थ प्रेम होगा। और, वह विवाह स केवल छह घण्टे पूर्व चुपचाप घर छोड देती है। हाँ, कुँवर साहब की सान्त्वना के लिए एक पत्र छोड जाती है।

इस प्रकार प्रमचन्द न सच्चे प्रेम का एक मलिन चरित्र वाली नारी पर चमत्कारी, किन्तु स्वाभाविक प्रभाव दिखलाया है। 'गबन' उपन्यास की वेश्या जोहरा भी रमानाथ के विश्वास और प्रेम का ऐसा ही प्रतिदान करती है। प्रेमचन्द ने वहाँ लिखा है—'प्रौढा स्त्रियाँ अनुराग की अवहलना नही कर सकती।' 'विश्वास' कहानी की विलासिनी, बम्बई के सभ्य समाज की राधिका मिस जोशी और 'वेश्या' कहानी की वेश्या माधुरी भी सच्चा प्रेम पा कर अपने पूव जीवन को भूल जाती हैं और नया जीवन शुरू करती हैं। बँगला उपन्यासकार शरत् ने भी प्रेम द्वारा पतिताओं में परिवर्त्तन दिखलाया है, किन्तु अधि काशत वह एकपक्षीय ही रहा है। उनकी इस वर्ग की नायिकाएँ यदि किसी पुरुष को प्यार करती हैं, ता सवस्व समर्पण कर देती हैं, किन्तु प्रमचन्द की ऐसी नारियो को जब किसी उदार हृदय पुरुष का सच्चा प्रेम, विश्वास और आदर मिलता है, तो व आत्मसमपण करती हैं।

प्रेम का अत्यन्त सुन्दर और विलक्षण रूप 'त्यागी का प्रेम' कहानी में विधवा आनन्दी बाई के चरित्र में मिलता है। आनन्दी बाई यह कह कर प्रम माग पर पेर रखती है—'मै प्रेम पर अपनी आत्मा को भी न्योछावर कर सकती हूँ।' वह लोक निन्दा, राग, शोक, निधनता, आत्मवेदना—सब कुछ मूक हो कर सहती है। धैर्य और प्रेम की उस दवी के न मुख पर शिकायत के शब्द हैं, न हृदय में। प्रेमचन्द ने आनन्दी बाई के प्रम की उत्कटता और गम्भीरता का यो ही चित्रण नहीं किया है। ऐस प्रम के पीछे आधार बनने वाली परिस्थि तियों का भी उन्होंने वर्णन किया है और आनन्दी बाई के इस अपूव त्याग को विश्वसनीय बनाया है।

आनन्दी बाई एक सुशिक्षित, गुजराती विधवा महिला हैं, जो हिन्दी से तो भली भाँति परिचित नहीं है, किन्तु गुजराती में कई श्रेष्ठ पुस्तकें लिख चुकी हैं। उन्हें लाला गोपीनाथ, अपनी कन्या पाठशाला के लिए, बम्बई स बुलाते हैं और पाठशाला की प्रधाना-ध्यापिका बना देत हैं। लाला गोपीनाथ को समाज-सेवा का चस्का उसी समय से लगा था, जब व युवक थे और इसीलिए उन्होंने विवाह नहीं किया था। स्वार्थ और परमार्थ में उन्होने परमार्थ को ही चुना था। घर से केवल खाने साने का नाता था। अपना पूरा समय वे समाज-सवा को देत थे। कुछ वर्षा में ही उनकी गिनती नगर के मान्य व्यक्तियों में होने लगी थी। आनन्दी बाई की उन पर असीम श्रद्धा थी। उनके त्याग और निष्काम सवा ने उसे वशीभूत कर लिया था। वह उन्हें मनुष्य नहीं, देवता समझती थी। उसके आगमन से लाला गोपीनाथ के स्कूल की तरक्की भी दिन दूनी रात चौगुनी होने लगी थी और वे भी उस पर बहुत प्रसन्न थे। एक स्कूल का सस्थापक और प्रबन्धक था, दूसरी उसी की प्रधानाध्यापिका,

एक अविवाहित पुरुष था, दूसरी विधवा नारी और दोनों ही एक दूसरे से प्रभावित, एक दूसरे के प्रशसक और पूरक। स्कूल के वार्षिकोत्सव में व्यस्तता क कारण लाला गापीनाथ घर जा कर भोजन करना नही चाहते थे, आने में देर लगती। उस दिन आनन्दी बाई ने बहुत हठ करक अपने ही चौके में खाना खिला दिया– वह पाठशाला के अहाते में ही रहती थी।

लाला गापीनाथ का अपने जेब खर्च क लिए घरवालों से कुछ माँगते सकोच हाता था। अत, आवश्यक्ताओं ने उन्हें साहित्य-सेवी बना दिया था। घर पर बच्चों के शोरगुल में इसकी पूरी सुविधा न थी, अत जब लिखना हाता, बेखटके स्कूल चले जाते। वहाँ के शान्त वातावरण में लिखने में खूब मन लगता था। देर हा जाती, ता आनन्दी बाई क घर में ही भोजन भी कर लेत। बाद में लिखने का काम आनन्दी बाई ने अपने हाथ में ले लिया। किन्तु जब नगर में इसको टीका टिप्पणी हाने लगी, ता अब लाला गोपीनाथ रात में आने लगे। रात्रि की नीरवता में खूब काम होता। लाला गापीनाथ और आनन्दी बाई एक दूसरे को पूर्ण रूप से पहचान गए थ और इस समीपता ने उनक मन की श्रद्धा बढाई ही। लाला गापीनाथ सोचते, यदि आनन्दी बाई से उनका विवाह हुआ हाता, ता जन-सेवा में वह पत्नी और सहायक बन कर आती। आनन्दी बाई भी एक सच्चे भक्त की भाँति उनका सारा काम श्रद्धा से करती, खाना खाते तो पखा झलती।

एक दिन लाला गापीनाथ के सर में दर्द हा रहा था—कुछ लिखने की इच्छा नहीं हो रही थी। आनन्दी बाई ने उनके सर में धीरे धीरे तेल मलना शुरू किया। लाला गोपीनाथ के मन में उस समय प्रेम की तरगे उठने लगीं। उसी दिन से उन्होंने आनन्दी बाई के यहाँ जाना छोड दिया। आनन्दी बाई ने कई बार, स्कूल के काम का बहाना बना कर, बुलाया, पर वे नहीं आए। दो महीने में आनन्दी बाई दु ख स पीली पड गई और उसने बिछावन पकड लिया। उसकी बीमारी का हाल सुन कर लाला गापीनाथ अपने को नही राक सके। दोनों ने उसी दिन एक-दूसरे के प्रेम की गम्भीरता का समझा और एक दूसरे को अपनी कमजोरियाँ बतलाईं। लाला गापीनाथ के लिए नाम और यश सर्वोपरि चीज थी और आनन्दी बाई के लिए प्रेम। आनन्दी बाई लाला गोपीनाथ क प्रम क लिए अपमान, निन्दा, उपहास, आत्म-वेदना—सब कुछ सहने को तैयार थी।

विधवा आनन्दी बाई परिस्थितियों के विरुद्ध अनेक थपेडे सह कर भी अपने सुदृढ पैरों पर खडी रहती है। दा वर्षो बाद वह गर्भवती हो जाती है, साथ ही सग्रहणी की रोगी भी। लाला गोपीनाथ अपनी कीर्ति की निष्कलक्ता के लिए चाहते थे कि आनन्दी बाई जल्द-से-जल्द शहर छोड कर मथुरा चली जाए और बच्चा होने के बाद आए। किन्तु, द्रव्याभाव में सात महीने निकल जाते हैं। बीमारी के कारण आनन्दी बाई ने स्कूल से छुट्टी तो ले ही ली थी। जिस दिन वह जाने की तैयारी करती है, शाम से ही दारुण प्रसव-वेदना उठ जाती है और वह ऊफ भी नही करती। ग्यारह बजते-बजते शिशु का जन्म हो जाता है। लाला गोपीनाथ शिशु की आवाज सुनते ही गिरते पडते भाग खडे होते हैं। स्कूल की नौकरानियाँ आ कर सँभालती हैं। वह किसी से एक शब्द भी नही कहती। दो हफ्ते बाद वह स्कूल से निकाल दी जाती है और एक तग गली में मकान ले कर, कुछ पुस्तकों के अनुवाद

कर, अपनी जीविका चलाती है। वह रात की रात शिशु को गोद में लिए बैठी ही रह जाती है, पर लाला गोपीनाथ से उसे कोई शिकायत नहीं है, बल्कि इन परिस्थितियों में, उनका पराङ्मुख रहना ही वह अच्छा समझती है। सभी उन पर सन्देह करते हैं, पर किसी को उनके विरुद्ध प्रमाण देने का साहस तो नहीं है। आनन्दी बाई ने, प्रेम के लिए कौन-सा कष्ट नहीं भोगा? वह रोग, शोक, दारुण अपमान, लोक निन्दा, निर्धनता—सब कुछ सहती है, किन्तु कोई शिकायत नहीं है। उसके लिए आत्मसमर्पण ही प्रेम का दूसरा नाम है।

कुछ दिनों बाद, रोज बारह बजे रात में फिर दोनों प्रेमी मिलते हैं और इस प्रकार उन्हें मिलते वर्षों बीत जाते हैं। लाला गोपीनाथ नाम पर मरते हैं और आनन्दी बाई प्रेम पर। यदि सच्चा प्रेम हो, तो अवैध सम्बन्ध को भी प्रेमचन्द बुरा नहीं मानते थे। आत्मसमर्पण—सच्चा प्रेम—ही विवाह है।

प्रेमचन्द ने 'रहस्य' कहानी में एक ऐसी युवती का, जो विलासिनी और पतिता है, ऐसा स्वाभाविक चित्रण किया है कि वह 'देवी' दिखलाई पड़ती है। मनुष्य के देवत्व का निरूपण करना प्रेमचन्द की महानता और उदारता का द्योतक है। मंजुला एक भावुक नारी थी, उसे परिस्थितियों का सामना करना नहीं आता। जब कभी विषम परिस्थितियाँ सामने आती हैं, वह भाग खड़ी होती है। वह अपने पति को केवल इसीलिए छोड़ कर चली जाती है कि उसकी आदर्शवादिता, सिद्धान्तवादिता और भावुकता का पति की सांसारिकता से सामञ्जस्य नहीं हो पाता था। वह आदर्शवाद का पल्ला पकड़ कर विमल के सेवाश्रम में आती है। वह उसके सम्मुख अपने सिद्धान्तों का ढिंढोरा पीटती है, जिससे वह उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगता है। वह विमल को अपने आदर्श के निकट पहुँचा हुआ देख कर उसे श्रद्धा और प्रेम करने लगती है और अपने को उस प्रेम प्रवाह में बहने से रोकने के लिए उससे दूर दूर ही रहती है। किन्तु, चित्त की चंचलता और वासना के प्रवाह के साथ उसकी दृढ़ता बहने लगती है, खास कर जब वह नारी की गहरी अंतर्दृष्टि से देख रही है कि विमल भी उसका उपासक बन बैठा है और जरा भी प्रोत्साहन पाने पर अपने को रोक नहीं सकेगा। वह सेवाश्रम से इस्तीफा दे देती है। वह चाहती है कि एक देव पुरुष की स्मृति में वह हमेशा के लिए एक निष्कलंक, निष्कपट, सती की धुँधली छाया छोड़ जाए। इसके साथ ही वह विमल के पवित्र और कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन में कलंक लगाना नहीं चाहती। इस प्रकार वह सेवाश्रम में भी नहीं रहती।

मंजुला के चरित्र की अन्तिम परिणति भी उसी के अनुरूप है। सेवाश्रम से जाने के तीन साल बाद विमल को मंजुला फिर मसूरी में मिलती है। पर, अब वह बिलकुल बदली हुई है। कहाँ तो वह त्याग की पुतली थी और कहाँ अब तितली बनी हुई अपने एक मित्र के साथ आनन्द मना रही है। उसका यह रूप देख कर विमल चौंकता है। पूछने पर मंजुला उसे बतलाती है कि उसका पति मर गया। वह विपत्तियों से घिर गई। उसका स्वास्थ्य खराब हो गया। विमल उससे शिकायत करता है कि एक मित्र के नाते उसके पास खत तक नहीं लिखा। मंजुला कहती है कि इसलिए खबर न की कि वह उसे कर्त्तव्य और सेवा मार्ग से हटाना नहीं चाहती थी। वह जानती है कि उस पर उसकी कृपा दृष्टि है, किन्तु

अपने लिए वह उसे देवता के ऊँचे आसन से नहीं गिरा सकती थी। इसीलिए उसने आश्रम का त्याग किया था और विपत्तियों का पहाड़ टूटने पर उसे पत्र तक नहीं लिखा था। और विमल ने देखा कि मंजुला का आत्माभिमान उसकी विलासिता से बलवान है। उसे वह इस रूप में भी देवी नजर आई। मंजुला, जिसे पति का प्रेम नहीं मिला था, विमल का प्रेम और दया पा कर उधर आकृष्ट हुई थी, यह स्वाभाविक ही था। अतः सेवाश्रम त्याग कर, विमल के प्रेम का परित्याग कर, उसने कितना बड़ा त्याग किया था। यह तो निश्चित ही था कि यदि वह सेवाश्रम में रह जाती, तो विमल अपने आदर्श से च्युत हो जाता, वह अपनी साधना पूरी नहीं कर पाता। मंजुला विमल को देवत्व के ऊँचे आसन से गिराना नहीं चाहती थी, इसलिए उसने सेवाश्रम का त्याग करना ही अपना कर्त्तव्य समझा। उसके कथन में विमल को सच्ची सहानुभूति का सन्देश मिलता है।

'सोहाग का शव' कहानी की सुभद्रा एक हिन्दू-पत्नी की सभी विशेषताओं से युक्त है। उसके प्रेम, कर्त्तव्य, त्याग और आत्मदान की भावनाएँ अपनी पराकाष्ठा को पहुँची हुई हैं। वह अपने प्राणाधार पति को सफलता के उच्चतम शिखर पर चढ़ा हुआ देखने के लिए उत्सुक है, इसलिए तीन साल का दारुण वियोग भी स्वीकार करती है। उसका पति (केशव) प्रोफेसर है और उच्चतर शिक्षा के लिए उसे वृत्ति मिली है। घर वाले इसका विरोध करते हैं और स्वयं केशव भी तीन साल विदेश में रहने से घबड़ाता है। किन्तु, उसकी नवोढा पत्नी (सुभद्रा) उसे समझाती है। इसको वह एक तपस्या ही समझती थी, वरदान बिना तपस्या के मिलता भी तो नहीं।

केशव लन्दन पढ़ने चला गया, किन्तु 'आँख से ओट तो दिल से ओट' वाली कहावत थी। वह छह महीने में ही वहाँ एक भारतीय युवती (उर्मिला) को अपना दिल दे बैठता है। सुभद्रा को पत्र मिलने में विलम्ब होने लगता है। वह पति-दर्शन की लालसा से हठ करके लन्दन पहुँच जाती है। उसने निश्चय कर लिया था कि वह अपना जाना केशव से गुप्त रखेगी और परिश्रम करके स्वयं अपना खर्च चलाएगी। वह केशव के होटल के समीप वाले मुहल्ले में ही मकान लेती है। विधि का ऐसा विधान कि केशव और उर्मिला का आर्यसमाज-रीति से विवाह होने जा रहा था और उर्मिला अपने विवाह का जोड़ा सिलवाने के लिए सुभद्रा के पास आती है। बातों-बातों में सुभद्रा को सब कुछ मालूम हो जाता है। उर्मिला के चले जाने पर सुभद्रा फूट-फूट कर रोने लगती है। हा ! उसे अपने प्रेम और भक्ति का यही पुरस्कार मिला है। उसे केशव से इतनी घृणा हो जाती है कि उससे वह सब-कुछ जान लेने के लिए मिलने भी नहीं जाती। जिसने उसका इतना बड़ा अपमान किया था, उसका आत्माभिमान उसके सामने उसे जाने नहीं देता। कहीं वह अपने आँसुओं पर नियन्त्रण न कर सके, तो ? केशव यदि उससे घृणा करता है, तो वह भी उससे घृणा करेगी।

सुभद्रा प्रेमचन्द द्वारा चित्रित उन नारियों में परिगणनीय है, जिनके हृदय में अपने पति की चरित्रहीनता और विश्वासघात पर विद्रोह की ज्वाला-सी दहकने लगती है। केशव के लिए वह अपने प्राणों को भी हेय समझती थी, उसी ने उर्मिला के आगे उसे कितने काले रंगों में रँगा था। प्रतिकार के लिए उसका रोम-रोम तैयार हो जाता है। किन्तु, केशव की

हत्या के लिए हाथ में आई हुई पिस्तौल निस्पन्द ही रह जाती है। आर्यसमाज मन्दिर में उसने विवाह वेदी पर केशव को देखा, किन्तु ममत्व नहीं जगा। जब केशव से ममत्व ही नहीं रहा, तो हिंसा-कल्पना भी न रही।

दूसरे दिन जब उर्मिला उसके पास आई, तो उसने छोटी बहन के समान हुलस कर उसे गले से लगाया और अपने सारे आभूषण उस पहना दिए। ईर्ष्या और द्वेष का लेश भी उसके मन में नहीं था। उर्मिला खुशी से उन्मत्त हो कर थोड़ी देर में केशव को भी बुला लाई। वह सुभद्रा को देख कर चौंक पड़ा, उसके मुख से चीख भी निकल गई। किन्तु सुभद्रा गम्भीर, शान्त, निश्चल भाव से खडी रही, फिर बोली, "आइए मिस्टर केशव, मैं आपको ऐसी सुशील, ऐसी सुन्दरी, ऐसी विदुषी रमणी पाने पर बधाई देती हूँ।" केशव में इतनी हिम्मत न थी कि वह अपने को प्रकट करता। वह एकान्त में सुभद्रा से मिल कर क्षमा माँगना चाहता था। जब वह दिन भर बेचैनी से बिता कर दस बजे रात में सुभद्रा के मकान पर गया, तो मालूम हुआ कि उसने दिन में ही मकान छोड दिया था। उर्मिला के लिए वह एक पैकेट छोड़ गई थी। केशव ने उत्सुकता से इस पैकेट को खोला, तो उसकी आँखों से आँसू की झडी लग गई। उसमें एक पीली साडी, सिन्दूर की डिबिया और केशव का एक चित्र था। लिफाफे में उर्मिला के नाम एक पत्र भी था। लिखा था—'बहन, मैं जाती हूँ। यह मेरे सुहाग का शव है। इसे टेम्स नदी में विसर्जित कर देना। तुम्हीं लोगों के हाथों यह सस्कार भी हो जाए, तो अच्छा।'

वस्तुत सुभद्रा प्रेमचन्द की सुमित्रा ('प्रतिज्ञा'), सुधा ('निर्मला'), सुखदा ('कर्मभूमि') प्रभृति नारियों की कोटि में परिगणनीय है, जो पति की उपेक्षा को स्वीकार करने की अपेक्षा वैधव्य को अच्छा समझती हैं।

इस प्रकार प्रेमचन्द का जो विश्वास था, उनका जो दर्शन था, उसका प्रभाव उनके नारी-पात्रों के चरित्र चित्रण पर स्वाभाविक रूप से पड़ा ही है, किन्तु यह प्रेमचन्द की ही विलक्षण प्रतिभा थी कि उन्होंने अपने इन नारी पात्रों पर अपने उन विश्वासों को बलपूर्वक आरोपित नहीं किया, वह सब कुछ उनका अग सा प्रतीत होता है। हमारे यहाँ आज भी करोड़ों की सख्या में ऐसी नारियाँ मिलती हैं जो त्याग, सेवा और पवित्रता की मूर्ति हैं, जो भीषण से भीषण परिस्थितियों में अपने भाग्य पर सन्तुष्ट रहती हैं और अत्याचारों को चुपचाप सहती हैं। जो नारियाँ भाग्य पर विश्वास नहीं करती, वे अन्यायों और अत्याचारों का विरोध करती हैं, लडती झगडती हैं। परन्तु, उनकी वासना भी उन पर कभी हावी नहीं होती। कभी-कभी परिस्थितियाँ उन्हें पतन का मार्ग दिखलाती भी हैं, तो उनको त्याग कर वे बहुधा अपना जीवन सुधार लेती हैं। प्रेमचन्द ने ऐसे ही सजीव नारी पात्रों को अपने कथा साहित्य में स्थान दिया है।

•

उपसंहार

पिछले अध्यायों में प्रेमचन्द और उनके नारी चित्रण के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसके आधार पर अब उनके नारी चित्रण की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाएगा।

प्रेमचन्द नारी को, उसकी महानता और दैवी गुणों के कारण, पुरुष से श्रेष्ठ मानते हैं, जो उनके युग के अनुरूप है। सेवा और वात्सल्य नारी की मूल प्रकृति है और प्रेम उसके जीवन का आधार। नारी का हृदय सेवा के सूक्ष्म तत्त्वों से बना होता है। उसका प्रेम तो सेवा है ही, अधिकार और क्रोध भी सेवा है। नारी में वात्सल्य का इतना प्राधान्य है कि यदि यह कहा जाए कि वह केवल माता है, इसके अतिरिक्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है, तो अतिशयोक्ति न होगी। उसमें इतना प्रबल मातृ भाव होता है और अवस्था के साथ इसमें इतनी प्रगाढ़ता आ जाती है कि वह युवक मात्र को पुत्र तुल्य समझने लगती है और उसके हृदय में वासना की गन्ध भी नहीं रह जाती। नारी का जीवनाधार प्रेम है और वह प्रेम के उच्चतम आदर्श—आत्मसमर्पण, निस्स्वार्थता, वासना हीनता—का पालन करने में भी अद्वितीय है। एक वाक्य में—नारी सेवा, त्याग, आत्मसमर्पण, पवित्रता, स्नेह, वात्सल्य, संयम, विनय, क्षमा, धैर्य, सहिष्णुता, लज्जा, आत्माभिमान आदि सुन्दर और उदात्त भावों की साक्षात् मूर्ति है।

नारी की इन्हीं विशेषताओं के कारण प्रेमचन्द उसका अतिशय सम्मान करते हैं और नारियों का अपमान करने वालों को वे अक्षम्य मानते हैं। उनकी नारियाँ साहसपूर्वक स्त्रियों के अधिकारों और आत्म सम्मान की रक्षा करती हैं। उनके द्वारा चित्रित नारियाँ कर्त्तव्य और सेवा को इतना महत्व देती हैं कि वे पाठकों की दृष्टि में सहज ही श्रद्धेय हो जाती हैं। वे प्रेम की पवित्रता का दृढ़तापूर्वक निर्वाह करती हैं, पतिता हो कर भी नारीत्व के ऊँचे शिखर पर शोभायमान हो पाती हैं। गृह के अन्दर मूक भाव से अपनी अक्षय सेवा, त्याग और वात्सल्य लुटाने वाली पत्नियों और माताओं का उन्होंने श्रद्धा के साथ चित्रण किया है और उनके प्रति अपने पाठकों को श्रद्धानत बनाया है। उनमें नारी-चरित्र को उन्नत बनाने का प्रयत्न सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने नारियों को वहीं निकृष्ट रूप में चित्रित किया है, जहाँ उनके दुर्गुणों के प्रति घृणा उत्पन्न करना उनका लक्ष्य रहा है अथवा यथार्थवाद का आग्रह है। वे प्राय यथार्थवाद को भी उसी आदर्श की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न करते हैं, जिस पर उनके साहित्य में विशेष बल है।

प्रेमचन्द का समय नारी आन्दोलन का समय रहा है। नारी अपने देवत्व के बावजूद सहस्रों वर्षों से निन्दित, अधिकारवंचित, उपेक्षित, अनादृत एवं पराधीन थी और अब जा कर अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट हो रही थी तथा उनके लिए आन्दोलन कर रही थी। प्रेमचन्द ने नारी की स्थिति में सुधार की गुंजाइश बताते हुए भी, परम्परा या संस्कार से उसमें जो गुण आ गए हैं, उन्हें बनाए रखने के लिए उन गुणों का सशक्त चित्रण किया है।

नारियों के प्रति वे अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण हैं और इसीलिए उनकी वर्त्तमान शोचनीय स्थिति में हृदय से सुधार चाहते हैं। उनकी कामना है कि वैवाहिक कुरीतियों में सुधार हो, बाल विधवा और निस्सन्तान युवती विधवाएँ पुनर्विवाह करने को स्वतन्त्र हों, पथ भ्रष्ट नारियों को सुमार्ग पर लाने के प्रयत्न हों, नारियों का घर में और बाहर सम्मान हो, उन्हें शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ हों, उन्हें उत्तराधिकार आदि के सभी कानूनी अधिकार पुरुषों के तुल्य मिलें और स्वय उनमें आत्मगौरव हो तथा अपने कर्त्तव्य एव उत्तरदायित्व का परिज्ञान हो।

आधुनिक शिक्षित भारतीय नारी का उन्होंने वही विरोध किया है, जहाँ वह नौकरी करने, स्वतन्त्र और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करने और पाश्चात्य सभ्यता क अन्धानुकरण में ही अपने नारीत्व का चरम ध्येय मान लेती है। वे नारीत्व का चरमोत्कर्ष मातृत्व में मानते हैं, अत वे नारी को सेवा, त्याग, वात्सल्य, आत्मसमर्पण आदि मानवीय गुणों का स्वाभाविक उत्तराधिकारी मानते हैं, ऐसा कहा जा चुका है। ऐसी त्यागमयी और वात्सल्यमयी नारी का भोग विलास के पीछे अपने नैसर्गिक गुणों को भुला देना उनके लिए असह्य है। मालती तक तभी ग्राह्य होती है, जब वह स्त्रियोचित गुणों से मण्डित होती है। यदि नारी में नारीत्व है, तो वह प्रेमचन्द की दृष्टि में पूज्य है, श्रद्धेय है। ऐसी नारी अक्षर ज्ञानरहित हो कर भी उनकी श्रद्धा का पात्र बनी रहती है। शिक्षित नारियों का व परिवार, समाज और देश के प्रति विशेष कर्त्तव्य एव उत्तरदायित्व मानते हैं। उनके लिए उचित है कि वे अपनी गृहस्थी का सुचारु रूप से सञ्चालन करें और यदि अवसर मिले, तो अपना कार्य क्षेत्र विस्तृततर करें, अपने ज्ञान क आलोक से अपनी पिछड़ी हुई बहनों के हृदय का अन्धकार दूर करें, वे उनकी सामाजिक और आर्थिक उन्नति में सहायक हों, उनकी वकालत करें, उनका प्रतिनिधित्व करें। प्रकट है, आत्मसेवी, विलासिनी, आत्म प्रदर्शन की इच्छुक शिक्षित महिलाएँ यह सब नहीं कर सकती। इसके लिए तो वैसी शिक्षित नारियों की आवश्यकता है, जो कर्मठ, त्यागशील, साहसी और नम्र हों।

प्रेमचन्द के नारी चित्रण की चौथी विशेषता है—उसका गाम्भीर्य। उनके समय में भारत में नारी-आन्दोलन जोरों पर था। भारतीय नारियाँ पश्चिम की नारियों के अनुकरण पर अधिकार के लिए विद्रोह और क्रान्ति की आवाज उठा रही थीं, जिसमें एक प्रकार से सृजनात्मक शक्तियों की अपेक्षा ध्वसात्मक शक्तियों की ही प्रधानता थी, यहाँ तक कि कुछ नारियाँ स्वतन्त्र जीवन के लिए चिर-कौमार्य का समर्थन करने लगी थीं अथवा विवाहित होने पर अपने कन्धों पर गृहिणी के दायित्वों का भार न ले कर, पति से विद्रोह करने, सम्बन्ध विच्छेद करने और तलाक देने के लिए भी कहने लगी थीं।

प्रेमचन्द ने हिन्दू नारी की विषम परिस्थितियों को अनेक दृष्टिबिन्दुओं से देखा और उनके साथ होने वाले अन्यायों क प्रति असहिष्णु रहे, उनके नारी चरित्रों में भी पर्याप्त उग्रता है। परन्तु, यह सब होते हुए भी ध्वस के सिद्धान्त में उनका विश्वास नहीं है। वे निर्माण में विश्वास करते हैं, भले ही उसमें कुछ अधिक समय लग जाए। कारण कि ध्वस के सिद्धान्त में विश्वास करने से अशुभकर तत्त्वों के साथ शुभकर तत्त्व भी नष्ट हो जात हैं। अत, व उन कारणों और परिस्थितियों में सुधार के पक्षपाती हैं, जिनसे नारी की दशा इतनी

शोचनीय बन गई थी। यदि वैवाहिक कुरीतियाँ मिट जाएँ, तो अनमेल विवाहों और उनसे उत्पन्न होने वाली बुराइयों का अवकाश ही कहाँ रहे? अगर नारी पुरुष की शिक्षा में पुस्तकीय शिक्षा के अतिरिक्त चरित्र निर्माण का भी ध्यान रखा जाए तो स्वार्थी, विलासी, समाज में कीट के रूप में जीने वाले कहाँ रहें और पारिवारिक जीवन में भी गृह-कलह, सम्बन्ध विच्छेद और तलाक क्यों देखने को मिलें? यदि पुरुष के असन्तुलित अधिकारों का नियमन—उदाहरणत बहु विवाह, नैतिक छूट आदि—और नारियों के अधिकारों का पुरुषों के बराबर सीमा निर्धारण हो जाए, तो फिर नारियों को तुच्छ समझने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? किन्तु, ये सुधार और परिवर्त्तन एक दिन या एक बार में सम्भव नहीं। उनके लिए तो वर्षों सतत परिश्रम की आवश्यकता है। यदि नारी की स्थिति को अपनी निम्नतम अवस्था में पहुँचने के लिए सहस्रों वर्ष लगे हैं, तो उसके सुधरने में भी कुछ समय तो चाहिए ही। विद्रोह या ध्वस करने में तो स्वय नारीत्व के ही नष्ट हो जाने की आशका है।

पुरुष समाज ने नारी समाज के प्रति अन्याय अवश्य किया है, किन्तु अन्याय को मिटाना है, अपने को नहीं। जब नारी अन्याय के निराकरण के लिए विद्रोह करती है, तो इसमें उसके स्वाभाविक गुणों—सेवा, त्याग, वात्सल्य, क्षमा आदि—का ह्रास हो जाता है और वह कठोरता, हिंसा, कलह, स्वार्थ आदि पुरुषोचित गुणों को अपनाना शुरू करती है। किन्तु, क्या इस स्थिति में उसे वास्तविक सुख मिलता है? अपने प्रकृतिगत वैशिष्ट्य को ठुकरा कर कोई सुखी नहीं रह सकता। नारी भी इस प्रयत्न में कहीं की नहीं रह जाती—न तो वह पुरुष ही हो पाती है और न नारी ही रह जाती है। 'क्या बाज को चिड़ियों का शिकार करते देख कर हस को यह शोभा देगा कि वह मानसरोवर की आनन्दमयी शान्ति को छोड़ कर चिड़ियों का शिकार करने लगे। और अगर वह शिकारी बन जाए, तो . ? हस के पास उतनी तेज चोंच नहीं है, उतने तेज चगुल नहीं हैं, उतनी तेज आँखें नहीं हैं, उतने तेज पख नहीं हैं, और उतनी तेज रक्त की प्यास नहीं है। उन अस्त्रों का सचय करने में उसे सदियाँ लग जाएँगी, फिर भी वह बाज बन सकेगा या नहीं, इसमें सन्देह है, मगर बाज बने या न बने, वह हस न रहेगा—वह हस जो मोती चुगता है।' फिर नारी को पुरुष की पशुता को अपनी स्वाभाविक क्षमाशीलता के सहारे भुला देना होगा, तभी दोनों का जीवन सुखी हो सकेगा। स्त्री पशु के साथ पशु हो जाती है, इसी लिए स्त्री पुरुष दोनों दुखी होते हैं।

इस प्रकार प्रेमचन्द नारियों के सच्चे शुभचिन्तक हैं। वे उसे पुरुष से निश्चयत श्रेष्ठ मानते हैं, उसी प्रकार जैसे वे प्रेम, त्याग और श्रद्धा को हिंसा, सग्राम और कलह से श्रेष्ठ समझते हैं। वे नारी आन्दोलन को गलत ढग से प्रोत्साहित करने वालों को आड़े हाथ लेते हैं और इसे उन पुरुषों का षड्यन्त्र मानते हैं, जो कायर हैं, विलासी हैं और वैवाहिक जीवन का उत्तरदायित्व सँभालने में असमर्थ हैं। वे अपनी कुत्सित लालसा को तृप्त करने के लिए देवियों को ऊँचे शिखर से खींच कर अपने बराबर करना चाहते हैं। पश्चिम में इनका षड्यन्त्र सफल हो गया है और 'देवियाँ' 'तितलियाँ' बन गई हैं। इसके अन्धानुकरण से भारतीय नारी विशेषत शिक्षित नारी, जिस पर वह जादू चल गया है, को बचना है, क्योंकि

भारत त्याग, तपस्या और सत्य के अन्वेषण की भूमि रहा है। सम्भव है, किन्हीं कारणवश पति पत्नी की उपेक्षा और अपमान करे, पर सेवापरायण, क्षमाशील, उदार पत्नी कभी-न-कभी पति की दृष्टि में आदरणीय अवश्य होती है। पति से स्वतन्त्र हो जाने या अलग हो जाने से दुःख का अन्त नहीं हो सकता। धैर्य और विवेक से काम लेने में ही नारी और पुरुष दोनों का कल्याण है। सच्चा सुख सेवा और सन्तोष, समझौते और व्रत में है। इसमें भारतीय आदर्श ही नारी की सहायता करेंगे, स्वतन्त्रता, समानता और आत्मप्रतिष्ठा के नवीन पाश्चात्य आदर्श नहीं।

इस प्रकार प्रेमचन्द की अद्वितीयता केवल युग के यथार्थ चित्रण के कारण ही नहीं है, भविष्यद्रष्टा और आदर्श स्रष्टा होने के कारण भी है। उनकी रचनाएँ विवादास्पद जीवन सिद्धान्तों के लिए दृढ़ प्रकाश स्तम्भ के समान हैं, जो पश्चिम का भी पथ प्रदर्शन कर सकती हैं।

•

आकर-ग्रन्थ-सूची

अध्ययन की सामग्री (प्रेमचन्द-साहित्य)

प्रेमचन्द मगलाचरण (आरम्भिक उपन्यास—असरारे मआबिद, हमखुर्मा व हमसवाब, प्रेमा और रूठी रानी), इलाहाबाद, १६६२
सेवासदन (सन् १६१८ ई०), बनारस, सन् १६५३ ई०
वरदान (सन् १६२१ ई०), बनारस, सन् १६४५ ई०
प्रेमाश्रम (सन् १६२२ ई०), बनारस
रगभूमि (सन् १६२५ ई०), भाग १, लखनऊ, सन् १६०५ ई०
रगभूमि (सन् १६२५ ई०), भाग २, लखनऊ, सन् १६४४ ई०
कायाकल्प (सन् १६२६ ई०), बनारस, सन् १६५६ ई०
निर्मला (सन् १६२७ ई०), बनारस, सन् १६४४ ई०
प्रतिज्ञा (सन् १६२६ ई०), बनारस, सन् १६४५ ई०
गबन (सन् १६३१ ई०), बनारस
कर्मभूमि (सन् १६३२ ई०), बनारस, सन् १६४६ ई०
गोदान (सन् १६३६ ई०), बनारस, सन् १६४६ ई०
मगलसूत्र (अपूर्ण) प्र० स०, बनारस, (श्री अमृतराय के अनुसार सर्वप्रथम सन् १६४८ ई० में प्रकाशित हुआ)
सग्राम (सन् १६२३ ई०), कलकत्ता, सन् १६२३ ई०
कर्बला (सन् १६२४ ई०), लखनऊ, सन् १६२४ ई०
प्रेम की वेदी (सन् १६३३ ई०), बनारस, सन् १६३३ ई०
मानसरोवर (सन् १६३६ ई०), भाग १, इलाहाबाद, सन् १६५४ ई०
'कफन' और शेष रचनाएँ (सन् १६३७ ई०), बनारस, सन् १६३७ ई०
मानसरोवर, भाग २, इलाहाबाद
मानसरोवर, भाग ३, (सन् १६३८ ई०), बनारस, सन् १६५४ ई०
मानसरोवर, भाग ४, (सन् १६३६ ई०), बनारस, सन् १६५५ ई०
मानसरोवर, भाग ५, (सन् १६४६ ई०), इलाहाबाद
मानसरोवर, भाग ६, इलाहाबाद
मानसरोवर, भाग ७, (सन् १६४७ ई०), इलाहाबाद, सन् १६५१ ई०
मानसरोवर, भाग ८, (सन् १६५० ई०), दूसरा सस्करण, इलाहाबाद
प्रेमचन्द : गुप्तधन (दो भागों में), इलाहाबाद, सन् १६६२ ई०
सोज़ेवतन, इलाहाबाद, सन् १६६१ ई०
कुछ विचार (सन् १६३६ ई०), बनारस, सन् १६५६ ई०

साहित्य का उद्देश्य, इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०
प्रेमचन्द चिट्ठी पत्री (दो भागों में), सकलनकर्ता श्री अमृतराय, इलाहाबाद, सन् १९६२ ई०
प्रेमचन्द · विविध प्रसग (तीन भागों में), सकलनकर्ता श्री अमृतराय, इलाहाबाद, सन् १९६२ ई०
प्रेमचन्द स्मृति, चयनकर्ता श्री अमृतराय, इलाहाबाद (इसमें प्रकाशन तिथि मुद्रित नहीं है)

प्रेमचन्द का समकालीन उपन्यास-साहित्य

(१) हिन्दी-उपन्यास

अधखिला फूल (सन् १९०७ ई०), प० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', तीसरा सस्करण, सन् १९२८ ई०
विमाता (सन् १९१५ ई०), अवधनारायण, लहेरियासराय (दरभगा)
वारागना रहस्य, चन्द्रशेखर पाठक .—
पहला भाग, चौथा सस्करण, कलकत्ता, सन् १९२४ ई०
दूसरा भाग, तीसरा सस्करण, कलकत्ता, सन् १९२३ ई०
तीसरा भाग, तीसरा सस्करण, कलकत्ता, सन् १९२० ई०
चौथा भाग, दूसरा सस्करण, कलकत्ता, सन् १९२२ ई०
पाँचवा भाग, पहला सस्करण, कलकत्ता, सन १९१७ ई०
छठा भाग, दूसरा सस्करण, कलकत्ता, सन् १९२२ ई०
आदर्श लीला, चन्द्रशेखर पाठक, दूसरा सस्करण, कलकत्ता, सन् १९२३ ई०
लीलावती (सन् १९२४ ई०), जगदीश झा 'विमल', कलकत्ता, सन् १९३४ ई०
देहाती दुनिया (सन् १९२५ ई०), शिवपूजन सहाय, तीसरा सस्करण, लहेरियासराय, सन् १९३६ ई०
प्रेमपथ (सन् १९२६ ई०), भगवती प्रसाद वाजपेयी, दरभगा, सन् १९३६ ई०
मानिक मन्दिर (सन् १९२६ ई०), मदारी लाल गुप्त, दूसरा सस्करण, इलाहाबाद, सन् १९२६ ई०
एकाकिनी (सन् १९२६ ई०), ठाकुर श्रीनाथ सिंह, दूसरा सस्करण, प्रयाग, सन् १९३७ ई०
कर्त्तव्याघात (सन् १९२६ ई०), देवनारायण द्विवदी, बनारस, सन् १९३५ ई०
मीठी चुटकी (सन् १९२७ ई०), निर्मूर्त्ति, प्रयाग, सन् १९२७ ई०
हृदय की प्यास (सन् १९२७ ई०), चतुरसेन शास्त्री, लखनऊ, सन् १९२७ ई०
दिल्ली का दलाल (सन १९२७ ई०), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, कलकत्ता, सन् १९२७ ई०
चन्द हसीनों के खुतूत (सन् १९२७ ई०), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, कलकत्ता, सन् १९२७ ई०
बुधुआ की बेटी (सन् १९२८ ई०), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, कलकत्ता, सन् १९२८ ई०
अनाथ पत्नी (सन् १९२८ ई०), भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाहाबाद, सन् १९२८ ई०
विदा (सन् १९२८ ई०), प्रतापनारायण श्रीवास्तव, लखनऊ, सन् १९२८ ई०

मा (सन् १९२६ ई०), विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', लखनऊ, सन् १९२६ ई०
कंकाल (सन् १९२९ ई०), जयशंकर प्रसाद, बनारस, सन् १९२९ ई०
प्रणय (सन् १९२९ ई०), दैवनारायण द्विवेदी, मिर्जापुर सन् १९२९ ई०
हिन्दू नारी (सन् १९२९ ई०), श्रीमती चारुशीला मित्र, कलकत्ता, सन् १९२९ ई०
अप्सरा (सन् १९३१ ई०), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', लखनऊ सन् १९३१ ई०
कुण्डली चक्र (सन् १९३२ ई०), वृन्दावनलाल वर्मा, लखनऊ, सन् १९४५ ई०
कलंक-कालिमा (सन् १९३२ ई०), दुर्गा प्रसाद खत्री, बनारस, सन् १९३२ ई०
गोद (सन् १९३३ ई०), सियारामशरण गुप्त, झाँसी, सन् १९३३ ई०
अलका (सन् १९३३ ई०), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', लखनऊ, सन् १९३३ ई०
अन्धकार (सन् १९३३ ई०), केशव कुमार ठाकुर, प्रयाग, सन् १९३३ ई०
दो विधवाएँ (सन् १९३३ ई०), शंकर शरण प्रसाद सिंह, कलकत्ता, सन् १९३३ ई०
उलझन (सन् १९३४ ई०), श्रीनाथ सिंह, प्रयाग, सन् १९३४ ई०
अन्तिम आकांक्षा (सन् १९३४ ई०), सियारामशरण गुप्त, झाँसी, सन् १९३४ ई०
तितली (सन् १९३४ ई०), जयशंकर प्रसाद, बनारस, सन् १९३४ ई०
आत्मदाह (सन् १९३५ ई०), चतुरसेन शास्त्री, द्वितीय संस्करण, बनारस
निरुपमा (सन् १९३६ ई०), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', इलाहाबाद, सन् १९३६ ई०
पतिता की साधना (सन् १९३६ ई०), भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाहाबाद, सन् १९३६ ई०

(२) बँगला-उपन्यास

बंकिमचन्द्र चटर्जी (सन् १८३८-१८९४ ई०) :—

बंकिम ग्रन्थ माला, प्र० ख०, अनु० ठाकुर रामशीष सिंह, कलकत्ता, सन् १९३० ई०
,, द्वि० ख०, कलकत्ता
,, तृ० ख०, कलकत्ता, सन् १९३२ ई०

रवीन्द्रनाथ ठाकुर (सन् १८६१-१९४१ ई०) :—

दो बहन, अनु० धन्यकुमार जैन, कलकत्ता
उलझन (नौका-डूबी), अनु० धन्यकुमार जैन, कलकत्ता
आँख की किरकिरी, अनु० धन्यकुमार जैन, कलकत्ता
कुमुदिनी, अनु० धन्यकुमार जैन, कलकत्ता
गोरा, अनु० कमला प्रसाद राय, बनारस, सन् १९५४ ई०
चार अध्याय, अनु० धन्यकुमार जैन, कलकत्ता, सन् १९३६ ई०
घर और बाहर, अनु० रघुकुल तिलक, तृ० स०, कलकत्ता

शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय (सन् १८७६-१९३८ ई०) :—

श्रीकान्त, प्र० प०, अनु० हेमचन्द्र मोदी, बम्बई, सन् १९४७ ई०
,, द्वि० प०, अनु० हेमचन्द्र मोदी, बम्बई, सन् १९४६ ई०

श्रीकान्त, तृ० प०, अनु० धन्यकुमार जैन, बम्बई, सन् १६५० ई०
,, च० प०, अनु० कमल जोशी, बम्बई, सन् १६४६ ई०
गृहदाह, अनु० धन्यकुमार जैन, बम्बई, सन् १६४८ ई०
विप्रदास, अनु० धन्यकुमार जैन, बम्बई, सन् १६४६ ई०
चरित्रहीन, अनु० धन्यकुमार जैन, बम्बई
देवदास, अनु० कमला प्रसाद राय शर्मा, बनारस, सन् १६४५ ई०
विराजबहू, अनु० ठाकुरदत्त मिश्र, प्रयाग, सन् १६४५ ई०

(३) उर्दू-उपन्यास

रतननाथ 'सरशार' (सन् १८४६-१६०२ ई०) :—

आजाद कथा, दो भाग, रूपा० प्रेमचन्द, काशी, सन् १६२६ ई०
कामिनी, रूपा० शमशेर बहादुर सिंह, बनारस, सन् १६५१ ई०
पी कहाँ ?, रूपा० शमशेर बहादुर सिंह, बनारस, सन् १६५१ ई०
पर्वत की सैर, रूपा० बसन्त कुमार माथुर, बनारस, सन् १६५३ ई०

मिर्जा रुसवा (सन् १८५८-१६३१ ई०) :—

उमराव जान 'अदा', अनु० गुलशन नन्दा, दिल्ली, सन् १६५८ ई०

प्रेमचन्द-सम्बन्धी आलोचनात्मक साहित्य

(१) विशेष

प्रेमचन्द . एक अध्ययन, डॉ० रामरतन भटनागर, प्रयाग, सन् १६४४ ई०
कलाकार प्रेमचन्द, डॉ० रामरतन भटनागर, इलाहाबाद, सन् १६५१ ई०
प्रेमचन्द : आलोचनात्मक परिचय, डॉ० रामविलास शर्मा, सन् १६४१ ई०
प्रेमचन्द और उनका युग, डॉ० रामविलास शर्मा, दिल्ली, सन् १६५५ ई०
प्रेमचन्द : चिन्तन और कला, स० डॉ० इन्द्रनाथ मदान, बनारस (प्रकाशन काल नहीं है)
प्रेमचन्द : एक विवेचना, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, दिल्ली (प्रकाशन काल नहीं है)
कथाकार प्रेमचन्द, मन्मथनाथ गुप्त—रमेन्द्रनाथ वर्मा, इलाहाबाद, सन् १६४७ ई०
प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला, स० प्रेमनारायण टण्डन, लखनऊ, सन् १६४६ ई०
प्रेमचन्द : उनकी कहानी कला,, डॉ० सत्येन्द्र, आगरा
प्रेमचन्द, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, कानपुर, सन् १६५२ ई०
प्रेमचन्द : जीवन, कला और कृतित्व, हंसराज 'रहबर', दिल्ली, सन् १६५२ ई०
प्रेमचन्द : उपन्यास और शिल्प, हरस्वरूप माथुर, कानपुर, सन् १६५७ ई०
समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द, डॉ० महेन्द्र भटनागर, वाराणसी, सन् १६५७ ई०

प्रेमचन्द और गोर्की, स० शचीरानी गुर्टू[१], बम्बई, सन् १९५५ ई०
प्रेमचन्द : एक अध्ययन, डॉ० राजेश्वर गुरु, भूपाल, सन् १९५८ ई०
प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, नन्ददुलारे वाजपेयी, इलाहाबाद, सन् १९५६ ई०
हिन्दी के उपन्यासकार, यज्ञदत्त शर्मा, दिल्ली, सन् १९५१ ई०
हिन्दी के प्रतिनिधि कथाकार, अखिल भारतीय हिन्दी शोध मण्डल, पटना
प्रेमचन्द और गाँधीवाद, रामदीन गुप्त, दिल्ली, सन् १९६१ ई०
प्रेमचन्द[१] : क़लम का सिपाही, श्री अमृतराय, इलाहाबाद, सन् १९६२ ई०
प्रेमचन्द : घर में,[२] शिवरानी देवी प्रेमचन्द, दिल्ली, सन् १९५६ ई०

(२) सामान्य

भारतेन्दु युग, डॉ० रामविलास शर्मा, आगरा, सन् १९५६ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सन् १९५१ ई०
हिन्दी-साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, दिल्ली, सन् १९५२ ई०
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, कृष्णशंकर शुक्ल, बनारस, सन् १९३४ ई०
हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, नन्ददुलारे वाजपेयी, लखनऊ, सन् १९४५ ई०
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डॉ० श्रीकृष्णलाल, प्रयाग, सन् १९५२ ई०
नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि, प्रकाशचन्द्र गुप्त, बनारस, सन् १९४६ ई०
विचार और वितर्क, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वि० सं०, दिल्ली
हिन्दी उपन्यास साहित्य, ब्रजरत्नदास, बनारस, सन् १९५६ ई०
हिन्दी उपन्यास, शिवनारायण श्रीवास्तव, बनारस, सन् १९५० ई०
हिन्दी-उपन्यास और यथार्थवाद, डॉ० त्रिभुवन सिंह, बनारस, सन् १९५५ ई०
उर्दू-साहित्य का इतिहास, ब्रजरत्नदास, काशी, सन् १९५० ई०
उर्दू-साहित्य का इतिहास, डॉ० रामबाबू सक्सेना, दूसरा भाग, इलाहाबाद, सन् १९५१ ई०
उर्दू साहित्य-परिचय, हरिशंकर शर्मा, आगरा, सन् १९४६ ई०
बँगला-साहित्य की कथा, डॉ० सुकुमार सेन, अनु० भोलानाथ शर्मा, प्रयाग, सन् १९४९ ई०
बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा, श्रीकुमार बन्द्योपाध्याय, द्वि० सं०, सन् १९४८ ई०
शरत् के नारी पात्र, रामस्वरूप चतुर्वेदी, काशी, सन् १९५५ ई०
शरत् पत्रावली, अनु० डॉ० महादेव साहा, बम्बई, सन् १९५६ ई०
नारी का मूल्य (मू० ले० शरत्), अनु० रामचन्द्र वर्मा धन्यकुमार जैन, बम्बई, सन् १९४६ ई०
भारत में अँगरेजी राज्य के दो सौ वर्ष, केशव कुमार ठाकुर, इलाहाबाद, सन १९५२ ई०
काँग्रेस का इतिहास, डॉ० पट्टाभि सीतारमय्या, दिल्ली, सन् १९३८ ई०

१ वस्तुतः यह पुस्तक प्रेमचन्द की जीवनी है।
२ यह पुस्तक प्रेमचन्द के पारिवारिक जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालती है और स्थल-स्थल पर उनके सामाजिक दृष्टिकोण का उद्घाटन करती है।

भारत का वैधानिक एव राष्ट्रीय विकास, गुरुमुख निहाल सिंह, अनु० सुरेश शर्मा, दिल्ली, सन् १६५२ ई०
भारतीय इतिहास का परिचय, डॉ० रानवली पाण्डेय, बनारस, सन् १६५४ ई०
आयसमाज का इतिहास, पहला भाग, श्रीइन्द्रवाचस्पति, प्र० स०, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली
सम्पादक के पचीस वष, प० देवीदत्त शुक्ल, प्रयाग, सन् १६५६ ई०
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, वेनी प्रसाद, प्रयाग, सन् १६३१ ई०
हिन्दू परिवार मीमासा, हरिदत्त वेदालकार, कलकत्ता, सन् १६५४ ई०
अबलाओ पर होने वाले अत्याचार, जी० एस० पथिक, इलाहाबाद, सन् १६२७ ई०
नारी धम शिक्षा, मननता देवी, बारहवाँ सस्करण, बनारस, सन् १६४८ ई०
महिलाओं से, मा० क० गाँधी, बनारस, सन् १६४६ ई०
बापू के पत्र—१ आश्रम की बहनों को, अहमदाबाद, सन् १६५० ई०
आधुनिक हिन्दी-काव्य में नारी भावना, डा० शैलकुमारी, इलाहाबाद, सन् १६५१ ई०
शृखला की कड़ियाँ, श्रीमती महादेवी वमा, इलाहाबाद, सन् १६५० ई०
हिन्दी पुस्तक साहित्य, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, इलाहाबाद, सन् १६४५ ई०
आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, डा० देवराज उपाध्याय, इलाहाबाद, सन् १६५६ ई०

The Position of Women in Hindu Civilization—Dr A S Altekar, Banaras, 1938
Women in Ancient India—Clarisse Bader, London, 1925
The Status of Women in Ancient India—Prof Indra Lahore,
Women in Rigveda—Bhagwat Saran Upadhyaya, Banaras 1941
Woman in World History (Her place in the Great Religions)—E M White London 1924
Sexual Life in Ancient India Vols I & II—J J Meyer, London, 1930
The Right of Woman and the subjection of Woman—Mary Wollstonecraft and J S Mill, London, 1929
Challenge to Women—Amrit Kaur, Allahabad 1946
The Position of Women in Indian Life—Maharani of Baroda and S M Mitra London 1911
The Present Position of Hindu Women & the Means of Ameliorating their Lot—R G Burway, Bombay, 1941
The Awakening of Indian Women—Kamala Devi Chattopadhyaya and others, Madras, 1939
Indian Womanhood to day—M E Cousins Allahabad 1941
The Modern Girl loves to be Juliet to Half a Dozen Romeos
T K Datta, Lahore

Women in Modern India—Evelyn C Gedge and M Choksi (Eds), Bombay, 1927
Purdah (The Status of Indian Women)—F Hanswirth (Mrs S Das), London 1932
The Position of Women in Indian Society—K P Kaul, Allahabad, 1938
The Position of Women in Hindu Law—D N Mitter, Calcutta, 1913
The Woman under the Hindu Law of Marriage & Succession—Hansa Mehta, Bombay
Our cause (A symposium by Indian Women)—Shyam Kumari Nehru (Ed.) Allahabad
Indian Women in the New Age or Woman in Young India—T S Rajagopal, Mysore, 1936
The High Caste Hindu Woman—Ramabai (Pandita)—New York, 1901
The Vedic Law of Marriage or the Emancipation of Woman—A Mahadeva Sastri, Madras, 1918
Hindu Widow Re Marriage—K B Seth Lucknow, 1920
Slaves of Slaves—R L Khipple, Lahore, 1946
Behind the Purdah or the Lives and Legends of our Hindu Sisters—Milly Cattell, Calcutta, 1916
The Ethics of Feminism (A Study of the Revolt of Woman)—A R Wadia, London, 1929
The Hindu Woman—Margaret Cormack, New York, 1953
The Victorian Heroin —Patricia Thomson, London 1956
Psychology of Women Vols I and II—Helene Deutsch, London, 1947
'All India Womens Conference and the Womens' Indian Association'
Memorandum on the Status of Women in India submitted to the league of Nations—Madras
Some of Shakespeare's Female characters—Lady Martin, London, 1885
The Social Renaissance in India—K C Vyas Bombay, 1957
Social Background of Indian Nationalism—A R Desai, Bombay
India's Social Heritage—L S S O' Malley, Oxford 1934
The Indian Heritage—Humayun Kabir, Bombay, 1955
Hindu Superiority—Har Bilas Sharda Ajmer, 1917
India Through the Ages—Dr Jadunath Sarkar, Calcutta, 1928
Our Indian Heritage—Diwanchand Sharma, Bombay, 1942
Our Cultural Heritage—Ishwara Topa, Allahabad, 1940
The Story of Indian Civilization—C E M Joad, London, 1936
Modern India and the West—L S S O' Malley, London, 1941
Women East and West—M Hirschfeld, London, 1935
Woman and Society—N A Sharma, Baroda, 1947

Marriage and Morals—Bertrand Russell London 1929
Rel gion and the family—Geoffrey Hoyland 1945
Divorce and its problem—E S P Haynes And Smith D Walker 1935
Future of Marriage in Western Civilization—E Westermarck 1936
Sex Delinquent Women And their Rehabilitation—Miss Gauri R Banerjee Bombay
Prostitution The Moral Bearings of the problem—M F London 1917
Tolstoy on Art—Aylmer Mande Oxford 1924
Mahatma Gandhi—R Rolland London 1924
The Life of Vivekanand & the Universal Gospel—R Rolland Almora 1931.

Personality—Rabindra Nath Tagore 1917
Encyclopaedia of Soc al Sciences Vol IV—New York 19"
The Indian Annual Register (1921 1936)—Calcutta

पत्र पत्रिकाएँ

सरस्वती	सन् १६१५ स १६३६ ई० मई, सन् १६५७ ई०
माधुरी	सन् १६२२ स १६३१ ई०, अक्टूबर, सन् १६३५ ई०
सुधा	अक्टूबर, सन् १६२७ ई० नवम्बर सन् १६३६ ई०
चाद	सन् १६२२ १६२३ ई०, सन् १६२५ ई० सन् १६२७ १६३१ ई०— सन् १६३६ ई०
लक्ष्मी	सन् १६१८ ई०
विशाल भारत	सन् १६३६ १६३७ ई०, सन् १६५२ ई० सन् १६५४ १६५५ ई०
हस	प्रमचन्द स्मृति अक (मई, सन १६३७ ई०) माच अप्रैल, सन् १६५२ ई०
अवन्तिका	जुलाई, सन् १६५४ ई० अक्टूबर, सन् १६५६ ई०, जुलाई सन् १६५६ ई०
नई धारा	जून और जुलाई सन् १६५१ ई०, अक्टूबर, सन् १६५३ ई०
कल्पना	अक्टूबर, सन् १६५४ ई०
वीणा	जून, सन् १६५५ ई०
साहित्य	जुलाई, सन् १६५५ ई०, अप्रल, सन् १६६० ई०
नया समाज	नवम्बर, सन् १६५७ ई०
सुप्रभात	अक्टूबर, १६५५ ई० नवम्बर, सन् १६५७ ई०
आलोचना	इतिहास विशेषाक (अक्टूबर सन् १६५२ ई०) उपन्यास विशेषाक (अक्टूबर, सन् १६५४ ई०)
कल्याण	नारी-अक (सन् १६४८ ई०)
साप्ताहिक हिन्दुस्तान	१ अक्टूबर, सन् १६५४ ई० १२ दिसम्बर, सन् १६५४ ई०

प्रताप (साप्ताहिक) : सन् १९१९ १९२३ ई०
अमृत पत्रिका : ५ जनवरी, सन् १९५३ ई०
आज : ११ अक्टूबर, सन् १९५३ ई०, ७ अक्टूबर, सन् १९५४ ई०, १० जुलाई, सन् १९५५ ई०, ५ जुलाई, सन् १९५६ ई०
इण्डियन नेशन : २३ मार्च, सन् १९५८ ई०, ३० मार्च, सन् १९५८ ई०, ५ अक्टूबर, सन् १९५८ ई०
स्टेट्समेन : ३१ जनवरी, सन् १९५८ ई०, ७ सितम्बर, सन् १९५७ ई०
हिन्दुस्तानी : अक्टूबर दिसम्बर, सन् १९६२ ई०

●